महामतिश्रीमाधवकरप्रणीतं

# माधवनिदानम् ।



महामहोपाध्याय-श्रीविजयरक्षित-श्रीकण्ठदत्ताभ्यां विरचितया मधुकोशाख्यव्याख्यया तथा श्रीवाचस्पतिवैद्यविरचितया आतङ्कदर्पणव्याख्यया च समुल्लसितम् ।



आयुर्वेदीयग्रन्थमालासंपादकेन
आचार्योपाह्वेन त्रिविक्रमात्मजेन यादवशर्मणा
संशोधितम् ।

तृतीयं संस्करणम् ।

मुम्बय्याम्
पाण्डुरङ्ग जावजी
इत्येतैः स्वीये निर्णयसागराख्यमुद्रणयन्त्रालये
मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

शके १८५४, सन १९३२.

मूल्यं २। सपादरूप्यकद्वयम् ।



# भूमिका।

विमलविपुलबुद्धिरिन्दुकरात्मजः श्रीमाधवकरश्चरकसुश्रुतविदेहवाग्भटादीनामनेकतन्त्राणां वचनानि संगृह्य माधवनिदानमितिनाम्ना प्रसिद्धं रोगविनिश्चयाख्यमिमं ग्रन्थं निर्मितवान्। अस्मिन् ग्रन्थे आयुर्वेदोक्तानां प्रायः सर्वेषां रोगाणां निदानपूर्वरूपरूपोपशयसम्प्राप्त्युपद्रवसाध्यासाध्यविचारप्रभृतयो विषयाः संक्षेपेणातिस्पष्टतयोपवर्णिताः। अयं च मन्दबुद्धीनामल्पेनापि परिश्रमेण रोगसमूहज्ञानसंपादनविधावद्वितीयो वरीवर्ति। भिषजामतीवोपयुक्तोऽयं ग्रन्थः, यदिमं भिषजः सर्वदा कण्ठोपस्थितमेव परिरक्षन्ति, अस्य च निर्मलज्ञानेन रोगसमूहान्विनिर्णयन्ति। अस्य महतीं लोकोपयोगितां निरीक्ष्य विद्वद्भिर्भिषग्भिर्बह्व्यष्टीका व्यरचिषत। यासु मधुकोशातङ्कदर्पणाख्ये द्वे टीके समुपलभ्येते। विमलविपुलबुद्धिः श्रीमाधवकरष्टीकाकारः श्रीविजयरक्षितः श्रीकण्ठदत्तश्च कस्मिन् समये कतमं जनपदं जन्मना अलञ्चक्रुरिति दृढेन प्रमाणेन निर्णेतुमतीव दुःशकम्। किन्तु श्रीगोपीमोहनकविराजकृतमुक्तावल्याख्यग्रन्थस्थेन "पूर्वं लोकहिताय माधवकराभिख्यो भिषक् केवलं कोपान्वेषणतत्परं प्रवितताद्युर्वेदरत्नाकरात्। मालां रत्नमयीं चकार स यथालाभं न शोभाधिका साऽस्माभिः कमनीयभक्तिरचनद्वाराऽन्यथा ग्रथ्यते" इति पद्येनैतावदेव निश्चीयते यन्माधवकरो निदानातिरिक्तं रत्नमालाभिधमन्यमपि ग्रन्थं निर्मितवानिति। अयं च माधवकरो वेदभाष्यकर्तुः सायणोपनामकात् माधवाचार्यतो भिन्न एवेतीतिहासवेत्तॄणां सुविदितमेव। मधुकोशव्याख्याव्यतिरिक्तः श्रीविजयरक्षितविरचितोऽन्यग्रन्थो न क्वाप्युपलभ्यते। श्रीकण्ठदत्तेन वृन्दकृतसिद्धयोगाख्यग्रन्थोपरि कुसुमावल्यभिधाना व्याख्या प्रणीता, येदानीं पुण्यपत्तने आनन्दाश्रमग्रन्थावल्यां मुद्रिताऽस्ति। पुस्तकस्यास्य शुद्धिकरणार्थं मत्सविधे मधुकोशव्याख्यासहितमाधवनिदानस्यैकं हस्तलिखितं शुद्धं पुस्तकमासीत्, तस्य, तथा आतङ्कदर्पणव्याख्याया एकं हस्तलिखितं पुस्तकमस्मत्परमसुहृदो स्व. श्र. वैद्य मुरारजी नथुभाइ इत्येतेषां पुस्तकसंग्रहात्प्राप्तं, तस्य च साहाय्यमवलम्बितं, सन्देहस्थलेषु चरकसुश्रुतादीन् ग्रन्थानवलोक्य निश्चिताः पाठ-

---

१ स चायं माधवकरः खीष्टीयसप्तमशतके विजयरक्षितश्च त्रयोदशशतके संबभूवेति प्रत्यक्षशारीरोपोद्घाते म. म. कविराज गणनाथसेनमहोदयः।

भेदाः, मुद्रितपुस्तकेषु यत्र कश्चिन्मूलातिरिक्तः पाठ उपलब्धः स प्रक्षिप्त इति मत्वा ( ) एतादृक्चिह्नमध्ये संनिवेशितः, ग्रन्यादौ माधवनिदानान्तर्गतानां विषयाणामनुक्रमणिका संयोजिता, तथा मधुकोशव्याख्यायां प्रमाणतयोपन्यस्तानां ग्रन्थग्रन्थकर्तृणां तत्तत्स्थानोल्लेखपूर्वकं नामानि, तथा संप्रति भारतवर्षे यावन ( युनानी ) चिकित्सायाः आङ्ग्लचिकित्सायाश्च प्रचारबाहुल्यात् माधवनिदानोक्तानां रोगाणां यथोपलब्धानि अरबीभाषया आङ्ग्लभाषया च पर्यायनामानि संनिवेशितानि । प्रथमसंस्करणे आतङ्कदर्पणव्याख्या समग्रैव मुद्रिता आसीत् । परमातङ्कदर्पणव्याख्यायां बहवोंऽशा मधुकोशव्याख्यातोऽविकला एवोद्धृताः सन्ति, अतः पुनरुक्तिदोषनिवारणाय पुस्तकस्याकारणकलेवरवृद्धिनिवारणाय चास्मिन् द्वितीये संस्करणे मधुकोशव्याख्यातो यावानंश आतङ्कदर्पणव्याख्यायामधिक आसीत्तावानेवोद्धृत्य मुद्रितः । एवं पुस्तकस्यास्य शुद्धिं विधाय निर्णयसागरयन्त्रालयाधिपतये 'पाण्डुरङ्ग जावजी' इत्यभिख्यया प्रसिद्धाय श्रेष्ठिने दत्तमिदं पुस्तकं, तेन च स्वकीये निर्णयसागरयन्त्रालये मुद्रयित्वा प्राकाश्यं नीतम् । एवं महता यत्नेन संपादितेऽस्मिन्कार्ये प्रमादेन भ्रमेण वा जातं स्खलनं कश्चिद्दृश्येत, तर्हि गुणैकपक्षपातिभिर्विद्वद्भिः क्षन्तव्यं, सफलयितव्यश्च ममायं प्रयासो ग्रन्थस्यास्य पठनपाठनपर्यालोचनादिनेत्यभ्यर्थयते

कालबादेवीरोड, मुंबई. | भिषजामनुभाव्यो यादवशर्मा ।



## मधुकोशव्याख्यायां प्रमाणत्वेन समुपन्यस्तानां ग्रन्थानां ग्रन्थकर्तॄणां च नामानि ॥



| | |
|---|---|
| अमरः २-१२ | इति |
| चरकः ३-२-३-२० | इत्यादि |
| सुश्रुतः ४-६ | ,, |
| गदाधरः ५-१७ | ,, |
| जेज्जटः ५-१८ | ,, |
| वररुचिः ५-२० | इति |
| भट्टारहरिचन्द्रः ५-२४, | इत्यादि |
| न्यायदर्शनम् ६-१, | इति |
| तीसटाचार्यः ७-९ | इति |
| सुदान्तसेनः ८-१७ | इत्यादि |
| पराशरः १०-६ | इति |
| हारीतः १०-११ | इत्यादि |
| ईश्वरसेनः १२-२१ | ,, |
| वृद्धवाग्भटः १५-७ | ,, |
| बाप्यचन्द्रः १५-२२ | ,, |
| वाग्भटः १८-१३ | ,, |
| गदाधरः २०-१३ | ,, |
| पालकाप्यः २५-७ | ,, |
| हरिवंशः २५-३० | ,, |
| वृद्धसुश्रुतः २८-८ | ,, |
| कार्तिकः ३०-७ | ,, |
| हारीतः ३२-८ | ,, |
| भालुकितन्त्रम् ३४-१५ | ,, |
| दृढवलः ३५-१३ | ,, |
| गयदासः ३७-९ | ,, |
| विदेहः ३९-२६ | ,, |
| खरनादः ४३-३ | ,, |
| हरिचन्द्रः ४३-८ | ,, |
| ईशानदेवः ४३-१३ | इति |
| भेडः ४४-२६ | ,, |
| नागभर्तृतन्त्रम् ४४-२८ | ,, |
| पराशरः ४५-१७ | ,, |
| स्मृतिशास्त्रम् ४६-१२ | ,, |
| चक्रः ५४-२७ | इत्यादि |
| कार्तिककुण्डः ५४-२९ | ,, |
| भट्टारहरिचन्द्रः ५५-३ | ,, |
| चन्द्रिकाकारः ५५-४ | इत्यादि |
| जतुकर्णः ५५-२० | ,, |
| अग्निवेशः ५८-३१ | ,, |
| क्षारपाणिः ६४-१२ | ,, |
| करवीराचार्यः ६६-४ | ,, |
| भोजः ७२-१४ | ,, |
| गौतमः ७९-५ | इति |
| नागार्जुनः ८४-५ | ,, |
| वृद्धभोज. १२५-१७ | इति |
| कामशास्त्रम् २६१-५ | ,, |
| रविगुप्तः ३४२-८ | ,, |
| चक्षुष्यः ३५१-२१ | ,, |
| सात्यकिः ३५२-१६ | इत्यादि |
| वल्याणविनिश्चयः ३५३-११ | इति |
| शालाक्यम् ३५४-९ | ,, |
| निमिः ३५७-१३ | ,, |
| हिरण्याक्षः ३६१-२ | ,, |
| आलम्बायनः ३८०-३० | ,, |
| वृद्धकाश्यप ३८२-२ | ,, |

# निदानोक्तानां रोगाणामरबीभाषायामाङ्ग्लभाषायां च नामानि ॥

| | | |
|---|---|---|
| ज्वर | हुम्मा | Pyrexia पायरेक्सिआ.<br>Fever फीवर. |
| सामान्यज्वर | हुम्मा योमी | Febricula फेब्रिक्युला. |
| सन्निपातज्वर | | Typhoid State टायफॉइड स्टेट. |
| विषमज्वर | हुम्मा पिलतिया | Malarial fever मॅलेरियल फीवर. |
| सन्ततज्वर | हुम्मा दायमी | Malarial Remittent fever मॅलेरिअल् रिमिटन्ट फीवर. |
| सततज्वर | | Double Quotidian Fever डबल कॉटिडियन् फीवर. |
| अन्येद्युष्कज्वर | | Quotidian Fe. कॉटिडियन् फी. |
| तृतीयकज्वर | हुम्मा गिब सालिस दायरा | Tertian Fever टर्शियन् फीवर. |
| चतुर्थकज्वर | हुम्मा राबेआ | Quartan Fever क्वार्टन् फीवर. |
| चातुर्थकविपर्यय | | Double Quartan Fever डबल क्वार्टन् फिवर. |
| अभिघातज्वर | हुम्मा जरबी | Traumatic fever ट्रॉमॅटिक् फी. |
| विदाहज्वर | हुम्मा वरमी | Inflammatory fe. इन्फ्लॅमेटरी फी. |
| सूतिकाज्वर | हुम्मा नफ्सी | Puerperal fever प्युएर्पेरल् फी. |
| स्तन्योदयज्वर | | Milk fever मिल्क फीवर.<br>Fever of Lactation फीवर ऑफ् लॅक्टेशन्. |
| आगन्तुकज्वर | | Adventitious fever ॲड्व्हेन्टिशिअस् फीवर. |
| ओषधिगंधज | | Hay fever हे फीवर. |
| काम-भय-शोक-क्रोधज्वर | | Pyrexia of emotions पायरेक्सिआ ऑफ् इमोशन्स् |
| भूताभिषङ्गज्वर | | Fever of Evil Spirits फीवर ऑफ् ईविल स्पिरिट्स. |
| प्रलेपकज्वर | | Hectic fever हेक्टिक् फीवर. |
| अतिसार | इसहाल | *Diarrhœa* डायरिया. |
| आमातिसार | जहीर | Mucous-colitis म्युकस् कोलायटिस. |
| प्रवाहिका | इसहाल उल दम | Dysentery डिसेन्ट्री. |
| ग्रहणी | सलक उल अमआ | Chronic Diarrhœa, Sprue क्रॉनिक डायरिया, स्प्रू. |

| | | |
|---|---|---|
| अर्श | बवासीर | Piles, Hæmorrhoids, पाइल्स; हिमरॉइड्स. |
| रक्तार्श | बवासीर उल दम | Bleeding piles ब्लीडिंग पाइल्स. |
| अग्निमान्द्य | जोफ उल मेअदा | Dyspepsia डिस्पेप्सिया. |
| अजीर्ण | तुख्मा | Indigestion इन्डिजेशन. |
| विसूचिका | हैजा | Cholera कॉलेरा. |
| आध्मान | नफ्ख | Tympanitis टिम्पॅनाइटिस. Metiorism मीटिऑरिज़म्. |
| कृमि | दीदान उल अमआ | Worms वर्म्स. |
| पाण्डुरोग | | Anæmia ॲनिमिया. |
| रक्तपित्त | | Hæmorrhagic diseases हिमॉऱ्हेजिक डिसीजेस. Scurvy स्कर्वी. |
| कामला | यरकान अस्फ़र | Jaundice जॉन्डिस. |
| हलीमक | यरकान असवद | Chlorosis क्लोरॉसिस. |
| राजयक्ष्मा | दुम्मा दिक | Phthisis, consumption, Pulmonary tuberculosis थायसिस, कंझम्शन, पल्मनरी ट्युबर्क्युलोसिस. |
| उरःक्षत | सिल | Pulmonary Cavitation पल्मनरी कॅविटेशन. |
| कास | सोआल | Cough कॉफ. |
| हिक्का | फवाक | Hiccup, हिकप. |
| श्वास | रिबु, जीक उल नफ्स | Dyspnœa डिस्प्निया. |
| तमकश्वास | | Asthma ॲस्थमा. |
| क्षुद्रश्वास | | Breathlessness ब्रेथलेस्नेस. |
| महाश्वास | | Dyspnœa of failing heart or respiration डिस्प्निआ ऑफ फेलिंग हार्ट ऑर रेस्पिरेशन. |
| स्वरभङ्ग | फसाद उल सोत | Hoarseness होर्सनेस. |
| अरोचक | | Loss of taste & appetite लॉस ऑफ टेस्ट ॲन्ड ॲपेटाइट. Anorexia ॲनोरेक्सिआ. |
| छर्दि | के | Vomiting व्हॉमिटिंग. |
| तृषा | अतश मुफरत | Thirst थर्स्ट. |
| मूर्च्छा | गशी | Cyncope, fainting, सिंकपी, फेन्टिङ्. |
| भ्रम | सदर, दवार. | Giddiness, गिडिनेस. |
| संन्यास | सक्ता | Apoplexy ॲपॉप्लेक्सी. Catalepsy कॅटॅलेप्सी. |

| | | |
|---|---|---|
| मदात्यय | खुम्र | Alcoholism ॲल्कॉहोलिझम्. |
| उन्माद | जनुन | Insanity इन्सॅनिटी. |
| अपस्मार | सरआ | Epilepsy एपिलेप्सी. |
| आक्षेपक | तशन्नुज | Convulsions, कन्व्हल्शन्स्. |
| धनुःस्तम्भ | | Tetanus, टिटॅनस्. |
| पक्षवध | इस्तिरखा, फालीज | Hemiplegia, हेमिप्लेजिआ. |
| सर्वाङ्गघात | | Diplegia डायप्लेजिआ. |
| अर्दित | लकवा | Facial Paralysis, फेसियल पॅरॅलिसिस्. |
| मन्यास्तम्भ | इस्तिरखाय् उल चम्बर | Stiff neck स्टिफ् नेक्. Torticolis, Wry neck. टॉर्टिकॉलिस्, राय नेक्. |
| जिह्वास्तम्भ | इस्तिरखाय् उल लसान | Paralysis of the Tongue, Glossal palsy. पॅरॅलिसिस् ऑफ दि टंग्; ग्लॉसल् पॅल्सी. |
| पादहर्ष | | Numbnes of feet, नम्नेस् ऑफ् फीट्. |
| ऊरुस्तम्भ | इस्तिरखाय् उल फख़्ज़ | Paraplegia पॅरेप्लेजिआ. |
| अंतरायाम | | Emprosthotonos एम्प्रोस्थोटोनस् |
| बाह्यायाम | | Opisthotonos ओपिस्थोटोनस्. |
| दण्डापतानक | | Plenosthotonos प्लेनोस्थोटोनस्. |
| हनुग्रह | | Trismus, Lock jaw. ट्रिस्मस्, लॉक् जॉ. |
| खञ्ज | | Limp लिम्प् |
| पङ्गु | | Paraplegia पॅरेप्लेजिआ. |
| कलायखञ्ज | | Lathirism लेथिरिझम्. |
| अंसशोष | | Osteoarthritis of the shoulder joint ऑस्टिओआर्थ्राइ-टिस् ऑफ धी शोल्डर जॉइन्ट. |
| क्रोष्टुकशीर्ष | | Inflamed kneo इन्फ्लेम्ड नी. |
| वेपथु | राअशा | Paralysis Agitans पॅरॅलिसिस् अजिटॅन्स. |
| अपतन्त्रक | इख़्तिनाक उल रहम | Hysteria हिस्टेरिया. |
| गृध्रसी | अर्कुन्निसा | Sciatica. सायाटिका. |
| विश्वाची | इस्तिरखाय् उल यद | Radio-ulnar paralysis रेडिओ-अल्नर पॅरॅलिसिस्. |
| मूकत्व | गुन्न | Aphasia ॲफेजिया. |
| वातरक्त | | Gout गाऊट. |

| | | |
|---|---|---|
| ओष्ठभेद | शक उल शिफतेन | Cracks of Lip कॅक्स् ऑफ् लिप्. |
| दन्तभेद | शक उल असनान | |
| नखभेद | शक उल अझफार | Onychia ऑनिकिया. |
| अरसज्ञता | बुतलान उल झौक | Loss of sensibility to taste लॉस् ऑफ् सेन्सिबिलिटी टु टेस्ट. |
| घ्राणनाश | | Loss of Smell लॉस ऑफ स्मेल. |
| जृम्भा | तथाऊब | *Yawning यॉनिंग्.* |
| अस्वप्न (निद्रानाश) | सहर | Insomnia इन्सॉम्निया. |
| अतिप्रलाप | हीझयान् | Delirium डिलिरियम्. |
| आमवात | वजअ उल् मुफासील | Rheumatism र्ह्युमॅटिझम्. |
| शूल | वजअ उल मेअदा | Colic कॉलिक्. |
| परिणामशूल | | Gastralgokenosis Hunger pain गेस्ट्रॅल्गोकेनोसिस हंगर पेन. |
| हृद्रोग | वजअ उल कल्ब | Diseases of the Heart डिसीजेस् ऑफ धी हार्ट. Angina Pectoris ॲन्जाइना पेक्टोरिस्. |
| अम्लपित्त | | Acidity ॲसिडिटी. |
| आनाह | | Constipation कॉन्स्टिपेशन. |
| गुल्म | | Abdominal tumour *ॲब्डॉमिनल ट्यूमर.* |
| रक्तगुल्म | | Ovarian or uterine tumour ऑव्हेरियन ऑर युटेराइन ट्यूमर. |
| मूत्रकृच्छ्र | तकतीर उर बौल | Dysuria डिस्यूरिया. Stranguary स्ट्रँग्युअरी. Painful micturition. पेनफुल् मिक्च्युरिशन्. |
| मूत्राघात | एहतेबास उल बौल | Obstructed micturition. ऑब्स्ट्रक्टेड् मिक्च्युरिशन्. |
| वातकुण्डलिका | | *Spasmodic stricture* स्पॅस्मॉडिक् स्ट्रिक्चर. |
| अष्ठीला | | Enlargement of Prostate एनलार्जमेन्ट् ऑफ् प्रॉस्टेट्. |
| वातबस्ति | | Retention of urine रिटेन्शन् ऑफ् यूरिन. |
| मूत्रातीत | इस्तिरखाए् उल मसाना | Incontinence इन्कोन्टिनन्स. |
| मूत्रजठर | इन्तिफाख उल मसाना | Distended bladder डिस्टेन्डेड ब्लॅडर. |

| | | |
|---|---|---|
| मूत्रोत्संग | | Stricture of Urethra<br>स्ट्रिक्चर ऑफ़ यूरेथ्रा. |
| मूत्रक्षय | | Supression of Urine<br>सप्रेशन ऑफ यूरिन. |
| मूत्रग्रन्थि | | Tumour of the bladder<br>ट्यूमर ऑफ दि ब्लॅडर. |
| मूत्रसाद | | Cystitis सिस्टायटिस. |
| विड्विघात | | Vesico-Intestinal Fistula<br>वैसायको इन्टेस्टायनल् फिस्चुला. |
| वस्तिकुण्डल | | Atony of bladder एटनी ऑफ ब्लॅडर. |
| खल्ली | | Muscular Spasm of Hand and feet. मस्क्युलर स्पॅझम् ऑफ् हॅन्ड ॲन्ड् फीट. |
| वातकण्टक | | Sprain Ankle स्प्रेन ॲंकल्. |
| अश्मरी | हीसआत | Calculus कॅल्क्युलस. |
| वाताश्मरी | | Uric acid calculus<br>युरिक एसिड कॅल्क्युलस. |
| पित्ताश्मरी | | Mixed calculus मिक्सड् कॅ. |
| कफाश्मरी | | Stone of Phosphates,<br>स्टोन ऑफ फोस्फेट्स. |
| शुक्राश्मरी | | Seminal calculus सेमिनल कॅ. |
| शर्करा | रमल | Gravel ग्रॅवल. |
| प्रमेह | जीरयान | Diseases of the urine<br>डिसीजेस् ऑफ् दि यूरिन. |
| उदकमेह | | Diabetes Insipidus<br>डायबिटिस इन्सिपिडस. |
| पिष्टमेह | | Chylurea काइल्यूरिया. |
| हस्तिमेह | | Anuresis ॲन्युरेसिस.<br>Incontinence of urine<br>इन्कोन्टिनन्स् ऑफ् यूरिन. |
| लाला-वसा-मज्जा-मेह | | *Albuminuria* ॲल्ब्यूमिन्यूरिया. |
| रक्तमेह | बौल उल दम | Hæmaturea हिमॅच्युरिया. |
| शुक्रमेह | जीरयान मनी | Spermatorrhœa स्पॅरमटोरिया. |
| इक्षुमेह | ज़याबीतुस | Diabetes Mellitus,<br>डायबिटिस् मेलिटस्. |
| सान्द्रमेह | | Mucous in urine<br>म्युकस इन् यूरिन. |

| | | |
|---|---|---|
| मुत्रमेह | | Phosphaturia फोस्फेचूरिआ. |
| सिक्तामेह | | Urates in urine यूरेट्स् इन् यूरिन. |
| क्षारमेह | | Alkaline urine एल्कलाइन यूरिन. |
| हारिद्रमेह | | Bile in urine बाइल इन यूरिन. |
| प्रमेहपिडिका | | Carbuncle कार्बन्कल. |
| मेदोवृद्धि | समन मुफरत | Obesity ओबेसिटि. |
| ऊर्ध्ववात | | Eructation इरक्टेशन. |
| प्रत्यष्ठीला | | Ovaritis ओवेरायटिस्. |
| वाताष्ठीला | | Typhlitis टायफ्लायटिस्. |
| प्लीहोदर | वरम उल तिहाल | Splenitis, splenic enlargement स्प्लिनायटिस, स्प्लेनिक् एन्लार्जमेन्ट. |
| यकृद्दाल्युदर | वरम उल कबिद | Hepatitis, Hepatic enlargement हेपेटाइटिस, हेप्याटिक् एन्लार्जमेन्ट. |
| जलोदर | इस्तिस्का | Ascites ॲसायटिस. |
| बद्धगुदोदर | | Intestinal obstruction इन्टेस्टायनल ऑब्स्ट्रक्शन. |
| शोथ | वरम | Swelling, Dropsy, Anasarca, Œdema स्वेलिंग, ड्रॉप्सी, ॲनासार्का, इडीमा. |
| क्षतोदर | कुरह उल अमआ | Ulceration of the bowel अलसरेशन् ऑफ् धी बॉवेल. |
| वृद्धि | | Scrotal Enlargement स्क्रोटल् एन्लार्जमेंट्. |
| मूत्रजवृद्धि | फित्क़ुल मेआ | Hydrocele हायड्रोसील. |
| दोषजवृद्धि | वरम उल उन्सियेन | Orchitis ऑरकायटीस् |
| रक्तजवृद्धि | | Hæmatocele हिमॅटोसील. |
| वातजवृद्धि | | Chronic orchitis क्रॉनिक् ऑर्काइटिस. |
| पित्तजवृद्धि | | Acute orchitis ॲक्यूट ओर्काइटिस. |
| कफजवृद्धि | | Tubercle Testes ट्युबरक्ल टेस्टिझ्. |
| मेदोजवृद्धि | अज़ीम उल उन्सियेन | Elephantiasis of Scrotum एलिफन्टिॲसिस ऑफ स्क्रोटम्. |
| अन्त्रवृद्धि | फित्क़ुल अमआ | Inguinal Hernia इन्ग्वायनल हर्निया. |

| | | |
|---|---|---|
| गलगण्ड | | Goitre, Bronchocele गॉयटर, ब्रॉन्कोसील. |
| गण्डमाला<br>अपची | खनाज़ीर | Scrofula, स्क्रॉफ्यूला. Tubercle glands ट्युबरक्ल् ग्लॅन्डस्. |
| मेदोर्बुद | | Fatty tumour फॅटी ट्यूमर. |
| मांसार्बुद | सरतान | Myoma मायोमा. |
| रक्तार्बुद | | Cancer कॅन्सर्. |
| अर्बुद | ग़दूद | Malignant Tumour मॅलिग्नन्ट ट्यूमर. |
| ग्रन्थि | | Enlarged lymphatic Gland एन्लार्ज्ड् लिंफॅटिक् ग्लॅन्ड. |
| श्लीपद | दाउ् उल फील | Elephantiasis एलिफन्टीॲसिस्. |
| विद्रधि | दुबेला | Abscess ॲब्सेस्. |
| व्रणशोथ | आमास | Inflammation इन्फ्लॅमेशन्. |
| शारीरव्रण | | Idiopathic Ulcer इडियोपॅथिक् अल्सर. |
| सद्योव्रण | | Traumatic Wound ट्रॉमॅटिक वुन्ड. |
| छिन्न | | Slashed स्लॅश्ड. |
| भिन्न | | Punctured पंक्चर्ड. |
| विद्ध | | Stab स्टॅब्. |
| क्षत | | Contused wound कन्ट्यूज्ड वुन्ड. |
| पिच्चित | | Crushed क्रश्ड. |
| घृष्ट | | Excoriated एक्स्कोरिएटेड. |
| अस्थिभग्न | कस्र | Fracture फ्रॅक्चर. |
| सन्धिविश्लेष | खलआ | Dislocation डिस्लोकेशन्. |
| अश्वकर्ण | | Spiral Fracture स्पायरल फ्रॅ. |
| मज्जागत | | Impacted Fracture इम्पॅक्टेड फ्रॅक्चर्. |
| अस्थिच्छल्लिका | | Green Stick fracture ग्रीन् स्टिक् फ्रॅक्चर्. |
| नाडीव्रण | नासूर | Sinus, Fistula सायनस्, फिस्चुला |
| भगन्दर | नवासीर | Fistula in Ano फिस्चुला इन् एनो. |
| लिङ्गार्श | सालील उल कुज़िब | Warts वॉर्टस्. |
| कुष्ठ | | Diseases of the skin डिसीजेस् ऑफ दि स्कीन्. |
| महाकुष्ठ | जुज़ाम | Leprosy, लेप्रसी. |

| | | |
|---|---|---|
| सिध्म | खल्फ | Cloasma, क्लोआज्मा. <br> *Ptyriasis* टिरिॲसिस्. |
| चर्मकुष्ठ | | Zeroderma, झेरोडर्मा. |
| किटिभ | | Psoriasis, सोरायासिस्. |
| वैपादिककुष्ठ | | Rhagades, र्‍हेगेड्स. |
| अलसक | | Lichen, लीचेन्. |
| कच्छु | | Scabies, Itch स्केबीस, इच्. |
| विस्फोटक | | Impetigo, इम्पेटिगो. |
| शतारु | | Rupia, रुपिया. |
| विचर्चिका | | Pemphigus, पेंफिगस्. |
| दद्रु | कुबा | Ringworm रिंगवर्म. |
| किलास | बरस अबिजय | Leucodeı ma ल्युकोडर्मा. |
| पामा | जर्ब | Eczema एग्झीमा. |
| विसर्प | हुमरा | Erysipelas एरिसिपेलस्. |
| ग्रन्थिविसर्प | | Erythema-Nodozum <br> एरीथिमा-नोडोझम्. |
| कर्दमविसर्प | | Cellulitis सेल्युलाइटिस्. |
| क्षतविसर्प | | Traumatic erysipelas <br> ट्रॉमॅटिक एरिसिपेलस. |
| शीतपित्त | | Urticaria, अर्टिकेरिया. |
| विस्फोट | | Exenthymeta एक्झेन्थीमेटा. |
| मसूरिका | जुदरी | Small Pox स्मॉल पॉक्स. |
| रोमान्तिका | | Measles, मीझल्स्. |
| इन्द्रलुप्त | इन्तशार उल शअर | Falling of Hair, Baldness <br> फॉलिंग् ऑफ् हेअर, बॉल्डनेस. |
| पाषाणगर्दभ | | Mumps मम्प्स. |
| विदारिका | | Bubo ब्यूबो. |
| पलित | शेब | Premature grey hair <br> प्रिमेच्युअर ग्रे हेअर. |
| मुखदूषिका | बथूर उल वुजूह | Acne ॲक्नी. |
| मषक | शालील | Mole मोल. |
| गुदभ्रंश | खरूज उल मुकअद | Prolapsus Ani प्रोलॅप्सस एनाय |
| तिलकालक | खाल | |
| चिप्प | दाहस | Whitlow व्हिट्लो. |
| सन्निरुद्धगुद | | Stricture of the Rectum <br> स्ट्रिक्चर ऑफ् दि रेक्टम. |
| कक्षा | | Herpes Zoster हर्पीस झोस्टर. |

| | | |
|---|---|---|
| कद्र | | Corn कॉर्न्. |
| निरुद्धप्रकश | | Phimosis फायमॉसिस्. |
| परिवर्तिका | | Paraphimosis पॅराफायमॉसिस्. |
| अवपाटिका | | Tear in the prepuce टेअर इन् दि प्रेप्यूस् |
| अहिपूतना | इक उल मुकअद | Pruritus anii प्रुरायटस एनाय. |
| उपदंश | जुग्राह | Soft chancre सॉफ्ट शँकर. |
| फिरङ्गोपदंश | | Hard chancre, *syphilis* हार्ड शँकर, सिफिलिस्. |
| खलिवर्धन | असनान उल ज़ायदा | Extra Tooth एक्स्ट्रा टूथ. |
| दन्तनाडी | कुरूह उल लसा | Sinus in the Gums सायनस् इन् दि गम्स्. |
| क्रिमिदन्तक | दीदान उल लसा | Caries of Teeth कॅरीस ऑफ् टीथ. |
| दन्तहर्ष | ज़र्स | Irritation in the Tooth इरिटेशन् इन् दि टूथ. |
| दन्तशर्करा | हजर | Tartar टार्टर. |
| श्यावदन्त | | Black *or* Necrosed Tooth ब्लॅक ऑर नेक्रोज्ड टूथ. |
| कण्ठशुण्डी | | Elongated Uvula एलोंगेटेड युव्हुला. |
| उपजिह्वा | ज(द)फ्दू उल लसान | Ranulla रॅन्युला. |
| मुखरोग(सर्वसर) | | Stomatitis स्टोमेटाइटिस्. |
| शीताद | | Spongygums स्पन्जी गम्स्. |
| दन्तवेष्ट | | Pyorrhœa पायोरिआ. |
| दन्तपुप्पुट, शौषिर | | Gum boil गम बॉइल्. |
| अलास | | Sublingual abscess सब्लिन्ग्वल ॲब्सेस्. |
| ताल्वर्बुद | | Palatal cancer पॅलेटल कॅन्सर. |
| कर्णनाद | तनीन, दवी | Noises in the Ear नॉयझेस् इन् दि इअर. |
| कर्णस्राव | इन्फजार उल उज़ल | Otorrhœa ओटोन्हिआ. |
| कर्णशूल | वजअ उल उज़न | Otitis, Otalgia ओटायटिस्, ओटॅल्जिआ. |
| कर्णपाक | कुर्हतुल उज़न | Suppuration in the ear सप्युरेशन इन् दि इअर. |
| पूतिकर्ण | | Fœtid discharge from the ear फीटिद डिस्च्यार्ज फ्रॉम दि इअर. |

| | | |
|---|---|---|
| क्रिमिकर्णक | दीदान उल उज़न | Worms in ear वर्म्स इन् इअर. |
| कर्णशोथ | वरम उल उज़न | Inflammation of the ear इन्फ़्लेमेशन ऑफ् दि इअर. |
| बाधिर्य | कर | Deafness डेफ्नेस्. |
| अपीनस | | Ozœna ओज़ीना. |
| नासापाक | बशर उल अनफ | Pustule in the Nose, Suppurative Rhinites पुस्टुल दि नोज़, सप्युरेटिव हाइनाइटिस. |
| क्षवथु | अतस | Sneezing स्नीज़िंग. |
| नासाशोष | जफाफ उल अनफ | Dryness of Nose ड्रायनेस् ऑफ् नोज़. |
| प्रतिश्याय | ज़ुकाम | Catarrah or Cold in the Nose कॅटॅरा ऑर कोल्ड इन् दि नोज़ |
| अभिष्यन्द | दमआ | Ophthalmia ऑफ्थॅल्मिआ. |
| अक्षिपाकात्यय | रमद | |
| शिरोत्पात | सबल | Pannus पॅनस. |
| शुक्र | ब्याज | Corneal Ulcer कॉर्नियल् अल्सर. |
| पित्तविदग्ध-दृष्टि | जहर | Day Blindness, डे ब्लाइन्डनेस, Hemaralopia हिमॅरॅलोपिया. |
| पाददारी | | Cracks in the sole. क्रॅक्स् इन् दि सोल. |
| पद्मिनीकण्टक | | Papilloma of the skin पेपीलोमा ऑफ् दि स्किन्. |
| कर्णगूथक | | Wax in the ear. वॅक्स् इन् थी इअर. |
| तुण्डीकेरी, अध्रुष | | Abscess of the palate ॲब्सेस् ऑफ दी पॅलेट. |
| मांसतान | | Diphtheria. डिफ्थेरिया. |
| श्लेष्मविदग्ध-दृष्टि | अशा | Night Blindness, Nyctalopia नाइट ब्लाइण्डनेस, निक्टॅलोपिया. |
| अर्म | | Pterygium टेरिजियम्. |
| नेत्रनाडी | नासूर उल अइन् | Lachrymal Fistula लॅक्रिमल फिस्च्युला. |
| लिङ्गनाश | नज़ुल उल मेआ | Cataract कॅटॅरॅक्ट. |
| क्रिमिग्रन्थि | | Parasites on Suppurated glands. पॅरॅसाइट्स. |

| | | |
|---|---|---|
| वर्त्मार्श | | Granular Conjunctivitis ग्रॅन्युलर कन्जंक्टिव्हायटिस्. |
| अञ्जननामिका | | Stye स्टाय. |
| वातहतवर्त्म | इस्तिर्खाय् उल जुफ्न | Ptosis टोसीस्. |
| निमेष | | Blepharosposm ब्लेफेरोस्पॅझम् |
| कुञ्चन | इलतिसाक उल जुफ्न | Atrophy ॲट्रोफी. |
| पक्ष्मकोप | शअर मुन्कलब | Trichiasis ट्रिकियासिस्. |
| उपपक्ष्म | शअर झायद | |
| पक्ष्मशात | इन्तशारउल अहदाब | Tinea Tarsi टिनिया टार्सास. |
| शिरःशूल | सुदाअ | Headache हेडेक्. |
| अर्धावभेद | शकीका | Hemicrania हेमिक्रेनिआ. |
| रक्तप्रदर | इस्तहाजा | Menorrhagia मेनोर्हेजिआ. |
| श्वेतप्रदर | | Leucorrhea ल्युकोर्‍हिआ. |
| वन्ध्यात्व | अक्र | Sterility, Barrenness स्टेरिलिटी, बॅरनेस. |
| योनिकन्द | | Vaginal Polypus व्हॅजायनल् पॉलिपस्. |
| गर्भस्राव | इस्कात हमल | Abortion, ॲबॉर्शन्. |
| मूढगर्भ | | Difficult labour. डिफिकल्ट लेबर. |
| मक्कलशूल | | After pains आफटर् पेन्स्. |
| स्तनरोग-कोप | | Mammary Inflammation मॅमरी इन्फ्लमेशन. |
| स्तन्यदुष्टि | | Diseased Milk डिसीझ्ड मिल्क्. |
| सूतिकारोग | | Peurperal fever प्युएर्पेरल् फी. |
| गति | | Presentation प्रेझेंटेशन. |
| संकीलक | | Vertex. व्हर्टेक्स्. |
| प्रतिखुर | | Hands & feet हँड्स् ॲण्ड् फीट. |
| बीजक | | Head with both hands. |
| परिघ | | Transverse. ट्रान्सवर्स. |
| बालरोग | | Diseases of children. डिसीजेस् ऑफ् चिल्ड्रन्. |
| कुकूणक | | Ophthalmia in Children. ऑफ्थॅल्मिआ इन् चिल्ड्रन्. |
| पारिगर्भिक | | Pining पायनिंग. |
| तालुकंटक | | Polypus on hard palate. |
| महापद्म विसर्प | | Cellulitis सेल्युलाइटिस. |

| | |
|---|---|
| योनिव्यापद् | Disease of Vagina डिसीज् ऑफ् व्हजायना. |
| आर्तव | Menstruation मेनस्टूएशन. |
| सर्पविष | Snake poisoning स्नेक पॉइझनिंग् |
| आखुविष | Rat bite fever or poisoning रॅट चाइट फीवर ऑर पॉइझनिंग्. |
| वृश्चिकविष | Scorpion bite or poisoning स्कॉरपीअन् बाइट ऑर पॉइझनिंग्. |
| स्नायुक | Guinea worm गिनीवर्म. |

---

# माधवनिदानान्तर्गतविषयाणामनुक्रमणिका ।





- 3

## २३ वातरक्तनिदानम् ।

श्रीः

# मधुकोशव्याख्यया सहितं
## रोगविनिश्चयापरनामकं
# माधवनिदानम्



---

## पञ्चनिदानलक्षणम् ।

*प्रणम्य जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारकारणम् ।
स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं त्रैलोक्यशरणं शिवम् ॥ १ ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

यश्चिरविरहार्धव्यक्तराधार्धदेहो दिशतु घनघनाभः पद्मनाभः श्रियं वः ।
निदधदरविन्दसीतद्योतजावारिमध्यभ्रमिभवमिव नाभौ वारिजं यस्य रेजे ॥ १ ॥
भट्टारजेज्जटगदाधरबाप्यचन्द्रश्रीचक्रपाणिवकुलेश्वरसेनभोजैः ।
ईशानकार्तिककुण्डसुधीरवैद्यमैत्रेयमाधवमुखैर्लिखितं विचिन्त्य ॥ २ ॥
तन्त्रान्तराण्यपि विलोक्य ममैष यत्नः सद्भिर्विधेय इह दोषविधौ समाधिः ।
मर्त्यैरपार्थविदुरैर्विहिते क्व नाम ग्रन्थेऽस्ति दोषविरहः सुचिरन्तनेऽपि ॥ ३ ॥

तत्तद्ग्रन्थतरुभ्यो व्याख्याकुसुमरसलेशमाहृत्य ।
भ्रमरेणेव मयाऽयं व्याख्यामधुकोश आरब्धः ॥ ४ ॥
उपयुक्तमिहानुक्तं निदानं माधवेन यत् ।
अन्यव्याख्याप्रसङ्गेन मया तदपि लिख्यते ॥ ५ ॥

अथ प्रथितसर्वायुर्वेदबोधविशुद्धबुद्धिः श्रीमाधवकरो विकारनिकरहेत्वादितत्त्व-

---

* 'तत्र ग्रन्थारम्भे प्रारब्धग्रन्थपरिसमाप्त्यर्थं ग्रन्थश्रोतॄणामपि प्रत्यूहव्यूहप्रशान्त्यर्थं शिष्टाचारपरिपालनार्थं ग्रन्थकारः प्राग्विशिष्टेष्टदेवताप्रणामं निबध्नन्—प्रणम्येत्यादि । सुगमम् । मया रोगविनिश्चयो ग्रन्थो निबध्यत इति संबन्धः । किं कृत्वा ? प्रणम्य । अत्र सर्वार्थद्योतकेन प्रशब्देन ग्रन्थकृद्भक्तिश्रद्धे द्योतयति । कं ? शिवम् । सकलभुवनस्रष्टुरीश्वरस्य नामवाचकेन तदध्यापकाध्येतॄणां कल्याणमभिलषन् ग्रन्थकारः शिवपदं निबद्धवान् ।' ( टी का० द० ) ॥ १ ॥

बुभुत्सोत्सुकचिकित्सकजनानुजिघृक्षया विधित्सितग्रन्थसंदर्भारम्भे तत्प्रत्यूहव्यूहव्यपोहहेतुं परमाप्ताचारपरम्पराप्राप्तं स्वेष्टदेवताप्रणामं प्राक् प्राणैषीत्; [1]ग्रन्थश्रोतृणामपि विश्वेश्वरमहेश्वरस्य प्रणामानुवादमात्रादपि विघ्नोपशमो भवतीत्यभिप्रायेण तं ग्रन्थादौ निबद्धवान्—प्रणम्येत्यादि। अत्र प्रशब्दो भक्त्यतिशयख्यापकः। निबन्धनक्रियापेक्षया प्रणामस्य पूर्वकालभावित्वात् प्रणमेः क्त्वाप्रत्ययः। जगच्छब्देनोत्पत्तिमन्तः क्षित्यादयोऽभिधीयन्ते; तेषामुत्पत्तौ स्वकारणसमवाये, स्थितौ कतिचित्कालावस्थाने, संहारे प्रध्वंसे, कारणं कर्तारम्। स्वर्गः सुखं, अपवर्गो मोक्ष आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिलक्षणः, तयोर्द्वारमुपायं प्रधानकारणम्। एतेन सकलपुरुषार्थहेतुत्वमुक्तं, सुखावाप्तिदुःखहानिव्यतिरिक्तस्य पुरुषार्थस्याभावात्। अत एव त्रैलोक्यशरणं त्रैलोक्यरक्षितारम्। न चोक्तजगत्स्थितिकारणत्वेन पौनरुक्त्यं, जगच्छब्देनोत्पत्तिमतामेवाभिधानात्। अत्र तु त्रैलोक्यशब्दो भुवनत्रयवर्तिचेतनाचेतनसमूहवाची, लोकशब्दस्य भुवनजनयोरभिधायकत्वात्। तथा चामरः,—"लोकस्तु भुवने जने"–इति; त्रैलोक्यमिति स्वार्थे ष्यञ्, चातुर्वर्ण्यवत्[2]। हरादिपर्यायान् परित्यज्य शिवपदनिर्देशेन ग्रन्थस्य तदध्येतॄणां च सकलकल्याणमभिलषन् शिवपदं निबद्धवान्; शिवकारित्वेनैव महेश्वरस्य शिवपदाभिधानमिति ॥ १ ॥

*नानामुनीनां वचनैरिदानीं समासतः सद्भिषजां नियोगात्।
सोपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गो निबध्यते रोगविनिश्चयोऽयम् ॥ २ ॥
नानातन्त्रविहीनानां भिषजामल्पमेधसाम्।
सुखं विज्ञातुमातङ्कमयमेव भविष्यति ॥ ३ ॥

अभिधेयसंबन्धप्रयोजनोपदेशमन्तरेण प्रेक्षावतां न प्रवृत्तिः स्याद्, इत्यतस्तदभिधानार्थं श्लोकद्वयमाह—नानेत्यादि। रोगाणां विशेषेण वातजत्वादिसाध्यासाध्यत्वादि[3]रूपेण निश्चयो ज्ञानं येन स रोगविनिश्चयो ग्रन्थो निबध्यतेऽभिधीयते, 'अस्माभिः' इति शेषः। तस्य विशेषणं–सोपद्रवेत्यादि।—सह उपद्रवादिभिर्वर्तते यः स तथा; एतेन[4] विशेषणद्वारेण उपद्रवारिष्टनिदानलिङ्गस्वरूपमभिधेयमुक्तं भवति, एतद्व्यतिरिक्त[5]स्याभिधेयस्याभावात्। तथा सति[6] उपद्रवादिभिरभिधेयैः सह ग्रन्थस्य

* 'अयं रोगविनिश्चयो ग्रन्थो निबध्यते विधीयते, रोगाणां विनिश्चयो ज्ञानं यस्मात्स तथा। निश्चीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानं; इदानीमिति–अस्माभिरेव प्रा(मध्ये)धान्येन नानामुनीनां वचनैरेवंविधो ग्रन्थः क्रियते; अन्यैराचार्यैरेवंविधो ग्रन्थो न कृत इत्यर्थः। ग्रन्थस्योत्कृष्टत्वमाह–नानेत्यादि। उक्तं च,–"रोगज्ञानमेवादौ यत्नः कार्यो भिषग्वरैः। इति तस्मिन् क्रियारम्भः पुण्याय यशसे श्रिये ॥" इति ( भा० द० ) ॥ २ ॥ ३ ॥

१ 'ग्रन्थाध्येतॄणामपि' इति ख.। २ 'चत्वारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यं' इति क. पुस्तकेऽधिकः पाठः। ३ 'वातादिजत्व°' इति ख.। ४ 'एतेनास्य विशेषणद्वारा' इति क. ख.। ५ 'एतद्व्यतिरेकेणास्य ग्रन्थस्य' इति क.; 'एतद्व्यतिरेकेणाभिधेयाभावात्' इति ख.। ६ 'सति' इति क. पुस्तके न विद्यते।

वाच्यवाचकलक्षणः संबन्धोऽप्यभिहितः । तत्र, उपद्रवो रोगारम्भकदोषप्रकोपजन्योऽन्यविकारः, उक्तं च चरके(?)—"व्याधेरुपरि यो व्याधिर्भवत्युत्तरकालजः । उपक्रमाविरोधी च स उपद्रव उच्यते"—इति; नियतमरणख्यापकं लिङ्गमरिष्टं; निदानं रोगोत्पादको हेतुः; लिङ्गं रोगख्यापको हेतुः । तेन 'लिङ्ग्यन्ते ज्ञायन्ते व्याधयोऽनेन' इति व्युत्पत्त्या पूर्वरूपरूपोपशयसंप्राप्तयोऽभिधीयन्ते । यद्यपि निदानमपि रोगविशेषं बोधयति, तथाप्युत्पत्तिज्ञप्तिहेतुत्वेन कारणद्वैविध्यप्रतिपादनार्थं तस्य पृथगभिधानम् । एषां चोपद्रवादीनां विस्तराभिधानं यथावसरं करिष्यते । ननु, रोगनिदानादितत्त्वमतिसूक्ष्मत्वेनार्वाग्दृशस्य न ज्ञानविषयः, तत्कथं तदुपदेशे प्रेक्षावतां प्रवृत्तिरित्यत आह—नानामुनीनामित्यादि । एतेन ग्रन्थस्य प्रामाण्यं प्रवृत्त्यङ्गमुक्तं भवति; मुनयो हि तपोयोगर्द्धिबलात्त्रैकालिकनिखिलज्ञानशालिनः पुरुषातिशया उच्यन्ते । ननु, यद्येवंभूतः कस्यचिद्ग्रन्थोऽन्योऽप्यास्ते तेनैव व्यवहारसिद्धेः कृतकार्यत्वेनास्य निष्प्रयोजनता स्यादित्यत आह—इदानीमित्यादि ।—इदानीमस्माभिरेव प्रायश्येन नानामुनीनां वचनैरेवंविधो निबन्धः क्रियते । समासत इति संक्षेपतः । एतेनाल्पबुद्धीनामतिविस्तरत्वेनाप्रवृत्त्यङ्गतादोषः परिहृतो भवति । ननु, कृतेऽपि ग्रन्थेऽनुपादेयपुरुषप्रणीतत्वेन न कश्चिदत्र प्रवर्तिष्यत इति ग्रन्थस्य वैयर्थ्यं स्यादित्यत आह—सद्भिषजां नियोगादिति । नियोगो नियोजनं 'अस्मदुपकाराय ग्रन्थः क्रियतां' इत्येवं प्रार्थनेत्यर्थः; अथवा नियोग आज्ञा, एतेनात्मनः सविनयत्वमुक्तं भवतीत्यर्थः । नानातन्त्रेत्यादि । सुखं यथा भवति तथा आतङ्कं रोगं विज्ञातुमयमेव ग्रन्थो भविष्यति, 'कारणं' इति शेषः । एतेन रोगज्ञानं प्रयोजनमित्युक्तं, फलं चास्य चिकित्सितमिति मन्तव्यम् । यदुक्तं चरके,—"रोगमादौ परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् । ततः कर्म भिषक् पश्चाज्ज्ञानपूर्वं समाचरेत्"—इति ( च. सू. स्था. अ. २० ) । ननु, नानामुनीनां वचनैरेव रोगज्ञानं भविष्यति, किमनेन तदुपजीविना ग्रन्थेनेत्यत आह—अल्पमेधसामिति ।—अल्पमेधसां अल्पबुद्धीनां, महाबुद्धयो हि अतिविस्तरदुरधिगमनानातन्त्राध्ययनक्षमा भवन्ति न त्वल्पबुद्धय इति । महाधियामप्यालस्यानवधानादिदुरुपपादारोपपरीक्षितानामयमेव रोगज्ञानाय भविष्यतीत्याह—नानातन्त्रेत्यादि ॥ २ ॥ ३ ॥

*निदानं पूर्वरूपाणि रूपाण्युपशयस्तथा ।
संप्राप्तिश्चेति विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतम् ॥ ४ ॥

व्याधेस्तत्त्वस्य पञ्च ज्ञानोपाया भवन्तीति तानाह—निदानमित्यादि । एते

---

* "रोगाणां विज्ञाने निमित्तज्ञाने, पञ्चधा पञ्चप्रकारेण, स्मृतं कथितं, 'मुनीन्द्रैः' इति शेषः । [illegible] ।" इति

---

१ 'प्रथमं' इति क. । २ 'ननु, नानामुनिवचनसमुच्चयात्मकेनानेन ग्रन्थेन किं स्यादित्यत आह'—इति क. पुस्तकेऽधिकः पाठः । ३ यथा निदानपूर्वरूपाणि रोगाणां [illegible] इति ।

पञ्च व्यस्ताः समस्ताश्च व्याधिबोधकाः। न च समस्तपक्षे कृतकरत्वं वाच्यं, प्रमाणसंप्लवस्यापि दृष्टत्वात्। न यो ह्यनुमानेन प्रतीतो वह्निः स एव प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपलभ्यते। न वा निदानादीनि प्रेक्षावन्तो ये नैवमालोचयेयुः; एकेनैव प्रतिपादितो व्याधिरिति वयमिहोदास्महे। किंच, एकेन प्रतिपादितेऽपि व्याधावपरेऽवश्यमभिधातव्याः, भिन्नप्रयोजनत्वात्। तथाहि–यदि निदानं नोच्यते तदा तत्परिवर्जनं कथं लभ्येत। उक्तं हि सुश्रुते,–"संक्षेपतः क्रियायोगो निदानपरिवर्जनम्"–इति ( सु. उ. तं. अ. १ )। किंच, यथा–मृद्भक्षणात्पाण्डुरोगः, मक्षिकाभक्षणाच्च छर्दिरवसीयते, न च तथा निदानेन सर्वत्र नियतरोगाध्यवसायः, ज्वरगुल्मादीनामेककारणत्वात्। यदाह चरकः,–"एको हेतुरनेकस्य तथैकस्यैक एव हि। व्याधेरेकस्य बहवो बहूनां बहवस्तथा"–इति ( च. नि. स्था. अ. ८ )। अपिच कदाचिदप्रसारं निदानं बाधित्वा विप्रकृष्टनिदानकृतो दोषसंचयो व्याधिं कुर्यात्, तस्मात्केवलान्निदानान्न व्याधिज्ञानं भवतीति पूर्वरूपादीनामुपादानमिति वाप्यचन्द्रः। असति पूर्वरूपाभिधाने तत्रोक्तः क्रियाविशेषो न सगच्छते। उक्तं हि चरके,–"ज्वरस्य पूर्वरूपे लघ्वशनमपतर्पणं वा"–इति ( च. नि. स्था. अ. १ )। तथा च सुश्रुते–वातिकज्वरपूर्वरूपे घृतपानमिति[6]। तथाऽसाध्यत्वं च नोपलभ्येत। उक्तं च चरके,–"पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया। यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वर-

परिसमाप्तौ। तत्र निदानं सन्निकृष्टविप्रकृष्टभेदेन द्विधा भवति। सन्निकृष्टं यथा–वातादयः कुपिताः ज्वरादिरोगमुत्पादयन्ति। विप्रकृष्टं यथा–हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते च प्रकुप्यति, तथाऽऽहारादिरपि, तत्र कटुकाम्लद्रव्यादिकं पित्तज्वरस्य। पूर्वरूपं यथा–ज्वरस्यैवालस्यादयः। रूपं यथा–शिरःशूल इत्यादि, "आगमापायमध्येषु [illegible]। वैषम्यं तत्र तत्राङ्गे ताश्च स्युर्वेदनाश्चलाः"–इत्यादि च। उपशयो यथा–वाते स्नेहनमर्दनादिनोपशान्तिरुपलभ्यते॥ [illegible] संप्राप्तिर्यथा–यथा दुष्टेनेत्यादि[illegible]। नन्वेकेनैव रोगनिश्चयेऽन्येषामुपादानं व्यर्थं? उच्यते–भिन्नप्रयोजनत्वादेषामुपादानम्। उपशयेन विना संकीर्णलक्षणोऽनभिव्यक्तलक्षणो वा व्याधौ विशेषबोधो न स्यात्, तथा च सुश्रुते,–"अभ्यञ्जस्नेहस्वेदाद्यैर्वातरोगो न शाम्यति। विकारस्तत्र विज्ञेयो दुष्टमत्र हि शोणितम्"–इति। शोणितमोक्षस्योपशय इति। तस्मान्निदानादिपञ्चकपरिज्ञानेन सर्वे रोगा विशेषेणावगम्यन्त इति" ( आ० द० )॥ ४॥

१ प्रमाणसंप्लवस्यापि दृष्टत्वादिति यत्र प्रमातु [illegible] प्रमाणानां प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दानां संप्लवः समूहो दृष्टः, अतः समस्तपक्षे कृतकरत्वं न च वाच्यम्। २ अनुमानेन प्रतीतो यो वह्निः स किं प्रत्यक्षागमाभ्यां नोपलभ्यते? नहि, अपि तु लभ्यत एव। ३ "न च निदानादीनि प्रेक्षावन्तो, येनैवमालोचयेयुरेकेन प्रतिपादितेऽपि, वयमिहोदास्महे" इति क. पुस्तके पाठः। ४ 'व्याधेरेकस्य बहवो बहूनां बहवोऽपि च' इति चरके पाठः। ५ 'तत्र पूर्वरूपदर्शने ज्वरादौ वा [illegible] लघ्वशनमपतर्पणं वा' इति चरके पाठः। ६ "मारुते पूर्वरूपेषु वर्तमानेषु बुद्धिमान्। [illegible]"–इति ( सु. उ. तं. अ. ३९ ) सुश्रुते।

पुरःसरः ॥ अन्यस्यापि च रोगस्य पूर्वरूपाणि यं नरम् । विशन्त्यनेन कल्पेन तस्यापि मरणं ध्रुवम्"–इति ( च. इं. स्था. अ ५ )। तथा रक्तपित्तप्रमेहयोर्विशेषज्ञानं च न जायते । उक्तं च चरके,–"हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपे । यो मूत्रयेत्तं न वदेत्प्रमेहं रक्तस्य पित्तस्य हि स प्रकोपः"–इति ( च चि. स्था अ ६ )। असति रूपाभिधाने व्याधेरशेषेण स्वरूपमेव न व्यवच्छिद्यते, किं च साध्यासाध्यत्वं च न ज्ञायते । तथाहि सुखसाध्यलक्षणे चरकः,–"हेतवः पूर्वरूपाणि रूपाण्यल्पानि यस्य वै । न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्"–इति ( च. सू. स्था. अ. १० ), कष्टसाध्यलक्षणे चरकः,–"निमित्तपूर्वरूपाणां रूपाणां मध्यमे बले"–इति ( च सू स्था. अ. १० ), तथा,—"सर्वसम्पूर्णलक्षणः । सन्निपातज्वरोऽसाध्यः"—इति ( च. चि. स्था. अ. ३ )। असत्युपशयाभिधाने सङ्कीर्णलक्षणेऽनभिव्यक्तलक्षणे वा व्याधौ विशेषबोधो न स्यात् । तदुक्तं चरके,–"गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां"–( परीक्षेत ) इति ( च. वि. स्था. अ ४ )। असत्यां च सम्प्राप्तौ पूर्वरूपादिप्रतीतस्यापि व्याधेश्चिकित्सोपयोगिनोंऽशांशविकल्पनाबलकालादेरप्रतीतेश्चिकित्साविशेषो न स्यात् । तस्मात्पञ्चापि निदानादयो वक्तव्याः । पञ्चविधमप्येतद्व्याध्युत्पत्तिज्ञप्तिहेतुभूतं निदानशब्देनोच्यते । यदाह सुश्रुतः,–"हेतुलक्षणनिर्देशान्निदानानि"–इति ( सु सू स्था अ. ३ )। तत्रैवं निदानशब्दनिरुक्तिः,—'निर्दिश्यते व्याधिरनेनेति निदानं', "दिशेः पृषोदरादित्वाद्रूपसिद्धिः"–इति गदाधरः, "निश्चित्य दीयते प्रतिपाद्यते व्याधिरनेनेति निदानं"–इति जेज्जटः । भट्टारहरिचन्द्रेणापि तन्त्रयुक्त्या निदानादिविवरणप्रस्तावे एषैव निरुक्तिरुक्ता । निशब्दो निश्चये । तथा च वररुचेरुपसर्गसूत्रं,–"नि निश्चयनिषेधयोः"–इति । लोकेऽपि 'अद्य ते निदानं करिष्यामि' इत्युक्ते निश्चयं करिष्यामीत्यवगम्यते । निदानमिति करणे ल्युट्, तेन 'व्याधिनिश्चयकरणं निदानं' इति निदानादिपञ्चकसामान्यलक्षणम् । निदानशब्दोऽयं निदानविशेषे जातौ च वर्तते, यथा–तृणशब्दः तृणविशेषे तृणजातौ च वर्तते । यत्तु, भट्टारहरिचन्द्रेण निदानस्थाने–"या गौः सुदोहा भवति न ता निदद्यीत"–इति व्याधप्रयोगमुपलभ्य निबन्धारो निदानशब्दो व्याख्यातः 'निदीयते नियम्यते हेत्वादिसंबद्धो व्याधिरनेन' इति कृत्वा, तत्तु निदानस्थानरूपमन्याभिप्रायेण नहि हेत्वादयो हेत्वादिसंबद्धं व्याधिं प्रतिपादयन्ति ॥ ४ ॥

*निमित्तहेत्वायतनप्रत्ययोत्थानकारणैः ।
निदानमाहुः पर्यायैः,

एषां निदानादीनां[1] मध्ये समानासमानजातीयव्यावर्तकं कारणस्वरूपनिदानस्य लक्षणमाह—निमित्तेत्यादिना पर्यायैरित्यन्तेन । एतैः शब्दैर्योऽर्थोऽभिधीयते तन्नि-

* 'निदानस्य पर्यायशब्दानाह–निमित्तेत्यादि । पर्यायैरिति निमित्तादिभिः षड्भिरेव पर्यायैर्निदानमाहुः; 'मुनयः' इति शेषः । तत्र तत्र शास्त्रप्रदेशे निदानमेतैः पर्यायैर्बोद्धव्यमिति ।' ( भा० द० )।

१ 'भयोपविशेषेण' इति क. ख. । २ स्वात्मनि क्रियाविरोधादित्यर्थः ।

दानं; यथा-"बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्" ( न्या. द. प्र. आ. सू. १५ )। ननु, किं मिलितैरेकैकशो वा? नाद्यः, एकार्थाभिधायिनां शब्दानां मिलितानामप्रयोगात्; द्वितीयश्चेत्तदा सव्यभिचारः, निमित्तस्य शकुनादौ, हेतोः प्रयोजके कर्तरि, आयतनस्य स्थाने, प्रत्ययस्य लडादौ, उत्थानस्य उद्गमनोत्सर्गयोश्च दर्शनात्। नैवं, शकुनादीनां निमित्तादिभिः सर्वैरनभिधानात्। अत एवाह-पर्यायैरिति। नहि तेषां ते पर्यायाः, यतः क्रमेणैकार्थवाचकाः शब्दाः परस्परं पर्याया उच्यन्ते। तस्मान्निमित्तादिशब्दैः पर्यायैरभिधीयमानत्वं निदानत्वम्। एतच्च पर्यायकथनं शास्त्रे व्यवहारार्थम्। इदं तु संक्षेपतो लक्षणं-'सेतिकर्तव्यताको रोगोत्पादकहेतुर्निदानं' इति। यन्मते दोषेतिकर्तव्यतारूपा संप्राप्तिरिष्यते तन्मते संप्राप्तिव्युदासार्थं 'सेतिकर्तव्यताक' इति पदं, तस्या दोषेतिकर्तव्यतारूपायां इतिकर्तव्यतान्तराभावात्। यन्मते व्याधिजन्म संप्राप्तिः, तन्मते 'व्याध्युत्पत्तिहेतुर्निदानं' इति लक्षणम्। उभयत्रापि 'उत्पत्ति'पदं ज्ञप्तिहेतुपूर्वरूपादिव्यवच्छेदार्थम्। स च हेतुरनेकधा; तत्र प्रथमं चतुर्विधः, यदाह उपकल्पनीयाध्याये हरिचन्द्रः,-"सन्निकृष्टविप्रकृष्टव्यभिचारिप्राधानिकभेदाच्चतुर्धा"-इति। सन्निकृष्टो यथा—नक्तंदिनर्तुभुक्तांशा दोषप्रकोपस्य हेतवः, न ते चयादिकमपेक्षन्ते। विप्रकृष्टो यथा—"हेमन्ते निचितः श्लेष्मा वसन्ते कफरोगकृत्"; किंवा सन्निकृष्टो ज्वरस्य रूक्षादिसेवा, विप्रकृष्टो रुद्रकोपः। व्यभिचारी यथा-यो दुर्बलत्वाद्व्याधिकरणासमर्थः। यदाह चरकः-"( निदानादिविशेषा ) अबलीयांसोऽथवाऽनुबध्नन्ति, न तदा विकाराभिनिर्वृत्तिः"-इति ( च. नि. स्था. अ. ४ )। प्राधानिको यथा—विषादिः; त्रिविधो वा, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगप्रज्ञापराधपरिणामभेदात्। तत्र, असात्म्येन्द्रियार्थसंयोगोऽयोगातियोगमिथ्यायोगयुक्ता रूपरसादयः, प्रज्ञापराधो मिथ्याज्ञानादिः, परिणामो अयोगादियुक्ता ऋतुस्वभावजाः शीतादयः। "अधर्मस्य च रोगहेतोरत्रैवान्तर्भावः"-इति भट्टारहरिचन्द्रः, तस्यापि कालान्तरपरिणतस्य दुःखकर्तृत्वात्। चक्रस्तु प्रज्ञापराधे तस्यान्तर्भावमाह; मिथ्याज्ञानकृतब्रह्मवधादिजन्मनोऽधर्मस्य प्रज्ञापराध एव मूलं; बलाबलं त्वत्र न निरूप्यते, रोगकारणत्वेनाधर्मस्य सर्वथा विद्यमानिति। दोषव्याध्युभयहेतुभेदाच्च स त्रिविधः। दोषहेतवो यथा—चयप्रकोपप्रशमनिमित्ता यथर्तुरूपका मधुरादयः। व्याधिहेतवो यथा—मृद्भक्षणं पाण्डुरोगस्य कारणम्। यद्यपि मृदपि दोषं प्रकोपयत्येव; यदुक्तं चरके,-"कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्"-इति ( च. चि. स्था. अ. १६ ); तथाऽपि तत्कैर्दोषैः पाण्डुरोग एवारभ्यते न त्वन्यो विकार इति व्याधिहेतुता भवति। उभयहेतुर्यथा—वातरक्ते,-"हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च"-इत्यादि ( सु. नि. स्था. अ. १ )। तत्र यद्यपि दोष-

१ 'धूमरजादित्यादिवचने' इति क.। २ 'उद्गमनोत्सर्गयोः' इति क.। ३ 'पर्यायेण' इति क. ख.। ४ 'तस्यां दोषेतिकर्तव्यतारूपायां' इति क.। इतिकर्तव्यतान्तराभावादिति इतिकर्तव्यता व्यापारः, इतिकर्तव्यतान्तरस्य व्यापारान्तरस्याभावात्, व्यापारे व्यापारान्तरं न तिष्ठतीति भावः। ५ 'हेतु' इति क.। ६ 'बलाबलत्वं तत्र' इति क. 'बलाबलत्वमत्र च' इति ख.।

प्रकोपपूर्वकमेव व्याधिजनन तथापि दोषवध्याधावपि तस्य कारणत्वमिति बोधयति । तेन तत्र न व्याधिहरमात्र भेषज प्रयोज्य किंतूभयप्रत्यनीकम् । न च वाच्यं कारणभूतदोषनिर्हरणेनैव कार्यभूतस्य व्याधेर्निवृत्तिरिति, यत प्रतिनियतशक्तिकानि भेषजद्रव्याणि भवन्ति, यथमन्यथा श्लैष्मिकतिमिरे श्लेष्महरमेव वमन न प्रयुज्यते । यदुक्त सुश्रुते,–" न वामयेत्तैमिरिक न गुल्मिन न चापि पाण्डूदररोगपीडितम्"–इति ( सु चि. स्था अ ३३ )। स एवोत्पादकव्यञ्जकभेदाच्च द्विधा । तत्रोत्पादको यथा—हेमन्तजो मधुररस कफस्य । व्यञ्जको यथा–तस्यैव कफस्य व्यञ्जको वसन्ते सूर्यसन्ताप –इति भट्टारहरिचन्द्र । तत्र व्यञ्जक प्रेरके इत्यर्थ । बाह्याभ्यन्तरभेदाच्च द्विधा । तत्र बाह्या आहाराचारकालादय । एतदभिप्रायेण वीधटाचार्य ,–"व्यायामादपतर्पणात्प्रपतनाद्भङ्गात्क्षयाज्जागराद्वेगाना च विधारणादतिशुच. शैत्यादतित्रासत । रूक्षक्षोभकषायतिक्तकटुकैरेभि प्रकोपं व्रजेद्वायुर्वारिधरागमे परिणते चाह्नेऽपराह्नेऽपि च ॥ कट्वम्लोष्णविदाहितीक्ष्णलवणक्रोधोपवासातपस्त्रीसम्पर्कतिलातसीदधिसुराशुक्तारनालादिभि । भुक्ते जीर्यति भोजने च शरदि ग्रीष्मे सति प्राणिनां मध्याह्ने च तथाऽर्धरात्रिसमये पित्त प्रकोप व्रजेत् ॥ गुरुमधुररसातिस्निग्धदुग्धेक्षुभक्ष्यद्रवदधिदिननिद्रापूपसर्पिप्रपूरै । तुहिनपतनकाले श्लेष्मण संप्रकोप प्रभवति दिवसादौ भुक्तमात्रे वसन्ते" ( चि क श्लो. २९–३१ )–इति। आभ्यन्तरा यथा–दोषा दूष्याश्च । तत्र, दोषोऽपि प्रकुपित प्राकृतादिभेदादनेकधा । प्राकृतो यथा–वसन्ते श्लेष्मा, शरदि पित्त, प्रावृषि वायु । वैकृतस्तु यथा–वसन्ते पित्त वायुर्वा, वर्षासु कफ पित्त वा, शरदि कफो वायुर्वा । अस्य प्रयोजन सुखसाध्यत्वादि । यदुक्त चरके,–"प्राकृत सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भव "–इत्यादि( च चि स्था अ ३ )। अनुबन्ध्यानुबन्धभेदाच्च द्विधा । अनुबन्ध्य प्रधान, अनुबन्धोऽप्रधानम् । यदाह चरक ,–"स्वतन्त्रो व्यक्तलिङ्गो यथोक्तसमुत्थानोपशमो भवत्यनुबन्ध्य , तद्विपरीतलक्षणस्त्वनुबन्ध "–इति ( च चि स्था अ. ६ ) अस्य प्रयोजनं संसर्गजे व्याध्यावनुबन्ध्यो विशेषेण चिकित्स्योऽनुबन्धाविरोधेन । तदुक्त चरके,–"तत्रोपद्रवस्य प्राय प्रधानप्रशमात्प्रशम "–इति ( च चि. स्था. अ २१ )। उपद्रवोऽनुबन्ध्य । प्रकृतिविकृतितो यथा–वातप्रकृतेर्वातरोग कष्टसाध्यो भवति, कफपित्तप्रकृतेस्तु सुखसाध्य । यदाह सुखसाध्यलक्षणे चरक,–"न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोष प्रकृतिर्भवेत्–" इति ( च. सू, स्था अ. १० ) । आशयापकर्षतो यथा–यदा स्वस्थानस्थितमेव दोषं स्वाशयादाकृष्य वायु स्थानान्तरं गमयति तदा समानस्थोऽपि स विकारं जनयति । यदाह चरक –"प्रकृतिस्थ यदा पित्त मारुत श्लेष्मण क्षये । स्थानादादाय गात्रेषु यत्र यत्र विसर्पति ॥ तदा भेदश्च दाहश्च तत्र तत्रानवस्थित । गात्रदेशे भवत्यस्य श्रमो दौर्बल्यमेव च"–इति ( च. सू. स्था अ. १७ )। अस्य प्रयोजनं वातस्यैव तत्र विगुणस्य स्वस्थानानयनं कार्यं, नतु पित्तस्य ह्रासनं, "ये रोगा पित्तस्य स्थाना-

१ 'कफपस्य' इति क ग. । २ 'अभिष्यन्दितमहरेद' इति क. ख. ।
३ 'स्थानस्थितमेव' इति क. ख. । ४ 'समानस्थोऽपि' इति क. ख. । ५ 'नतु पित्तस्य ह्रासनेन स्वाशयापकर्षेण' इति क. ख. ।

क्षतिं न विदन्ति ते दाहोपलम्भेन पित्तवृद्धिं मन्यमाना पित्तं ह्रासयन्तः पित्तक्षयलक्षणं रोगान्तरमेवोत्पादयन्त आतुरमतिपातयन्ति" इति भट्टारहरिचन्द्र । अन्ये त्वाहु —आजकादिभेदेन सर्वदेहस्थिते पित्ते यदा स्वाशयाकृष्टं पित्तमवयवान्तरमनिलेन प्रापितं तदा तदवयवान्तरस्थं पित्तमागन्तुपित्तसम्बन्धेनाधिकमेव जातं, ततश्च (पित्त)वृद्धिलक्षणैवेयं कुपितिर्न कुप्यन्तरं, अन्यथा दाह एव न स्यात्, नहि समानस्थो दोषो विकारं जनयतीति । भट्टारहरिचन्द्रस्य त्वयमभिप्राय —यद्यप्येवं तथापि चिकित्साभेदार्थं वृद्धिक्षयव्यतिरिक्तस्थानान्तरगतिरूपो कुपितिविशेषोऽवश्यमेवेष्टव्य, अन्यथा वृद्धं पित्तमिति मत्वा विरेचनं पित्तह्रासनं वा कार्यं, न च तत्तत्र योग्यं, किं तु स्वस्थानानयनम् । यच्चोक्तं चरकेण,—"क्षय स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गति"—(च सू स्था अ १७) इत्यादि, तत्प्रायिकमिति । गतितो यथा-गतिर्दोषाणां क्षीणवृद्धत्वादय । यदुक्तं चरके,—"क्षय स्थानं च वृद्धिश्च दोषाणां त्रिविधा गति । ऊर्ध्वं चाधश्च तिर्यक्च विज्ञेया त्रिविधा परा ॥ त्रिविधा चापरा कोष्ठशाखामर्मास्थिसन्धिषु"—इति (च सू स्था अ १७)। अत्र स्थानमिति समत्वम् । तत्र क्षयादिलक्षणं यथा,—"दोषा प्रवृद्धा स्वं लिङ्गं दर्शयन्ति यथाबलम् । क्षीणा जहति स्वं लिङ्गं, समा स्वं कर्म कुर्वते"—इति (च सू स्था अ १७)। स्वं लिङ्गमिति कुपितस्य वायो रौक्ष्यादयो धर्मा, कर्माणि च स्रंसशूलादीनि । यदाह चरकपाठसमावी सुश्रुतसेन ,—"आध्मानस्तम्भरौक्ष्यस्फुटनविमथनक्षोभकम्पप्रमोदा कण्ठध्वंसावसादौ श्रमकविलपने स्रंसशूलप्रभेदा । पारुष्यं कर्णनादो विषमपरिणतिभ्रंशदृष्टिप्रमोहा, विस्पन्दोद्वेष्टनानि ग्लपनमशयनं ताडनं पीडनं च ॥ नामोन्नामौ विषादो भ्रमपरिपतनं जृम्भणं रोमहर्षौ, विक्षेपाक्षेपशोषग्रहणसुषिरताच्छेदनं वेष्टनं च । वर्णं श्यावोऽरुणो वा तृडपि च महती स्वापविच्छेदसङ्गा, निःसत्त्वमाम्यमूनि प्रकुपितमरुत स्यात्कषायो रसश्च ॥ विस्फोटाम्लकधूमका प्रलपनं स्वेद सुनिर्मूर्च्छनं, दौर्गन्ध्यं दरणं मदो विसरणं पाकोऽरतिस्तृड्भ्रमौ । ऊष्माऽतृप्तितम प्रवेशदहनं कट्वम्लतिक्तौ रसौ, वर्णः पाण्डुविवर्जित प्रकुपितस्याकर्माणि पित्तस्य वै ॥ तृप्तिस्तन्द्रा गुरुत्वं स्तैमित्यं कठिनता अङ्गाधिक्यम् । स्नेहावलेपकुण्डेपा शैत्यं कण्डू प्रसेकश्च ॥ चिरकर्तृत्व शोथो निद्राधिक्यं रसौ पटुस्वादू । एतं श्वेतोऽल्पता कर्माणि कफस्य जानीयात् ॥ द्विदोषलिङ्गै संसर्गं सन्निपातस्त्रिलिङ्गक '—इति । त्रिविधाप्रयोजनं च चिकित्साभेदाय्यम् । यदाह सुश्रुत ,—"क्षीणा वर्धयितव्या , वृद्धा ह्रासयितव्या , समा पालयितव्या"—इति (सु चि स्था अ ३३)। ऊर्ध्वादिगतिर्यथा-ऊर्ध्वगं रक्तपित्तमित्यादि । अस्य प्रयोजनं रक्तपित्तस्योर्ध्वगस्य विरेचनं, अधोगस्य वमनम् । यथोक्तं चरके,—"प्रतिमार्गं च हरणं रक्तपित्ते विधीयते '—इति (च नि स्था अ २)। यत्तु गतिभेदानभिज्ञ स 'विरेकः पित्तहराणां"—इति (च सू स्था अ २५) वचनादधोगे रक्तपित्ते विरेकं प्रयुञ्जान आतुरस्यानर्थमेवोत्पादयति, उत्त

---

१ 'समानस्थ ' इति क ख । २ 'कुपुल्येन ' इति क । ३ 'लक्षणैरेवतत्' इति क । ४ 'भ्रमपरिस्पन्दन, इति क । ५ 'विदरणं' इति क ख ।

दिषु तिर्यग्दोषगतिषु यथोक्तं चिकित्सितमिति । वृद्धा दोषा कदाचित्कोष्ठं कदाचिच्छाखा कदाचिन्मर्मास्थिसन्धीनाश्रित्य रुजन्ति, मर्मास्थिसन्धिषु गतिं कृच्छ्रसाध्यत्वापादकत्वादेकत्वेन निर्दिष्टा । कोष्ठ आमाशयादि, शाखा रक्तादयो धातवस्त्वक्चेति, चरकस्तैवेयं सञ्ज्ञा । कोष्ठाद्यभिधानप्रयोजनं चिकित्साभेदार्थम् । यथोक्तं चरके,—"आमाशयगते वाते कफे पक्वाशयाश्रिते । रूक्षपूर्वो हितः स्वेदः स्नेहपूर्वस्तथैव च" ( च सू स्था अ. १४ ) तथा—"सन्ततं रसरक्तस्थः सोऽन्येषु पिशिताश्रितः"—(सु उ त अ ३९) इत्यादि, तथा,—"नाभिकर्मोपदेष्टव्यः स्नायुमर्मव्रणेषु च"—इति । एते च दोषाः सामत्वनिरामत्वाभ्यामपि ज्ञातव्याः । यदुक्त,—"ऊष्मणोऽल्पबलत्वेन धातुमाद्यमपाचितम् । दुष्टमामाशयगतं रसमामं प्रचक्षते ॥ आमेन तेन संयुक्ता दोषा दूष्याश्च दूषिताः । सामा इत्युपदिश्यन्ते ये च रोगास्तदुद्भवाः ॥ स्रोतोरोधबलभ्रंशगौरवानिलमूढताः । आलस्यापक्तिनिष्ठीवमलसङ्गारुचिक्लमाः ॥ लिङ्गं मलानां सामानां निरामाणां विपर्ययः ।" ( वा सू स्था अ १३ )। वायुः सामो विबन्धाग्निसादस्तन्द्रान्त्रकूजनैः ॥ वेदनाशोथनिस्तोदैः क्रमशोऽङ्गानि पीडयेत् । विचरेद्युगपच्चापि गृह्णाति कुपितो भृशम् । स्नेहाद्यैर्वृद्धिमाप्नोति सूर्यमेघोदये निशि । निरामो विशदो रूक्षो निर्विबन्धोऽल्पवेदनः ॥ विपरीतगुणैः शान्तिं क्लिग्धैर्याति विशेषतः । दुर्गन्धं हरितं श्यावं पित्तमम्लं स्थिरं गुरु ॥ अम्लिकाकण्ठहृद्दाहकरं सामं विनिर्दिशेत् । आताम्रं पीतमत्युष्णं रसे कटुकमस्थिरम् ॥ पक्वं विगन्धं विज्ञेयं रुचिपक्तिबलप्रदम् । आविलस्तन्तुलः स्त्यानः कण्ठदेशेऽवतिष्ठते । सामो बलासो दुर्गन्धः क्षुदुद्गारविघातकृत् ॥ फेनवान्पिण्डितः पाण्डुर्निःसारोऽगन्ध एव च । पक्वः स एव विज्ञेयश्छेदवान्वक्त्रशुद्धिकृत्"—इति । अस्य प्रयोजनं सामे पाचनं, निरामे शमनमिति । एते च दोषाः परस्परसम्बन्धात्तरतमादिभेदेन द्विषष्टिधा भवन्ति । तदुदाहरणानि विस्तरत्वापत्तेरत्र न लिख्यन्ते, सौश्रुतदोषभेदविकल्पाध्याये द्रष्टव्यानि । उक्तहेतुदोषभेदयोः सङ्ग्रहश्लोकौ—"चत्वारो व्यभिचारिदूरनिकटप्राधानिकास्तत्पुनस्त्रेऽसात्म्येन्द्रियकार्ययुक्परिणतिप्रज्ञापराधास्त्रिधा । तद्दोषोभयकारणादपि तथा, द्वौ व्यञ्जकोत्पादकौ, बाह्याभ्यन्तरभेदतोऽपि कथिता हेतोः प्रभेदा अमी ॥ दोषस्य च प्राकृतवैकृताभ्यां, भेदोऽनुबन्ध्यादपि चानुबन्धात् । तथा प्रकृत्यप्रकृतिस्वयोगात्तथाऽऽशयाकर्षवशाद्द्वयेऽथ"—इति निदानम् ॥—

*प्राग्रूपं येन लक्ष्यते ॥ ५ ॥

उत्पित्सुरामयो दोषविशेषेणानधिष्ठितः ।

लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद्व्याधीनां तद्यथायथम् ॥ ६ ॥

*प्राग्रूपलक्षणमाह—प्राग्रूपमित्यादि । येन जृम्भालस्यारुच्यादिना उत्पित्सुरुत्पत्तुमिच्छुरामयो

---

१ "यथास्वं यथस्य व्याधेर्ज्वराद्यन्यतमस्य आत्मीयमात्मीयं, अतश्च प्राग्रूपं त्रिधा दृश्यते—किञ्चिच्छारीरं, किञ्चिन्मानसं, किञ्चिच्छारीरमानसं चेति । तत्र शारीरं यथा—ज्वरस्याल्पश्वासवैरस्यगात्रगौरवजृम्भाक्षाकुलत्वाद्युद्वेलनमाय, मानसं च—अरतिर्हितोपदेशेष्वक्षान्तिरित्येवमाय, किञ्चिच्छारीरमानसं यथा—शीतेच्छा पट्वग्ने, द्वेषः स्वादुषु भक्ष्येष्विन्वेवमाद्यं, शारीरमानसदोषजनितत्वात्" इति वाग्भटटीकायामरुणदत्तः (वा नि स्था अ १)।

निदानानन्तरीयकत्वात्पूर्वरूपादीनां तदनन्तरं प्राग्रूपमाह—प्राग्रूपमित्यादि । द्विविधं हि पूर्वरूपं भवति, सामान्यं विशिष्टं च । तत्र सामान्यं येन दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते, न तु वातादिजनितत्वादिविशेषः । यथा,–'श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं'–इत्यादि ( मा. ज्व. नि. श्लो. ४ ); तथा देवगुरुविप्रद्वेषादि । सामान्याभिप्रायेणैव तन्त्रान्तरं,–"व्याधेर्जातिर्बुभूषा च पूर्वरूपेण लक्ष्यते । भावः किमात्मकत्वं च लक्ष्यते लक्षणेन हि"–इति । तथाऽऽह पराशरः,–"पूर्वरूपं नाम येन भाविव्याधिविशेषो लक्ष्यते न तु दोषविशेषः"–इति । विशिष्टं यथा–उरःक्षतादौ लिङ्गान्येव वातादिजान्यव्यक्तानि । यदुक्तं तत्रैव–"अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतं"–इति । तथा सुश्रुतः,–"सामान्यतो, विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् । पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिस्तथा"–इति ( सु. उ. तं. अ. ३९ ) । हारीतेऽप्युक्तं,–"इति पूर्वरूपमष्टानां ज्वराणां सामान्यतः, विशेषतस्तु जृम्भाङ्गमर्दभूयिष्ठं हृदयोद्वेगि वातजम्"–इत्यादि । ननु, चात्यर्थं व्यक्तत्वं ततश्च जृम्भादेरपि रूपत्वं प्रसज्येत; यद्वक्ष्यति,–"तदेव व्यक्ततां यातं रूपमित्यभिधीयते"–इति । उच्यते, यथा श्रमादय इतररोगव्यतिरिक्तं भाविज्वरमात्रं बोधयन्ति न तु वातज्वरादिविशेषमित्यतस्तेषामव्यक्तत्वं, तथा पित्तादिज्वरव्यतिरिक्तं भविष्यद्वातज्वरमात्रं बोधयन्ति जृम्भादयः, न तु वातस्य रूक्षशीतधातुक्षयावरणादिजन्यस्वरूपविशेषं बोधयन्ति; इत्यतोऽव्यक्तवातज्वरबोधकत्वादव्यक्तत्वमेव जृम्भादीनामिति जेज्जटव्याख्या-

---

ज्वरादिर्लक्ष्यते ज्ञायते तत् प्राग्रूपं भाविव्याधिबोधकलिङ्गमित्यर्थः । किंभूत आमयः ? दोषविशेषेण वातादिनाऽनधिष्ठितः अनासादितः । तर्हि वातादिदोषेणानधिष्ठितस्य व्याधेरुत्पित्सुत्वमेव न घटते, कारणाभावात्; न हि वातादीन् विहाय व्याधेः प्रायेणान्यतः संभवः संभाव्यते, तथाहि–"सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः"–इति; तस्माद्दोषविशेषेणानधिष्ठितत्वमुत्पित्सोरामयस्य यदुच्यते, तदव्यक्तरूपदोषापेक्षयाऽवगन्तव्यमिति । तत्प्राग्रूपम् । उत्पित्सूनां ज्वरादीनामल्पत्वादनासादितबलत्वादव्यक्तलिङ्गमस्पष्टलक्षणं; यथायथमिति यथा येन यस्य व्याधेः ज्वराद्यन्यतमस्यात्मीयात्मीयमवगन्तव्यम् । तच्च प्राग्रूपं द्विविधं–सामान्यं विशिष्टं च । येन दोषदूष्यधातुसंमूर्छनावस्थाजनितेन भाविज्वरादिव्याधिमात्रं प्रतीयते, न तु वातादिजनितत्वादिविशेषः, तत्सामान्यं, यथा ज्वरस्य 'श्रमोऽरतिर्विवर्णत्व' इत्यादि; येन भाविव्याध्यारम्भकदोषचिह्नप्रदेशमात्रं प्रतीयते तद्विशिष्टं, यथा–"जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् । पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिस्तथा"–इति । अत्र तु विशिष्टे प्राग्रूपे जृम्भादिरूपं दृष्ट्वा रूपत्वमेव न वक्तव्यं. व्याध्यारम्भकदोषमात्रसूचनचिह्नरूपत्वात्; यथाहि तृणादिचये पतितेऽग्निकणे सूक्ष्मत्वात् धूममात्रव्यक्तिं ज्ञात्वा करवस्त्रादिताडनप्रतीकारैस्तदुपशमः कर्तुं शक्यते, न तु प्रज्वलिते वह्नौ; तथा–भविष्यद्रोगारम्भकदोषस्फुरणैकमात्रं व्यक्तं विशिष्टं प्राग्रूपं ज्ञात्वा भाविव्याधेरुपशमः कर्तुं पार्यत इति । अतस्तु पूर्वरूपरूपयोर्भेद एव । तद्द्वयमपि क्वचिच्छारीरं दृश्यते, क्वचिन्मानसं च । तत्र शारीरं यथा—ज्वरस्य–आलस्यास्यवैरस्यगात्रगौरवश्वासाकुलाक्षत्वेत्यादिकम् । मानसं यथा–अरतिर्हितोपदेशेष्वक्षान्तिरित्यादिकम्" ( आ० द० ) ॥ ५ ॥ ६ ॥

चन्द्रमाधवकरकार्तिककुण्डादयो व्याचक्षते । अन्ये त्वाहुः–प्रभूताव्यक्तपूर्वरूपसहचरितव्यक्तस्यापि जृम्भादेः पूर्वरूपव्यपदेशः; यथा–माषराशिः; छत्रिणो गच्छन्तीत्येवमादि । न च व्यक्तत्वेन रूपादभेदः; नियमेन पूर्वरूपरूपयोर्भाविवर्तमानव्याधिबोधकत्वादिति । तत्र विशिष्टपूर्वरूपं रूपावस्थायामनुवर्तत एव, तस्यैवाभिव्यक्तस्य रूपत्वात्; न तु दोषदूष्यसंमूर्च्छनावस्थाजनितं रोमहर्षबालप्रद्वेषादिकं नियमेनानुवर्तते, यद्यनुवर्तेत तदा सर्वज्वराणामसाध्यत्वं प्रसज्येत । एतदभिप्रायेण, "पूर्वरूपाणि सर्वाणि ज्वरोक्तान्यतिमात्रया । यं विशन्ति विशत्येनं मृत्युर्ज्वरपुरःसरः"–इति ( च. इ. स्था. अ. ५ ) चरकवचनमित्याहुः । तदेवं द्विविधे पूर्वरूपे व्यवस्थिते सामान्यपूर्वरूपमाह–प्राग्रूपमित्यादि । येन श्रमादिना, उत्सिसुः सामग्रीसाकल्यादुत्पादेच्छुः, आमयो रोगः, दोषविशेषेण वातादिजन्यासाधारणवैषम्यादिना, अनधिष्ठितोऽसंबद्धो, लक्ष्यते ज्ञायते, तत्प्राग्रूपमिति । विशिष्टप्राग्रूपमाह–लिङ्गमव्यक्तमल्पत्वाद्व्याधीनां तद्यथायथमिति ।–प्राग्रूपमित्यनेन पूर्वोक्तेन संबन्धः; लिङ्गं लक्षणं, अव्यक्तं नातिव्यक्तं, अत्र हेतुरल्पत्वादणुत्वात्, नत्वावरणादियोगादव्यक्तमित्यर्थः; यथायथं यस्य व्याधेर्यद्रूपं तदेवाव्यक्तं तस्य पूर्वरूपमित्यर्थः । अन्ये तु पूर्वरूपलक्षणमाहुः–"स्थानसंश्रयिणः क्रुद्धा भाविव्याधिप्रबोधकम् । दोषाः कुर्वन्ति यल्लिङ्गं पूर्वरूपं तदुच्यते"–इति । तन्नातियुक्तं, राजयक्ष्मणः पूर्वरूपस्य तृणकेशनिपातादेरदृष्टजन्यस्याव्यापकत्वात् । यदाह चरकः,–"मक्षिकाणां घुणकेशानां तृणानां पतनानि च । प्रायोऽन्नपाने, केशानां नखानां चाभिवर्धनम्"–इति ( च. चि. स्था. अ. ८ ) । न च तदपि दोषजं, दोषाणां तृणादिभिरसंबन्धात्, असंबद्धस्य च भावस्य कारणत्वेनादृष्टत्वात्, परम्परया तु संबन्धकल्पनयाऽतिप्रसङ्गात्, सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात् । एतद्दोषपरिजिहीर्षयैव परमकुशलेन वाग्भटेनादृष्टदोषजसर्वपूर्वरूपोपसंग्राहकं येनेतिपदं निबद्धमिति मत्वा तदीयपूर्वरूपलक्षणमेव माधवकरो लिखितवान् । संक्षेपतस्तु लक्षणं "भाविव्याधिबोधकमेव लिङ्गं पूर्वरूपं" इति । एवकारेण निदानोपशययोः संप्राप्तेश्च दोषैविकर्तव्यत्वाद्रूपाया व्यवच्छेदः, तेषां तज्जातीयानामुत्पन्नानुत्पन्नव्याधिबोधकत्वात् । तथा हि–निदानं रूक्षणरूपं भाविपाण्डुरोगमनुपशयरूपं च वर्तमानविशिष्टव्याधिं बोधयति, उपशयोऽपि पूर्वरूपावस्थाप्रयुक्तो भाविविशिष्टव्याधिं ज्ञापयति, रूपावस्थाप्रयुक्तश्च वर्तमानविशिष्टव्याधिं ज्ञापयति, संप्राप्तिश्च पूर्वरूपस्य मध्याह्नादावुत्पत्तिप्रकोपाभ्यां भविष्यद्विशिष्टव्याधिं, रूपैस्य च मध्याह्नप्रकोपादिना वर्तमानविशिष्टव्याधिं ज्ञापयति; इत्येवामुत्पन्नानुत्पन्नव्याधिबोधकत्वम् । ननु, यदा पूर्वरूपविशेषं स्मृत्वोत्पन्नव्याधेर्विशेषावधारणं तदा पूर्वरूपमपि वर्तमानव्याधिबोधकं, यथोक्तं रक्तपित्तप्रमेहरूपसंदेहे चरकेण,—"हारिद्रवर्णं रुधिरं च मूत्रं विना प्रमेहस्य हि पूर्वरूपैः" ( च. चि. स्था. अ. ६ )–इत्यादि । अत्रोच्यते, किं व्याधिजन्मनः पूर्वं पूर्वरूपं गृहीतं न वा? आद्ये भाविव्याधिबोधकत्वमेव; द्वितीये स्मरणोत्पत्तिरेव न स्यात्, अनुभवाभावात् । अथोच्यते–पूर्वरूपं दन्तादीनां मलाढ्यत्वादिरूपं स्वरूपेणानुभूतमेव, किंतु प्रमेहपूर्वरूपतया न प्रतिभातं; उत्पन्ने तु व्याधौ तत्स्मृतं प्रमेह-

१ 'रूपं' इति क. 'रूपे' इति ख. । २ 'प्रमेहस्त्रिकया' इति क. ख. ।

*हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।
औषधान्नविहाराणामुपयोगं सुखावहम् ॥ ८ ॥
विद्यादुपशयं व्याधेः स हि सात्म्यमिति स्मृतः ।
विपरीतोऽनुपशयो व्याध्यसात्म्याभिसंज्ञितः ॥ ९ ॥

उपशयमाह—हेतुव्याधीत्यादि । हेतुर्बाह्य आभ्यन्तरश्च, व्याधिर्ज्वरादिः, एतयोर्हेतुव्याध्योर्व्यस्तसमस्तयोर्विपर्यस्ता विपरीताः, एतयोरेव व्यस्तसमस्तयोर्विपर्यस्तार्थकारिणो निदानसमानधर्मिणोऽपि प्रभावाद्रोगप्रशमकारिणः, एवंविधा ये औषधान्नविहारा भेषजाहाराचारास्तेषामुपयोगमाचरणं सुखावहं सुखकरमुपशयं विद्यादुपश-

* "अथोपशयलक्षणमाह—हेतुव्याधिविपर्यस्तेत्यादि । युग्मम् । उपयुज्यत इत्युपयोगः । सुखमावहति सम्यगनुबन्धेन सुखमुत्पादयतीति सुखावहः । ईदृशो य उपयोगः सुखावहस्तमुपशयं विद्यात् जानीयात् । केषामुपयोगः ? औषधान्नविहाराणाम् ।—औषधं हरीतक्यादि, अन्नं रक्तशाल्यादि, विहारो—वाग्देहमनोनिर्वर्तितचेष्टाविशेषो व्यायामजागरणाध्ययनादिरूपः; औषधं च अन्नं च विहारश्च औषधान्नविहारास्तेषाम् । किंभूतानाम् ? हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणाम् ।—हेतुश्च व्याधिश्च हेतुव्याधी, तयोर्व्यस्तसमस्तयोर्विपर्यस्ता निदानरोगयोर्विपरीताः; तथा विपर्यस्तानामर्थो विपर्यस्तार्थः, तयोर्व्यस्तसमस्तयोरेव विपरीतमर्थं कुर्वन्तीति विपर्यस्तार्थकारिणः, हेतुव्याधिविपर्यस्ताश्च विपर्यस्तार्थकारिणश्च हेतुव्याधिविपर्यस्तविपर्यस्तार्थकारिणस्तेषाम् । तेषां विपर्यस्तानामर्थं कुर्वन्तीति प्रकृतत्वात् हेतुव्याधिविपर्यस्तानाम् । तदाऽयमर्थः—निदानरोगयोर्व्यस्तसमस्तयोर्विपरीता अपि कारणरूपा इव भासमाना व्याधिरूपा इव भासमाना हेतुव्याधिविपरीतानामर्थं व्याध्युपशमलक्षणं कुर्वन्तीति । यथा हेतुविपरीतैरौषधान्नविहारैर्व्याध्युपशमः क्रियते प्रतिपक्षत्वात्, एवं विपर्यस्तार्थकारिभिरपीत्यर्थः । तथा च हेतुविपरीतानां, व्याधिविपरीतानां, हेतुव्याधिविपरीतानां, हेतुविपरीतार्थकारिणां, व्याधिविपरीतार्थकारिणां, हेतुव्याधिविपरीतार्थकारिणां, औषधान्नविहाराणां यः सुखावह उपयोगः स उपशय इति संपिण्डार्थः । अथ क्रमेणोदाहरणानि । व्याधिविपरीतो विहारो यथा—उदावर्ते प्रवाहणम् । सशब्दं हृत्कण्ठबलेन वायोरधोऽधो नयनं प्रवाहणम् । हेतुव्याधिविपरीतमन्नं यथा—वातकफग्रहण्यां तक्रं वातकफहरं ग्रहणीहरं च । हेतुव्याधिविपरीतो विहारो यथा—स्निग्धायां दिवास्वप्नजायां तन्द्रायां तन्द्राविपरीतं स्निग्धताहरं च रात्रौ जागरणमिति । व्याधिविपरीतार्थकारी विहारो यथा—छर्द्यामङ्गुष्ठोत्पलनालादिना वमनम् । वमनविरेकाभ्यां छर्द्यतीसारयोर्वृद्धिरेव कर्तुं युक्ता, इह तु शमनकरणाद्विपरीतार्थकारित्वम् । हिशब्दः पादपूरणे । स उपशयो व्याधेरामयस्य सात्म्यमिति स्मृतः । एवंविधगुणविपरीतो य आहारो विहारश्च प्रायेण निदानविपरीतः स व्याधिसात्म्यः । उक्तं च चरके—"देशानामामयानां च विपरीतगुणं गुणैः । सात्म्यमिच्छन्ति सात्म्यज्ञाश्चेष्टितं चाद्यमेव च"—इति । उपशयकथनप्रस्तावादनुपशयोऽपि वाच्य इत्याह—विपरीत इत्यादि । अतो यथानिर्दिष्टलक्षणादुपशयात्स्याद्यो विपरीतलक्षण औषधान्नविहाराणामुपयोगोऽसुखावहः सोऽनुपशय इत्युच्यते, स एव व्याधेरसात्म्यमिति संज्ञितः अभिमुख्येन संकेतित इति" ( आ० द० ) ॥ ८ ॥ ९ ॥

यास्य जानीयाद्यथे । तस्य पर्यायमाह–स हि सात्म्यमिति स्मृत इति । चरकेऽप्युक्तं,–"सात्म्यार्थो ह्युपशयार्थः" इति ( च नि स्था अ १ )। हिशब्द पादपूरणे । सुखावहमिति सुखं रोगनिवृत्तिलक्षणं, यथा व्यपदिशन्ति लोके–भारापगमे सुखिनः संवृत्ताः स्म इति, तत्सुखमावहति सम्यगायत्याऽनुबन्धेन च करोतीति सुखावहम् । एतेन सदाहतृष्णनवज्वरिणः शीतलजलपानं तत्कालसुखकरमपि नोपशय( करं ) इति तात्पर्यार्थः । अत्र, औषधान्नविहाराणामित्युपलक्षणं, तेन देशकालावपि बोद्धव्यौ । अत एव वृद्धवाग्भटेन व्याध्यादिविपरीतमभिधाय "एतेन देशकालावपि व्याख्यातौ"–( वृ वा नि स्था अ १ ) इत्याख्यातम् । सुदान्तसेनोऽप्याह,–"सुखानुबन्धो यो हेतुव्याध्यादिविपरीतकः । देशादिकश्चोपशयो हेयोऽनुपशयोऽन्यथा"–इति । संक्षेपतस्तु लक्षणं–'औषधादिजनितः सुखानुबन्ध उपशय' इति । स्रक्चन्दनवनिताद्युपभोगजनितसुखनिवृत्त्यर्थमौषधादिपदं, अनुबन्धशब्दश्चापथ्यजनिततदात्वसुखनिवृत्त्यर्थं । एतदप्युदाहरणदर्शनपरं, न तु लक्षणं, औषधादीनां हेत्वादिविपरीतानां परस्परव्यभिचारेण लक्षणत्वायोगात् । तस्मात् 'सम्यग्व्याधिजयः खोपशमहेतुरुपशयः,' 'सात्म्यमुपशयः,' इति वा लक्षणं, 'औषधजनितः सुखानुबन्ध उपशयः,' इति वा लक्षणं, चरके आहाराचारदेशकाललङ्घनादीनां द्रव्याद्रव्यभूतानामौषधत्वेनाभिधानात् । अमीषामुदाहरणानि तत्र हेतुविपरीतानि । औषधं यथा–शीत( कफ )ज्वरे शुण्ठ्याद्युष्णं भेषजम् । यदुक्तं,–' शीतेनोष्णकृतान्रोगान् शमयन्ति भिषग्विदः । ये च शीतकृता रोगास्तेषामुष्णं भिषग्जितम्"–इति ( च वि स्था अ ३ ) । अन्नं यथा–श्रमानिलजे ज्वरे रसौदनः । विहारो यथा–दिवास्वप्नोत्थे कफे रात्रौ जागरणमिति । अथ व्याधिविपरीतानि । औषधं यथा–अतिसारे स्तम्भनं पाठादि, तथा शिरीषो विषं हन्ति, खदिरः कुष्ठं, हरिद्रा प्रमेहमिति, नैते दोषमपेक्षन्ते प्रभावाद्रोगप्रशमकारिण इति । वाप्यचन्द्रस्त्वाह,–"ज्वरादिव्याधिहरं यद्द्रव्यं तदपि दोषप्रत्यनीकं, किंतु दोषप्रत्यनीकादस्याय भेदः — यद्दोषप्रत्यनीकं तन्नावश्यं व्याधिहरं, यथा–वमनलङ्घने कफहरे न कफगुल्मं हरतः, उक्तं हि–"कफे लङ्घनसाध्ये तु कर्तरि ज्वरगुल्मयोः । तुल्येऽपि देशकालादौ लङ्घनं न च संमतम्"–इति, तथा,–"न वामयेत्तैमिरिकोर्ध्ववातगुल्मोदरप्लीहक्रिमिश्रमार्तान्"–इति ( सु चि स्था अ ३३ ), 'यत्तु व्याधिहरं तदवश्यं दोषहरं, तद्व्याधिं शमयत्तदारम्भकदोषमपि शमयतीति, अन्यथा स रोगो जित एव न स्यात्, कारणतादवस्थ्यात्' इति । तन्नातिसङ्गतं, इत्यन्ये यतो दोषस्तत्र समवायी निमित्तं वा ? न च समवायिनिमित्ताभावप्रयुक्तो नियमेन कार्याभावः, किन्त्वसमवायिनिमित्ताभावप्रयुक्तोऽपि, यथा—कपालमालासंयोगस्यासमवायिकारणस्य विनाशादपि घटाभावः, तथा–रोगेऽपि सम्प्राप्तिलक्षणस्य संयोगस्य विनाशाद्रोगस्यापि विनाशः, दोषस्तु स्वतः क्रियान्तरेण वा निवर्तते, किंच यदि व्याधिप्रत्यनीकमवश्यं दोषं निवर्तयेदिति स्वीक्रियते, तदोभयप्रत्यनीकाद्भेदो दुरुपपादः स्यादिति । ननु, यदि निमित्तकारणं दोषास्तत्कथं तदारब्धविकारे वमनादिना दोषहरणं विधीयते ? नहि दण्डकुलालाद्यु-

१ 'सुदत्तसेनोऽप्याह' इति न । २ 'हेतुविपरीतादीनां च' इति क ।

च्छेदे पटोच्छेद इति । उच्यते, यत्र यावन्निमित्तकारणस्थायित्वं तत्र निमित्तकारणोच्छेदादपि कार्यनाशः; यथा—वर्तितैलनाशादपि प्रदीपनाशः; तथाभूताश्च दोषाः प्रायश इति । अन्नं यथा—अतिसारे स्तम्भनं मसूरादि । विहारो यथा—उदावर्ते प्रवाहणं; मन्त्रौषधिधारणबल्युपहारनियमप्रायश्चित्तहोमगुरुदेवशुश्रूषादयोऽपि व्याधिविपरीता विहारा इति वाप्यचन्द्रः । अथ हेतुव्याधिविपरीतानि ।—औषधं यथा—वातशोथे दशमूलं वातहरं शोथहरं च । यदुक्तं चरके षड्विरेचनशताश्रितीयेऽध्याये—"पाटला"—इत्यादि यावत्—"दशेमानि शोथहराणि"—इति ( च. सू. स्था. अ. ४ ) । अन्नं यथा—वातकफप्रभवायां तक्रं, शीतवातोत्थे ज्वरे पेया; सा ह्युष्णवीर्यत्वाद्वातं हन्ति प्रभावाज्ज्वरं च । यदुक्तं चरके,—"ज्वरघ्नो ज्वरसात्म्यत्वात्—" इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ); सुश्रुते च,—"ज्वरे पेयातिसारे च यवागूः सर्वदा हिता"—इति (सु. उ. तं. अ. ४०) । विहारो यथा—स्निग्धदिवास्वप्नजातायां तन्द्रायां रूक्षं तन्द्राविपरीतं रात्रिजागरणमिति । अथ हेतुविपरीतार्थकारीणि ।—औषधं यथा—पित्तप्रधाने व्रणशोथे पित्तकर उष्ण उपनाहः । अन्नं यथा—पच्यमाने व्रणशोथेऽन्नं विदाहि । विहारो यथा—वातोन्मादे त्रासनमिति । अथ व्याधिविपरीतार्थकारिणि । औषधं यथा—छर्द्यां वमनकारकं मदनफलादि । अन्नं यथा—अतिसारे ( विरेचनार्थं ) विरेचनं क्षीरम् । विहारो यथा—छर्द्यां वमनार्थं प्रवाहणमिति । अथ हेतुव्याधिविपरीतार्थकारीणि । औषधं यथा—अग्निप्लुष्टे उष्णोऽगुर्वादिलेपः, विषे वा विषम् । अन्नं यथा—मद्यपानोत्थे मदात्यये मदकारकं मद्यम् । विहारो यथा—व्यायामजनितसंमूढवाते जलप्रतरणरूपव्यायाम इति । ननु, छर्द्यां बहुश्लेष्मजातायां वमनयोग्यायां यदि वमनं न क्रियते तदा चिरानुवर्ती रोगोऽनुच्छेद्यो वा स्यात्, ततश्च वमनं प्रयुक्तं दोषप्रत्यनीकमेव भवति; यदुक्तं सुश्रुते,—"छर्दिषु बहुदोषासु वमनं हितमुच्यते"—इति, एवमग्निप्लुष्टेऽप्युष्णक्रियया रक्तस्य विलयनेन स्थानान्तरगमनाद्धेतुप्रत्यनीकत्वम्; अन्यथा रक्तं दाहप्रकुपितं तत्रस्थं पाकमारभेत; यदुक्तं सुश्रुते,—"अग्निना कोपितं रक्तं भृशं जन्तोः प्रकुप्यति । ततस्तेनैव वेगेन पित्तमस्याप्युदीर्यते"—इति ( सु. सू. स्था. अ. १२ ); शीतक्रिया च तत्र निषिद्धा, रक्तस्य स्त्यानत्वहेतुत्वात्; यदाह सुश्रुतः,—"प्रकृत्या ह्युदकं शीतं स्कन्दयत्यतिशोणितम् । तस्मात्सुखयति ह्युष्णं न तु शीतं कथंचन"—इति ( सु. सू. स्था. अ. १२ ) स्कन्दयति स्त्यानीकरोति; तथा अङ्गविषे ऊर्ध्वगस्वरूपे मौलविषमधोगस्वरूपं हेतुविपरीतमेव, यदुक्तं चरके,—"विषं विषघ्नमुक्तं यत्प्रभावस्तत्र कारणम् । ऊर्ध्वानुलोमिकं यच्च तत्प्रभावप्रभावितम्"—इति ( च. सू. स्था. अ. २६ ); अस्यायमर्थः—

---

१ उक्तं हि,—"बहुदोषस्य दीप्ताग्नेः सप्राणस्य न तिष्ठति । पैत्तिको यद्यतीसारः पयसा तं विरेचयेत्"—इति ( च. चि. स्था. अ. १९ ) । २ 'शमनयोग्यायां' इति क. ख. । ३ 'विकारानुवृत्तिः, रोगानुच्छेदो वा स्यात्'—इति क. 'विकारानुवर्ती दोषो रोगानुच्छेदो वा' इति ख. । ४ अस्याग्रे क-पुस्तके 'यथा आमातिसारे क्षीरस्य विरेकितेनामनिःसरणाद्धेतुप्रत्यनीकमेव भवति' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते ।

विपत्वाविशेषेऽपि कुतो गतिभेद इत्यत उक्तं प्रभावप्रभावितमिति; तथा मदकृते मदात्यये यन्मद्यं तदपि मातुलुङ्गचुक्रादियुतं सुश्रुतादिभिर्विहितं केवलाच्च द्रव्यान्तरसंयुक्तमन्यदेव, अथवा वातमदात्यये रूक्षमाध्वीकादिना जनिते स्निग्धपैष्टिकादिमद्यं प्रयुज्यमानं हेतुविपरीतमेव; यच्चोक्तं सुश्रुते,—"यथा नरेन्द्रोपहतस्य कस्यचिद्भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः । ध्रुवं तथा मद्यहतस्य देहिनो भवेत्प्रसादस्तत एव नान्यतः"-इति ( सु. उ. तं. अ. ४७ ); तन्मद्यजातीयाभिप्रायेणैव; यच्चोरुस्तम्भे जलप्रतरणं, तत्रापि जलस्य शैत्येन बहिरगच्छन् देहोष्मा कुम्भकारपचनन्यायेनान्तःपिण्डितो मेदःश्लेष्माणौ विलाययति व्यायामश्च तौ शोषयति, ततस्तु निरावरणो वायुः स्वमार्गप्रतिपन्नो भवतीति हेतुप्रत्यनीकतैव; अनेन न्यायेन सर्वमेव तदर्थकारि यथासंभवं हेतुप्रत्यनीकादावेवान्तर्भवतीति । उच्यते, यद्यप्येवं तथाऽप्यवान्तरवैधर्म्यप्रतिपादनार्थमाचार्यैः पृथग्दर्शितम् । तथा चरकेऽप्युक्तं,—"उपशयः पुनर्हेतुव्याधिविपरीतानां विपरीतार्थकारिणां चौषधाहारविहाराणामुपयोगः सुखानुबन्धः"-इति ( च. नि. स्था. अ. १ ) । वैधर्म्यं च हेतुसमानधर्मकत्वेऽपि रोगप्रशमकत्वमिति । विपरीतोऽनुपशय इति औषधादीनां दुःखकर उपयोगोऽनुपशय इत्यर्थः । तत्पर्यायमाह—व्याध्यसात्म्य इति । व्याधिग्रहणेन दोषोऽपि बोध्यः । ननु, अनुपशयः किं व्याधिविशेषं बोधयति नो वा? नेति चेत्, निदाने तदुपन्यासो व्यर्थः प्रतिपादयतीति चेत्, 'विज्ञानं रोगाणां पञ्चधा स्मृतं'—इति व्याहन्यते, तस्य षष्ठत्वापत्तेः । नैवं प्रतिपादयत्येव । यदाह चरकः,—"गूढलिङ्गं व्याधिमुपशयानुपशयाभ्यां परीक्षेत"-इति ( च. वि. स्था. अ. ४ ) । किंतु निदाने तस्यान्तर्भावो, दोषस्य रोगस्य वा वर्धकत्वात् । इत्यनुपशयस्य निदानेऽन्तर्भावान्न षष्ठत्वापत्तिः । वक्ष्यति च-"निदानोक्तानुपशय-"-इति । इत्युपशयलक्षणम् ॥ ८ ॥ ९ ॥

*यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता ।
निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः ॥ १० ॥

संप्राप्तिमाह—यथेत्यादि । नानाविधा हि दोषाणां दुष्टिः प्राकृती वैकृती वा, अनुबन्ध्यरूपा अनुबन्धरूपा वा, एकशो द्विशो वा समस्ता वा, रूक्षादिभिः सम-

* "अथ संप्राप्तिलक्षणमाह–यथेत्यादि । येन प्रकारेण दुष्टः कुपितो वातादन्यतमो दोषो यथादुष्टस्तेन यथादुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता देहमनुधावता सन्निवेशविशेषेण गच्छता प्रत्यामयं या निर्वृत्तिरुत्पत्तिर्निर्दिष्टा सा संप्राप्तिः । सा च जातिरागतिश्च कथ्यते पर्यायशब्देन । व्याधिजन्म संप्राप्तिरित्येके । यथा–ज्वरस्य मलानामामाशयप्रवेशनेन, तथा धामानुगमनेन, तथा स्रोतोनिरोधेन, तथा च पक्तिस्थानाज्ज्वलननिरसनेन, तथा च तेनैव जाठरेण वह्निना तेषामभिसरणेन, तथा सकलदेहतापेन सकलं गात्रमुष्णं कुर्वता, एवंविधया संप्राप्त्या ज्वरोऽयमिति निश्चीयते । एवमतीसारादिष्वप्येवंविधैव चिन्त्या संप्राप्तिः" ( आ० द० ) ॥ १० ॥

१ अस्याग्रे 'यथा शाल्यर्थं प्रवृत्तया कुल्यया क्रियमाणं बीजान्तराधानं तन्नान्तरीयकं, तदुभयहेतुत्वं साधर्म्योदाहरणवत्' इति क-पुस्तकेऽधिकः पाठः ।

स्त्रैर्गोचैरल्यैर्वा, एवमादिदुष्टिदुष्टेन दोषेण या आमयस्य रोगस्य निर्वृत्तिरुत्पत्तिः सा संप्राप्तिरुच्यते । यथा चानुविसर्पतेति अनेकधा दोषाणां विसर्पणं गतिरूर्ध्वाधस्तिर्यगादिभेदेन तथा विसर्पता संसर्पता । संप्राप्तिपर्यायावाह शास्त्रे व्यवहारार्थं लक्षणार्थं च—जातिरागतिरिति ।–जात्यादिभिः शब्दैर्याऽभिधीयते सा संप्राप्तिरित्यर्थः, जातिरागतिरिति जन्माऽपि ज्ञानकारणं, अजातस्य ज्ञानाभावात्—इत्याह भट्टारहरिचन्द्रः । एतेनैतदुक्तं भवति–नहि निदानादिवद्बोधकत्वेन ज्ञानकारणत्वं, किंतु बोधविषयत्वेन । तन्न—इत्यन्ये, आलोकचक्षुरादेरिव एवंविधसंप्राप्तेश्चिकित्सायामनुपयोगात् । न चास्ति नियमः जातमेव विज्ञायत इति, अजातस्य व्याधेर्निदानपूर्वरूपाभ्यां वृष्ट्यादेरिव मेघादिना ज्ञायमानत्वात् । अथ जातमिति जन्मावच्छिन्नमुच्यते, वृष्ट्यादिकं च भविष्यज्जन्मावच्छिन्नमेव, यस्य तु कालत्रयेऽपि जन्म नास्ति तन्न ज्ञायत एव । तथाऽपि न व्याधिजन्म संप्राप्तिः, जन्मवदालोकचक्षुरादेरपि वाच्यत्वापत्तेः; तैरपि विना ज्ञानाभावात् । तस्माद्दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्मेह संप्राप्तिः नतु केवलं जन्म । वाग्भटेन हि "यथा दुष्टेन"–( वा. नि. स्था. अ. १ ) इत्यादि वदता विशिष्टमेव व्याधिजन्म संप्राप्तिरुक्ता; तथा सति क्रियाविशेषोऽपि लभ्यते । यथा—ज्वरे आमाशयदूषणाग्निहननादिबोधे लङ्घनपाचनस्वेदादिकरणमिति । संप्राप्तिश्चैवंविधा यद्यपि दोषाणामवान्तरव्यापारत्वेन दोषग्रहणेनैव प्राप्यते, तथाऽपि चिकित्साविशेषार्थमेव पृथक् क्रियते; यथा—व्याधेर्ज्ञापकत्वाविशेषेऽपि पूर्वरूपमेव रूपात्पृथगिति ॥ १० ॥

---

२ "अन्येके व्याधिजन्ममात्रमन्त्यकारणव्यापारजन्यं संप्राप्तिमाहुः । इयं च संप्राप्तिर्यद्यपि निदानादिवद्व्याधिबोधिका न भवति, तथाऽपि नानुत्पन्नस्य व्याधेर्लिङ्गं भवतीति कृत्वा स्वरूपेणोपलम्भकत्वं वर्णयन्ति । एतच्चान्ये नानुमन्यन्ते; यतः नैवं सति संप्राप्तितः कश्चिद्विशेषो व्याधेरधिगम्यते । न चायं नियमः–यदुत्पन्न एव परं व्याधिरुपलभ्यते, यतो निदानपूर्वरूपाभ्यामनुत्पन्नो व्याधिर्भावित्वेनोपलभ्यते; तस्माद्व्याधिजनकदोषव्यापारविशेषयुक्तं व्याधिजन्मेह संप्राप्तिः । इयं च संप्राप्तिर्व्याधिविशेषं बोधयत्येव, यथा ज्वरे "स यदा प्रकुपितः प्रविश्यामाशयम्"–इत्यारभ्य "तदा ज्वरमभिनिर्वर्तयति"–इत्यन्तेन या संप्राप्तिरुच्यते; तया ज्वरस्यामाशयदूषकत्वाग्न्युपघातकत्वरसदूषकत्वादयो धर्माः प्रतीयन्ते । नच वाच्यं,–दोषाणामयमामाशयदूषकत्वादिर्धर्मः, ततश्च कारणधर्माणां निदानग्रहणेनैव ग्रहणं भवतीति; यतः कारणधर्मोऽप्ययं व्याधिजनकदोषव्यापाररूपः संप्राप्तिशब्देन विशेषबोधनार्थं पृथक्कृत्योच्यते; यथा–लिङ्गत्वाविशेषेऽपि भाविव्याधिबोधकत्वविशेषात्पूर्वरूपं पृथगुच्यते । अत एव वाग्भटेऽप्येवमेव संप्राप्तिलक्षणमुक्तं,–"यथा दुष्टेन दोषेण यथा चानुविसर्पता । निर्वृत्तिरामयस्यासौ संप्राप्तिर्जातिरागतिः"–इति चरकटीकायां निदानस्थाने संप्राप्तिविवरणे चक्रः । २ 'तथाऽपि न व्याधिजन्म संप्राप्तिः–इत्यत्र 'न' इत्येव क. ख. पुस्तकयोः पाठः । ३ 'वाच्यत्वापत्तेः' इति क. । ४ 'जातमिति विज्ञानाभावात्' इति क. । ५ अस्याग्रे 'इति भट्टारहरिचन्द्राभिप्रायः' इति क. ख. पुस्तकयोरधिकम् । ६ अस्याग्रे कपुस्तके 'तस्माद्दोषेतिकर्तव्यतोपलक्षितं व्याधिजन्म संप्राप्तिरित्येव लक्षणं' इत्यधिकं पठ्यते ।

*संख्याविकल्पप्राधान्यबलकालविशेषतः।
सा भिद्यते यथाऽत्रैव वक्ष्यन्तेऽष्टौ ज्वरा इति॥ ११॥
दोषाणां समवेतानां विकल्पोंऽशांशकल्पना।
स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यां व्याधेः प्राधान्यमादिशेत्॥ १२॥
हेत्वादिकार्त्स्न्यावयवैर्बलाबलविशेषणम्।
नक्तंदिनर्तुभुक्तांशैर्व्याधिकालो यथामलम्॥ १३॥

तस्या औपाधिकभेदमाह—संख्येत्यादिना सा भिद्यत इत्यन्तेन। अत्र च प्राधान्योपादानादप्राधान्यं च तत्प्रतियोगितया बोद्धव्यं, अत एव विवरणे स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामिति वक्ष्यति। एवं बलेऽपि व्याख्येयम्। संख्यादिकमेव विवृणोति—यथेत्यादि। अष्टौ ज्वरा इति संख्याविवरणम्। अष्टत्वं च वातादिकारणभेदात्; एकजास्त्रयो, द्वन्द्वजास्त्रय, सन्निपातज एक, आगन्तुजश्चैक इति। यद्यपि त्रिभिर्दोषैः सन्निपातास्त्रयोदश, यदुक्तं चरके,—"द्व्युल्बणैकोल्बणैः षट् स्युर्हीनमध्याधिकैश्च षट्। समैश्चैको विकारास्ते सन्निपातास्त्रयोदश"–(च. सू. स्था. अ. १७) इति, तथा-

ऽप्यत्र त्रिदोषजत्वसामान्यात्सान्निपातिक एकत्वेन गणितः। एवं कामशोकभयाद्यनेककारणजोऽप्यागन्तुज आगन्तुजत्वसामान्यादेकत्वेन निर्दिष्ट इत्यष्टौ ज्वरा इति। विकल्पं विवृणोति—दोषाणामित्यादि।—दोषाणां समवेतानां परस्परसंबद्धानां, तेन द्वन्द्वसन्निपातयोर्ग्रहणम्। अंशांशकल्पनेति अंशा वातादिगतरौक्ष्यादयः, तैरेकद्वित्र्यादिभिः समस्तैर्वा वातादिकोपावधारणं विकल्पना। यदुक्तं सुश्रुते,—"सर्वैर्भावैस्त्रिभिर्वाऽपि द्वाभ्यामेकेन वा पुनः। संसर्गे कुपितः क्रुद्धं दोषं दोषोऽनुधावति—" इति (सु. सू. स्था. अ. २१)। एवंविधश्च दोषकोपो निदानवैचित्र्याद्भवति। तद्यथा—वातस्य रौक्ष्यशैत्यलाघववैशद्यादिगुणस्य एवंगुणः कषायरसः बलाबलश्च सर्वभाववर्धकः, रौक्ष्यशैत्यलाघववैशद्यैस्तण्डुलीयकः, रौक्ष्यशीताभ्यां कण्डेषु, रौक्ष्येण सीधु; पित्तस्य सर्वभाववर्धकः कटुको रसो मद्यं च, हिङ्गु कटुतीक्ष्णोष्णत्वैः, दीप्यकस्तीक्ष्णौष्ण्याभ्यां, औष्ण्येन तिलाः, तथा श्लेष्मणः सर्वभाववर्धको मधुरो रसो माहिषं च पयः, स्नेहगौरवमाधुर्यै राजादनफलं, कशेरु शैत्यगौरवाभ्यां, शैत्येन क्षीरिणीफलानीति। अपरगुणोदाहरणप्रकारा जेज्जटगदाधरवाप्यचन्द्रव्याख्याविशेषाश्च विस्तरत्वापत्तेरत्र न लिखिताः। प्राधान्यं विवृणोति—स्वातन्त्र्यपारतन्त्र्याभ्यामिति।—अनुबन्ध्यानुबन्धभावेनेत्यर्थः। अत्रापि दोषाणां समवेतानामित्यनुवर्तनीयम्। 'अप्राधान्यं च' इति शेषः, गम्यमानत्वान्नोपदर्शितम्। तेन स्वातन्त्र्यात्प्राधान्यं, पारतन्त्र्यादप्राधान्यमिति सिध्यति। बलं विवृणोति—हेत्वादीत्यादि।—हेतुपूर्वरूपरूपाणां साकल्यात्सर्वैर्बलवत्त्वं, तेषामवयवैरेकदेशेनाबलवत्त्वम्। कालं विवृणोति—नक्तमित्यादि।—नक्तं रात्रिः, दिनमहः, ऋतवो वसन्तादयः, भुक्तमाहारः, एषामंशैरेकदेशैः, व्याधिकालो व्याधिवृद्ध्यादिहेतुकालः। अंशैः, ऋत्वोरंशौ कतिपयान्यहोरात्राणि, यदाह वाग्भटः,—"ऋत्वोरन्त्यादिसप्ताहावृतुसन्धिरिति स्मृतः"—इति (वा. सू. स्था. अ. ३) अथवा सर्वमहोरात्रस्य कालस्य ऋतुरूपोऽशः कल्पनं इत्येवमपि योज्यं, तत्रैकस्य ऋतोर्दिनादिवदादिमध्यान्ता अंशकाः, ऋतौ ऋतुरित्यस्य तत्र कारणत्वेनोक्तत्वात्। यथाक्रमं चयदोषः तद्यथा—रात्र्यादौ श्लेष्मा, मध्ये पित्तं, शेषे वायुः, एवं दिनस्य, वसन्ते कफस्य, शरदि पित्तस्य, वर्षासु वायोः कोपः, एवं भुक्तादौ भुक्तमात्रे कफस्य मध्ये पच्यमानावस्थायां पित्तस्य, अन्ते अन्नपरिणते वायोरिति। तदुक्तं वाग्भटेन,—"ते व्यापिनोऽपि हृन्नाभ्योरधोमध्योर्ध्वसंश्रयाः। वयोऽहोरात्रिभुक्तानां तेऽन्तमध्यादिगाः क्रमात्—" इति (वा. सू. स्था. अ. १)। अत्र ते इति पदेन वातादित्रयम्। ननु, तन्त्रान्तरे पाठेन संख्यादिरद्विविधरुक्तः, यथा—"द्विविधा व्याधयो निजागन्तुभेदेन", "द्विविधं

रक्तपित्तम्" ( च. नि. स्था. अ. १ )-इत्यादि; तत्कुतोऽत्र विधिर्नोक्तः? उच्यते, संख्याग्रहणेन विधेरवरोधः, तस्याव्यभिचरितसंख्यायोगित्वात्। विधिसंख्ययोश्चायं भेदः—विधिर्हि प्रकारः, स चाभिन्नजातीयानामेव कस्यचिद्धर्मान्तरस्यान्वयाद्भवति, यथा—रक्तपित्तत्वाविशेषेऽपि ऊर्ध्वगादिप्रकारो भवति; संख्या तु भिन्नत्वमात्रेऽपि; यथा—चत्वारो घटा, अष्टौ ज्वरा इति। अत्रैव विधिर्हि प्रकारः, स च भिन्नेषु न युक्तः, अतः संख्यादिभिन्नेषु व्याधिषु कारणधर्मानुगतः प्रकारो युज्यते। तथा च न्यायविदो ब्रुवते—"समानेन धर्मेण परिग्रहो भेदानां यत्र क्रियते स विधिः, संख्या तु भेदमात्रं" इति; वैयाकरणा अपि व्याचक्षते, "अन्वयवान् प्रकारो निरन्वयो भेदः" इति वाप्यचन्द्रो लिखितवान्। ननु, यथांऽशांशविकल्पनादिना ज्वरो ज्ञायते न तथा संख्यया। उच्यते, संख्याभेदेन व्याधेर्दोषभेदो ज्ञायते, यतो ज्वरादिकं स्वरूपतो ज्ञात्वा चिकित्सार्थं विशेषो जिज्ञास्यः, कतमोऽयं ज्वरः? इति; तस्मिन् ज्ञाते विशेषो भवतीति परंपरया कारणत्वं संख्यायाः। तत्र यद्युक्तम् एषासौ दोषभेदाद्भिन्नो जातस्ततो युक्तमस्य पर्येषणं कतमोऽयमिति। कुतः? चिकित्साविशेषार्थम्। इति संप्राप्तिलक्षणम् ॥ ११–१३ ॥

*इति प्रोक्तो निदानार्थः स व्यासेनोपदेक्ष्यते।

उक्तनिदानपञ्चकमुपसंहरति—इतीत्यादि। इतिशब्दः समाप्तौ। निदानशब्दोऽत्र सामान्यवचनः, अर्थोऽभिधेयः। तन्निदानं संक्षेपेण स्वरूपलक्षणमात्रेणोक्तं, अधुना व्यासेन विस्तरेणोपदेक्ष्यते कथयिष्यते; सकलेन ग्रन्थेन प्रतिरोगं निदानपूर्वरूपादय एव तत्तद्विशेषैर्वक्ष्यन्त इत्यर्थः ॥—

†सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः ॥ १४ ॥
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहितसेवनम्।

द्विविधं हि रोगस्य कारणं विप्रकृष्टं सन्निकृष्टं च; तत्र विप्रकृष्टं विरुद्धाहारादि, सन्निकृष्टं वातादि, तस्य वातादेः सर्वरोगेष्वव्यभिचरितकारणत्वमाह—सर्वेषामित्यादि। यदाह सुश्रुतः,—"नास्ति रोगो विना दोषैर्यस्मात्तस्माद्विचक्षणः। अनुक्तमपि दोषाणां लिङ्गैर्व्याधिमुपाचरेत्"—इति ( सु. सू. स्था. अ. ३५ )। आगन्तुव्याधिषु यद्यप्युत्पत्तौ दोषकोपो नास्ति, तथाप्युत्पत्त्यनन्तरमवश्यंभावी; उरुस्तम्भे गुणभेदवत्। यदुक्तं चरके,—"आगन्तुर्हि व्यथापूर्वसमुत्पन्नो जघन्यं वातपित्तश्लेष्मणां

* "इतिशब्दः प्रकारे, अनेन संक्षेपरूपेण प्रकारेण, यथानिर्दिष्टो निदानार्थो निदानाभिधेयः, समासतः संक्षेपतः कथितः। निदानशब्दोऽत्र सामान्यः प्रापणादिषु। स एव निदानार्थः समासेन प्रोक्तस्तमेव व्यासेन विस्तरेण उपदेक्ष्ये कथयिष्ये" इति ( आ० द० )।

† "सन्निकृष्टकारणत्वेन वातादीनां सर्वरोगेष्वव्यभिचरितकारणत्वमाह—सर्वेषामित्यादि। कुपितत्वेन हि वातादीनां मलिनीकरणाद्रोगा एव मला उच्यन्ते। कुपिता विकृतिं गताः वातादिदोषाः सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कारणम्। तत्प्रकोपस्येति दोषप्रकोपस्य ... तस्य तु वातादिदोषस्य, निदानं कारणं, विविधं नानाप्रकारं, अहितसेवनमहितानुपानं, प्रोक्तं कथितमिति" ( आ० द० ) ॥ १४ ॥—

वैषम्यमापादयति"–इति ( च. सू. स्था. अ. २० )। निदानं कारणम् । मला दोषाः, मलिनीकरणात् । ननु, वातादीनां किमिदं दोषत्वं, अत्राहुरेके—स्वातन्त्र्येण दूषकत्वं दोषत्वं, इति; रसादिदूष्यव्यवच्छेदार्थं 'स्वातन्त्र्येण' इति पदं, ते हि वातादिदुष्टाः सन्तो दूष्यान्तरदूषकाः । अत्राहुरन्ये—किमिदं स्वातन्त्र्यं ? किं दोषान्तरनिरपेक्षत्वं ? हेत्वन्तरनिरपेक्षत्वं वा ? आद्ये वातस्यैव दोषत्वं स्यात्, न तु वातसापेक्षयोः कफपित्तयोः । यदुक्तं,–"पित्तं पङ्गु कफः पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्ति मेघवत्"–इति । द्वितीये वातस्यापि न दोषत्वं, कफपित्तयोरिव निदानसापेक्षस्यैव तस्य दूषकत्वात् । तस्मात् 'प्रकृत्यारम्भकत्वे सति दुष्टिकर्तृत्वं दोषत्वं' इति लक्षणम् । रसरक्तादिनिवृत्त्यर्थं 'प्रकृत्यारम्भकत्वं' इति विशेषणम् ; नहि वातादिप्रकृतिवच्छास्त्रे रसरक्तादिप्रकृतिरुक्ता; वातादिप्रकृतित्वं च शरीरस्य वातादिदूषितशुक्रशोणितारब्धत्वम् । यदाह चरकः,–"दोषानुशयिता ह्येषां देहप्रकृतिरुच्यते"; तथा,–"वातलाद्याः सदाऽऽतुराः"–इति ( च. सू. स्था. अ. ७ )। सुश्रुतेनापि प्रकृतिलक्षणे "वातप्रकृतिः स्फुटितचरणो जागरूकोऽनवस्थितचित्त –" ( सु. शा. स्था. अ. ४ ) इत्यादि पठितम् । प्रकृतिरोगयोश्चायं विशेषः—प्रकृतिरपथ्यसेवया नात्यन्तं बाधते, यदुक्तं,–"विषजातो यथा कीटो विषेण न विपद्यते । तद्वत्प्रकृतिभिर्देहस्तज्जातत्वान्न बाध्यते" ( सु. शा. स्था. अ. ४ ) इति संक्षेपः । विस्तरस्तु सुश्रुतश्लोकवार्त्तिके प्रश्नविधानाख्ये टीकासु च द्रष्टव्यः । ननु, 'प्रकृत्यारम्भकत्वं दोषत्वं, इत्येवास्तु । सत्यं, विपरीतव्यावृत्तिर्भवत्येव, किंतु दोषस्वरूपं गौणं स्यादिति । सुश्रुतादिभिर्वातादेरिव प्रकोपकालप्रकोपणनिर्हरणस्थानविशेषरोगविशेषलिङ्गविशेषचिकित्साविशेषाणामभिधानाद्रक्तस्यापि दोषत्वं पूर्वटीकाकारैः पाठ्यैर्मदासादिभिः स्वीकृतं तदप्येतेन व्यवच्छिन्नं, अधुनातनैरस्वीक्रियमाणत्वात् । ननु, दोषाश्चेत्कारणं तर्हि तेषां सर्वदा देहे सद्भावात्सर्वदा रोगोत्पादकत्वप्रसङ्ग इत्यत आह—दुषिता इति, विकृतिमापन्नाः । ननु, तत्प्रकोपः स्वभावात्, कारणान्तराद्वा ? नाद्यः, पूर्ववत्प्रसङ्गात्, अथ कारणान्तरादिति किं तदित्याह—विविधाहितसेवनमिति ।—विविधस्य नानाविधस्य, अहितस्यासात्म्येन्द्रियार्थसंयोगप्रज्ञापराधपरिणामलक्षणस्य सेवनमिति ॥ १४ ॥—

---

१ 'दुष्टिकारणत्व' इति क. ख. । २ 'रसरक्तादिप्रकृतिकः पुरुषः, रसदूषितशुक्रशोणितसाध्यत्वेन देहारम्भकत्वं नास्ति, रक्तस्य देहारम्भकत्वे सत्यपि प्रकृत्यारम्भकत्वं नास्ति, अनभिधानात्, तन्त्रे न रक्तप्रकृतिकः पुरुषः' इति क. । ३ कस्तामे ष. पुस्तके 'तत्र वातादिदूषितस्य नाम शुक्रशोणितसंयोगकाले शुक्रशोणितयोरविकारो बाधितस्तत्र, अन्यथा दुष्टदोषयोर्देहारम्भकत्वमेव न स्यात्, उक्तं च,–"वातादिदुष्टेषु प्रयोगोत्पादने न समर्थाः" इति । दोषाणां व्याधिविरतत्वेन प्रकोपो भवति, मिश्राभिलाषेन रूक्षता विशेषता वा । वातादिप्रकृतीनां शरीरस्य वातादिदूषितशुक्रशोणितारब्धत्वात्' इत्यधिकः पाठः । ४ 'प्रश्नगतसत्त्वाननाख्ये' इति क. ख. । ५ 'वर्णैस्तानिरतास्तादिभि.' इति क. ।

निदानार्थकरो रोगो रोगस्याप्युपजायते ॥ १५ ॥

ननु, किमेतदेव निदानं, उतान्यदप्यस्तीत्यतस्तथरकवचनमुपन्यस्यति—निदानार्थकर इत्यादि । अपिशब्दोऽत्र भिन्नक्रमे । रोगोऽपि निदानार्थकरो रोगस्य । अस्यायमर्थः—निदानेन योऽर्थः क्रियते व्याध्यारब्धः, स रोगेणापीति । रोगोऽपि रोगकर इति वाच्ये यन्निदानार्थकर इत्यकरोत्, तेनैव गमयति—रोगोऽपि रोगान्तरं कुर्वाणो निदानान्तरोपबृंहितबल एव करोति, एव रोगो रोगस्य निदानमुपजायत इत्येव योजना ॥ १५ ॥

*तद्यथा ज्वरसन्तापाद्रक्तपित्तमुदीर्यते ।
रक्तपित्ताज्ज्वरस्ताभ्यां शोषश्चाप्युपजायते ॥ १६ ॥
प्लीहाभिवृद्ध्या जठरं जठराच्छोथ एव च ।
अर्शोभ्यो जाठरं दुःखं गुल्मश्चाप्युपजायते ॥ १७ ॥
( दिवास्वापादिदोषैश्च प्रतिश्यायश्च जायते । )
प्रतिश्यायादथो कासः कासात्संजायते क्षयः ।
क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषस्याप्युपजायते ॥ १८ ॥

अत्रैव दृष्टान्तमाह—तद्यथेत्यादि । ताभ्यामिति रक्तपित्तात् ज्वराच्च । दुःखमिति दुःखयतीति दुःखं पीडाकरम् । अयं च दुःखशब्दो लिङ्गविपरिणामेन सर्वेष्वेव ज्वरादिषु योज्य इति वाप्यचन्द्रः । गुल्मश्चाप्युपजायत इति अर्शोभ्य एव । कासात्संजायते क्षय इति 'ओज प्रभृतीनां' इति शेषः । स च क्षयो रोगस्य हेतुत्वे उपजायते । कस्य रोगस्येत्याह—शोषस्येति, राजयक्ष्मणः । अत्र केचित् हरिश्चन्द्रादिभिर्व्याख्यातं पाठान्तरं पठन्ति,—"क्षयो रोगस्य हेतुत्वे शोषश्चाप्युपजायते"—इति । अस्यार्थः—क्षयो राजयक्ष्मा, उरोरोग उरःक्षतं, समाहारद्वन्द्वैकवचनं, तस्य हेतुत्वे शोषो धातुक्षय उपजायत इति । ननु, चरके सर्वं निदानं त्रैविध्येन सङ्गृहीतं "असात्म्येन्द्रियार्थसंयोग"—इत्यादिना, ततश्च रोगस्यापि निदानत्वमाचक्षाणः स्वोक्तनिदानत्रैविध्यसंग्रहं कथं न विरुणद्धि[1], अत्रैके समाधिमभिदधति—त्रिविधं यन्निदानमुक्तं तत्सर्वव्याधिविषयं, इदं तु प्रतिनियतविषयं, यतो न सर्वे रोगा रोगाजायन्ते किं तर्हि कश्चिदेव व्याधिः कुतश्चिद्रोगादिति चतुर्थमेवैतन्निदानं रोगाख्यमिति । अन्ये त्वाहुः—रोगस्य रोगोऽपि निदानं भवत्रिविधनिदानव्यतिरेकेण न भवत्येव, यतो यावदयं ज्वरोऽसात्म्येन्द्रियार्थसंयोगादिभिरुपबृंहितबलो न भवति न तावद्रक्तपित्तमारभते, तस्मात् व्याख्युत्पादे त्रिविध एव हेतुः साक्षात्पारम्पर्येण चेति ॥ १६—१८ ॥

* "कारणभूतात् ज्वरसंतापात् रक्तपित्तमुदीर्यते उत्पद्यते, कारणभूताद्रक्तपित्ताज्ज्वरः समुपजायते, ताभ्यां रक्तपित्तज्वराभ्यां शोषश्चोपजायते, प्लीहाभिवृद्ध्या जठरमुदरविकारः, तस्मात् जठरात् शोथः, अर्शोभ्य एव जठरं गुल्मश्चाप्युपजायते, अथ प्रतिश्यायात्कासो जायते, कासात्क्षयः संजायते, स च क्षयः रोगस्य हेतुत्वे उपजायते, कस्य रोगस्येत्याह—शोषस्येति" ( आ० द० ) ॥ १६—१८ ॥

ते पूर्वं केवला रोगाः पश्चाद्धेत्वर्थकारिणः ।

ननु, य इमे रोगा रोगान्तरस्य निदानत्वेनोक्तास्ते किमुत्पन्नमात्रा एव रोगं जनयन्ति, उतानन्तरकालमित्यत आह—ते पूर्वमित्यादि ।—ते व्याधय उपबृंहक-हेत्वलाभात् प्राक् केवला स्वतन्त्राः सन्तो रोगा एव रुजाकर्तृत्वात्, पश्चादुपबृंह-कहेतुलाभात् हेतोर्निदानस्य योऽर्थो यत्प्रयोजनं व्याधिजननाख्यं तत्कुर्वन्ति । यथा ज्वरो रक्तपित्तमिति ॥—

*कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति ॥ १९ ॥
न प्रशाम्यति चाप्यन्यो हेतुत्वं कुरुतेऽपि च ।
एवं कृच्छ्रतमा नृणां दृश्यन्ते व्याधिसंकराः ॥ २० ॥

तस्यैव रोगजनकस्य व्याधेर्वैचित्र्यमाह—कश्चिदित्यादि । एवमुक्तप्रकारेण, व्याधिसंकरा व्याधिमेलका दृश्यन्ते । यथा—प्रतिश्यायो न निवर्तते कासश्च जायते, अर्शो न निवर्तते जठरगुल्मौ स्यातामिति । कृच्छ्रतमत्वं चैषां बहुविधदुःखज-नकत्वात्, प्रायो विरुद्धोपक्रमाच्चेति ॥ १९ ॥ २० ॥

†तस्माद्यत्नेन सद्वैद्यैरिच्छद्भिः सिद्धिमुद्धताम् ।
ज्ञातव्यो वक्ष्यते योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चयः ॥ २१ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पञ्चनिदानलक्षणं समाप्तम् ॥ १ ॥

उक्तनिदानपञ्चकस्य रोगनिवृत्तिलक्षणसिद्धिहेतुत्वेनावश्यं ज्ञातव्यतामाह—तस्मा-दित्यादि । उद्धता बहुविषयत्वेन महतीम् । विनिश्चयो निदानमिति । अथ वक्ष्य-माणविकारेषु प्रकृतिसमसमवायविकृतिविषमसमवायादिज्ञानार्थं चरकोक्ता वातादि-गुणा लिख्यन्ते,—"रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मश्चलोऽथ विशदः खरः । विपरीतगुणैर्द्र-व्यैर्मारुतः संप्रशाम्यति ॥ सस्नेहमुष्णं तीक्ष्णं च द्रवमम्लं सरं कटु । विपरीतगुणैः पित्तं द्रव्यैराशु प्रशाम्यति ॥ गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुरस्थिरपिच्छिलाः । श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः"—इति ( च सू स्था. अ १ ) ॥ २१ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पञ्चनिदानलक्षणं समाप्तम् ॥ १ ॥

---

## अथ ज्वरनिदानम् ।

‡दक्षापमानसंक्रुद्धरुद्रनिःश्वाससंभवः ।
ज्वरोऽष्टधा पृथग्द्वन्द्वसंघातागन्तुजः स्मृतः ॥ १ ॥

---

* "कृच्छ्रतमा दृश्यन्ते, कश्चिद्रोगो रोगान्तरस्य कारणं भूत्वा स्वयं प्रशाम्यति, अन्यश्च न प्रशाम्यति" ( आ० द० ) ॥ १९ ॥ २० ॥

† "तस्मादित्यादि । तस्मात्कारणात् उद्धृता बहुविषयत्वेन महती सिद्धिरिच्छद्भिर्वैद्यैर्योऽयं ज्वरादीनां विनिश्चयो वक्ष्यते कथ्यते स यत्नेन ज्ञातव्य" ( आ० द० ) ॥ २१ ॥

‡ "बहुविधमपि ज्वरं संक्षेपेणाह—ज्वरोऽष्टधेति । अष्टधात्वं विवृणोति—वातिकः, पैत्तिकः, श्लैष्मिकः, एवं पृथक्-त्रयः, वातपैत्तिकः, वातश्लैष्मिकः, पित्तश्लैष्मिकः, एवं द्वन्द्वजास्त्रयः, सान्निपातिकः सप्तमः, आगन्तुरष्टमः, एवमष्टौ ज्वरा इति" ( आ० द० ) ॥ १ ॥

अथ सर्वरोगप्राधान्यात्प्रथमं ज्वरो वाच्य । प्राधान्यं च तस्य शारीररोगेषु प्रथमोत्पन्नत्वात्, बलवत्त्वात्, देहेन्द्रियमनस्तापित्वात्, जन्मनिधनयोरवश्यभावित्वात्, स्थावरजङ्गमरूपसर्वभूतव्यापित्वाच्च, नैवमन्ये विकारा । यदुक्तं चरके,—"देहेन्द्रियमनस्तापी सर्वरोगाग्रजो बली । ज्वर प्रधानो रोगाणामुक्तो भगवता पुरा । तस्य प्राणिसपत्नस्य ध्रुवस्य प्रलयोदये"—(च चि स्था अ ३) इत्यादि यावद् "भगवन् ! वक्तुमर्हसि"—इति (च चि स्था अ ३)। तथा—"ज्वरेणाविशता भूत नहि किञ्चिन्न तप्यते"—इत्यादि (च चि स्था अ ३)। उक्तं च पालकाप्ये,—"पाकल [illegible] नागानामभितापस्तु वाजिनाम् । गवामीश्वरसञ्ज्ञश्च मानवाना ज्वरो मत ॥ अजावीना प्रलापाख्य करभे चालसो भवेत् । हारिद्रो महिषाणा तु मृगरोगो मृगेषु च ॥ पक्षिणामभिघातस्तु मत्स्येष्विन्द्रमदो मत । पक्षपात पतङ्गाना व्याडेष्वक्षिकसञ्ज्ञक "—इत्यादि । तथाऽन्यत्र—" जलस्य नीलिका भूमेरूषरो वृक्षस्य कोटर "—इत्यादि । तस्य प्रागुत्पत्तिमाह—दक्षापमानेत्यादि ।—दक्षापमानेन दक्षप्रयुक्तपरिभवेन क्रुद्धस्य रुद्रस्य नि श्वासात् सभव उत्पत्तिर्यस्य स तथा । नि श्वासोऽत्र क्रोधलिङ्गत्वेन निर्दिष्ट, अत एव सुश्रुतेन "रुद्रकोपाग्निसभूत" (सु उ त अ ३९)—इत्युक्तम् । क्रुद्धेन रुद्रेण ललाटे तृतीयमाग्नेय चक्षु सृष्ट्वा ततोऽप्याग्नेयो बाणो निर्मित । यदाह चरक,—"सृष्ट्वा ललाटे चक्षुर्वै दग्ध्वा तानसुरान् प्रभु । बाण क्रोधाग्निसन्तप्तमसृजत्सत्रनाशनम्"—इति (च चि स्था अ ३)। अत्र सत्रनाशन यज्ञनाशनम् । एषा ज्वरोत्पत्तिकथा चरकचिकित्सिते सविशेषा श्रोतव्या । एतेन रुद्रकोपस्य विप्रकृष्टकारणत्वमुक्त यदि हि ततो ज्वरो नोदपत्स्यत अधुनाऽप्युपचारान्नोदपत्स्यत इति भट्टारहरिचन्द्र । एतदभिधानस्य चिकित्सानुपयोगित्वेनान्ये टीकाकृतोऽन्यथा व्याचक्षते—कोपोद्भवत्वेन तैजसत्व प्रकाश्यते, क्रोधो ह्याग्नेय, यदाह चरक —"क्रोधात्पित्त" इति च (च चि स्था अ ३)। तेन सर्वज्वरे पित्ताविरोधिनी क्रिया कार्येति सिध्यति । यदुक्त वाग्भटेनैव,—"ऊष्मा पित्ता दृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना । तस्मात्पित्तविरुद्धानि त्यजेत्पित्ताधिकेऽधिकम्"—इति (वा चि स्था अ १)। अत एव चरके कट्वम्ललवणात् पाचनात् परित्यज्य तरुणज्वरे पाचकत्वेन तिक्तको रस पित्तघ्नो निर्दिष्ट । यदाह,—"लङ्घन स्वेदन कालो यवाग्वस्तिक्तको रस । पाचनान्यविपक्वाना दोषाणा तरुणज्वरे"—इति (च चि स्था अ ३)। कालोऽनाष्टाह इति । अन्ये त्वाहु —रुद्रकोपसभवत्वेन देवतात्मकत्वात् पूजार्हत्वमुपदर्शितम् । यदाह विदेह,—"ज्वरस्तु पूजनैर्वाऽपि सहसैवोपशाम्यति"—इति । हरिवंशेऽपि,—"ज्वरस्त्रिपादस्त्रिशिरा षड्भुजो नवलोचन । भस्मप्रहरणो रौद्र कालान्तकयमोपम"—इति मूर्तिमानेवोक्त । बहुविध

१ पालकाप्यविरचिते हस्त्यायुर्वेदे महारोगस्थाने नवमाध्यायेऽत्र विषय गद्येन पठ्यते । २ अस्याग्रे क पुस्तके 'उत्पन्नश्च तस्मात्, ततो रुद्रसतोषार्थं अघहोमपूजाशिवार्चनादिक कार्य, तेन स न पीडयिष्यति' इत्यधिक पाठ । ३ "मूर्तिमान् हरनो वेद पापिना नाशकारक" इति घ पुस्तके पाठ ।

मपि ज्वरं संक्षेपेणाह—ज्वरोऽष्टधेति । अष्टत्वं विवृणोति—पृथगित्यादि । तच्च सम्प्राप्तौ विवृतम् ॥ १ ॥

*मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा ह्यामाशयाश्रयाः ।
बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निं ज्वरदाः स्यू रसानुगाः ॥ २ ॥

सम्प्राप्तिमाह—मिथ्येत्यादि । आहारस्य मिथ्यात्वं प्रकृत्यादीनामाहारोपयोगहेतूनां विरुद्धत्वेनोपयोगः । यदाह चरकः,—"तत्र खल्विमान्यष्टावाहारविधिविशेषायतनानि भवन्ति, तद्यथा—प्रकृतिकरणसंयोगराशिदेशकालोपयोगसंस्थोपयोक्त्रष्टमानि"—इति ( च. वि. स्था. अ. १ ) । अत्र प्रकृतिर्द्रव्याणां स्वाभाविकगुरुलघुरूक्षत्वादिगुणयोगः, यथा—माषमुद्गयोः, करणं संस्कारः, यथा—व्रीहेर्गुरोर्लघवो लाजाः, संयोगः सहीभावः, यथा—क्षीरमत्स्ययोः, राशिराहारस्य द्रव्याद्यवयवेन समुदायेन वा परिमाणं, देशो द्रव्योत्पत्तिप्रचारादिस्थानं, कालो नित्यगश्चावस्थिकश्च, उपयोगसंस्था उपयोगनियमः, यथा—जीर्णाश्न एव भुञ्जीत, उपयोक्ता स्वयं निरूपितात्मप्रकृत्यादिकः पुरुष इति । विहारस्य मिथ्यात्वमयथावद्व्यायामादि । आमाशयाश्रया इत्यनेनामाशयप्राप्तिव्यतिरेकेण दोषा ज्वरं नारभन्त इति प्रतिपादयति । आमाशयश्च "नाभिस्तनान्तरं जन्तोरामाशय इति स्मृतः"—इति ( च. वि. स्था. अ. २ ) चरकेणोक्तः । बहिर्निरस्य कोष्ठाग्निमिति कोष्ठाग्निरेव दोषैर्विक्षिप्तो बहिर्निर्गत ऊष्मतया प्रतिभाति । कोष्ठाग्निमिति धात्वग्निनिरासार्थम् । ज्वरदा ज्वरकारिणः । रसानुगा रससंबद्धाः, अवश्यं रसं दूषयित्वा ज्वरोत्पादका इति । एषा च सम्प्राप्तिः शारीराणामेव न त्वागन्तूनां, तेषां व्यथापूर्वकत्वं ततो वातादयश्च, इति जेज्जटः । अत एव सुश्रुते आगन्तुसम्प्राप्तिः पृथगेव पठ्यते । यथा,—"श्रमक्षताभिघातेभ्यो देहिनां कुपितोऽनिलः । पूरयित्वाऽखिलं देहं ज्वरमापादयेद्भृशम्"—इति ( सु. उ. त. अ. ३९ ) अत्र न आमाशयगत एव वायुः किंतु व्याधिस्थितदेहव्याप्तिशोषकः । चरकेऽप्युक्तं,—"तथाभिघातजो वायुः प्रायो रक्तं प्रदूषयन् । स व्यथाशोथवैवर्ण्यं करोति सरुजं ज्वरम्" इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । ननु, आगन्तुज्वरेऽप्यूष्मोपलभ्यते "ऊष्मा पित्तादृते नास्ति" ( च. चि. स्था. अ. ३ )—इत्युक्तं, अतः आगन्तुरपि शारीरः स्यात् । नैवं, उत्तरकालं तदुत्पत्तेः । यदुक्तं,—"आगन्तुर्हि व्यथापूर्वो ज्वरोऽग्नतो भवति, स (? ) दोषानागन्तु केवलो भूत्वा पश्चाद्दोषैरनुबध्यते" ( च. नि. स्था. अ. १ ) तथा,—'आगन्तुरन्वेति निजं विकारं निजस्तथाऽऽगन्तुमपि प्रवृद्धः'—इति ( च. सू. स्था. अ. १९ ) ।

ननु, मिथ्याहारेत्यादिना एकैव संप्राप्तिरुक्ता, एतच्च न युक्तं, यतः संप्राप्तिः संयोगभेदः, संयोगभेदश्च संयोगिभेदनिबन्धनः, संयोगिनश्चात्र वातादयो नानाविधाः, ततश्च संप्राप्तेरपि नानात्वं स्यात्; नहि वातपित्तयोर्यः संयोगः स एव कफपित्तयोरिति। उच्यते, अनेकैव संप्राप्तिः किन्त्वेकजातीया, आशयदुष्ट्यादेः सर्वत्राविशेषेणाभिधानात्। एवमागन्तुसंप्राप्तिरपि संयोगभेदाद्भिन्नेति ॥ २ ॥

*स्वेदावरोधः संतापः सर्वाङ्गग्रहणं तथा ।
युगपद्यत्र रोगे च स ज्वरो व्यपदिश्यते ॥ ३ ॥

ज्वरलक्षणमाह—स्वेदावरोध इत्यादि। स्वेदावरोधो घर्मानिर्गमः। ताप इति वक्तव्ये संतापग्रहणाद्देहेन्द्रियमनसां तापं लक्षयति। तदुक्तं चरके,—"देहेन्द्रियमनस्तापी—" इति (च. चि. स्था. अ. ३); तथा,—"वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिर्मनःसन्तापलक्षणम्"—इति (च. चि. स्था. अ. ३)। सर्वाङ्गग्रहणं सर्वाङ्गवेदना। युगपदिति मिलितमेतल्लक्षणं, प्रत्येकशो व्यभिचारात्। स्वेदावरोधो हि कुष्ठपूर्वरूपे, तथा संतापो दाहाख्ये रोगे, सर्वाङ्गग्रहणं, सर्वाङ्गवातरोगे, इति। ननु पैत्तिके स्वेदागमात्, वातिके विषमारम्भविसर्गित्वात् सर्वाङ्गग्रहणाव्यवस्थितेश्चाव्यापकं लक्षणमिति। अत्र जेज्जटकार्त्तिककुण्डादयः समादधुः—उत्सर्गापवादभावेन व्यवस्थितिरिति। तन्न संगतमित्यन्ये; विधौ उत्सर्गापवादभावो न तु लक्षणे, अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्लक्षणदोषात्; तस्मात् स्वेदोऽग्निः 'स्विद्यतेऽनेन' इति व्युत्पत्त्या; तस्यावरोधो दोषव्याप्तिः। वातज्वरे यद्यपि वामोऽल्पत्वेनारम्भविसर्गयोर्वैषम्यं, तथाऽपि सर्वदेहगतज्वरारम्भकदोषदुष्टेर्निवृत्तेरनुभूतसर्वाङ्गग्रहणस्य विद्यमानतैवेति न व्यभिचारः। चरके तु ज्वरलक्षणं "ज्वरप्रत्यात्मिकं लिङ्गं सन्तापो देहमानसः"—इति (च. चि. स्था. अ. ३)। ननु, "शारीरो जायते पूर्वं देहे मनसि मानसः"—इति (च. चि. स्था. अ. ३) चरकवचनाद्देहमनसोरन्योन्यव्यभिचारादलक्षणमिति चेत्; तन्न, सूक्ष्मतरकालव्यवहितस्यान्यतररूपस्यावश्यंभावित्वात्। यथा—गुणवद्द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमिति ॥ ३ ॥

†श्रमोऽरतिर्विवर्णत्वं वैरस्यं नयनप्लवः ।
इच्छाद्वेषौ मुहुश्चापि शीतवातातपादिषु ॥ ४ ॥
जृम्भाऽङ्गमर्दो गुरुता रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ।
अप्रहर्षश्च शीतं च भवत्युत्पत्स्यति ज्वरे ॥ ५ ॥

* "ज्वरलक्षणमाह—यत्र यस्मिन् रोगे युगपदेककाले स्वेदावरोधादयः दृश्यन्ते स ज्वरः कथ्यते। संतापेनात्र संतापो देहेन्द्रियमनसां तापं लक्षयति। 'स्वेदावरोध' इत्यत्र 'घर्मावरोध' इत्यन्ये पठन्ति। तत्र घर्मावरोधो वायुमूत्रपुरीषादीनामनिर्गमनं, तदयुक्तं, ज्वरे मूत्रपुरीषादीनां निर्गमनेन व्यभिचारात्।" (आ० द०) ॥ ३ ॥

† "पूर्वरूपमाह—श्रम इत्यादि। शीतवातातपादिषु विषयेषु इच्छाद्वेषौ अभिलाषविद्वेषौ। जृम्भा जृम्भणम्। अङ्गमर्दोऽङ्गमोटनम्। गुरुता गात्राणाम्। रोमहर्षो रोमाञ्चः।

१ 'दाहाख्ये रोगे' इति क. ख.। २ "दोषदुष्ट्यनुवृत्तेः" इति क.। ३ 'ज्वरप्रत्यात्मिकं' इति क.। 'ज्वरप्रत्यात्मकं' इति ख.

(सामान्यतो विशेषात्तु जृम्भाऽत्यर्थं समीरणात् ।
पित्तान्नयनयोर्दाहः कफादन्नारुचिर्भवेत् ॥ ६ ॥
रूपैरन्यतराभ्यां तु संसृष्टैर्द्वन्द्वजं विदुः ।
सर्वलिङ्गसमवायः सर्वदोषप्रकोपजे ॥ ७ ॥)

पूर्वरूपमाह—श्रमेत्यादि । श्रमः श्रान्तत्वमिव । अरतिरनवस्थितचित्तत्वं, क्रीडाभावोऽरतिरिति कार्तिकः । विवर्णत्वं म्लानगात्रत्वम् । यत्तु "दुष्टाः स्वहेतुभिर्दोषाः"–इत्यारभ्य "स्वकालेषु ज्वरागमम् । जनयन्त्यथ वृद्धिं च स्ववर्णं च त्वगादिषु–"इति ( सु. चि. स्था. अ. ३९ ) संप्राप्तौ वृद्धसुश्रुतवचनं, तदत्यर्थजृम्भादिवद्विशिष्टपूर्वरूपाभिप्रायेण, संप्राप्त्यवस्थापन्नदोषजन्यत्वात्पूर्वरूपस्येति । वैरस्यमिति मुखस्य विरुद्धरसता । नयनप्लवोऽश्रुपूर्णनेत्रत्वम् । यदुक्तं चरके,–"आलस्यं नयने सास्रे"–इत्यादि ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । आदिशब्दादम्बुज्वलनयोरप्यनिमित्ते-च्छाद्वेषयोर्ग्रहणम् । उक्तं हि चरके,–"ज्वलनातपवाय्वम्बुभक्तिद्वेषावनिश्चितौ"–इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । अन्ये तु शैत्यौष्ण्यसाधर्म्यांज्जलानलौ ग्राहयन्ति, आदिशब्देन तु शयनासनादिकम् । तमोऽन्धकारप्रविष्टस्येवार्थवित्तिः । अप्रहर्षः प्रीत्यभावः । ज्वलनेच्छया शीते लब्धे शीतं चेति वचनं विशेषेण शीतबोधनार्थम् । चकारेण बालप्रद्वेषादिग्रहणमित्याहुः । उत्पत्स्यतीति भविष्यति ज्वरे । उत्पत्स्यतीति आत्मनेपदाभावेन; तत्र चक्षिङ इकारेणानुदात्तेत्वात्मनेपदे सिद्धे तदर्थं ङित्करणेन ज्ञापितमिति शाब्दिकाः । गदाधरस्तु,–'उत्पित्सति'–इति पठित्वा 'पद गतौ' इत्यस्य सन्नन्तस्य "सनिमीमाघुरभलभशकपतपदाम् (अ. ७ पा. ४ सू. ५४)"–इत्यादिना इसि कृते 'पूर्ववत्सनः' ( अ. १ पा. ३ सू. ६२ ) इत्यत्र भिन्नवाक्यतया परस्मैपदमिति व्याचष्टे इति ॥ ४–७ ॥

*वेपथुर्विषमो वेगः कण्ठौष्ठपरिशोषणम् ।
निद्रानाशः क्षवस्तम्भो गात्राणां रौक्ष्यमेव च ॥ ८ ॥
शिरोहृद्गात्ररुग्वक्त्रवैरस्यं गाढविट्कता ।
शूलाध्माने जृम्भणं च भवन्त्यनिलजे ज्वरे ॥ ९ ॥

---

अरुचिर्भोज्ये । अप्रहर्षः आनन्दाभावः । शीतमिति शीतार्तो मुहुरिच्छतीत्यानिति सिद्धे पुनरपि शीतवचनं विशेषेण शीतप्रादुर्भावदर्शनार्थम् । [illegible] भाविनि ज्वरे [illegible] [illegible] भवन्ति, अत्र तु माधवेन सामान्यपूर्वरूपाणि [illegible] लिखितं, [illegible] विशिष्टं पूर्वरूपमुक्तं; [illegible] लिख्यते—सामान्यत इत्यादि । सामान्यत इति पूर्वपदेन संबध्यते । "भाविनि वातिके ज्वरेऽत्यर्थं जृम्भा, पैत्तिके नयनयोर्दाहः, कफजे नान्नाभिनन्दनमिति नान्नाभिलाषः" ( मा० द० ) ॥ ४–७ ॥

* "वेपथुः कम्पः । विषमो वेगो ज्वरस्य हीनाधिकभावेन, मोहस्तु [illegible]।

---

१ 'कफान्नाभिनन्दनम्' इत्यात्मदर्शनमतः पाठः । २ 'शिरोरुक् [illegible]' इति ख. पुस्तके पाठः; "शिरसः पृथगुपादानमस्यर्थं शिरसि रुजा भवतीति ज्ञापनार्थं अन्यथा गात्ररुग्भिन्नेनैव [illegible]" इति मधुकोशव्याख्या [illegible] ।

वातपित्तकफानां यथापूर्वं भूरिदारुणविकारकर्तृत्वेन प्राधान्यं, यदुक्तं चरके,— "अशीतिर्वातविकाराश्चत्वारिंशत्पित्तविकारा विंशतिः श्लेष्मविकाराः" इति ( च सू. स्था अ. २० ), तथा दारुणाश्च वातविकारा आक्षेपकपक्षाघातादयः, अत प्राधान्यात् प्रथमं वातज्वरलक्षणमाह—वेपथुरित्यादि । एवमन्यत्रापि वातादिक्रमनिर्देशो बोद्धव्यम् । विषमो वेग इति वेगो ज्वरस्य प्रवृत्तिर्वृद्धिर्वा, तस्य वैषम्यमनियतकालत्वं, अङ्गेषु चौष्ण्याद्यनियतत्वम् । क्षवदिछक्का, स्तम्भो गात्राणां जडिमा, रौक्ष्यमपि गात्राणामेवेति गदाधरादयो व्याचक्षते । तच्चानवधानाद्व्याख्यातमिति लक्ष्यते, क्षवस्य स्तम्भः क्षवस्तम्भ इत्येकपदतात्र युज्यते । यदाह वाग्भटः,—"हृषा रोमाञ्चदन्तेषु वेपथुः क्षवथोर्ग्रहः । भ्रमः प्रलापो घर्मेच्छा विनामश्चानिलज्वरे"—इति ( वा. नि. स्था. अ. २ ) । चरकेऽपि निदाने "क्षवथुद्गारविनिग्रहः" ( च नि. स्था. अ. १ ) इत्येव पठितम् । विनिग्रहशब्दस्तु तत्र तत्र निरोधार्थ एवाचार्येण निर्दिष्टः, यथा वातगुल्मनिदाने—"रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टितं वेगविनिग्रहश्च" (च. चि. स्था. अ. ५) इति तथाऽन्तर्वेगज्वरलक्षणे "दोषवर्चोविनिग्रहः—" ( च. चि. स्था. अ. ३ ) इत्येव पठितम् । एतेन, ज्वरमुक्तिलक्षणे क्षवस्य भावात्कथमेतल्लक्षणमिति यदाशङ्कितं कार्त्तिककुण्डेन तदपि निरस्तम् । आध्मानं वायुना सवेदनमुदरपूरणत्वम् । शिरोहृद्ग्रहणादगिस्वत्र गात्रग्रहणेन शिरोहृद्ग्रहणे सिद्धे तदभिधानं विशेषेण शिरसि हृदि च वेदनार्थम् । एतानि रूपाणि प्रायोभावित्वेन निर्दिष्टानि सुश्रुतेन, तेन चकारेणान्यान्यपि चरकनिदानोक्तानि बोद्धव्यानि । तान्येव गद्येनोक्तानि सुखग्रहणार्थं श्लोकेन मया प्रदर्श्यन्ते,—'भवन्ति विविधा वातवेदना पादसुप्तता । पिण्डिकोद्वेष्टनं कर्णस्वनो वक्त्रकषायता ॥ ऊरुसादो हनुस्तम्भो विश्लेषः सन्धिजानुनोः । शुष्ककासो वमिर्लोमदन्तहर्षं श्रमभ्रमौ ॥ अरुणं नेत्रमूत्रादि रूक्षता पोष्णकामिता ' इति ॥ ८ ॥ ९ ॥

*वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारश्च निद्राल्पत्वं तथा वमिः ।
कण्ठौष्ठमुखनासानां पाकः स्वेदश्च जायते ॥ १० ॥
प्रलापो वक्त्रकटुता मूर्च्छा दाहो मदस्तृषा ।
पीतविण्मूत्रनेत्रत्वं पैत्तिके भ्रम एव च ॥ ११ ॥

तथा क्षवस्तम्भः क्षवः छिक्का तस्याः स्तम्भोऽनिर्गमनम् । केचित्तु 'क्षव स्तम्भ' इति भिन्नं पदं पठन्ति, तन्मते क्षवः छिक्का, स्तम्भो गात्राणामिति व्याख्यानयन्ति, तदयुक्तम् । रौक्ष्यं गात्राणामेव । चकारात् कृष्णविण्मूत्रनेत्रत्वं समुच्चीयते । अन्ये तु 'रौक्ष्यमेव च' इत्यत्र स्थाने 'श्यावाङ्गमलमूत्रता' इति पठन्ति । शिरसि हृदि गात्रेषु रुक् पीडा । वैरस्यं विरसता । गाढविट्कता बद्धमलता । आध्माने उदरमुदरस्थं, जृम्भणं जृम्भावाहुल्यम् । अनिलजे ज्वरे एतानि लक्षणानि भवन्ति । एतानि प्रकृतिसमसमवेतानि" ( आ॰ द॰ ) ॥ ८ ॥ ९ ॥

* "पैत्तिकमाह—वेग इत्यादि । वेगस्तीक्ष्णस्तीव्रवेगः । कण्ठौष्ठमुखनासानां पाक इति युगपत् । वक्त्रकटुता मुखतिक्तत्वम् । यदुक्तमभिधानान्तरे,—"कटु स्यात्कटुतिक्तयोः"—इति । पैत्तिके ज्वरे एतानि लक्षणानि भवन्ति" ( आ॰ द॰ ) ॥ १० ॥ ११ ॥

१ 'पाठान्तरमत्र लक्षणस्य' इति क. द. ।

पित्तज्वरलक्षणमाह—वेगस्तीक्ष्ण इत्यादि। अतिसारः पित्तस्य सरत्वेन सद्रवप्रवृत्तिर्नत्वतिसार एव, तस्य ज्वरोपद्रवत्वात्। निद्राल्पत्वं स्वल्पनिद्रात्वम्। उक्तं हि सुश्रुते,—"निद्रानाशोऽनिलात् पित्तात्" (सु. शा. स्था. अ. ४) इत्यादि। वमिः पित्तस्य कफस्थानगतत्वात्। स्वेदो घर्मागमनं, प्रायेण सामदोषेण स्रोतसां निरोधात्सर्वज्वरेषु घर्मनिरोधः, यत्र तु पित्तस्य तैक्ष्ण्याज्ज्वरप्रभावाद्वा स न भवतीति। प्रलापोऽसंबद्धभाषणम्। वक्त्रकटुता मुखतिक्तत्वं, चरके हि पित्तजनानात्मजचत्वारिंशद्विकारेषु तिक्तास्यतायाः पाठादनुभवाच्च। कार्तिककुण्डस्तु "कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्याल्लवणं च वक्त्रम्"—इति वचनं दृष्टान्तमुपन्यस्य कटुमुखत्वमपीच्छति। तन्न, तत्रापि सन्देहात्। यदुक्तं,—"कटु स्यात्कटुतिक्तयोः"—इति। तस्मात् "योऽम्लं भृशोष्णं कटुतिक्तकञ्च पीतं सरक्तं हरितं वमेद्वा। सदाहचोषज्वरवक्त्रशोषं सा पित्तकोपप्रभवा हि छर्दिः"—इति (सु. उ. तं. ४९) सुश्रुतवचनात्कटुमुखत्वमप्येष्टव्यमिति। मूर्च्छेति मूर्छा रूपाद्यविज्ञानं, तमःप्रवेशो विस्मृतिरित्याहुः। मदो मत्तत्वमिव, यथा—पूगकोद्रवधत्तूरभक्षणादौ। भ्रम इति भ्रमश्चक्रस्थितस्येव भ्रमद्वस्तुदर्शनमित्याहुः; अन्ये तु स्वदेहभ्रमणज्ञानम्। ननु, भ्रमस्याशीतिवातविकारपठितस्य वातनानात्मजत्वात्कथं पित्तविकारे पाठः? उच्यते, "न रोगोऽप्येकदोषजः" इति वचनात्पैत्तिकेऽपि वातानुबन्धाद्भ्रम इति जेज्जटः समाधानमुक्तवान्। अथवा दोषदूष्यसंमूर्च्छनप्रभावात्कारणान्तरस्यापि रूपस्य कार्यं उपलभ्यते, यथा—अरूक्षवातारब्धातिसारादनिवाहत्वं, हरिद्राचूर्णसंयोग इव लौहित्यम्। यदुक्तं सुश्रुते,—"रज पित्तानिलाद्भ्रमः" (सु. शा. स्था. अ. ४)—इति, तत्रापि वातानुगतपित्तजत्वमेव बोद्धव्यं, अन्यथा भ्रमस्य वातिकनानात्मजत्वमेव न स्यादिति। अपरे तु पित्तदूषितनेत्रत्वेन विपर्ययज्ञानं भ्रम, पीतः शङ्ख इत्यादिवत्। चकारः पूर्ववदनुक्तसमुच्चयार्थः। तद्यथा—शीतोष्मता रक्तरोठता शीतेच्छताऽरुचिरिति ॥ १० ॥ ११ ॥

*स्तैमित्यं स्तिमितो वेग आलस्यं मधुरास्यता।
शुक्लमूत्रपुरीषत्वं स्तम्भस्तृप्तिरथापि च ॥ १२ ॥
(नात्युष्णगात्रता छर्दिरङ्गसादोऽविपाकिता)
गौरवं शीतमुत्क्लेदो रोमहर्षोऽतिनिद्रता।
[स्रोतोरोधो रुगल्पत्वं प्रसेको लवणास्यता।
नात्युष्णगात्रता च्छर्दिर्लालास्रावोऽविपाकता ॥]
प्रतिश्यायोऽरुचिः कासः कफजेऽक्ष्णोश्च शुक्लता ॥ १३ ॥

* "मधुरास्यता मधुरवक्त्रत्वम्। मूत्रपुरीषयोः शौक्ल्यम्। गौरवं गुरुगात्रता। शीतं शीताविर्भावः। उत्क्लेदः श्लेष्मनिष्ठीवनमिव। रोमहर्षो रोमाञ्चः। अतिनिद्रता निद्राधिक्यम्। प्रतिश्यायः नासास्रवणम्। स्रोतोरोधो रसवाहिनां स्रोतसां रोधः। प्रसेकः प्रसेकः। अविपाकता अन्नाविपाकः। चकारः पूर्ववदनुक्तसमुच्चयार्थः, कफजे ज्वरे एतानि लक्षणानि भवन्ति" (आ० द०) ॥ १२ ॥ १३ ॥

१. 'पठिता तदुपन्यस्य' इति क. ख.।

कफज्वरलक्षणमाह—स्तैमित्यमित्यादि । स्तैमित्यमङ्गानामार्द्रपटावगुण्ठितत्वमिव । स्तिमितो वेगो मन्दो वेगः । आलस्यमिति "समर्थस्याप्यनुत्साहः कर्मण्यालस्यमुच्यते" (सु. शा. स्था. अ. ४)-इत्यालस्यलक्षणमाहुः । स्तम्भोऽङ्गस्तब्धता । तृप्तिस्तृप्तस्येवान्नानभिलाषः । उत्क्लेदः कण्ठोपस्थितवमनत्वमिव । अरुचिरन्नाभ्यवहारासामर्थ्यमिति भेदः । चकारः पूर्ववत् । तेन "तथाऽङ्गे पीडकाः शीताः प्रसेकश्छर्दितन्द्रिके । हृदुपलेप उष्णाभिलाषिता वह्निमार्दवम्-" इति ॥ १२ ॥ १३ ॥

*तृष्णा मूर्च्छा भ्रमो दाहः स्वप्ननाशः शिरोरुजा ।
कण्ठास्यशोषो वमथू रोमहर्षोऽरुचिस्तमः ॥ १४ ॥
पर्वभेदश्च जृम्भा च वातपित्तज्वराकृतिः ।

वातपित्तज्वरलक्षणमाह—तृष्णेत्यादि । पर्वाणि भिद्यन्त इव वेदना पर्वभेदः । एतानि च लिङ्गानि विकृतिविषमसमवायारब्धस्य बोद्धव्यानि । विकृतिविषमसमवायारब्धत्वं चैषां केवलवातिकपैत्तिकज्वरलक्षणानां मध्ये केषांचिदेव नियमेन पाठात्सदतिरिक्तलक्षणपाठाच्च बोद्धव्यम् । यथा—अत्रैव वातपैत्तिकेऽरुचिरोमहर्षौ, वक्ष्यमाणवातश्लैष्मिके स्वेद-संतापश्च, एवं कफपित्तजे अनवस्थितशीतदाहौ, एवं सन्निपातजे सास्रकलुषादिनेत्रत्वशिरोलोठनादि । प्रकृतिसमसमवायारब्धे तु वातजादिज्वरलिङ्गान्येव समस्तानि कतिपयानि वा भवन्ति । अत एव चिकित्सिते चरको विकृतिविषमसमवायारब्धानां द्वन्द्वसन्निपातज्वराणां लक्षणानि साक्षात्पठित्वा निदानस्थानोक्तवातादिज्वरलिङ्गातिदेशेन प्रकृतिसमसमवेतानां द्वन्द्वसन्निपातज्वराणां लक्षणमुक्तवान् । यदाह,—' निदाने त्रिविधा प्रोक्ता या पृथग्जज्वराकृतिः । संसर्गसन्निपातानां तया चोक्तं सलक्षणम्"—इति । (च. चि. स्था. अ ३)। एवं वक्ष्यमाणं द्वन्द्वसन्निपातलक्षणं व्याख्येयम् । प्रकृतिसमसमवायविकृतिविषमसमवाययोश्चायमर्थः—प्रकृत्या हेतुभूतया समः कारणानुरूपः समवायः कार्यकारणभावसंबन्धः प्रकृतिसमसमवायः, कारणानुरूपं कार्यमित्यर्थः, यथा—शुक्लतन्तुसमवाया-

*"तृष्णाद्याः शिरोरुजान्ताः सुगमाः । कण्ठास्यशोषः कण्ठशोषो मुखशोषश्च । वमथुश्छर्दिभेदः धुगधुगीति लोके । रोमहर्षः रोमाञ्चः । अरुचिः प्रसिद्धा । तमः अन्धकारे प्रविष्टस्येवार्थासंवित्तिः । पर्वभेदः पर्वाणि भिद्यन्त इति संधिषु वेदनाभेदः । द्वन्द्वजेषु सान्निपातिकेषु च कानिचिल्लक्षणानि विकृतिविषमसमवायारब्धानि भवन्ति, कानिचित्प्रकृतिसमसमवायारब्धानि भवन्ति । दोषाणामेव लक्षणानि दृश्यन्ते प्रकृतिसमसमवायारब्धानि, विपरीतानि तु विकृतिविषमसमवायारब्धानि । प्रकृतिसमसमवायो यथा—कफपित्तजे शितिदाहत्वं, विकृतिविषमसमवायो यथा—वातपित्तयोर्द्वन्द्वेषु अरुचिरोमहर्षौ; इमौ तु विकृत्यारब्धौ दृश्येते । वातश्लेष्मणोर्द्वन्द्वेषु संतापो नास्ति, सान्निपातिकज्वरलक्षणे दृश्यते सोऽपि विकृत्यारब्धः । शिरसो लोठनं वातपित्तश्लेष्मणां द्वन्द्वेषु न दृश्यते सान्निपातिकज्वरलक्षणे दृश्यते तदपि विकृत्यारब्धम् । एवं द्वन्द्वसन्निपातजेषु सर्वेष्वपि रोगेषु बोद्धव्यम्" (आ० द०) ॥ १४ ॥—

रब्धस्य पटस्य शुक्लत्वम् । विकृत्या हेतुभूतया विषमः कारणाननुरूपः समवायो विकृतिविषमसमवायः, यथा—हरिद्राचूर्णसंयोगे लौहित्यमिति ॥ १४ ॥—

*स्तैमित्यं पर्वणां भेदो निद्रा गौरवमेव च ॥ १५ ॥
शिरोग्रहः प्रतिश्यायः कासः स्वेदाप्रवर्तनम् ।
संतापो मध्यवेगश्च वातश्लेष्मज्वराकृतिः ॥ १६ ॥

वातश्लेष्मज्वरलक्षणमाह—स्तैमित्यमित्यादि । स्वेदाप्रवर्तनं स्वेदस्य आ समन्तादकारणेन प्रवृत्तिः, विकृतिविषमसमवायारब्धत्वादिति कार्त्तिकः । युक्तं चैतत् । यदाह हारीतः,—"शिरोग्रहः स्वेदभवश्च कासो ज्वरस्य लिङ्गं कफवातजस्य"—इति । स्वेदभवः स्वेदोत्पत्तिः । मध्यवेगो नातितीक्ष्णो नातिमृदुरिति ॥ १५ ॥ १६ ॥

†लिप्ततिक्तास्यता तन्द्रा मोहः कासोऽरुचिस्तृषा ।
मुहुर्दाहो मुहुः शीतं श्लेष्मपित्तज्वराकृतिः ॥ १७ ॥

श्लेष्मपित्तज्वरलक्षणमाह—लिप्तेत्यादि । श्लेष्मणा लिप्तं च पित्तेन तिक्तं च आस्यं मुखं यस्य, तस्य भावो लिप्ततिक्तास्यता । तन्द्रा निद्रावत्क्लान्तिः[2] । मोहो मूर्च्छा । एतानि लिङ्गानि प्रायोभावित्वेन निर्दिष्टानि, तेनान्यान्यपि चरकोक्तानि बोद्धव्यानि । तद्यथा,—"तथा स्तम्भश्च संस्वेदः कफपित्तप्रवर्तनम्"—इति ॥ १७ ॥

‡क्षणे दाहः क्षणे शीतमस्थिसन्धिशिरोरुजा ।
सास्रावे कलुषे रक्ते निर्भुग्ने चापि लोचने ॥ १८ ॥
सस्वनौ सरुजौ कर्णौ कण्ठः शूकैरिवावृतः ।
तन्द्रा मोहः प्रलापश्च कासः श्वासोऽरुचिर्भ्रमः ॥ १९ ॥
परिदग्धा खरस्पर्शा जिह्वा स्रस्ताङ्गता परम् ।
ष्ठीवनं रक्तपित्तस्य कफेनोन्मिश्रितस्य च ॥ २० ॥
शिरसो लोठनं तृष्णा निद्रानाशो हृदि व्यथा ।
स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिराद्दर्शनमल्पशः ॥ २१ ॥
कृशत्वं नातिगात्राणां प्रततं कण्ठकूजनम् ।
कोठानां श्यावरक्तानां मण्डलानां च दर्शनम् ॥ २२ ॥
मूकत्वं स्रोतसां पाको गुरुत्वमुदरस्य च ।
चिरात्पाकश्च दोषाणां सन्निपातज्वराकृतिः ॥ २३ ॥

* "स्तैमित्यं आर्द्रपटावगुण्ठितत्वमिव, अन्ये निश्चलत्वं शरीरस्य । पर्वणां भेदो वेदनाविशेषः संधिषु । निद्रा प्रसिद्धा । गौरवं भाराधानात् । शिरोग्रहः शिरो गृहीतमिव मन्यते । प्रतिश्यायो नासास्रावः । स्वेदभावः स्वेदोत्पत्तिः । इदमपि स्वेदन विकृतिविषमसमवाया-रब्धम् । संतापोऽपि विकृतिविषमसमवायारब्धः" (च० द० ) ॥ १५ ॥ १६ ॥

† "लिप्ततिक्तास्यता लिप्तास्यता तिक्तास्यता चेत्यर्थः । तन्द्रा निद्रावत्क्लान्तिः । तन्द्रा-लक्षणमाह—"इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः । निद्रार्त्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत्"—इति" ( च० द० ) ॥ १७ ॥

‡ "स्वाप्नमोहोत्पत्यादिभिः संपद्यते । अन्ये भ्रमन्ती इवाक्षी भ्रमणं मेरनातुरं

१ 'श्लेष्म-ज्वरकारणेन'—इति पाठान्तरम् । २ 'लोचनग्लानिः' इति क. पु. ।

साम्निपातिकज्वरलक्षणमाह—क्षणे दाह इत्यादि । रुजा शूलं, अस्थ्यादिभिः सबध्यते । साम्रावे साश्रुणी । कलुषे आविलवर्णे । निर्गता भुमता सङ्कुचितता ययोस्ते निर्भुग्ने, "विस्तारिते इत्यर्थः" इति जेज्जटः, "अन्तःप्रविष्टे"—इत्यन्ये, "अतिकुटिले"—इति चक्रः । शूकैः शूकशिम्बिधान्यादेः । परिदग्धा दग्धवत्कृष्णवर्णा । खरस्पर्शा गोजिह्वादिवत् । स्रस्ताङ्गता निःसहावयवता । ष्ठीवनं रक्तस्य पित्तस्य वा मुखेन स्वल्पोद्गिरणम् । शिरसो लोठनमिति इतस्ततः शिरश्चालनम् । कृशत्वं नातिगात्राणां दोषपूर्णत्वेन । प्रततं निरन्तरम् । कोठो भालुकितन्त्रे पठितः । तद्यथा,—'वरटीदष्टसंस्थानः कण्डूमांल्लोहितोऽस्रकफपित्तात् । क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तन्त्रे'—इति । मूकत्वं मन्दवचनत्वं, अवचनता वा । गुरुत्वमुदरस्य च उदरगौरवम् । चिरात्पाकश्च दोषाणामिति अतिसामसारब्धत्वेन । चकारादन्यान्यपि च बोद्धव्यानि । यदाह वाग्भटः,—"तद्वच्छीतं महानिद्रा दिवा जागरणं निशि । सदा वा नैव वा निद्रा महान् स्वेदोऽति नैव वा ॥ गीतनर्तनहास्यादिविकृतेहाप्रवर्तनम्"—इति ( वा नि स्था अ २ ) । एतच्च लक्षणं त्रयोदशसन्निपातेषु मध्ये समानाद्रुद्धैर्दोषैस्तुल्यैरारब्धस्य ज्वरस्य चरकेण पठितं,—शुल्बणैरोरब्धानां च द्वादशानां लक्षणं तत्रैव द्रष्टव्यम् । तथा च काश्मीरपाठे चरकः,—"भ्रमः पिपासा दाहश्च गौरवं शिरसोऽतिरुक् । वातपित्तोल्बणे विद्याल्लिङ्गं मन्दकफे ज्वरे ॥ शैत्यं कासोऽरुचिस्तन्द्रापिपासादाहरुग्व्यथाः । वातश्लेष्मोल्बणे व्याधौ लिङ्गं पित्तावरे विदुः ॥ छर्दिः शैत्यं मुहुर्दाहस्तृष्णा मोहोऽस्थिवेदना । मन्दवाते व्यवस्यन्ति लिङ्गं पित्तकफोल्बणे । सन्ध्यस्थिशिरसां शूलं प्रलापो गौरवं भ्रमः । वातोल्बणे स्याद्द्व्यनुगे तृष्णा

---

भवत । कण्ठः शूकैर्धान्यानामवृत्तमकण्टकाकारैः, अन्ये कपिकच्छूशूकैरिवावृत इव । तन्द्रा प्रसिद्धा, मोहोऽचैतन्यं, प्रलापोऽसम्बद्धभाषणम् । भ्रमश्चक्रारूढस्येव, अन्ये तु विपरीतपदार्थज्ञानं भ्रमो मुरुपशनवत् । खरस्पर्शा कण्टकिनी । स्रस्ताङ्गता विकलाङ्गत्वम् । ष्ठीवनं मुखेन रक्तपित्तस्य ईषत्कफमिश्रितस्योद्गिरणम् । तृष्णा पिपासा । स्वेदमूत्रपुरीषाणां चिरेणाल्पशो दर्शनं चिरात् स्रुतिः । कण्ठकूजनमव्यक्तशब्दः । कोठा अव्यक्तमुखाः पिडिकाप्रायाः, तेषां च श्यावरक्तानां दर्शनं, शरीरे मण्डलानां सकलानां च दर्शनम् । स्रोतसां मुखनासादिरन्ध्राणां पाकः । चिरात्पाकश्च दोषाणामिति अतिसामत्वारब्धत्वेन दोषाणामेकत्र मिलितानां चिरकालेन पाको निरामता । प्रकृतिसमसमवाये सन्निपाते पृथग्वातादिज्वरस्यैव लक्षणं ज्ञेयम् । हीनमध्याधिकक्रमेण सन्निपाताः षट्, द्व्युल्बणेन त्रयः, एकोल्बणेन त्रयः, समत्वेनैकः, एवं त्रयोदश सन्निपाताः प्रकुर्वाः । अत्र सुश्रुतस्तु दोषोत्कर्षापकर्षतारतम्येन धात्वाद्यावरणभेदेन च सन्निपातभेदानामानन्त्यात्पृथक्पृथग्लक्षणं नोक्तवान्, किंतु तुल्यकुपितैर्दोषैरेकमेव सन्निपातलक्षणं पठितवान् । तद्यथा—"नात्युष्णशीतः" इत्यादि । अथ भालुकितन्त्रे अल्बणैरोल्बणादिलक्षणमन्यथा पठितम् । तद्यथा—"आमो ह्याहारदोषात्प्रथममुपचितो हन्ति वह्निं शरीरे श्लेष्मत्वं याति मुक्तः सकलमपि ततोऽसौ रुणो वायुदुष्टः । स्रोतांस्यापूर्य रुध्यादखिलमथ मरुत्कोपयेत्पित्तमन्तः संमूर्च्छ्यान्योन्यमेते प्रबलमिति नृणां कुर्वते सन्निपातम्" इति, तथा 'वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति' इत्यादि" ( भा० द० ) ॥ १८–२३ ॥

कण्ठास्यशुष्कता ॥ रक्तविण्मूत्रता दाहः स्वेदस्तृष्णा बलक्षयः । मूर्च्छा चेति त्रिदोषे स्याल्लिङ्गं पित्ते गरीयसि ॥ आलस्यारुचिहृल्लासदाहवम्यरतिभ्रमैः । कफोल्बणं सन्निपातं तन्द्राकासेन चादिशेत् ॥ प्रतिश्याछर्दिरालस्यं तन्द्रारुच्यग्निमार्दवम् । हीनवाते पित्तमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके मतम् ॥ हारिद्रमूत्रनेत्रत्वं दाहस्तृष्णा भ्रमोऽरुचिः । हीनवाते मध्यकफे लिङ्गं पित्ताधिके मतम् ॥ शिरोरुग्वेपथुश्वासप्रलापच्छर्द्यरोचकाः । हीनपित्ते मध्यकफे लिङ्गं वाताधिके मतम् ॥ शीतता गौरवं तन्द्रा प्रलापोऽस्थिशिरोतिरुक् । हीनपित्ते वातमध्ये लिङ्गं श्लेष्माधिके विदुः । वर्चोभेदोऽग्निदौर्बल्यं तृष्णा दाहोऽरुचिर्भ्रमः । कफहीने वातमध्ये लिङ्गं पित्ताधिके विदुः ॥ श्वासः कासः प्रतिश्यायो मुखशोषोऽतिपार्श्वरुक् । कफहीने पित्तमध्ये लिङ्गं वाताधिके मतम्"-इति ( च. चि स्था अ ३ )। विकृतौ नियमो नास्ति, तेन विकृतिविषमसमवाया अनेकप्रकारा भवन्ति । अत सुश्रुतेनाप्यन्यादृशं सन्निपातलक्षणं पठितम्,-"नात्युष्णशीतोऽल्पसंज्ञो भ्रान्तप्रेक्षी हतप्रभः । खरजिह्वः शुष्ककण्ठः स्वेदविण्मूत्रवर्जितः ॥ साश्रुनिर्भुग्ननयनो भक्तद्वेषी हतस्वरः । स्वसन्निपतितः शेते प्रलापोपद्रवान्वितः ॥ अभिन्यासं तु तं प्राहुर्हतौजसमथापरे । सन्निपातज्वरं कृच्छ्रमसाध्यमपरे जगुः"-इति ( सु उ त अ ३९ )। तथा भालुकितन्त्रे उल्बणैकोल्बणादिलक्षणमन्यथा पठितम् । तद्यथा,-'वातपित्ताधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति । तस्य ज्वरोऽङ्गमर्दस्तृट्तालुशोषप्रमीलकाः ॥ आध्मानतन्द्रारुचयः श्वासकासभ्रमश्रमाः । पित्तश्लेष्माधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥ अन्तर्दाहो बहिः शीतं तस्य तन्द्रा च बाधते । तुद्यते दक्षिणं पार्श्वमुरःशीर्षगलग्रहाः ॥ निष्ठीवेत्कफपित्तं च तृष्णा कण्डूश्च जायते । विड्भेदश्वासहिक्काश्च वर्धन्ते सप्रमीलकाः ॥ विस्फुरकं च तौ नाम्ना सन्निपातावुदाहृतौ । श्लेष्मानिलाधिको यस्य सन्निपातः प्रकुप्यति ॥ तस्य शीतज्वरो निद्रा क्षुत्तृष्णा पार्श्वनिग्रहः । शिरोगौरवमालस्यमन्यास्तम्भप्रमीलकाः ॥ उदरं दह्यते चास्य कटिर्बस्तिश्च दूयते । सन्निपातः स विज्ञेयो मकरीति सुदारुणः ॥ वातोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति । तस्य तृष्णाज्वरग्लानिपार्श्वदाहशिरोव्यथाः ॥ पिण्डिकोद्वेष्टनं दाहः ऊरुसादो बलक्षयः । सरक्तं चास्य विण्मूत्रं शूलं निद्राविपर्ययः ॥ निर्भिद्यते गुदं चास्य बस्तिश्च परिकृत्यते । आयम्यते भिद्यते च हृदयं विलपत्यपि ॥ मूर्च्छति स्पन्दते रौति नाम्ना विस्फुरकः स्मृतः । पित्तोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥ तस्य दाहो ज्वरो घोरो बहिरन्तश्च वर्धते । शीतं च सेवमानस्य कुप्यतः कफमारुतौ ॥ ततस्तेन प्रधावन्ते हिक्काश्वासप्रमीलकाः । विड्

१ अस्याग्रे क पुस्तके "प्रकृतिसमसमवाये तु संनिपाते पृथग्वातादिज्वरलक्षणं ज्ञेयः हीनमध्याधिकक्रमेण सन्निपाता एव षट्, मुल्बणत्वेन त्रय, एकोल्बणत्वेन त्रय, समस्तैक, एव त्रयोदश प्रकृताः" इत्यधिक पाठ उपलभ्यते । २ अस्याग्रे ख पुस्तके 'वात-पित्ताधिकोऽस्य प्रथममुपचितो हन्ति यदि शरीरे श्लेष्मस्य दाति तु तु सकलमारि तथोष्मा कफो वायुरुर । स्रोतांस्यापूर्य रुध्यादनिलमथ महतः कोपपर्याप्तवन्तं संमूर्च्छयादेन्यमेतं प्रवरमिति जगुः शुष्कं संनिपातम्' इत्यधिक पाठ उपलभ्यते । ३ ख पुस्तके तुम्बोत्तम चिन्हेति पाठ ।

हिक्का पर्वभेदः प्रलापो गौरवं क्लमः ॥ नाभिपार्श्वरुजा तस्य क्षिप्रमस्याशु निवर्धते । म्रियमाणस्य रक्तं च स्रोतोभ्यः सम्प्रवर्तते ॥ शूलेन पीड्यमानस्य तृष्णा दाहश्च वर्धते । असाध्यः सन्निपातोऽयं शीघ्रकारीति कथ्यते ॥ नहि जीवत्यहोरात्रमेतेनाविष्टविग्रहः । कफोल्बणः सन्निपातो यस्य जन्तोः प्रकुप्यति ॥ तस्य शीतज्वरस्तम्भगौरवालस्यतन्द्रयः । छर्दिमूर्च्छातृषादाहहृल्लासारोचकहृद्द्रवाः ॥ ष्ठीवनं मुखमाधुर्यं श्रोत्रवाग्दृष्टिनिग्रहः । श्लेष्मणो निग्रहं चास्य यदा प्रकुरुते भिषक् ॥ तदा तस्य भृशं पित्तं कुर्यात्सोपद्रवं ज्वरम् । निगृहीते च पित्ते तु भृशं वायुः प्रकुप्यति ॥ निराहारस्य सोऽत्यर्थं मेदोमज्जास्थि बाधते । अयाच्य स्नाति भुङ्क्ते वा निरान्नं नहि जीवति ॥ मेदोगतः सन्निपातः कम्पनः स उदाहृतः । कामान्मोहाच्च लोभाच्च भयाच्चाय प्रपद्यते ॥ मध्यहीनाधिकैर्दोषैः सन्निपातो यदा भवेत् । तस्य रोगास्तु एवोक्ताः प्रायो दोषबलाश्रयाः "–इत्यादि । ननु, वातादयः परस्परं विरुद्धगुणाः, विरुद्धगुणानां च सम्भूयैककार्यारम्भकत्वं नोपपद्यते, परस्परोपघातात्तुहिनदहनयोरिव, तत्कथं सान्निपातिकविकारोत्पत्तिरिति[1] । अत्र समाधानमुक्तं दृढबलेन, यथा,–"विरु

---

१ 'धावते' इति क ख    २ 'कम्पन' इति ख    ३ अस्याग्रे ग पुस्तके 'तद्यथा—वातस्य शीतरूक्षादिगुणयुक्तेन उष्णस्निग्धादिगुणयुक्तेन पित्तेन, तथा कफस्य गौरवस्निग्धत्वस्थैर्याभ्यां विरोधः । "तत्र रूक्षो लघुः शीतः खरः सूक्ष्मश्चलोऽनिलः । पित्तं सस्नेहतीक्ष्णोष्णं लघु विस्रं सरं द्रवम् । स्निग्धः शीतो गुरुर्मन्दः श्लक्ष्णो मृत्स्नः स्थिरः कफः ॥ पट्वम्ललवणं पित्तं स्वाद्वम्ललवणः कफः । कषायतिक्तकटुभिर्वायुर्दुष्टोऽनुमानतः "–इति । किंच, मिथ्याहारविहाराभ्यां दोषा युगपदुत्पद्यन्ते आहोस्वित्कालव्यवधानेन ? आद्ये समबलत्वेन तारतम्येन वा ? न च, सर्वेषां समबलत्वेन परस्परघातकानां युगपदुत्पत्तिर्न स्यात् । अथ भिन्नाश्रयतया साऽस्तु, तदपि न, कुपितानां सर्वदेहव्यापित्वेन परस्परसम्भवात् । उक्तं च,–'व्याप्नोति सहसा देहमापादतलमस्तकम्"–इति । किंच ज्वरोत्पत्तौ तावत्कुपितानामामाशयगतानां रसदूषकाणां ज्वरोत्पादकत्वं तन्मिलितानामेव स्वाथधातुदुष्टेनेति । न द्वितीयः, पूर्वशेषाधिवत्त्वात् किंच तारतम्येन' त्पत्तौ मूयस्मानीरवद्विरोधे प्रागेव तेन प्रबलेन दुर्बलाघातः सुकरः, दृश्यते च मात्स्यो न्यायः । अथ युगपदुत्पादका आहारादयो न भवन्ति, तत्र युगपदुत्पादकद्रव्यमेकमनेकं वा ? तस्य ( एकत्वे ) पाञ्चभौतिकत्वेन विरुद्धगुणाधिकार( करण )स्य त्रिदोषोत्पादकत्वं न स्यात् । अस्तु वाऽविचारितरमणीयम् । तावमेवाभ्यवह्रीयत इति कथं ? अस्तु वा तावत्त्वेन सहकारिणि द्रव्याभ्यवहारे तस्य विरुद्धगुणवत्त्वेन दोषान्तरघातकत्वेनानुपपत्तिः । तद्वत्स्थनैव जायमानः केवलैकदोषजो न संसर्गसन्निपातजो ज्वर इति । अथाऽदृष्टाधीनत्वेन सहकारिणो भावे ( संभवे ) एकाभ्यवहारे सन्निपातः, तर्हि सर्वेषां समबलत्वेनेत्यत्रोक्तदोषः स्यात् । अथानेकद्रव्याणामभ्यवहारे ( अथ तस्यानेकत्वे ) त्रिदोषप्रकोपणं न सम्भवति । तत्र तुल्यानामेवाभ्यवहारः कथं ? यतोऽभिन्नरुचित्वात् । अथारुच्याभ्यवहारे तारतम्यमभावात् । तारतम्येनैव भवति प्रकोपो न युगपदिति प्रतिज्ञाहानिः । अथाप्यदृष्टाधानवशात्स्याभ्यवहारे प्रतिघातकत्वाभावेऽपि यौगपद्यं, तर्हि स एव दोषः । अथ कालव्यवधानेन, तत्र पूर्वस्मादुत्तरस्य भिन्नः कालो भवेत्, समबलो वा न्यूनो वा अधिको वा ? नाद्य ,उप-

दैरपि न स्वैते गुणैर्घ्नन्ति परस्परम् । दोषा सहजसात्म्यत्वाद्घोर विषमहीनिव"–इति ( च. चि. स्था. अ. २६ ) । एतच्चान्ये दूषयन्ति–सहजत्वादित्यनैकान्तिक, यत. सहजानपि धातून् दोषा उपघ्नन्ति; सात्म्यत्वादित्यपि साध्याविशिष्टं, यत सात्म्यत्वमबाधकत्व, तदेव च दोषाणा परस्पर साध्यते । अत्रोच्यते–दोषा नोपघ्नन्तीति कोऽयमनुपघात साध्यते ? विकृतेरकारकत्व अविनाशकत्व वा ? नाद्य , दोषाणा परस्पर विकृतिकर्तृत्वात् । यथोक्तं चरके,–"विशोषयेद्बस्तिगत सशुक्र मूत्र सपित्त पवन कफ वा । यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गो "–इति ( च. चि. स्था अ. २६ ) । यथोक्त वाग्भटेन,–"सश्लेष्ममेद पवन साममत्यर्थसचितम् । अभिभूयेतर दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥ सक्थ्यस्थिनी प्रपूर्यान्त श्लेष्मणा स्तिमितेन । तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ" ( वा नि स्था अ. १५ ) इति[1] । अविनाशकत्व तु विद्यत एव, धातुदोषयो परस्परं च दोषाणा सर्व-

---

सनातविरोधित्वेन उत्पत्तुमेव न शक्नोति । न द्वितीय , न्यूनबलत्वेन पूर्वप्रबलेनेव निरा शितत्वाद्, अकिंचित्करत्वाच्च । न तृतीय , विचारासहत्वात् । तत्र वक्तव्य ? अधिकत्वमुत्पत्ते पूर्वं पश्चाद्वा ? नाद्य , अनुत्पन्नोत्पन्नस्याधिकत्वाभावात् । अधिकत्व धर्म , न तु धर्मिणि चिन्त्य । अथ पश्चात् ? तत्र, उत्पत्त्यधिरे अधिकेन वातस्योपघातानिरोधित उत्पत्तिरेव न, कुतोऽधिकत्वम् । आगन्त्वधिकत्व न सभवति । तस्माद्विरुद्धगुणाना संभूय कर्तृत्व घटघटाभावयोरिव पटघटप्रध्वंसयोरिव सदावस्थायित्व नास्ति दहनतुहिनवत् । अत्रोच्यते–सर्वे विकल्पा अनङ्गीकारपराहता , सन्निपातस्तु स्यादेव, मिथ्याहारादिना कुपिता दोषा युगपत्काल व्यवधानेन वा, समबलत्वेन तारतम्येन वा, परस्परविरुद्धा अपि स्वस्थाना-द्धामाशयमागत्य रस दूषयित्वा द्वन्द्वसन्निपातोत्पादका भवन्ति, उक्त च–मिथ्याहारेत्यादि । कालव्यवधानेनोत्पन्नानामपि कालान्तरेण यौगपद्यमेव भवतीति न कदाचिदनुपपत्ति । ननु, कथमादिपश्चाद्भावेनोत्पन्ना यौगपद्यमिति चेत् ? तत्र, दोषादोषान्तरोत्पत्ते । तदुक्त,—"एक प्रकुपितो दोष सर्वानेव प्रकोपयेत् । एक प्रशमितो दोष सर्वान् दोषान्निवारयेत्"–इति । तथाच चरके,–"कश्चिद्धि रोगो रोगस्य हेतुर्भूत्वा प्रशाम्यति"–इति । अत्र हुताकरवाद्दोषोऽपि रोग इति टीकाकृतो व्याचख्ये 'विकृतो दोषो रोग' इति । समुदायसमुदायिनोरभेदवादिना मत पूर्वमेवोक्तम् । अन्यत्र तथा,–"विकृताविकृता देह घ्नन्ति ते वर्धयन्ति च"– इति । विकृताना अतएव रोगरूपेणैव भवति, या विकृति स एव रोग इति न दोषरोगयोर्भेद । अस्तु वा भेद , सिद्धिदोषे रोग नियत इति । कस्यचिदपि स्थानेकद्व्याप्यव्यवहारे सहकारिणो दैवाश्रयाणा प्रकोपो भवत्येव । उक्त च,– "द्रव्यापराधज कश्चित्कश्चित्पूर्वापराधज । तत्सकरात्भवत्यो व्याधिरेव त्रिधा मत "– इति । तथा,–"विरुद्धोर्ध्वे क्लिष्टाम्बुरो रात्रौ च दधिभोजनम् । अनिद्रा मैथुन चस्य दृश्य पाको भवेद्ध्रुवम्"–इति । ननु दोषाणा बाध्यबाधकभावेनादिपश्चाद्भावेनोत्पत्तिदोषाद्दोषान्तरोत्पत्तिर्वा न संभवतीत्युपक्रमेणोक्त" इत्यधिक पाठ उपलभ्यते ।

1 अस्याग्रे क. पुस्तके—"न द्वितीय , दोषाद्दोषान्तरोत्पत्तिर्नैवानुपपन्न, 'एक प्रकुपितो दोष' इत्यादिना, अतो दोषस्य कारणत्वादन्यथानुपपत्त । स (न) हि अर्थभङ्ग इ

धोच्छेदप्रतिपादकागमाभावात्, मरणप्रसङ्गाच्च, दोषाणामपि देहधारणकारणत्वात् । तस्मात्सर्वथोच्छेदनिरासाभिप्रायेणैव दृढबलवचनमिह द्रष्टव्यं, तत् कुतोऽनैकान्तिकता । नचैवं सति विषस्य विषादकर्तृत्वे दृष्टान्तविफलत्वं, विषस्य विषादादवान्तरव्यापारस्य प्राणविनाशकत्वात्, नच सर्वात्मना दृष्टान्तो भवतीति । सात्म्यत्वादित्ययमर्थः–सात्म्यत्वेन प्रतीयमानत्वात् । दोषाः परस्परं नोपघ्नन्ति, अनुपघातकत्वेन प्रतीयमानत्वात्, यद्यथा प्रतीयते तत्तथा निर्दिश्यते, यथाऽग्निकार्यो धूमोऽग्निकार्यत्वेनेति, तदुक्तं साध्याविशिष्टत्वमिति । चक्रदत्तस्तु सहजसात्म्यत्वादित्येकमेव हेतुं व्याख्यातवान्–सहजं स्वाभाविकं दोषाणां सात्म्यत्वमिति । दृढबलोक्तहेतुद्वयासहसेन गयदासस्तु हेत्वन्तरमुक्तवान्,–"दैवाद्दोषस्वभावाद्वा दोषाणां साम्निपातिके । विरुद्धैश्च गुणैः कश्चिन्नोपघातः परस्परम्"–इति संक्षेपः ॥ १८–२३ ॥

*दोषे विबद्धे नष्टेऽग्नौ सर्वसंपूर्णलक्षणः ।
सन्निपातज्वरोऽसाध्यः, कृच्छ्रसाध्यस्ततोऽन्यथा ॥ २४ ॥
( सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा ।
पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा ॥ १ ॥
सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा ।
एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च ॥ २ ॥ )

* 'संक्षेपतः सन्निपातज्वरस्यासाध्यलक्षणमाह–दोषे इत्यादि । सर्वाणि संपूर्णानि लक्षणानि यस्य स तथा । ईदृशोऽसाध्यः, ततोऽन्यथा विसदृशः अविबद्धदोषोऽल्पलक्षणः कृच्छ्रसाध्यः । उक्तं च भालुकिना–"मृत्युना सह योद्धव्यं संनिपातं चिकित्सता । यस्तु तत्र भवेज्जेता स जेताऽऽमयसंकुले ॥ संनिपातार्णवे मग्नं योऽभ्युद्धरति मानवम् । कस्तेन न कृतो धर्मः कां वा पूजां न सोऽर्हति"–इति । सुश्रुतेऽपि सन्निपातज्वरस्य मोक्षवधयोरवधिकालो दर्शितः–"सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा । पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा"–इति भालुकिनाऽप्युक्तं–"सप्तमी द्विगुणा यावन्नवम्येकादशी तथा । एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च"–इति । उक्तं च–"पित्तकफानिलवृध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात् । हन्ति विमुञ्चति वाऽपि त्रिदोषजो धातुमलपाकात्"–इति । वाताधिकः सप्तमे दिने, पित्ताधिको दशमे, श्लेष्माधिको द्वादशे, मलपाकाद्विमुञ्चति धातुपाकाद्धन्ति । धातुपाकलक्षणं तन्त्रान्तरोक्तं–"सबाध्य-

नाशवत्त्वापरपर्यायमविरोधित्वमेष्टव्यं, तच्च विषत एव धातुदोषयोः परस्परं वा दोषाणां अन्यथा द्वन्द्वसन्निपातलक्षणरोगः सर्वानुभवसाध्यः किंनिमित्तजः, नहि कारणं विना कार्योत्पत्तिः । किंच यद्युपघातः स्यात्ततो जन्मादौ शुक्रार्तवसंयुक्तैर्दोषैः परस्परोपघातात् प्रकृत्यारम्भः कुतः जायमानः एकज एव कथमुपघातः' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते ।

१ अस्याग्रे क पुस्तके 'अत सात्म्यत्वात् सहजत्वादविरोधित्वमिति यदुक्तमनैकान्तिकत्वं तत्र, उपघातशब्दस्य न्यूनाधिकपर्यायविरोधित्वात् । आहारं दोषा उपघ्नन्तीति दूष्यरसधातुदूषकत्वं दोषाणां, तच्च रसदूष्यप्रकृत्यन्यथापादकत्वं नान्यदिति कुतो नाम साध्याविशिष्टता [illegible] निरस्ता स्पष्टता' इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते ।

तस्य सन्निपातज्वरस्यासाध्यलक्षणमाह–दोषे विबद्ध इत्यादि। दोषो मलं वाता-दिश्च; जेजटस्तु मलमेवाह, विबद्ध इति वचनात्। नष्टाग्नित्वं आहारापाकगम्यम्। यदुक्तं चरके,–"अग्निं जरणशक्त्या"–(च. वि. स्था. अ. ४)–इति। असाध्यकृ-च्छ्रसाध्याभिधानेन सुखसाध्यो न भवतीति दर्शितम्। उक्तं हि चरके–"सन्निपातो दुश्चिकित्स्यतमः" (च. सू. स्था. अ. २५)–इति। तथा भालुकिः,–"मृत्युना सह योद्धव्यं सन्निपातं चिकित्सता"–इति। सर्वसंपूर्णलक्षण इति सर्वाणि समग्राणि, संपूर्णानि बलीयांसि, लक्षणानि यस्य स तथा ॥ २४ ॥

*सन्निपातज्वरस्यान्ते कर्णमूले सुदारुणः।
शोथः संजायते तेन कश्चिदेव प्रमुच्यते ॥ २५ ॥
(त्रयः प्रकुपिता दोषा उरःस्रोतोऽनुगामिनः।
आमाभिभूयता ग्रथिता बुद्धीन्द्रियमनोगताः ॥ १ ॥
जनयन्ति महाघोरमभिन्यासज्वरं दृढम्।
श्रुतौ नेत्रे प्रसुप्तिः स्यात्र चेष्टां कांचिदीहते ॥ २ ॥
न च दृष्टिर्भवेत्तस्य समर्था रूपदर्शने।
न घ्राणं न च संस्पर्शं शब्दं वा नैव बुध्यते ॥ ३ ॥
शिरो लोठयतेऽभीक्ष्णमाहारं नाभिनन्दति।
कूजति तुद्यते चैव परिवर्तनमीहते ॥ ४ ॥
अल्पं प्रभाषते किंचिदभिन्यासः स उच्यते।
प्रत्याख्यातः स भूयिष्ठः कश्चिदेवात्र सिध्यति ॥ ५ ॥)

सन्निपातज्वरोपद्रवमाह—सन्निपातेत्यादि ॥ २५ ॥

†अभिघाताभिचाराभ्यामभिशापाभिषङ्गतः।
आगन्तुर्जायते दोषैर्यथास्वं तं विभावयेत् ॥ २६ ॥
श्यामास्यता विषकृते तथाऽतीसार एव च।
भक्तारुचिः पिपासा च तोदश्च सह मूर्च्छया ॥ २७ ॥

---

मानो हृदि नाभिदेशे गात्रेषु वा पाकरुजाभिरेषु। पर्वसु वा येषु रुजा ज्वरार्तः ॥ धातुपाकी कथितो भिषग्भिः"–इति। तन्त्रान्तरेऽप्युक्तम्–"दशद्वादशसप्ताहैः पित्तश्लेष्मा-निलाधिकः। पक्वोऽपक्वो धातुमलान् हन्ति मुञ्चति वा ज्वरः" इति (मा० द०) ॥२४॥

* 'सन्निपातज्वरस्य अन्ते अवसाने सन्निपातज्वरविनिवृत्तौ पुनः कर्णमूले कर्णपश्चाद्देशे सुदारुणः कष्टतमः शोथः संप्राप्तिविशेषात्कर्णवैचित्र्यात्संजायते, तेन शोथेन कश्चिदेव ज्वरी विमुच्यते, प्रायो मारयतीत्यर्थः' (मा० द०) ॥ २५ ॥

† 'अथागन्तुकज्वरस्य लक्षणमाह–अभिघातेत्यादि। अभिघातो लोष्टलगुडादिना, आगन्तुज्वराणां वैचित्र्यमाह–श्यामेत्यादि। विषस्य विदोषकर्तृत्वेऽप्यन्नत्वे विषकृतत्वात् श्यामास्यत्वम्। अतीसारः स्थावरविषसंयोगत्वात्। तोदो व्यथा। शेषं सुगमम्। वीर्योपचितपदार्थजे कफयुः छर्दिः श्वासः हिक्का। चित्तविभ्रमः हिक्काप्रभ्रमजत्वम्। तदुक्तं वाग्भटे—"वस्मादौषधिगन्धो हीनेन्द्रियोऽपि भृशमशुचः। ध्यानविःश्वासदुःखं

ओषधिगन्धजे मूर्च्छा शिरोरुग्वमथुः क्षवः ।
कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम् ॥ २८ ॥
( हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति । )
भयात्प्रलापः शोकाच्च भवेत्कोपाच्च वेपथुः ।
अभिचाराभिशापाभ्यां मोहस्तृष्णा च जायते ॥ २९ ॥
भूताभिषङ्गादुद्वेगो हास्यरोदनकम्पनम् ।

आगन्तुज्वरमाह—अभिघातेत्यादि ।—अभिघातोऽभिहननं शस्त्रलोष्टमुष्टिलगुडादिभिः, अभिचारः श्येनादियागकृतः अथवा विपरीतैर्मन्त्रैर्लोहस्रुचा सर्षपादिहोम इत्याहुः । अभिषङ्गः कामादीनां भूतानां च सम्बन्धः, यदुक्तं चरके—"कामशोकभयक्रोधैरभिषक्तस्य यो ज्वरः । सोऽभिषङ्गज्वरो ज्ञेयो यश्च भूताभिषङ्गजः" ( च. चि स्था. अ. ३ )—इति । अभिशापो ब्राह्मणगुरुवृद्धसिद्धानामनिष्टाभिशंसनम् । तं चागन्तुज्वरं यथास्वं दोषैर्जानीयात् । यदुक्तम्,—"कामशोकभयाद्वायुः"—इत्यादि । अयं च दोषसम्बन्धः पश्चाद्भावी ज्वरारम्भक इति सप्राप्त्यवसरे निरूपितम् । श्यावास्यतेति श्यावः शुक्लानुविद्धः कृष्णो वर्णः, शाकवर्ण इत्येके । विषकृते स्थावरविषभक्षणादिकृते, अतीसारः तद्विषस्याधोगत्वात् । ओषधिगन्धज इति तीव्रौषधिगन्धघ्राणजे, "पुष्पेभ्यो गन्धरजसी ओजस्विभ्यो यदाऽनिलः"—इत्यादिना वृद्धसुश्रुतेन पठितं तृणपुष्पाख्यं ज्वरमत्रैवान्तर्भावयन्ति । कामज इत्यादि अभिमतकामिन्याद्यप्राप्तिनिमित्ते । चित्तविभ्रंशो भ्रमादिः । यदाह वाग्भटः,—"कामाद्भ्रमोऽरुचिर्दाहो ह्रीनिद्राधीधृतिक्षयाः" ( वा नि स्था. अ २ ) इत्यादि । भयादिति भयाज्जाते ज्वरे । एवं शोकात् कोपादित्येतयोर्बोद्धव्यं, शोकाच्च प्रलाप इति सम्बन्धः, प्रलापश्चात्र वातकार्यं, तस्य वातकोपितपित्तकार्यत्वात् । विशेषनिश्चयस्तु निदानात्, निदानमपि लक्षणं भवति । उक्तं च,—"कामशोकभयाद्वायुः क्रोधात्पित्तं त्रयो मलाः"—इत्यादि । ननु तन्त्रान्तरे क्रोधजे वेपथुः ? तस्य वातकार्यत्वात् । उच्यते,—"एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्" इति वचनात्पित्तकोपितवातजन्य एवात्र वेपथुः, अथवा क्रुद्धश्च वेपमानो दृश्यत इति नहि दृष्टेऽनुपपन्नं नामेति जेज्जटः । क्रोधः पित्तमिव वातं च कोपयतीति, तदुक्तम् । यदाह विदेहः,—"क्रोधशोकौ स्मृतौ वातरक्तपित्तप्रकोपणौ"—इति । कोपाच्चेति चकारेण शिरोरुजं समुच्चिनोति । यदाह वाग्भटः—"क्रोधात्कम्पः शिरोरुक् च प्रलापो भयशोकजः" ( वा. नि. स्था अ २ )—इति । मानसत्वाविशेषेऽपि भयजादीनां पृथगुपादानं हेतुभेदात्, हेतुभेदाच्च भेदाभिधानं हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थमिति । अभिचारेत्यादि । तृष्णा

लिङ्गं घामज्वरे स्मृतम्"—इति । शेषं सुबोधम् । भयशोककोपाभिषङ्गज्वरमाह—भयादित्यादि । प्रलापः असम्बद्धभाषणं, वेपथुः कम्पः, शोकात्प्रलाप इति संबन्धः । प्रलापश्चात्र वातकार्यं, सर्वदैव तस्य वातकार्यत्वात्, विशेषनिश्चयश्च निदानात्, निदानमपि क्वचिल्लक्षणं भवति । अभिचाराभिशापाभ्यां जाते ज्वरे मोहोऽचैतन्यं जायते, अभिचारो मन्त्रादिभिर्मारणप्रयोगः, अभिशापो ब्रह्मर्षिगुरुसिद्धादीनामभिशपनमाक्रोशः ( आ० द० ) ॥ २६–२९ ॥—

चेति चशब्देनाभिचारजे दाहादिकं समुच्चिनोति । यदुक्तं हारीतदर्शिना[१] वाग्भटेन,—"तत्राभिचारिकैर्मन्त्रैर्हूयमानस्य तप्यते । पूर्वं चेतस्ततो देहस्ततो विस्फोटतृड्भ्रमैः ॥ सदाहमूर्च्छैर्ग्रस्तस्य प्रत्यहं वर्धते ज्वरः"—इति । भूताभिषङ्गादिति भूतानि देवग्रहादय उन्मादनिदाने वक्ष्यमाणाः, तेषामभिषङ्गः संबन्धः । उद्वेग उद्विग्नचित्तता ॥ २६–२९ ॥—

*कामशोकभयाद्वायुः, क्रोधात्पित्तं, त्रयो मलाः ॥ ३० ॥
भूताभिषङ्गात्कुप्यन्ति भूतसामान्यलक्षणाः ।

'आगन्तुज्वरेष्वपि प्रतिनियतदोषानुबन्धप्रदर्शनार्थमाह—कामशोकेत्यादि । त्रयो मला भूताभिषङ्गात्कुप्यन्तीति भूतप्रभावात् । यच्च चरकेण निदानस्थाने "अभिषङ्गजः पुनर्वातपित्ताभ्यां" (च. नि. स्था. अ. १)-इत्युक्तं, तत्प्रायिकं मन्तव्यमिति जेज्जटः । चक्रस्त्वाह,—"अभिषङ्गज इत्यनेन कामाद्यभिषङ्गज उच्यते न तु भूताभिषङ्गजः"—इति । भूतसामान्यलक्षणा इति यस्य भूतस्य देवग्रहादेरभिषङ्गात्कुप्यन्ति तस्य यल्लक्षणं रोदनादि तेन सह सामान्यं सदृशं लक्षणं येषां ते तथा, इति व्याचक्षते जेज्जटादयः । दोषलक्षणानि भूतलक्षणानि च भवन्तीत्यर्थः ॥ ३० ॥—

†दोषोऽल्पोऽहितसंभूतो ज्वरोत्सृष्टस्य वा पुनः ॥ ३१ ॥
धातुमन्यतमं प्राप्य करोति विषमज्वरम् ।
( सन्ततः सततोऽन्येद्युस्तृतीयकचतुर्थकौ । )

अथ विषमज्वरसंप्राप्तिमाह—दोषोऽल्प इत्यादि । अल्प इत्यनेनानतिबलत्वात्कालविशेषमप्राप्य लब्धबलो ज्वरयति, यस्तु बलवान् स नित्यज्वरमेव करोति । अहितसंभूत इति अहिताहाराचारादिसंभूतो वृद्धः । ज्वरोत्सृष्टस्य सहसा निवृत्तज्वरस्य । वाशब्देन प्रथमतोऽपि विषमज्वरो भवतीति दर्शयति । यदुक्तं—"आरम्भाद्विषमो यस्तु"—इत्यादि । धातुमन्यतमं रसरक्तादिकम् । विषमज्वरं तृतीयकादिकम् । विषमज्वरसामान्यलक्षणं च भालुकिना पठितं,—"यः स्यादनियतात्कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च । वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः" इति ॥ ३१ ॥—

‡सन्ततं रसरक्तस्थः, सोऽन्येद्युः पिशिताश्रितः ॥ ३२ ॥
मेदोगतस्तृतीयेऽह्नि, त्वस्थिमज्जगतः पुनः ।
कुर्याच्चतुर्थकं घोरमन्तकं रोगसंकरम् ॥ ३३ ॥

---

* 'कामशोकभयैर्वायुः कुप्यति, क्रोधेन पित्तं, भूताभिषङ्गात्त्रयो दोषाः कुप्यन्ति । भूतलक्षणा इति दोषलक्षणानि भूतलक्षणानि च भवन्तीत्यर्थः; तच्च वक्ष्यमाणे उन्मादनिदाने द्रष्टव्यम्' ( आ० द० ) ॥ ३० ॥—

† 'ज्वरोत्सृष्टस्य पुंसोऽल्पो दोषः पुनरहितसेवया प्रवृद्धः सन् अन्यतमं धातुं प्राप्य विषमज्वरं करोति । एते धातवः' ( आ० द० ) ॥ ३१ ॥—

‡ 'रसस्थो दोषः संततं कुर्यादित्यध्याहार्यमनेन संबन्धः । यो दोषो रसगतः स सततं ज्वरं करोति । अन्ये तु सततं सातत्यार्थकं मन्यमानाः 'संततो रसरक्तस्थः'

---

१ 'हारीतसंमतदर्शिना' इति क. ख. ।

सन्ततादिज्वराणां प्रतिनियतदूष्यान् धातूनाह—सन्ततमित्यादि । सन्ततशब्दः सततस्योपलक्षणं । तेनैतदुक्तं भवति—रसस्थं सन्ततं, रक्तस्थं सततमिति, यदुक्तं चरके,—"रक्तधात्वाश्रयं प्रायो दोषः सततकं ज्वरम्" (च चि स्था अ ३) इति । प्रायोग्रहणात्सततको रक्तव्यतिरिक्तं रसधातुमाश्रयते । रसग्रहणं चात्र विशेषपरं, सर्वज्वरेषु रसस्यावश्यदूष्यत्वात् । अन्ये तु सततग्रहणार्थं 'सन्ततौ रसरक्तस्थौ'—इति पठन्ति । तच्चायुक्तं, अत्र हि सन्ततसततशब्दौ संज्ञापरौ, न तु सातत्यवचनौ, तेन सन्ततशब्देन सततकस्यानभिधानात् कथमेकशेष इति दोषः । अन्येद्युरिति अन्येद्युष्कम् । घोरं दुःसहम् । अन्तकं यममिव, मारकत्वात् । रोगसंकरमनेकरोगसकुलम् ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

*(स्रोतोभिर्विसृता दोषा गुरवो रसवाहिभिः ।
सर्वदेहानुगाः स्तब्धा ज्वरं कुर्वन्ति संततम् ॥)
सप्ताहं वा दशाहं वा द्वादशाहमथापि वा ।
सन्तत्या योऽविसर्गी स्यात्सन्ततः स निगद्यते ॥ ३४ ॥
अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तते ।
अन्येद्युष्कस्त्वहोरात्र एककालं प्रवर्तते ॥ ३५ ॥
तृतीयकस्तृतीयेऽह्नि, चतुर्थेऽह्नि, चतुर्थकः ।

अथैषां लक्षणान्याह—सप्ताहमित्यादि । एते विकल्पा यथाक्रमं वातपित्तकफोल्बणत्वेन ज्ञेया । यथोक्तम्,—' पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात् । हन्ति विमुञ्चति वाऽऽशु त्रिदोषजो धातुमलपाकात्"—इति । अयं च सन्ततस्त्रिदोषज एव द्वादशाश्रयत्वेन । यदुक्तं चरकेण,—"यथा धातूंस्तथा मूत्रं पुरीषं चानिलादयः ।

इति पठन्ति । तत्र युक्तम् । अत्र हेतुः—सततसततशब्दौ चात्र संज्ञापरौ न तु सातत्यवचनौ, तेन सततशब्देन सततकस्यानभिधानात्कथमेकशेषः ? भिन्नरूपयोः समानार्थयोरेवैकशेषविधानात् । तथा च वार्तिकं,—"विरूपाणामपि समानार्थानाम्"—इति । केचित्तु 'सततं रसरक्तस्थ' इति पाठं पठित्वा रसरक्तस्थो दोषः सततकं ज्वरं करोतीति । अन्ये त्वत्र सततमिति लुप्तं वर्णयित्वा संततं रसस्थं सततं रक्तस्थं कुर्यादित्याचक्षते । सोऽन्येद्युरिति स इति दोषः, पिशिताश्रितो मांसाश्रितः, दोषोऽस्थिमज्जगतश्चतुर्थेऽह्नि चातुर्थकं कुर्यात् । रोगसंकरमनेकरोगसकुलं, यतो गम्भीरस्थानत्वाचिरोत्थानत्वाच्च रोगानन्यानप्यावहति' (आ० द०) ॥ ३२ ॥ ३३ ॥

* 'इदानीमेकदोषद्विदोषजस्य संततज्वरस्य विसर्गकालावधिद्वारेण लक्षणमाह—स्रोतोभिरित्यादि । सर्वगात्रानुगा सर्वे दोषा वातादयः संततमविच्छिन्नं ज्वरं संतापं कुर्वन्ति । किंभूताः ? रसवाहिभिः स्रोतोभिर्विसृता विसृताः प्राप्ताः, गुरवो दुःसहाः, सर्वगात्रानुगाः संतापादिना समग्रं गात्रं व्याप्नुवन्ति । सतत्या नैरन्तर्येण सप्ताहादीन् व्याप्य अविसर्गी अत्यागशीलः स ज्वरः संततः । अयं सुखसाध्यः, तदुक्तं तन्त्रान्तरे "संततज्वरं प्रवाप्य स्वल्पदुर्बलकारणं । एकदोषो द्विदोषो वा सुखसाध्यः प्रकीर्तितः"—इति । तथा च—"वातिकः सप्तरात्रेण दशरात्रेण पैत्तिकः । श्लैष्मिको द्वादशाहेन ज्वरः पाकं प्रगच्छति"—इति, प्रकृतिसमसमवेतत्वात् । ननु कथमस्य विषमज्वरे पाठः ? यदुक्तं

युगपच्चानुपद्यन्ते नियमात्सन्तते ज्वरे"–इति । (च. चि स्था अ ३) सन्तत्या अविच्छेदेन सप्ताहादीन् व्याप्य अविसर्गी अपरित्यागी, असन्ततयोगे द्वितीया । ननु, यद्येव कथमस्य विषमज्वरप्रकरणे पाठ ? मुक्तानुबन्धित्व विषमत्व

खरनादेन–"ज्वरा पञ्च मयोक्ता ये पूर्वं सततकादय । चत्वार संतत हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वरा "–इति, मुक्तानुबन्धित्वाद्विषमत्व, विमुच्यानुबध्नातीति, तथात्र नास्ति । नैव, अस्यापि तथाभावात् । सततकादीना कालानुवर्तनत्वेन लक्षणमाह–अहोरात्र इत्यादि । काला षट् पूर्वाह्णमध्याह्नापराह्णप्रदोषार्धरात्रप्रत्यूषा , पूर्वाह्णप्रदोषयो कफस्य काल , मध्याह्नार्धरात्रयो पित्तस्य, अपराह्णप्रत्यूषयोर्वातस्य । पूर्वाह्णादीना षण्णा कालाना मध्ये कालद्वयमनुवर्तते वेग करोति स सतत , अह्नि एककाल रात्रावेककाल वा, अह्नि द्वौ कालौ रात्रौ द्वौ कालौ वा, एव द्वौ कालावित्तीशानो यदुक्तवान् तत्र दोषोत्कर्षापकर्षाभ्यामधिककालत्व हीनकालत्वमपि ज्ञातव्य न तु नियम । अन्येद्युष्को ज्वर एककालमनुवर्तते वेग करोति अहोरात्रादन्यस्मिन्नहोरात्रे एककालमागच्छतीत्यर्थ । तृतीयक तृतीयेऽह्नि एककालमिति सबध्यते । चातुर्थकश्चतुर्थेऽह्नीत्यभ्यधिक कालमिति । एते चत्वारो विषमज्वरा । यदुक्त खरनादेन–'ज्वरा पञ्च मयोक्ता' इत्यादिना । एषा चोत्पत्तिक्रमो वृद्धसुश्रुतादवगन्तव्य , स यदाह–"अहोरात्रादहोरात्रात् स्थाना त्स्थान प्रपद्यते । ततश्चामाशय प्राप्य करोति विषमज्वरम् ॥ तथा श्लेष्मणो ह्येष दोषिणा प्राणनाशन । दुश्चिकित्स्यतमो मन्द स कष्टो धातुशोषकृत् ॥ कृशाना व्याधिमुक्ताना मिथ्याहारविहारिणाम् । दोष स्वल्पोऽपि संवृद्धो देहिनामनिलेरित ॥ कफस्थानविभागेन यथासख्य करोति हि । सततान्येद्युष्कत्र्याख्यचतुर्थान्सप्रलेपकान्"–इति । अस्यायमर्थ –आमाशयहृदयकण्ठशिर सधय इति पञ्च कफस्थानानि, एषु स्थितैर्दोषैर्यथासख्य महोरात्रात् स्थान प्रपद्य आमाशय गत्वा सततादय क्रियन्ते । तत्रामाशयस्थितेन दोषेण सतत क्रियते पर द्विकाल नच सर्वदा, न चामाशयप्राप्त्या सर्वदाऽस्य संभव प्रसग , अहोरात्रे स्वप्रकोपकालापेक्षया ज्वरोत्पत्ते । हृदयस्थितेन दोषेणैकस्मिन् दिने आमाशयमागत्यान्येद्यु क्रियते, सततारम्भकदोषापेक्षयास्य व्यवहितत्वात् । कण्ठस्थितेन दोषेणैकस्मिन् दिने हृदयमागम्यते, अन्यस्मिन् दिने आमाशयमागत्य ज्वर आरभ्यते तृतीयक । एव शिरसि स्थितेन दोषेण कण्ठहृदयामाशयान् त्रिभिर्दिनै क्रमेण प्राप्य चतुर्थेऽह्नि चातुर्थक क्रियते । पुन स्वस्थानागमन तु दोषाणा द्रुतगत्वेन स्वप्रवेगदिन एव भवति । संधिस्थितेन दोषेण प्रलेपक , संधयश्चामाशयेऽपि सन्तीति स सर्वदा भवति । अविषमोऽप्यय विषमसहचरित पठित , कफस्थानोत्पादानुरोधात् । उक्त हि सुश्रुते,–"प्रलेपकस्त्वविषम प्राय शेषाय शोषिणाम्"–इति । विषमज्वर एवायमश्चातुर्थकविपर्यय इति । अत्र तथान्तर–"अस्थिमज्जोभयगते चातुर्थकविपर्यय । मध्येऽह्नी ज्वरयति ह्यादावन्ते च मुञ्चति"–इति । आद्यन्तेकदिन न भूत्वा मध्ये दिनद्वय भूत्वा अन्ते एकदिन न भवतीति व्याचक्षते जेज्जटादय । "अस्थिमज्जोभयगते चातुर्थकविपर्यय । त्र्यहाद्द्व्यह ज्वरयति ह्यादावन्ते विमुञ्चति"–इति तथान्तरम् । चातुर्थिकविपर्ययो नाम ज्वर । अस्थि च मज्जा च अस्थिमज्जानौ अस्थिमज्जोभयं तत्र गतो यो मलोऽस्थिषु मज्जसु वा गतस्तस्मिन् सति' (आ० द०) ॥ १४ ॥ १५ ॥—

तच्चात्र नास्ति । नैवं, अस्यापि तथाभावात् । तथा च तल्लक्षणे चरकः,–"विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणः । दुर्लभोपशमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते"–इति ( च चि. स्था अ. ३ )। यत्तूक्तं खरनादेन,–"ज्वराः पूर्वं मयोक्ता ये पञ्च सन्ततकादयः । चत्वारः सन्ततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः"–इति, तत्सन्तते मुक्तानुबन्धित्वस्यैकदाभावित्वेनाल्पत्वाच्च तद्व्यपदेशः, एकतण्डुलाभ्यवहारेऽनशनशब्दस्य व्यपदेशवत्, नहि तृतीयकादिवदावृत्त्या मुक्तानुबन्धित्वमस्येत्यभिप्रायेण द्रष्टव्यम् । अथवा या विषमज्वरोल्लेखेनोक्ता चिकित्सा सा सन्ततवर्जं सततादिषु कार्येति प्रतिपादनार्थम् । हरिचन्द्रेणापि "कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ"–इति ( च चि स्था. अ. ३ ) चरकवचनाद्विषमज्वरोक्तचिकित्सा तृतीयकचतुर्थकयोरेव, अन्येषु दोषप्रत्यनीकचिकित्सा कार्येति व्याख्यातम् । अस्या हरिचन्द्रव्याख्यायाः कर्म साधारणं सर्वत्रैव विषमज्वरे कार्यं विशेषेण तृतीयकचतुर्थकयोरिति द्रष्टव्यं, अन्यथोक्ततन्त्रान्तरविरोधः । अहोरात्रे सततको द्वौ कालावनुवर्तत इति अह्नि द्वौ कालौ रात्रौ द्वौ कालौ वा, अह्नि एककालं रात्रावेककालमेव वा, द्वौ कालौ–इतीयानेव, नियमानभिधानात्, तथा दर्शनाच्च । अनुवर्तते वेगं करोति । तृतीयेऽह्नि तृतीयक इति वेगदिनापेक्षया तृतीयेऽह्नि यो भवति स तृतीयकः, एवं चतुर्थकेऽपि वाच्यम् ॥ ३४ ॥ ३५ ॥—

*केचिद्भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम् ॥ ३६ ॥

विषमज्वरस्यैकीयमतेन भूताभिषङ्गजत्वमाह—केचिदित्यादि । परवचनमप्रतिषिद्धमनुमतं सुश्रुतेन, अत एव विषमज्वरे दैवव्यपाश्रयं बलिहोमादि भूतोचितं, युक्तिव्यपाश्रयं कषायपानादि दोषोचितं च विधीयते । यदाह चरकः,–"कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ । आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे"–इति ( च चि स्था अ ३ )। अत्र साधारणमिति दैवयुक्तिव्यपाश्रयमिति व्याचक्षत इति ॥३६॥

†कफपित्तात्त्रिकग्राही पृष्ठाद्वातकफात्मकः ।
वातपित्ताच्छिरोग्राही त्रिविधः स्यात्तृतीयकः ॥ ३७ ॥
चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः ।
जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः ॥ ३८ ॥

उल्बणदोषभेदेन तृतीयकचतुर्थकयोर्लक्षणान्तरमाह—कफपित्तादित्यादि । त्रिक-

* 'परकीयमतमाह–केचिदित्यादि । केचन आचार्या विषमज्वरं भूताभिषङ्गोत्थं कथयन्ति' ( आ० द० ) ॥ ३६ ॥

† 'तृतीयको ज्वरस्त्रिविधो भवति । कफपित्तात्त्रिकग्राही वेदनया त्रिकव्यापी, वातकफात्मको ज्वरो वेदनया पृष्ठग्राही, वातपित्तात्मको वेदनया शिरोग्राही, एवं त्रैविध्यम् । चातुर्थिको द्विप्रकारां शक्तिं दर्शयति–जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः, अनिलसंभवः शिरसः, वेदनयेत्यर्थः । चातुर्थिकः पित्तेन न क्रियते इत्येके, व्याधित्वभावात् पित्तजगलगण्डवत् । हारीतस्तु चातुर्थिकोऽपि पैत्तिकोऽस्तीति वदति' ( आ० द० ) ॥ ३७ ॥ ३८ ॥

१ 'संतते वर्ज्यां' इति क ।

तुर्यं च विपर्ययाख्यान्कुरुते विषमान्कृच्छ्रसाधनान् (सु. उ त अ ३९ ।)—इति वृद्धसुश्रुतवाक्यं व्याचक्षाणो जेज्जटोऽन्येद्युष्कतृतीयचतुर्थकमात्रस्य विपर्ययमुदाहरति । तद्यथा—आमाशयहृदयस्थदोषेण यथोदाहृत एवान्येद्युष्कविपर्ययः, आमाशयहृदयकण्ठस्थितेन तृतीयकविपर्ययः, तत्रैकस्मिन् दिने हृदयस्थो दोष आमाशयमागत्य तत्स्थेन सह ज्वरयति, तद्दिने कण्ठस्थितश्च हृदयमायाति, अपरदिने सोऽप्यामाशयमागत्य ज्वरयति, एवं दिनद्वयं भूत्वा पश्चादेकदिनं न भवतीति तृतीयकविपर्ययः, आमाशयहृदयकण्ठशिरःस्थेन दोषेण चतुर्थकविपर्ययः क्रियते, तत्र यस्मिन् दिने हृदयस्थो दोष आमाशयमागत्य ज्वरयति तस्मिन्नेव कण्ठस्थो हृदयं शिरस्थश्च कण्ठमायाति, अपरदिने हृदयस्थ आमाशयमागत्य ज्वरयति कण्ठस्थितश्च हृदयमायाति, अपरदिने हृदिस्थ एवामाशयमागत्य ज्वरयति, एवं दिनत्रयं भूत्वा पश्चादेकदिनं न भवतीति चतुर्थकविपर्यय इति । एते च सर्वे एव ज्वरा न विरुद्धाः सर्वेषामेव मुनिप्रणीतत्वात् । यथोक्तं स्मृतिशास्त्रे,—"स्मृतिद्वैधं तु यत्र स्यात्तत्र धर्मावुभौ मतौ"—इति । दृश्यन्ते च नानाविधा एव विषमज्वराः, एष एव न्यायश्चरकसुश्रुतयोः कष्टवैषम्ये[1] भाष्यचन्द्रेण दर्शितः, न वा चिकित्साभेदोऽप्येषामुक्तः, यैव तृतीयकादौ चिकित्सा सैव तद्विपर्ययेऽपीति ॥ ३९ ॥

*नित्यं मन्दज्वरो रूक्षः शूनकस्तेन सीदति ।
स्तब्धाङ्गः श्लेष्मभूयिष्ठो नरो वातबलासकी ॥ ४० ॥

उक्तसङ्गत्या प्रक्षेपवादनूपद्यत्वेन तत्सधर्मिणि वातबलासके वाच्ये प्रतिलोमतन्त्रयुक्तया वातबलासकमेवाह—नित्यमित्यादि । वातबलासकाख्यो ज्वरोऽस्यास्तीति वातबलासकी नरः, तेन ज्वरेण, शूनकः शोथी, सीदत्यवसन्नो भवति, शोथिनः स उपद्रव इत्यर्थः । 'शूलं कृच्छ्रेण सिध्यति' इति पाठान्तरे 'तेन' इति शेषः । वातबलासकमेके कुम्भाह्वयपाण्डुरोगविषयमाहुरिति गदाधरः । वातबलासकारब्धत्वाद्वातबलासकः, बलासकः श्लेष्मा पित्तमप्यत्र बोद्धव्यम् । यदुक्तं तन्त्रान्तरे,—"वायुः प्रकुपितो दोषावुदीर्योभौ विधावति । स शिरस्थः शिरःशूलम्"—इत्यादि । यथोक्तं सुश्रुतेन,—"प्रलेपकं वातबलासकं वा कफाधिकत्वादभिवदन्ति तज्ज्ञाः"—इति (सु उ त अ ३९) तत्तु श्लेष्मणो नित्यानुषक्तत्वेनेति जेज्जटः । रूक्षत्वं चास्य वातपित्ताभिभूतत्वात्कफस्यैतस्य, व्याधिप्रभावाद्वेति ॥ ४० ॥

---

* 'वातबलासकज्वरमाह—नित्यमित्यादि । कीदृशः ? नित्यं मन्दज्वरो नित्यं मन्दः मन्दज्वरो मन्दवेगज्वरः, स्तब्धाङ्गश्लेष्मभूयिष्ठ इति स्तब्धाङ्गश्च श्लेष्मभूयिष्ठश्च, तदुक्तं सुश्रुते—"प्रलेपकं वातबलासकं वा कफाधिकत्वेन वदन्ति तज्ज्ञाः"—इति । अन्यत्र तु वाताधिक्येन दर्शितं, तत्कथमत्र श्लेष्मभूयिष्ठत्वमुक्तम् । अत्रोच्यते—वातेरितानामपि रूपकारणत्वात् । वातबलासकस्तु यथार्थनामा वातेरितो बलासकः आरम्भको यस्येति । 'शूलं कृच्छ्रेण सिध्यतीति पाठान्तरम्' (आ० ८०) ॥ ४० ॥

---

१ 'कष्टवैषम्ये' इति क ।

*प्रलिम्पन्निव गात्राणि घर्मेण गौरवेण च ।
मन्दज्वरविलेपी च सशीतः स्यात्प्रलेपकः ॥ ४१ ॥

प्रलेपकमाह—प्रलिम्पन्नित्यादि । मन्दज्वरश्चासौ विलेपी चेति मन्दज्वरविलेपी, विलेपित्वं चास्य यस्माद्धर्मगौरवाभ्यां लिम्पति सवभातीत्यर्थ । अयं च कफपित्तजः । यदुक्तं सुश्रुतेन,–"प्रलेपके वातवलासकं वा"–( सु. उ. तं. अ. ३९ ) इत्यादि । तथा यक्ष्मणि "ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः" ( सु. उ. तं. अ. ४१ )–इत्युक्तं, यक्ष्मणि चायं भवतीति । अन्ये तु त्रिदोषजयक्ष्मजनितत्वेन त्रिदोषज एवायं, उद्भूतत्वेन तु कफपित्तव्यपदेशः ॥ ४१ ॥

†विदग्धेऽन्नरसे देहे श्लेष्मपित्ते व्यवस्थिते ।
तेनार्धं शीतलं देहे चार्धं चोष्णं प्रजायते ॥ ४२ ॥
काये दुष्टं यदा पित्तं श्लेष्मा चान्ते व्यवस्थितः ।
तेनोष्णत्वं शरीरस्य शीतत्वं हस्तपादयोः ॥ ४३ ॥
काये श्लेष्मा यदा दुष्टः पित्तं चान्ते व्यवस्थितम् ।
शीतत्वं तेन गात्राणामुष्णत्वं हस्तपादयोः ॥ ४४ ॥
त्वक्स्थौ श्लेष्मानिलौ शीतमादौ जनयतो ज्वरे ।
तयोः प्रशान्तयोः पित्तमन्ते दाहं करोति च ॥ ४५ ॥
करोत्यादौ तथा पित्तं त्वक्स्थं दाहमतीव च ।
तस्मिन् प्रशान्ते त्वितरौ कुरुतः शीतमन्ततः ॥ ४६ ॥
द्वावेतौ दाहशीतादिज्वरौ संसर्गजौ स्मृतौ ।
दाहपूर्वस्तयोः कष्टः कृच्छ्रसाध्यतमश्च सः ॥ ४७ ॥

विषमज्वरविशेषानाह—विदग्ध इत्यादि । विदग्धेऽन्नरसे दुष्टे आहाररसे तथा दुष्टे पित्ते दुष्टे श्लेष्मणि च व्यवस्थिते सति, तेन हेतुना देहेऽर्धं शीतलं कफेनार्धं चोष्णं पित्तेन प्रजायते । अर्धत्वं चार्धनारीश्वराकारेण नरसिंहाकारेण वा, यथादोषं व्यवस्थाननियमहेतोरभावादिति । काय इत्यादि ।—कायेऽन्तरग्नौ, कोष्ठ इति

* "विलेपित्व चास्य घर्मेण आतपेनेव गौरवेण गुरुत्वेनेव लिम्पति सवभातीति, स प्रलेपकाख्यो ज्वर सशीत शीतयुक्त । गात्राणि प्रलिम्पनीवेति प्रलेपकोऽन्वर्थसञ्ज." ( आ० द० ) ॥,४२ ॥

† 'काये इत्यादि । यदा मध्यकाये पित्त दुष्टं भवति श्लेष्मा चान्ते दुष्टो व्यवस्थितो भवति तेन हेतुना शरीरस्योष्णत्व हस्तपादयोः शीतत्वम् । विपर्ययेण ज्वरान्तरमाह—काये इत्यादि । विपरीतत्व तु पूर्ववद्व्याख्येयम् । अत· पर सततादीनां शीतदाहपूर्वकत्वेन भेदमाह–त्वक्स्थावित्यादि । यदा श्लेष्मानिलौ त्वचि कुपितौ भवतस्तदा ज्वरस्यादौ त्वचि शीत जनयत· । द्वावेतौ दाहशीतादिज्वरौ ससर्गजौ स्मृतौ कथितौ 'मुनीन्द्रै·' इति शेष । एतौ द्वौ ? ज्वरे आदौ पूर्वं कफवातौ त्वक्स्थौ सन्तौ शीतमुत्पादयत·, तयोः श्लेष्मानिलयोः प्रशान्तयोः सतोरन्ते पित्त दाह करोति, तथा तेनैव प्रकारेण आदौ

१ 'मन्दज्वरत्व' क. ख. ।

यावत् । अन्ते हस्तपादयोः । उक्तार्थस्य विपर्ययेण ज्वरान्तरमाह—काये श्लेष्मे त्यादि । त्वक्स्थावित्यादि ।—त्वक्शब्देन त्वक्स्थो रस उच्यते, तत्स्थस्य वा उपचारेणेति गदाधरः, जेज्जटस्तु त्वचमेवाह । एतदभिप्रायेणैव चरकेण ज्वरेऽभ्यन्तर्यं तैलादीन्यभिधायोक्तं,—"वैराग्य प्रथमं याति बहिर्मार्गगतो ज्वरः"—इति (च चि स्था अ ३)। तयोः श्लेष्मानिलयोः । प्रशान्तयोरिति प्रशान्तवेगयोः, नहि विषमेषु दोषस्य प्रशान्तिर्भवति, पुनर्वेगागमात् । यदाह सुश्रुतः,—"स चापि विषमो देहं न कदाचिद्विमुञ्चति । ग्लानिगौरवकार्श्येभ्यः स यस्मान्न प्रमुच्यते ॥ वेगे तु समतिक्रान्ते गतोऽयमिति लक्ष्यते । धात्वन्तरस्थो लीनत्वात्सौक्ष्म्यान्नैवो पलभ्यते"—इति (सु उ त अ ३९)। इतरौ वातकफौ । दाहशीतादीति एको दाहादिः, अपरः शीतादिः । ननु, एतयोः सम्प्राप्तौ त्रिदोषलक्षण तत्कथं संसर्गजावित्युक्तं, संसर्गो हि द्वयोर्भवति त्रयाणां सन्निपात इति स्थितिः । उच्यते, संसर्गः सम्बन्धः स च द्वयोर्बहूनां च भवति, अत्र प्रमाणाभावः, नैवं सर्वत्र, अथवा संसर्गः सौम्याग्नेयदोषकोटिद्वयमेलापः । तत्र शीतादौ ज्वरे पित्तमनुबन्धः, दाहादौ वातकफावनुबन्धौ, अनुबन्ध्यश्च प्राधान्येन चिकित्स्योऽनुबन्धाविरोधेनेति प्रयोजनमेतस्य । तयोर्दाहशीतादिज्वरयोर्मध्ये दाहपूर्वो दाहादिः कष्ट इति तु सम्प्रदः । दाहादेः कष्टसाध्यत्वाभिधानेन शीतादेरर्थतोऽकष्टत्वमिति । उक्तविषमज्वराणामुपलक्षणत्वादन्येऽपि विषमज्वरा रात्रिज्वरादयो बोद्धव्या इति जेज्जटः । उक्तं च तन्त्रान्तरे,—"समौ वातकफौ यस्य क्षीणपित्तस्य देहिनः । प्रायो रात्रौ ज्वरस्तस्य दिवा हीनकफस्य तु"—इति । सर्वेषु च विषमज्वरेष्ववश्यभावी वायुः । यदाह वृद्धसुश्रुतः,—"नर्तेऽनिलाद्धि विषमज्वरः समुपजायते । कफपित्ते हि निश्चेष्टे चेष्टयत्यनिलः सदा"—इति (सु उ त अ ३९)। तथा विदेहेऽपि,—"पवनो गतिवैषम्याद्विषमज्वरकारणम्"—इति । एषां च ज्वराणां सत्त्वादिहेत्वन्तरलाभादन्यथाभावोऽपि दृश्यते । तद्यथा—सन्ततः सततः स्वरूपं त्यक्त्वा सततादीनामन्यतमत्वं प्रतिपद्यते, तथा चतुर्थकस्तृतीयकादिरूपत्वम् । यदाह चरकः,—"कालमहोरात्रदोषाणां मनसश्च बलाबलात् । कालमर्थवशाच्चैव ज्वरस्तं तं प्रपद्यते"—इति (च अ स्था

पित्तं त्वक्स्थं सदैव दाहं करोति, तस्मिंस्तु पित्ते प्रशान्ते सति इतरौ वातकफौ शीतं कुरुतः । तयोः श्लेष्मानिलयोः प्रशान्तवेगयोः सतोः कफप्रशमात् मलमीकमाहुः वा; यदा तौ प्रशान्तवेगौ भवतस्तदा पित्तं शरीरं करोति । पश्चात् मूर्च्छादीन् । यदा तु पित्तं त्वक्स्थं भवति तदा त्वचि अतीव दाहं करोति, तस्माद्दाहपारे पित्ते प्रशान्ते गत वेगे सति इतरौ श्लेष्मानिलौ अन्ततः शीतं कुरुतः । आदिशब्दात्कम्पनादीन् । द्वावेतौ दाहशीतादी संसर्गजौ कथितौ, तयोर्दाहशीतपूर्वकयोर्ज्वरयोर्मध्ये दाहपूर्वकः कष्टोऽन्यस्तु सुगमः, कष्टः कृच्छ्रसाध्यतम इति विशेषणोपादानादयं तु साध्यत्वं दर्शितं, शीतपूर्वस्य सुखसाध्यत्वं, कुतः ? दोषजेऽपि सत्वात् । ननु ज्वरपदाभावेन विशिष्टस्य तस्यानुबन्धत्वं संसर्गजानित्युक्तमिति न विरोधः इति" ( मा० टी० ) ॥ ४२–४७ ॥

१ 'शीतादिचतुर्थकादिरूपत्वं' इति क पु ।

चि. ३ ) अस्यार्थः—बलाबलादिति ऋत्वादिमनोन्तेन संबध्यते, बलं चाबलं च बलाबलं अर्थशब्दोऽत्र प्राक्तनकर्मवाची, तं तं कालं सततकाद्युक्तं, ज्वरः प्रतिपद्यत इति योजना। उदाहरणं च ऋत्वहोरात्रबलाबलाद्यथा—यदा निदाघोत्पन्नो वातप्रधान-चतुर्थको वर्षासमयमाप्नोति तदा तेनर्तुनाऽऽप्यायितबलस्तृतीयकान्तानां सततकादी-नामन्यतमत्वं प्राप्नोत्युत्कर्षात् । एवं वर्षासमुत्पन्नः सन्ततः शरदं प्राप्यापकृष्टबल· सततादीनामन्यतमत्वमेत्यपकर्षात् । एवं पित्तकफयोरप्युत्कर्षापकर्षावृतुकृतौ व्याख्येयौ । अहोरात्रशब्देन कतिपयान्यहोरात्राणि गृह्यन्ते, नह्येकस्मिन्नहोरात्रे सततादीनामुत्कर्षापकर्षाभ्यामन्यथाभाव उपपद्यते, किंतु कतिपयैरेव । यदा वर्षाशरद्वसन्तप्रारम्भे वातादयो ज्वरं चतुर्थकमारमन्ते तदा मध्यानि कतिपय-दिनान्यवाप्य स एव तृतीयकपूर्वत्वेन विपरिणमते उत्कर्षात्; अपकर्षात्तु यदाऽन्त्यानि दिनान्याप्नोति तदा सन्ततो वातारब्धः प्रावृषः, पित्तारब्ध· शरदो, वसन्तस्य च श्लेष्मारब्धः, प्रतनुत्वाद्दोषस्य सततादीनामन्यतमत्वेन विपरिणमत इति । दोषबलाबलाद्यथा—यदा सततादीनामन्यतमकारी दोषः श्लेष्मा मधुर-स्निग्धादीन् दिवास्वप्नादींश्च हेतूनाप्नोति तदा सन्ततकादीन् करोति । एवं वातपित्तयो-रप्यूह्यम् । मनोबलाबलाद्यथा—यदा सन्ततज्वरी सत्त्वगुणोद्रेकात्प्रहर्षावष्टम्भबहुलो भवति तदा सततादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोति; यदा चतुर्थकज्वरी तमोगुणभूयिष्ठत्वा-द्विषादादिभिरभिभूयते तदा तृतीयकादीनामन्यतमो भवति, "विषादो रोगवर्ध-नानाम्" (च. सू. स्था. अ. २५)-इत्यागमात् । अन्ये तु मनःशब्देन बुद्धिं व्याख्या-नयन्ति, कारणे कार्योपचारात् । तस्याश्च बलाबलं यथा—यदा चतुर्थकज्वरी प्रज्ञा-पराधाद्देवादीनभिभूयाहितान्याचरति तदा तृतीयकपूर्वेषामन्यतमत्वमाप्नोति, यदा तु शुद्धसत्त्वोत्कर्षाद्विवेकिन्या बुद्ध्या युक्तः स्यात्तदा शुभानि देवताराधनेष्टिबलिउ-पहारादीन्याचरति तदा सन्ततज्वरी सततादीनामन्यतमत्वं प्राप्नोति । अर्थ-वशाद्यथा—सन्ततज्वरिणोऽपि यदि चतुर्थकवेदनीयं कर्म स्यात्तदा सन्ततोऽपि चतुर्थकत्वेन विपरिणमते, अथ चतुर्थकज्वराभिहतस्य यदि तत्कालपरिपाकि कर्म बलीयो भवति तदा सन्ततत्वेन परिणमते । एतच्च कर्मवशात्त्वहोरात्रदोष-बलाबलेष्वपि बोद्धव्यं, तदनन्तरं तन्निर्देशादिति ॥ ४२-४७ ॥

*गुरुता हृदयोत्क्लेशः सदनं छर्द्यरोचकौ ।
रसस्थे तु ज्वरे लिङ्गं दैन्यं चास्योपजायते ॥ ४८ ॥
रक्तनिष्ठीवनं दाहो मोहश्छर्दनविभ्रमौ ।
प्रलापः पिडका तृष्णा रक्तप्राप्ते ज्वरे नृणाम् ॥ ४९ ॥

* 'अथ रसादिधातुगतज्वरमाह—गुरुतेत्यादि । गुरुता गात्राणां, सदनमङ्गग्लानि., रसस्थे रसधातुगते ज्वरे। यद्यपि रसेनधातुमात्रा संतत इत्याय यथाऽप्यनुक्रमधातुगतप्रय-नाप्येन निर्देशः । रक्तग ज्वरमाह—श्रोहो रिक्तविषया । मांसगज्वरमाह—पिण्डिकेत्यादि । धमिगते मेदोऽप्यस्मिन्निति भेद इव भेदः, भ्रमवल्लीदेरपैः परस्परादेषु प्रयुज्यमानाः

१ 'तृतीयकादीनामन्यतमत्व' इति पा.

पिण्डिकोद्वेष्टनं तृष्णा सृष्टमूत्रपुरीषता ।
ऊष्माऽन्तर्दाहविक्षेपौ ग्लानिः स्यान्मांसगे ज्वरे ॥ ५० ॥
भृशं स्वेदस्तृषा मूर्च्छा प्रलापश्छर्दिरेव च ।
दौर्गन्ध्यारोचकौ ग्लानिर्मदःस्थे चासहिष्णुता ॥ ५१ ॥
भेदोऽस्थ्नां कूजनं श्वासो विरेकश्छर्दिरेव च ।
विक्षेपणं च गात्राणामेतदस्थिगते ज्वरे ॥ ५२ ॥
तमःप्रवेशनं हिक्का कासः शैत्यं वमिस्तथा ।
अन्तर्दाहो महाश्वासो मर्मच्छेदश्च मज्जगे ॥ ५३ ॥
मरणं प्राप्नुयात्तत्र शुक्रस्थानगते ज्वरे ।
शेफसः स्तब्धता मोक्षः शुक्रस्य तु विशेषतः ॥ ५४ ॥
( रसरक्ताश्रितः साध्यो मांसमेदोगतश्च यः ।
अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थस्तु न सिध्यति ॥ १ ॥ )

उक्तवातादिज्वराणां धातुविशेषदूष्यतयाऽधिकलक्षणानि भवन्ति । यदुक्तं,—"वातपित्तकफोत्थानां ज्वराणां लक्षणं यथा । तथा तेषां भिषग्ब्रूयाद्रसादिष्वपि बुद्धिमान्"—इति । एतदभिधानं च रसादिधातुविरोधेन वातादिचिकित्साकरणार्थम् । अतस्तानाह—गुरुतेत्यादि । हृदयोत्क्लेशः हृदयस्थितस्य दोषस्योपस्थितवमनत्वमिव, रसस्य हृदयस्थत्वात् । रसस्य ह्लसनेन विशेषेणात्र रसो दूष्य, सर्वेषामेव ज्वराणां रसानुगत्वात् । दैन्यं ग्लानचित्तत्वम् । पिण्डिकेत्यादि । पिण्डिका जान्वधो जङ्घामांसपिण्ड, तस्या उद्वेष्टनं दण्डादिना पीडनेनेव वेदना पिण्डिकोद्वेष्टन, एवमन्यत्रापि । सृष्टमूत्रपुरीषता प्रवर्तमानमूत्रपुरीषता । ऊष्मा बहिः, एतच्च विशेषपर, प्राय सर्वज्वरेषु तथाभावात् । "ऊष्माऽन्तर्मोहविक्षेपौ"—इति पाठान्तरे, ऊष्माऽन्त अन्तर्दाह इत्यर्थ, विक्षेपो हस्तादिचालनम् । भृशं स्वेद इति घर्मस्य मेदोमलत्वात्, तद्वृद्ध्यैव दौर्गन्ध्यं गात्रे । असहिष्णुता वेदनाया असहत्वं, क्रोधनत्वमिति कार्तिक । मेदोऽस्थ्नामिति भेद इव भेद भङ्गवत्पीडेत्यर्थ, परपदार्थेषु प्रयुज्यमाना शब्दा वृति( वति )मन्तरेणापि तदर्थ( वत्य )र्थं गमयन्ति-यथा—अग्निर्माणवक । एवमन्यत्रापि भेदादौ द्रष्टव्यम् । कूजनं अव्यक्तध्वनि,

शब्दा इवान्तरेणापि इव इत्यर्थं गमयन्ति, यथा अग्निर्माणवकः; एवमन्यत्रापि । कूजनं कुन्थनं कुथनमिति केचन पठन्ति; तच्च [illegible] । मर्मच्छेदेन हृदयम् । ननु शुक्रगे ज्वरे मरणमित्युक्तं तच्च शुक्रं सर्वदेहगं, तत्र रसादिधातु-निर्भेदेऽपि शुक्रस्थानसद्भावेऽपि [illegible] । नैव—सर्वशरीरव्याप्यपि शुक्रस्य [illegible] [illegible] स्थितिं प्राप्तः । [illegible] शुक्र [illegible] [illegible], [illegible] शुक्रगमनादिति । उक्तं सुश्रुते,—"[illegible] यथा [illegible] यथा विषम् । [illegible] देह [illegible] तथा [illegible]"—इति । [illegible]—"[illegible] साध्यो मांसमेदोगतस्तथा । अस्थिमज्जगतः कृच्छ्रः शुक्रस्थाने न [illegible]"—इति (भा० द०) ॥ ४८–५४ ॥

'कुञ्चनं' इतिपाठान्तरेऽस्थ्नामेव संकोच इत्यर्थः । तम प्रवेशनं अन्धकारप्रविष्टस्येवासंवित्तिः । महाश्वासः श्वासाधिकारे वक्ष्यमाणलक्षणः । मर्मशब्देन हृदयमुच्यते, प्राधान्यादिति कार्तिक ; तस्य छेद इव मर्मच्छेदः । मरणमित्यादि शुक्रगतस्य । तत्रैतेषु रसादिधातुगतज्वरेषु मध्ये शुक्रस्थानगते मरणं प्राप्नुयादिति योज्यम् । शुक्रं च तत्स्थानं चेति शुक्रस्थानं, नतु शुक्रस्य स्थानं शुक्रस्थानं, शुक्रस्य सर्वदेहगत्वेन नियतस्थानासंभवादिति कार्तिकः । यदुक्तं,–"यथा पयसि सर्पिस्तु गुडश्चेक्षुरसे[1] यथा । शरीरेषु तथा नृणां शुक्रं विद्याद्भिषग्वर."–इति ( सु शा. स्था. अ ४ ) । विशेपत इति पदेन शुक्रस्य बाहुल्येन विसर्गं, अन्यस्यापि रक्तादेरिति वदन्ति ॥ ४८–५४ ॥

*वर्षाशरद्वसन्तेषु वाताद्यैः प्राकृतः क्रमात् ।
वैकृतोऽन्यः स दुःसाध्यः प्राकृतश्चानिलोद्भवः ॥ ५५ ॥

उक्तवातादिज्वराणां कालप्रकृतिमुद्दिश्य प्राकृतत्वं वैकृतत्वं चाह—वर्षेत्यादि । वर्षादिषु वाताद्यैः क्रमाद्यो ज्वरः स प्राकृत, वर्षासु वातिक, शरदि पैत्तिकः, वसन्ते श्लैष्मिकः । अस्मादन्यो वैकृत., यथा—वर्षासु पैत्तिक इत्यादि । स इति वैकृतो दुःसाध्यः, अर्थात्सुखसाध्य. प्राकृत इति । यदुक्तं,—"प्राकृत सुखसाध्यस्तु वसन्तशरदुद्भवः (च चि स्था. अ ३)"—इत्यादि । अत्र वाग्भटेन वातजस्य प्राकृतत्वप्रणयनं यत्कृतं तदन्ये नानुमन्यन्ते, दुःसाध्यत्वेन वैकृतादभिन्नत्वात् । अतूकर्णेनाप्यसौ न पठितः । यदाह,–"वसन्तशरदो प्राकृतोऽन्यत्र वैकृत."–इति । अत्रोच्यते—न प्राकृतत्वं सुखसाध्यत्वख्यापनपरा संज्ञा, किंतु कुम्भकारादिवद्यौगिकत्वं, यतो यथर्तुकुपितो दोषः प्रकृतिरुच्यते, तत उद्भूत प्राकृत, तेन प्राकृतत्वेऽपि दोषस्वभावाद्वातिकस्य दुःखसाध्यत्व वैकृतवदिति । दुःखसाध्यत्वेन वैकृतसाधर्म्याद्धु चरकजतूकर्णाभ्यां नोक्त, नतु प्राकृतत्वाभावादित्यभिप्रायो वाग्भटस्येति । अन्यरोगेषु प्राकृतत्वेन दुःसाध्यत्वं, ज्वरस्य तु व्याधिप्रभावात्सुखसाध्यत्वम् । तन्त्रान्तरे हि,–"ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता । रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्"–इति ॥ ५५ ॥

†वर्षासु मारुतो दुष्टः पित्तश्लेष्मान्वितो ज्वरम् ।
कुर्यात्पित्तं च शरदि तस्य चानुबलः(लं) कफः ॥ ५६ ॥
तत्प्रकृत्या विसर्गाच्च तत्र नानशनाद्भयम् ।
कफो वसन्ते तमपि वातपित्तं भवेत्तु ॥ ५७ ॥

---

* 'अथ कालभेदेन ज्वरस्य साध्यासाध्यलक्षणमाह–वर्षेत्यादि । अनिलोद्भवस्तु प्राकृतो दुःसाध्य.' ( आ० द० ) ॥ ५५ ॥

† "एतस्य च ( वर्षासु सञ्चितस्य शरदि प्रकुपितस्य पित्तस्य ) पित्तज्वरं कर्तुमुद्यतस्य शरदि अनुबलो अनुबन्धः कफो भवति । अनु बलमिवानुबल, यथा–स्वतश्चस्य कस्य-

---

१ 'गुडश्चेक्षौ रसो' इति पाठान्तरम् ।

तेषामेव प्राकृतज्वराणां चिकित्साविशेषार्थमुत्पत्तिक्रममाह—वर्षास्वित्यादि। दुष्ट इति कुपितः, ग्रीष्मे सचितत्वात् । पित्तश्लेष्मान्वित इति तत्कालोचितपित्तकफानुबन्धः। यदुक्तं,–"भूबाष्पान्मेघनिष्यन्दात्पाकादम्लाज्जलस्य च। वर्षास्वग्निबले क्षीणे कुप्यन्ति पवनादयः"–इति ( च. सू. स्था. अ. ६ )। कुर्यादिति छेदः, पित्तं च शरदीति दुष्टं ज्वरं कुर्यादिति पूर्वोक्तेन सबध्यते; एवं कफो वसन्ते इत्यत्रापि योज्यम्। पित्तदुष्टिश्च शरदि वर्षासु सचितत्वात् । अनुबलोऽनुबन्ध, तस्य च हेतुर्वार्षिकक्लेदानुवृत्तिरेव । तत्प्रकृत्येति तयो· पित्तश्लेष्मणोः प्रकृत्या स्वभावेन, तत्प्रकृत्योर्ज्वरयोरनशनाल्लङ्घनाच्च भयं भवति। यदुक्तं,–"कफपित्ते द्रवे धातू सहेते लङ्घनं महत्। आमक्षयादूर्ध्वमतो वायुर्न सहते क्षणम्–"इति। विसर्गाच्च हेतोर्नानशनाद्भयम् । वर्षाशरद्धेमन्ता विसर्ग., तत्रोपचितबला· प्राणिनो भवन्ति, सोमबलत्वात्, शिशिरवसन्तग्रीष्मास्त्वादानं, तत्रापचितबला· प्राणिन·, सूर्यस्य बलवत्त्वादिति व्युत्पादितं शास्त्रे । 'तत्प्रकृत्या विसर्गस्य'–इति पाठान्तरे तत्प्रकृत्या कफपित्तप्रकृत्या, विसर्गस्य च प्रकृत्येति योज्यम्। कफ इत्यादि। तं कफमत्र वातपित्ते भवत., अनुबन्धरूपे भवत इत्यर्थ· । हेतुश्चात्र वसन्तस्यादानमध्यत्वेनाभेयरूक्षत्वाद्वातपित्तप्रकोपकत्वम् । यदुक्तं चरके,–"आदानमध्ये तस्यापि वातपित्तं भवेदनु"–इति ( च. चि. स्था. अ. ३ )। अत्र कफपित्तप्रकृत्या लङ्घनं युक्तमेव, किंत्वादानमध्यत्वेन निर्भयं तत्र कार्यम् । अत एव 'तत्र नानशनाद्भयं' इत्येतस्मात् पूर्वमेव पठित, अन्यथा सर्वशेषे पठितं स्यादिति ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

काले यथास्वं सर्वेषां प्रवृत्तिर्वृद्धिरेव वा ।

कालोऽपि दोषविशेषस्य लक्षणमित्याह—काल इत्यादि । यथास्वं काले यस्य वातादेर्यः प्रकोपकालस्तत्र तज्जन्यज्वरस्य प्रवृत्तिरुत्पादो वृद्धिर्वा भवति, अथवा प्रवृत्तिर्नित्यज्वरस्य वृद्धिर्विषमज्वरस्येति ॥—

---

विद्राणो गजरथतुरगपुरुषादिबलवतो वैरिभि सह युध्यमानस्य पश्चादन्यबलं तच्छत्रुबृंहणार्थमागच्छति, एव स्वतन्त्रस्य पित्तस्य ज्वरं कुर्वतो बलोपबृंहणं शरदि कफः करोति। चन्द्रनन्दनस्त्वेवं व्याचष्टे–तत्र शरदि पित्तज्वरेऽनशनाल्लङ्घनाद्भयं न भवति, केन कारणेन? तत्प्रकृत्या, तयोः पित्तकफज्वरयोर्लङ्घनसाध्यत्वेन, तथा विसर्गाच्च कालस्य विसर्गरूपभावात्तत्र लङ्घनात्प्रत्यवायशङ्का नोत्पद्यते, ज्वरस्यामाशयसमुत्थत्वात्। पित्तश्लेष्मणोर्लङ्घनसाध्यत्वे वचनं च–"कफपित्ते द्रवत्वाच्च सहेते लङ्घनं महत्। आमक्षयादूर्ध्वमपि वायुर्न सहते क्षणम्"–इति । अरुणदत्तस्त्वेवं व्याचष्टे–तत्प्रकृत्येति तच्छब्देन वर्षाशरदुद्भूतौ वातज्वरपित्तज्वरौ परामृश्येते, तयो· प्रकृतिस्तत्प्रकृतिस्तया तत्प्रकृत्या तत्स्वभावेन तत्र प्राकृते ज्वरेऽनशनाद्भयं न 'भवति' इति शेष.; विसर्गाच्च वर्षाशरदुपलक्षितो हि कालो विसर्गः सौम्यस्वभावः, अस्माच्च कारणाद्यस्मिन्काले ज्वरे उत्पन्ने लङ्घनात् प्रत्यवायशङ्का न तथा भवति यथाऽन्यस्मिन् काले ज्वरे आदानकालस्वभावाद्वातपित्तानुबन्धत्वाच्चानशनाद्भयं भवतीत्यर्थः । वसन्ते काले कफो दुष्टो ज्वरं कुर्यादिति" ( आ० द० ) ॥ ५६ ॥ ५७ ॥

*निदानोक्तानुपशयो विपरीतोपशायिता ॥ ५८ ॥

तयोपशयानुपशयावपि लक्षणमित्याह—निदानेत्यादि । निदानत्वेन ये उक्ता आहाराचारादयस्तैरनुपशयो दुःखं निदानोक्तानुपशयः । विपरीतैर्दोषादिविपरीतैराहाराचारैरुपशायिता सुखजननशीलत्वं विपरीतोपशायितेति ॥ ५८ ॥

†अन्तर्दाहोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
सन्ध्यस्थिशूलमस्वेदो दोषवर्चोविनिग्रहः ॥ ५९ ॥
अन्तर्वेगस्य लिङ्गानि ज्वरस्यैतानि लक्षयेत् ।
सन्तापो ह्यधिको बाह्यस्तृष्णादीनां च मार्दवम् ॥ ६० ॥
बहिर्वेगस्य लिङ्गानि सुखसाध्यत्वमेव च ।

उक्तज्वराणां मध्ये संप्राप्तिवशात्कश्चिदन्तर्वेगो भवति कश्चिद्बहिर्वेगस्तयोर्लक्षणमाह—अन्तर्दाह इत्यादि । श्वसनं श्वासः; सदनमिति पाठान्तरं, तन्न युक्तमिति जेज्जटः, यतोऽन्तर्वेग एव सुश्रुते गम्भीराख्यः पठितः, तत्र च श्वास एव पठित इति । विनिग्रहोऽप्रवृत्तिः । तृष्णादीनामित्यादिशब्देनोक्तप्रलापादीनां ग्रहणम् । मार्दवं स्वल्पत्वम् । अस्य सुखसाध्यत्वाभिधानेनान्तर्वेगस्य कृच्छ्रसाध्यतां सूचयति, असाध्यतां वा, "गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत्"—इति ( सु. उ. तं. ३९ ) सुश्रुतवचनादिति ॥ ५९ ॥ ६० ॥—

‡लालाप्रसेकहृल्लासहृदयाशुद्ध्यरोचकाः ॥ ६१ ॥
तन्द्रालस्याविपाकास्यवैरस्यं गुरुगात्रता ।
क्षुन्नाशो बहुमूत्रत्वं स्तब्धता बलवान् ज्वरः ॥ ६२ ॥
आमज्वरस्य लिङ्गानि न दद्यात्तत्र भेषजम् ।
भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम् ॥ ६३ ॥
ज्वरवेगोऽधिकस्तृष्णा प्रलापः श्वसनं भ्रमः ।
मलप्रवृत्तिरुत्क्लेशः पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ ६४ ॥
क्षुत्क्षामता लघुत्वं च गात्राणां ज्वरमार्दवम् ।
दोषप्रवृत्तिरुत्साहो[1] निरामज्वरलक्षणम् ॥ ६५ ॥

* "निदानेत्यादि । निदानत्वेनोक्त आहाराचारादिर्दोषस्य जनकत्वेनानुपशयो, विपरीतस्त्वाहाराचारादिर्दोषानुत्पादकत्वादुपशय इति पिण्डार्थः" ( आ० द० ) ॥ ५८ ॥

† "अन्तरित्यादि । एतैर्लिङ्गैरन्तर्वेगं ज्वरं लक्षयेत् । दोषस्य वायोर्वर्चसः पुरीषस्य च विनिग्रहोऽप्रवृत्तिः । बहिर्वेगस्य लक्षणमाह—सन्ताप इत्यादि । एतैर्लिङ्गैर्बहिर्वेगं लक्षयेत्" ( आ० द० ) ॥ ५९ ॥ ६० ॥—

‡ "लालेत्यादि । लालाप्रसेको लालास्रावः, हृल्लास उपस्थितवमनत्वमिव, हृदयाशुद्धिः हृदयं पूर्णमिव, गुरु इत्येकपदे । क्षुन्नाशः छिद्राया अनिःसरणं, अथवा क्षुत् क्षुधा तस्या नाशः । एतानि लक्षणानि आमज्वरे भवन्ति, तत्र भेषजं पाचनादि न देयं, यदि दत्तं

1. 'दोषप्रवृत्तिरुत्साह' इत्यातङ्कदर्पणसंमतः पाठः ।

चिकित्साविशेषार्थमामपच्यमानपक्वलक्षणमाह—लालेत्यादि । ननु, न दद्यात्तत्र भेषजमिति विरुद्धं, द्विविधं हि भेषजमुक्तं चरकेण, द्रव्यभूतमद्रव्यभूतं चेति, तत्र द्रव्यभूतं कषायादि, अद्रव्यभूतं लङ्घनस्वेदादि, अत्र लङ्घनादिकं षडङ्गार्थं शृतं च प्रयुज्यते । उच्यते, भेषजशब्देनान्नपानसाधनव्यतिरिक्ता कल्पनोच्यते, न तु सामान्येनौषधमात्रं, कथमेषा प्रतीतिरिति चेत्, तरुणज्वरे भेषजपाननिषेधेऽपि भेषजविधानदर्शनात् । एवं पच्यमानेऽपि बोद्धव्यं, तत्रापि सामतायाः सद्भावात् । क्षुदित्यादि ।—असमासकरणात् क्षुदादयो व्यस्ताः समस्ताश्च बोद्धव्याः । अष्टाह पक्वलक्षणमिति जेज्जटः । हरिचन्द्रस्त्वाह—अप्राप्तेऽप्यष्टाहे क्षुदादिभिर्निरामत्वं दोषप्रकृत्या वा क्षुदाद्यभावेऽप्यष्टाहेनैव शिष्यहितैषितया कालं लक्षणं च निर्दिष्टवानिति । द्विविधा हि सामता—एका रसस्य, अपरा दोषस्य, रससामता तु मुखवैरस्यादिलक्षणा, दोषसामता तरुणत्वरूपा, साऽष्टाहेनैवापैति । अत्र च हरिचन्द्रेण हेतुरुक्तः,—"सप्ताहेनैव पच्यन्ते सप्तधातुगता मलाः । निरामश्चाप्यतः प्रोक्तो ज्वरः प्रायोऽष्टमेऽहनि"—इति । सप्तानां धातूनां धात्वग्निना सप्ताहेनामपाकादष्टाहेनैव निरामत्वमिति । रससामता त्वष्टाहात्परतोऽप्यनुवर्तते । एनमर्थं जेज्जटोऽपीच्छति, यदेव लिखति चरकसुश्रुतटीकायां,—"तरुणा सामताऽष्टाहादपैति, रससामता तु परतोऽप्यनुवर्तते"—इति । एतत्प्रयोजनं च तरुणसामतायामौषधं नोपयुज्यते, रससामतायां तु पाचनं दीयते । अत एवाह चरकः,—"ज्वरितं षडहेऽतीते लघ्वन्नप्रतिभोजितम् । पाचनं शमनीयं वा कषायं पाययेत्तु तम्"—इति ( च. चि. स्था. अ. ३ ) । तथा,—"मृदौ ज्वरे लघौ देहे प्रचलेषु मलेषु च । पक्वं दोषं विजानीयाज्ज्वरे देयं तदौषधम्" ( सु. उ. तं. अ. ३९ )—इत्यभिधायापि सुश्रुतेन पठितम्,—"सप्तरात्रात्परं केचिन्मन्यन्ते देयमौषधम् । दशरात्रात्परं केचिद्दातव्यमिति निश्चिताः" ( सु. उ. तं. अ. ३९ )—इति, तेनैवं ज्ञापयति—सप्ताहादर्वाक् पाचनमपि न दीयत इति कार्तिककुण्डेनापि व्याख्यातमिति । ननु, "ज्वरितं षडहेऽतीते" ( च. चि. स्था. अ. ३ )—इति चरकवचनस्य "सप्तरात्रात्परं" ( सु. उ. तं. अ. ३९ )—इत्यादिना सुश्रुतवचनेन विरोधः, यतः षडहेऽतीते सप्तमदिनं भवति, तत्र कषायं विपन्न इति । उच्यते, षडहेऽतीते सप्तमे लघ्वन्नप्रतिभोजितमष्टमे कषायं पाययेदित्यष्टमपदलोपाद्योज्यं रसौदनवदिति चरकः, "भेषजं ह्यामदोषस्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्" ( च. चि. स्था. अ. ३ )—इति दोषयुक्तेः सुश्रुताविरोधाच्च । प्रकारान्तरेणैनमर्थं कार्तिककुण्डोऽप्याह, तद्यथा—षडहे-

---

भेषजं तदा भूयो ज्वरं वर्धयति शोधनं यत्, यच्च शमनीयं तद्विषमज्वरं कुर्यात् । पच्यमान-ज्वरलक्षणमाह—ज्वरेत्यादि । ज्वरवेगोऽधिको भवति, तृष्णा प्रलापः श्वासः दीर्घः, भ्रमश्च तदा पच्यमानावस्थायां ज्वरस्य वेगाधिक्यं भवति, मलप्रवृत्तिश्च भवति पच्यमानस्य दोषस्य लक्षणं जानीयात् । अथ निरामज्वरस्य लक्षणमाह—क्षुदित्यादि । क्षुदिच्छा तस्य प्रादुर्भावः । अन्ये क्षुत् क्षुधा । क्लमता इत्यादि, ज्वरमार्दवं ज्वरलाघवं, दोषप्रवृत्तिः वायोः । प्रायेण 'क्षुदेव' इति शेषः । 'क्षामता' स्थाने 'मार्दवं' इति पठन्ति, मार्दवेन ... । एतन्निरामज्वरस्य लक्षणं 'तदौषधं देयं ज्वरस्य'" ( मा० ६० ) ॥ ६१-६५ ॥

तीते इति ज्वरोत्पाददिन परित्यज्य गणना, बस्तिदानदिनपरिहारेण परिहारकाल-गणनावत् । एव "पाययेदातुर साममौषध सप्तमे दिने । शमनेनाथवा दृष्ट्वा निराम तमुपाचरेत्"—इत्येतदपि वचन व्याख्येयम् । भट्टारहरिच-द्रणापि सप्तमदिने कषाय-पान यथाख्यात तस्यायमेवाभिप्रायो गवेषणीय , सुश्रुतादिविरोधात् । चन्द्रिका-कारेणापि व्याख्यात,—"अस्थिरोगे दिनचतुष्टयकज्वरस्य सप्ताह सामताकाल , तत्र न पाचन न वा शमन न शोधनम्"—इति । यत्तु पेयाद्यनन्तर हारीतेनो-क्तम्,—"एता क्रिया प्रयुञ्जीत षडात्र सप्तमेऽहनि । पिबेद् कषायसयोगान् ज्वरघ्नान् साधुसाधितान्"—इति, तथा—"इति षड्रात्रिक प्रोक्तो नवज्वरहितो विधि । अत पर पाचनीय शमन वा ज्वरे हितम्" इति खरनादवचन च पूर्ववदष्टाह-प्रतिपादक द्रष्टव्यम् । अथवा पित्तज्वराभिप्रायेणैव तद्वचनद्वयम् । यदाह सुश्रुत ,—"सप्तरात्रात्परम्"—इत्यारभ्य, यावत्—"पैत्तिके वा ज्वरे देयमरपकालसमुत्थिते । अचिरज्वरितस्यापि भेषज दोषपाकत "—इति (सु उ त अ ३९)। सप्ताहादर्वागपि यदेतत्पाचनकषायपानमुक्त तत्साल्पुद्भूतसामताया द्रष्टव्यम् । यदाह वाग्भट ,—"सप्ताहादौषध केचिदाहुरन्ये दशाहत । केचिल्लघ्वन्नभुक्तस्य योज्यमामोल्बणे न तु ॥ तीव्रज्वरपरीतस्य दोषवेगोदयो यत । दोषेऽथवाऽतिनिचिते तन्द्रास्तैमित्यका-रिणि ॥ अपच्यमान भेषज्य भूयो ज्वलयति ज्वरम्"—इति (वा चि स्था अ १)। "अयमर्थोऽभियुक्तैश्च कैश्चिदुक्तश्चिकित्सकै । सप्ताहात्परतोऽस्तब्धे सामे स्यात्पाचन ज्वरे ॥ निरामे शमन, स्तब्धे सामे नौषधमाचरेत्"—इति सक्षेप । विस्तरस्तु कषाय-निर्णयप्रकरणे द्रष्टव्य । पक्वज्वरलक्षणेन जीर्णज्वरलक्षणमपि चिकित्सोचित बोद्ध-व्यम् । यदुक्त तन्त्रान्तरे,—"आसप्तरात्र"—इत्यादि । जतूकर्णेनाऽप्युक्त,—"जीर्ण-त्रयोदशदिवस"—इति । त्रिसप्ताहे व्यतीते तु ज्वरो यस्तनुता गत । प्लीहाग्निसाद कुरुते स जीर्णज्वर उच्यते —इति तु तन्त्रान्तरमतिपुराणाभिप्रायेण द्रष्टव्यम् ॥ ६१–६५ ॥

बलवत्स्वल्पदोषेषु ज्वर. साध्योऽनुपद्रवः ।

ज्वरस्य साध्यलक्षणमाह—बलवत्स्वित्यादि । बलवत्सु पुरुषेषु साध्य , यदुक्त,—"बलाधिष्ठानमारोग्यम्"—इति (च चि स्था अ ३)। अल्पदोषेषु नातिप्रबलदोषेषु । अनुपद्रव इति ज्वरस्योपद्रवा कासादय । यदुक्त तन्त्रान्तरे,—"कासो मूर्च्छाऽरुचि श्छर्दिस्तृष्णातीसारविड्ग्रहा । हिक्काश्वासाङ्गभेदाश्च ज्वरस्योपद्रवा दश"—इति ॥—

*हेतुभिर्बहुभिर्जातो बलिभिर्बहुलक्षण. ॥ ६६ ॥
ज्वरः प्राणान्तकृद्यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशन ।
ज्वर क्षीणस्य शूनस्य गम्भीरो दैर्घरात्रिकः ॥ ६७ ॥

* "ज्वरस्यासाध्यलक्षणमाह—हेतुभिरित्यादि । यो ज्वरो बलिभि प्रबलैर्हेतुभि कारणै-र्जातोऽत एव बहुलक्षण सपूर्णलक्षण इत्यर्थ स त्वसाध्य , यश्च शीघ्रमिन्द्रियनाशनो

१ "यथा सुश्रुतोक्तन्यहपरिहारकाल एव बस्तिदानदिन त्यक्त्वा चरकेण द्विगुण परि-हारकाल उक्त" इति वृन्दटीकाया श्रीकण्ठदत्त ।

असाध्यो बलवान् यश्च केशसीमन्तकृज्ज्वरः ।
गम्भीरस्तु ज्वरो ज्ञेयो ह्यन्तर्दाहेन तृष्णया ॥ ६८ ॥
आनद्धत्वेन चात्यर्थं श्वासकासोद्गमेन च ।
आरम्भाद्विषमो यस्तु यश्च वा दैर्घरात्रिकः ॥ ६९ ॥
क्षीणस्य चातिरूक्षस्य गम्भीरो यस्य हन्ति तम् ।
विसंज्ञस्ताम्यते यस्तु शेते निपतितोऽपि वा ॥ ७० ॥
शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्च ज्वरेण म्रियते नरः ।
यो हृष्टरोमा रक्ताक्षो हृदि संघातशूलवान् ॥ ७१ ॥
वक्त्रेण चैवोच्छ्वसिति तं ज्वरो हन्ति मानवम् ।
हिक्काश्वासतृषायुक्तं मूढं विभ्रान्तलोचनम् ॥ ७२ ॥
सन्ततोच्छ्वासिनं क्षीणं नरं क्षपयति ज्वरः ।
हतप्रभेन्द्रियं क्षीणमरोचकनिपीडितम् ॥ ७३ ॥
गम्भीरतीक्ष्णवेगार्तं ज्वरितं परिवर्जयेत् ।

ज्वरस्यासाध्यलक्षणान्याह—हेतुभिरित्यादि । ननु, यो हेतुभिर्बहुभिर्बहुभिश्चोपजायते स बहुलक्षण एव भवति, तत्किं बहुलक्षणवचनेन? उच्यते, यथास्वहेतुकुपिता दोषाः सर्वस्यैव रोगस्य हेतवो भवन्ति, प्राक्तनकर्मापेक्षया तु यदा विशिष्टां सामग्रीं संप्राप्तिलक्षणामासादयन्ति तदा ज्वरमापादयन्ति, तथा दूष्यादिसहकारिकारणसांनिध्यासांनिध्याभ्यां बहुलक्षणतामल्पलक्षणतां च कुर्वन्ति । तथा हि तन्त्रान्तरे,—"एकं द्वौ त्रीन् बहून्वाऽपि देहे धात्वादियोगतः । दर्शयन्ति विकारांस्ते कुपिताः पवनादयः"—इति । अपि च विकृतिविषमसमवायाद्बहुहेतुकोऽप्यल्पलक्षणोऽल्पहेतुकोऽपि बहुलक्षण इति । प्राणान्तपूर्वरिति छेदः । क्षीणमिन्द्रियनाशन इति उत्पन्नमात्र एव चिकित्स्यमानोऽपीन्द्रियशक्तिं दृष्ट्यादिग्रहणलक्षणामुपहन्ति सोऽप्यसाध्यो नतूपेक्षया; अन्येऽपि रोगा उपेक्ष्यमाणा इन्द्रियशक्तिमुपघ्नन्ति असाध्यतां चाधिरोहन्ति । एवं बहुलक्षणोऽप्यादावेव चिकित्स्यमान एव बोद्धव्यः । इन्द्रियाण्यत्रैकादश बोद्धव्यानि सांख्यसिद्धान्तेन, तथा चरकसुश्रुतनिर्दिष्टत्वात्; चक्षुः श्रोत्रं घ्राणं रसनं स्पर्शनं चेति धीन्द्रियाणि, हस्त-

---

भवति सोऽपि ज्वरः प्राणान्तकृत्, मारक इत्यर्थः । ज्वरस्यासाध्यत्वमाह—क्षीणस्य चोपद्रुतस्य पुरुषस्य, क्षीणस्य ज्वरेण । सुश्रुतोक्त साध्यगम्भीरज्वरलक्षणमाह—गम्भीरस्त्वित्यादि । आनद्धत्वेनेति दोषपुरीषविबन्धेन । असाध्यलक्षणमाह—आरम्भादित्यादि । तत्र विषमत्वं सततादिरूपेण बोद्धव्यम् । ज्वरासाध्यलक्षणमाह—हतेत्यादि । गम्भीरोऽन्तर्वेगः, तीक्ष्णोऽतिदुःसहो बहिर्वेगश्च, ताभ्यामन्वितमार्तं पीडितं, [illegible] क्षीणमित्थंभूतं ज्वरितं [illegible] परिवर्जयेत् । [illegible] लक्षणान्यपि तन्त्रान्तरेषु द्रष्टव्यानि । यथा—"[illegible] [illegible] च । [illegible] च नरं धारयति ज्वरः ॥ [illegible] [illegible] । [illegible] ज्वरितं विदुः ।"—इति ( [illegible] ) ॥ ६६-७२ ॥—

पादगुदोपस्थजिह्वा कर्मेन्द्रियाणि, उभयात्मकं मनः, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । ज्वरं क्षीणस्य शूनस्येत्यपरमसाध्यलक्षणम् । गम्भीरो दैर्घरात्रिक इति गम्भीरोऽन्तर्धातुस्थः, अथवा गम्भीर इव गम्भीरः, यत्र वातादीनां निश्चयं कर्तुं न शक्यते, अन्ये त्वाहु —गम्भीरोऽन्तर्वेग । दैर्घरात्रिक इति "दीर्घरात्रानुबन्धी"—इति जेज्झटः, "दीर्घां मरणरूपां रात्रिमनुवर्तते इति दैर्घरात्रिकः"—इति चक्रः, असाध्य इत्यर्थः । अत्र पक्षे दैर्घरात्रिक इति पूर्वेण सबध्यते, असाध्य इति परेण । केशसीमन्तकृदिति अकस्मात् केशेषु सीमन्तान् यः करोति । उक्तं हि तन्त्रान्तरे,— केशाः सीमन्तिनो यस्य संक्षिप्ते विनते भ्रुवौ । लुनन्ति चाक्षिपक्ष्माणि सोऽचिराद्याति मृत्यवे"—इति । गम्भीरार्थो ये जेज्झटादिभिर्व्याख्यातास्तेषु मध्येऽत्र गम्भीरोऽन्तर्वेग इत्ययमर्थो माधवकरस्याभिमतः, अत एवासौ एतदनन्तरं सौश्रुतं गम्भीरलक्षणं लिखति—गम्भीर इत्यादि । य एव चरकेऽन्तर्वेगः स एव सुश्रुते गम्भीरः पठितः, समलक्षणत्वात्, पृथक्पाठाभावाच्चेति । आनद्धत्वेन चेति विबद्धमलत्वेन । आरम्भादित्यादि ।—आरम्भादुत्पादात्प्रभृति यस्य विषमज्वरः सोऽसाध्यः, यस्य तु नित्यज्वरिणो ज्वरोत्सृष्टस्य वाऽपचारादिना विषमः स साध्य एव । एतच्च विषमत्वं सन्ततादिरूपं बोद्धव्यं, न तु विषमत्वमात्रेण, वातिकज्वरेऽपि प्रसङ्गादिति । दैर्घरात्रिको व्याहृत एव, न चास्य पुनरुक्तत्वं, तन्त्रान्तरीयवाक्यत्वात्, अधिकार्थप्रतिपादनार्थं पुस्तुऽपि लिखित एव गम्भीरेऽपि बोध्यम् । 'अतिरूक्षस्य' इत्यत्र 'अनिमिषाक्षस्य' इति पाठान्तरे सदा स्फारितनेत्रस्येत्यर्थः । विसंज्ञ विह्वलः, ताम्यते मुह्यति । शेते निपतित इति शयितो निपतित एवास्ते नोत्थातुं समर्थः । शीतार्दितोऽन्तरुष्णश्चेति शीतार्दितो बहिः, अन्तरुष्णोऽन्तर्दाहवान् । हृष्टरोमा रोमाञ्चितगात्रः । हृदि सघातशूलवानिति सघातरूपेण वस्तुना अष्ठीलिकादिनाऽऽक्रान्तमिव हृदयं मन्यते यः स तथा, अन्ये त्वाहु —नानाप्रकारकशूलवानिति । वक्त्रेण चैवोच्छ्वसितीत्येवकारेण नासिका व्यवच्छिनत्ति व्यादितास्यप्रतिपादनार्थं, सरश्वास इत्यर्थः । हिक्केत्यादि ।—हिक्कादिभिर्मिलितैरेकेनाप्यतिबलवताऽसाध्यत्वम् । मूढ मोहयुक्तम् । विभ्रान्तलोचनं भ्रान्तप्रेक्षणं, चलितनेत्रं वा । सन्ततोच्छ्वासिनं निरन्तरखरश्वासयुक्तम् । हतेत्यादि ।—हतप्रभाणि हतशक्तीनि स्वविषयाग्राहीणि चक्षुरादीनि यस्य स तथा, अथवा हता प्रभा दीप्तिरिन्द्रियाणि च यस्य स तथा । 'अरोचकनिपीडितं' इत्यत्र जेज्झटः पाठान्तरद्वयं पठति,— 'दुरात्मानमुपद्रुतं' इति, व्याचष्टे च दुरात्मानं दुष्टान्तःकरणं, उपद्रुतमिति श्वासादिभिरुपद्रवैरुपद्रुतं, 'दुरात्मभिरुपद्रुतं' इति पाठान्तरे राक्षसादिभिर्जुष्टमित्यर्थः । एषामसाध्यलक्षणानामुपलक्षणत्वादन्यान्यपि तन्त्रान्तरेषु द्रष्टव्यानि । तद्यथा,—"प्रेतैः सह पिबेन्मद्यं स्वप्ने यः कृष्यते शुना । सुघोरं ज्वरमासाद्य स जीवमपसृज्यते ॥ ज्वरः पौर्वाह्णिको यस्य शुष्ककासश्च दारुणः । बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव ॥ ज्वरो यस्यापराह्णे तु श्लेष्मकासश्च दारुणः । बलमांसविहीनस्य यथा प्रेतस्तथैव सः ॥ सहसा ज्वरसंतापस्तृष्णा मूर्च्छा बलक्षयः । विश्लेषणं च सन्धीनां मुमूर्षोरुपजायते ॥ गोसर्गे वदनाद्यस्य स्वेदः प्रच्यवते भृशम् । लेप-

---

१ गोसर्गे प्रत्यूषे ।

ज्वरोपसृष्टस्य दुर्लभं तस्य जीवितम् ॥ मृत्युश्च तस्मिन् बहुपिच्छिलत्वाच्छीतस्य जन्तो परेत सरत्वात्। स्वेदो ललाटे हिमवज्ज्वरस्य शीतार्दितस्यैति द्रुषिपिच्छलश्च। कण्ठे स्थितो यस्य न याति वक्षो नूनं यमस्यैति गृहं स मर्त्यः ॥ सुतस्वेदो ल‍ग्नदाय श्वयसन्धानबन्धनं । सुस्वेदुत्याप्यमानस्तु स स्थूलोऽपि न जीवति ॥ यस्य स्वेदोतिबहुलः पिच्छिलो याति सर्वतः । रोगिणः शीतगात्रस्य तदा मरणमादिशेत्"–इति। "आधानजन्मनिधने प्रत्यर्याख्ये विपत्करे । नक्षत्रे व्याधिरुत्पन्नः क्लेशाय मरणाय वा ॥ ज्वरस्तु जातः षड्रात्रादश्विनीषु निवर्तते"–इत्यादिना प्रपञ्चेन नक्षत्रभेदेन ज्वरस्य साध्यत्वासाध्यत्वं यदभिहितं, तद्धारीतवृद्धवाग्भटयोदृष्टव्यम्, इह तु विस्तरभयान्न लिखितम्। सन्निपातासाध्यप्रकरणे यथा,—"पित्तकफानिलवृद्ध्या दशदिवसद्वादशाहसप्ताहात् । हन्ति विमुञ्चति वाऽऽशु, त्रिदोषजो धातुमलपाकात्"–इति । सप्ताहाद्वाताधिकं, दशाहात्पित्ताधिकं, द्वादशाहात्कफाधिकं, पित्ताधिकवद्वातपित्ताधिकं, कफाधिकवद्वातकफाधिकं, योगवाहित्वाद्वायोः । यदाह चरकः–"योगवाही परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत् । दाहकृत्तेजसा युक्तः शीतकृत्सोमसंश्रयात्"–इति ( च चि स्था अ ३ )। धातुपाकाद्धन्ति, मलपाकाद्विमुञ्चतीति व्यवस्थितविकल्पः, धातुमलपाकविकल्पे च दैवमेव हेतुः । उत्तरोत्तररोगवृद्धिबलहानिभ्यां शुक्रादिधातुसहितमूत्रादिना च धातुपाको ज्ञेयः, यदुक्तं,–"निद्रानाशो हृदि स्तम्भो विष्टम्भो गौरवारुची। अरतिर्बलहानिश्च धातूनां पाकलक्षणम्"–इति, अन्यथा च मलपाकः–"दोषप्रकृतिवैकृत्यं लघुता ज्वरदेहयोः । इन्द्रियाणां च वैमल्यं दोषाणां पाकलक्षणम्"—इति । ननु, तरतमादिभावव्यवस्थितशीघ्रमध्यमन्दशक्तित्वाद्दोषाणां कथं सप्ताहादिनियम इति चेत्। न, तथास्वभावाद्यथै, विचित्रा हि प्रतिरोगं स्वभावाः, यथाऽग्निरोहिणी सप्ताहेन हन्ति न तथाऽन्ये विकारा इति । अत 'सप्तमी द्विगुणा चैव नवम्येकादशी तथा। एषा त्रिदोषमर्यादा मोक्षाय च वधाय च'(वा नि स्था अ २)–इति हारीतवचनसंवादार्थमेव व्याचक्षते,—दशमीप्रत्यासत्त्या नवमी, द्वादशीप्रत्यासत्त्या एकादशी च गृह्यते ततो वृद्धेति पदमावर्त्य सर्वत्र द्वैगुण्यं कार्यम् । एवं, "सप्तमे दिवसे प्राप्ते दशमे द्वादशेऽपि वा । पुनर्घोरतरो भूत्वा प्रशमं याति हन्ति वा" ( सु उ त अ ३९ ) इत्यत्र सुश्रुतवाक्ये पुनःशब्देन द्वैगुण्यमिति व्याख्यातवान् कार्तिककुण्डः । एवं, "दशाहादशसप्ताहे पित्तश्लेष्मानिलाधिकः । दण्डयोऽथवा धातुमलान् हन्ति मुञ्चति वा ज्वरः"(वा नि स्था अ २)—इत्यत्राधिकशब्दमावर्त्य क्रियाविशेषणतया द्वैगुण्यं बोद्धव्यम्। तथा, "वातपित्तकफैः सप्तदशद्वादशवासरान् । प्रायोऽनुयाति मर्यादां मोक्षाय च वधाय च'( वा नि स्था अ २ )—इत्यत्रापि वेदितव्ये प्रायोग्रहणेन द्वैगुण्यमिति। ननु, सप्तमीत्यादौ कथं तर्हि दशविधा निद्रादशचतुर्विंशतीनां ग्रहणमिति चेत्। उच्यते, एकादशीत्यत्र एकेति पदमावर्तनीयं, तेन नवमी एकेति दशमी लभ्यते, एकादशी एकेति द्वादशी, ततः सर्वत्र द्वैगुण्यम्। चशब्दः समुच्चये, तेन सप्तमी गृह्यते सा द्विगुणा च, एवं नवम्यादिषु योज्यम्। चतुर्विंशत्यधिकेषु मर्यादानियमो नास्ति, तत्प्रतिपादकागमादर्शनात् ॥ ६६–७१ ॥—

*दाहः स्वेदो भ्रमस्तृष्णा कम्पविड्भेदसंज्ञिता ।
कूजनं चास्यवैगन्ध्यमाकृतिर्ज्वरमोक्षणे ॥ ७४ ॥

ज्वरविमुक्तिपूर्वरूपमाह—दाह इत्यादि । विड्भिदिति विड्भेदः; संपदादिपाठात् भावे क्विप् । असंज्ञिता संज्ञानाशः । कूजनं अस्फुटध्वनिः । यदुक्तं,—"ज्वरप्रमोक्षे पुरुषः कूजेद्भ्रमति चेष्टते"—इति । वाग्भटोऽप्याह,—"धातून् प्रक्षोभयन् दोषो मोक्षकाले बलीयते । ततो नरः श्वसन् स्विद्यन् कूजन्वमति चेष्टते"—( वा. नि. स्था. अ. २ ) इति । वैगन्ध्यं दुर्गन्धता गात्रे । ज्वरमोक्षणे भविष्यति आकृतिर्लक्षणं 'भवति' इति शेषः । ननु, दोषक्षयं विना न व्याधिनिवृत्तिः, क्षीणश्च दोषः कथमेवंविधं लक्षणं कुर्यात् ? उच्यते, कश्चिद्भावः क्षीणोऽपि विनाशकाले स्वशक्तिं दर्शयति; यथा—निर्वाणावस्थो दीपो विशेषात्प्रज्वलति, अथवा दोषाभिभूतानां धातूनां दोषापगमेन क्षोभाद्दाहादयः तरलतरवानरपरिहीयमानतरुणतरुवल्लरीशिखरकम्पवदिति ॥ ७४ ॥

†स्वेदो लघुत्वं शिरसः कण्डूः पाको मुखस्य च ।
क्षवथुश्चान्नलिप्सा च ज्वरमुक्तस्य लक्षणम् ॥ ७५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ज्वरनिदानं समाप्तम् ॥ २ ॥

ज्वरमुक्तिलक्षणमाह—स्वेद इत्यादि । स्वेदो घर्मागमनं, स्रोतसां स्फुटत्वात् । लघुत्वं गात्रस्य । शिरसः कण्डूरिति सर्वो हि ज्वरश्लेष्मणः, विरोधिव्यपगमात् सौम्यः श्लेष्मा लब्धबलः सन् शिरसि स्वस्थानेऽसाधारणात्मलक्षणं कण्डूं करोति, व्याधिमहिम्ना तु नान्यत्र कफस्थाने इति वदन्ति । पाको मुखस्येति ज्वरोष्मकोपितात्पित्तात्, यत्तु पूर्वं नाकार्षीदन्यत्र वा तदपि व्याधिमहिम्नैव । एतच्च दाहमारभ्य लक्षणं त्रिदोषजेऽन्तर्वेगे ज्वरे भवति नतु सर्वत्र । तथा चैतदनन्तरं भालुकिः प्राह,—"त्रिदोषजे ज्वरे ह्येतदन्तर्वेगे च धातुगे । लक्षणं मोक्षकाले स्यादन्यस्मिन् स्वेददर्शनम्"—इति । ननु, ज्वरस्य प्रत्यक्षत्वात्तस्याभावोऽपि प्रत्यक्ष , तत्किं तल्लक्षणपाठेन ? तथाऽपि वा पठितव्यं, तर्हि सर्वविकारेषु पठ्यताम् ? उच्यते, विषमज्वरशङ्कानिरासार्थं, विषमज्वरे हि निवृत्तोऽपि ज्वरः पुनरायाति, दोषाणां धातुलीनत्वात्; एतल्लक्षणे तु निःशेषदोषनिवृत्त्या न पुनरागमः । यत्र चैवंविधा शङ्का तत्रैव लक्षणं पठति न सर्वत्र, यथा प्रमेहातीसारादिष्विति सर्वं सुस्थम् ॥ ७५ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां ज्वरनिदानं समाप्तम् ॥ २ ॥

---

* "ज्वरमुक्तस्य पूर्वरूपमाह—दाह इत्यादि । ज्वरमोक्षकाले एताद्दृश्याकृतिर्लक्षणं 'भवति' इति शेषः । कूजनं कुन्थनम् । इति" ( आ० द० ) ॥ ७४ ॥

† "ज्वरमुक्तस्य लक्षणमाह—ज्वरमुक्तस्य पुरुषस्यैवंविधं लक्षणं भवति । क्षवथुः छिक्का । परमते—"देहो लघुर्व्यपगतक्लममोहतापः पाको मुखे करणसौष्ठवमव्यथत्वम् । स्वेदः क्षवः प्रकृतियोगि मनोऽन्नलिप्सा कण्डूश्च मूर्ध्नि विगतज्वरलक्षणानि"—इति ( आ० द० ) ॥ ७५ ॥

# अथातीसारनिदानम् ।

*गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः ।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैर्विषमैश्चापि भोजनैः ॥ १ ॥
स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयैः ।
शोकाद्दुष्टाम्बुमद्यातिपानैः सात्म्यर्तुपर्ययैः ॥ २ ॥
जलाभिरमणैर्वेगविघातैः क्रिमिदोषतः ।
नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते ॥ ३ ॥

पित्तज्वरेऽतीसारपाठाज्ज्वरातीसारयोरन्योन्योपद्रवत्वाच्च ज्वरानन्तरमतीसारमाह—गुर्वतिस्निग्धेत्यादि । गुरुशब्देन मात्रागुरुर्गृह्यते, यथाऽतिमात्रोपयुक्तो रक्तशाल्यादिः; तथा स्वभावगुरु च माषादिः अथवा गुणतः पाकतश्च । अतिशब्दः स्थूलान्तैः सह संबध्यते । स्थूलं संहतावयवं, यथा लड्डुकपिष्टकादि । शीतलं स्पर्शाद्वीर्याच्च । विरुद्धमिति संयोगदेशकालमात्रादिभिर्विरुद्धं, यथा क्षीरमत्स्यादि; तच्च बहुप्रकारं सुश्रुते हिताहितीयेऽध्याये ( सु. सू. स्था. अ. २० ), चरके आत्रेयभद्रकाप्यीयाध्याये ( च. सू. स्था. अ. २६ ) द्रष्टव्यम् । अध्यशनं पूर्वदिनाहाराजीर्णे भोजनम् । उक्तं हि चरके,—"भुक्तं पूर्वान्नशेषे[1] तु पुनरध्यशनं मतम्" ( च. चि. स्था. अ. १५ )–इति । एवं सर्वत्र । अजीर्णमपक्वमन्नम् । विषमकालभोजनादि । उक्तं हि सुश्रुते;–"बहुस्तोकमकाले च तज्ज्ञेयं विषमाशनम्" ( सु. सू. स्था. अ. ४६ ) इति । 'विषमैः' इत्यत्र स्थाने 'असात्म्यैः' इति पाठान्तरम् । भोजनैरिति विरुद्धादिभिः सर्वैः संबध्यते । स्नेहाद्यैरिति स्नेहः स्नेहपानं, स्नेह आद्यो येषां ते स्नेहाद्याः स्वेदवमनविरेचनानुवासननिरूहाः, तैरतियुक्तैरिति अतियोगयुक्तैः । एतच्च यथायोग्यं बोध्यं, वमनातियोगस्यातिसारकारणत्वायोगात् । मिथ्यायुक्तैरिति हीनयोगयुक्तैः, वमनादिकर्मणां मिथ्यायोगाभावात्, हीनयोगात्तु ते दोषानुत्क्लेश्यातीसाराय स्युः । ननु, कदाचिद्वमनं प्रयुक्तं विरेकं करोति, विरेकश्च वमनमिति दर्शनात्तेषां मिथ्यायोगः संभवत्येव । न, सोऽप्ययोग एवेति सिद्धान्तः । यदुक्तं चरके,–"योगः सम्यक् प्रवृत्तिः स्यादतियोगोऽतिवर्तनम् । अयोगः प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम्"–इति ( च. सि. स्था. अ. ६ ) । विषमत्र स्थावरमुच्यते, अधोगत्वात्; कार्तिककुण्डस्त्वाह,–विषं दूषीविषं, तल्लक्षणेष्वतीसारपाठात् । दुष्टाम्बुमद्यातिपानैरिति दुष्टं व्यापन्नं, दुष्टयोरम्बुमद्ययोः पानात्, अदुष्टयोरप्यतिपानात् । तथाह–

* "गुर्वित्यादि । अजीर्णमपक्वान्न चर्वणादि, अन्येऽजीर्णमानविदग्धादि । विषं स्थावरमधोगत्वात्, दूषीविषं वा । शोको बन्धुवियोगादिना । दुष्टाम्बु व्यापन्नजलं, मद्यं प्रसिद्धं, तयोरतिपानम् । जलाभिरमणैः पानीयातिक्रीडनैः । वेगविघातैरिति मूत्रपुरीषादीनां वेगनिरोधनैः ।" ( आ० द० ) ॥ १–३ ॥

[1] 'पूर्वान्नशेषे' इति ख.

चरक ,–"दुष्टमद्यपानीयातिपानात्"–इति ( च चि स्था अ १९ ) । सात्म्यर्तुपर्ययैरिति सात्म्यविपर्ययैर्ऋतुविपर्ययैश्च, सात्म्यविपर्ययोऽसात्म्यम् । न च पूर्वोक्तेन 'असात्म्ये' इत्यनेन पौनरुक्त्यं, उक्तं हि चरके आत्रेयभद्रकाप्यीये "द्विविधं हि सात्म्यं प्रकृतिसात्म्यमभ्याससात्म्यं च" (च सू स्था अ २६) इति । आहाराचारभेदादन्नपानभेदाद्वा न पौनरुक्त्यमित्यन्ये । जलाभिरमणैरिति जलक्रीडादिभिः । वेगविघातैरिति मूत्रपुरीषादीनाम् । क्रिमिदोषत इति क्रिमिभिः पक्वामाशयदूषणात्, क्रिमिजनितवातादिकोपाद्वा । एतानि च निदानानि यथासम्भवं वातादीनां बोद्धव्यानि, दोषव्याधिहेतुत्वख्यापनार्थं पठितानि । एवमन्यत्रापि निदानविशेषपाठे प्रायो द्रष्टव्यमिति ॥ १-३ ॥

*संशम्यापां धातुरग्निं प्रवृद्धः शकृन्मिश्रो वायुनाऽधः प्रणुन्नः ।
सरत्यतीवातिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरं षड्विधं तं वदन्ति ॥
एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः ॥ ४ ॥

सर्वातीसारसाधारणीं संप्राप्तिमाह–संशम्येत्यादि । संशम्य शमयित्वा, अन्तर्भावितो ण्यर्थ इति गदाधरः, अग्निं मन्दीकृत्येत्यर्थः । प्रवृद्धः प्रदुष्टः । अपां धातुरित्य(नेना)समासकरणेन रसजलमूत्रस्वेदमेदःकफपित्तरक्तादयो ग्राह्याः । चरकेऽप्युक्तं,–"शोणितादीन् धातून् दूषयन्त"–इति ( च चि स्था अ १९ ) । अधः प्रणुन्नः प्रेरितः, सरति गच्छत्यतीवेत्यनेन निरुक्तिमुक्तवान्, गुदेन बहुद्रवसरणमतिसार इत्यर्थः । निरुक्तिरपि लक्षणं भवति, एतेनाधोद्रवसरणत्वाविशेषेऽपि ग्रहण्यादीनां व्यवच्छेदः, वातातीसारे त्वल्पत्वं कफपित्तातीसारापेक्षया, न तु ग्रहण्यपेक्षया इति । तत्षड्विधत्वं विभजते,—एकैकश इत्यादि । ननु, चरकादौ दोषैरेकैकशस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, भयशोकजौ द्वौ, एवं षड्विधः, अत्र त्वन्यथेति कोऽभिप्रायः? उच्यते,—चरके भयशोकजौ लक्षणैक्यसञ्ज्ञाकार्यभेदाद्भिन्नावुक्तौ, आगन्तवश्चाजीर्णकुपितत्रिदोषजत्वेन सन्निपातेनावरुद्ध इति न सङ्ख्यातिरेकः, सुश्रुते तु हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं शोकजामजौ पठितौ वातजत्वसन्निपातजत्वाभेदेऽपि, यथा वातादिजत्वाभेदेऽपि मृत्तिकाजः पाण्डुरोग इति, एवं भयशोक

*"संशम्येत्यादि । यस्मादाग्नुयादधः प्रणुन्नः प्रेरितः, अपां धातुः कफरसमूत्रस्वेदमेदःपित्तरक्तादिकः, प्रवृद्धो दुष्टः, अन्तरग्निं संशम्य मन्दीकृत्य, वर्चोमिश्रः पुरीषयुक्तः, अतीवाधः सरति, आचार्या घोरं तं व्याधिमतीसारमाहुः, तं पुनः षट्प्रकारं वदन्ति । तत्षड्विधत्वं विभजन्नाह–वातेन, पित्तेन, श्लेष्मणा त्रयः, सन्निपातेन चतुर्थः, शोकेन पञ्चमः, आमेन षष्ठः, एवं षडतीसाराः । संख्येयानिर्देशादेव संख्याया लब्धायाः पुनः संख्याकरणं नियमार्थं, तेन द्वन्द्वजा अतीसारा न भवन्ति व्याधिस्वभावादिति प्रदर्शितम् । ननु च भयशोकाभ्यां वायुः प्रकुप्यति तर्हि इयोर्वातजे निरोधः, पृथग्ग्रहणं किमर्थं कृतं? उच्यते–सुश्रुतेन हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं पृथक् पठितम्" ॥४॥ (आ०द०)

१ 'प्रदुष्टमद्यपानीयपानादतिमद्यपानीयपानात्' इति चरके पाठः । २ 'वर्चोमिश्रो' क । ३ 'दष्ट' क । ४ 'लक्षणसञ्ज्ञा कार्य०' क. ।

# अथातीसारनिदानम् ।

*गुर्वतिस्निग्धरूक्षोष्णद्रवस्थूलातिशीतलैः ।
विरुद्धाध्यशनाजीर्णैर्विषमैश्चापि भोजनैः ॥ १ ॥
स्नेहाद्यैरतियुक्तैश्च मिथ्यायुक्तैर्विषैर्भयैः ।
शोकाद्दुष्टाम्बुमद्यातिपानैः सात्म्यर्तुपर्ययैः ॥ २ ॥
जलाभिरमणैर्वेगविघातैः क्रिमिदोषतः ।
नृणां भवत्यतीसारो लक्षणं तस्य वक्ष्यते ॥ ३ ॥

पित्तज्वरेऽतीसारपाठाज्ज्वरातीसारयोरन्योन्योपद्रवत्वाच्च ज्वरानन्तरमतीसारमाह—गुर्वतिस्निग्धेत्यादि । गुरुशब्देन मात्रागुरुर्गृह्यते, यथाऽतिमात्रोपयुक्तो रक्तशाल्यादिः; तथा स्वभावगुरु च माषादिः अथवा गुणतः पाकतश्च । अतिशब्दः स्थूलान्तैः सह संबध्यते । स्थूलं संहतावयवं, यथा लड्डुकपिष्टकादि । शीतलं स्पर्शाद्वीर्याच्च । विरुद्धमिति संयोगदेशकालमात्रादिभिर्विरुद्धं, यथा क्षीरमत्स्यादि; तच्च बहुप्रकारं सुश्रुते हिताहितीयेऽध्याये ( सु. सू. स्था. अ. २० ), चरके चात्रेयभद्रकाप्यीयाध्याये ( च. सू. स्था. अ. २६ ) द्रष्टव्यम् । अध्यशनं पूर्वदिनाहाराजीर्णे भोजनम् । उक्तं हि चरके,—"भुक्तं पूर्वान्नशेषे तु पुनरध्यशनं मतम्" ( च. चि. स्था. अ. १५ )—इति । एवं सर्वत्र । अजीर्णमपक्वमन्नम् । विषममकालभोजनादि । उक्तं हि सुश्रुते;—"बहुस्तोकमकाले च तज्ज्ञेयं विषमाशनम्" ( सु. सू. स्था. अ. ४६ ) इति । 'विषमैः' इत्यत्र स्थाने 'असात्म्यैः' इति पाठान्तरम् । भोजनैरिति विरुद्धादिभिः सर्वैः संबध्यते । स्नेहाद्यैरिति स्नेहः स्नेहपानं, स्नेह आद्यो येषां ते स्नेहाद्याः स्वेदवमनविरेचनानुवासननिरूहाः, तैरतियुक्तैरिति अतियोगयुक्तैः । एतच्च यथायोग्यं बोध्यं, वमनातियोगस्यातिसारकारणत्वायोगात् । मिथ्यायुक्तैरिति हीनयोगयुक्तैः, वमनादिकर्मणां मिथ्यायोगाभावात्, हीनयोगात्तु ते दोषानुत्क्लेश्यातीसाराय स्युः । ननु, कदाचिद्वमनं प्रयुक्तं विरेकं करोति, विरेकश्च वमनमिति दर्शनात्तेषां मिथ्यायोगः संभवत्येव । न, सोऽप्ययोग एवेति सिद्धान्तः । यदुक्तं चरके,—"योगः सम्यक् प्रवृत्तिः स्यादतियोगोऽतिवर्तनम् । अयोगः प्रातिलोम्येन न चाल्पं वा प्रवर्तनम्"—इति ( च. सि. स्था. अ. ६ ) । विषमत्र स्थावरमुच्यते, अधोगत्वात्; कार्तिककुण्डस्त्वाह,—विषं दूषीविषं, तल्लक्षणेष्वतीसारपाठात् । दुष्टाम्बुमद्यातिपानैरिति दुष्टं व्यापन्नं, दुष्टयोरम्बुमद्ययोः पानात्, अदुष्टयोरप्यतिपानात् । तथाह—

* "गुर्वित्यादि । अजीर्णमपक्वान्नं चर्वणादि, अन्येऽजीर्णनामविदग्धादि । विषं स्थावरमधोगत्वात्, दूषीविषं वा । शोको बन्धुवियोगादिना । दुष्टान्तु व्यापन्नजलं, मद्यं प्रसिद्धं, तयोरतिपानम् । जलाभिरमणैः पानीयाविक्रीडनैः । वेगविघातैरिति मूत्रपुरीषादीनां वेगनिरोधनैः ।" ( आ० द० ) ॥ १–३ ॥

१ 'पूर्वाह्नशेषे' इति ख.

चरके,-"दुष्टमद्यपानीयातिपानात्"-इति ( च चि स्था अ १९ )। सात्म्यर्तुपर्ययैरिति सात्म्यविपर्ययैर्ऋतुविपर्ययैश्च, सात्म्यविपर्ययोऽसात्म्यम् । न च पूर्वोक्तेन 'असात्म्ये' इत्यनेन पौनरुक्त्यं, उक्तं हि चरके आत्रेयभद्रकाप्यीये 'द्विविधं हि सात्म्यं प्रकृतिसात्म्यमभ्याससात्म्यं च" (च. सू. स्था अ २६)इति । आहाराचारभेदादशपानभेदाद्वा न पौनरुक्त्यमित्यन्ये । जलाभिरमणैरिति जलक्रीडादिभिः । वेगविघातैरिति मूत्रपुरीषादीनाम् । क्रिमिदोषत इति क्रिमिभिः पक्वामाशयदूषणात्, क्रिमिजनितवातादिकोपाद्वा । एतानि च निदानानि यथासंभवं वातादीनां बोद्धव्यानि, दोषव्याधिहेतुत्वख्यापनार्थं पठितानि । एवमन्यत्रापि निदानविशेषपाठे प्रायो द्रष्टव्यमिति ॥ १-३ ॥

*संशम्यापां धातुरग्निं प्रवृद्धः शकृन्मिश्रो वायुनाऽधः प्रणुन्नः ।
सरत्यतीवातिसारं तमाहुर्व्याधिं घोरं षड्विधं तं वदन्ति ॥
एकैकशः सर्वशश्चापि दोषैः शोकेनान्यः षष्ठ आमेन चोक्तः ॥ ४ ॥

सर्वातीसारसाधारणीं संप्राप्तिमाह संशम्येत्यादि । संशम्य शमयित्वा, अत्रान्तर्भावितो ण्यर्थ इति गदाधरः, अग्निं मन्दीकृत्येत्यर्थः । प्रवृद्धः प्रकुपितः । अपां धातुरिह(नेना)गमासकरणेन रसजलमूत्रस्वेदमेदःकफपित्तरक्तादयो ग्राह्याः । चरकेऽप्युक्तं,-"शोणितादीन् धातून् दूषयन्त"-इति (च चि स्था अ १९)। अधः प्रणुन्नः प्रेरितः, सरति गच्छत्यतीवेत्यनेन निरुक्तिमुक्तवान्, गुदेन बहुद्रवसरणमतिसार इत्यर्थः । निरुक्तिरपि लक्षणं भवति, एतेनाधोद्रवसरणत्वाविशेषेऽपि ग्रहण्यादीनां व्यवच्छेदः, वातातीसारे स्वल्पत्वं कफपित्तातीसारापेक्षया, न तु ग्रहण्यपेक्षया इति । तत्षड्विधत्वं विभजते,—एकैकश इत्यादि । ननु, चरकादौ दोषैरेकैकशस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, भयशोकजौ द्वौ, एवं षड्विधः, अत्र त्वन्यथेति कोऽभिप्रायः ? उच्यते,— चरके भयशोकजौ ... [illegible] ... आममहत्त्वात्तीव्रगुरुपित्तत्रिदोषजत्वेन सन्निपातेनावरुद्ध इति न संख्यातिरेकः, सुश्रुते तु हेतुभेदेनौषधचिकित्सार्थं शोकनामजौ पठितौ वातजत्वसन्निपातजत्वाभेदेऽपि, यथा वातादिजत्वाभेदेऽपि मृत्तिकाजः पाण्डुरोग इति, एवं भयशोक-

*"संशम्येत्यादि । वायुनाऽधः प्रणुन्नः प्रेरितः, अपां धातुः कफास्रमूत्रस्वेदमेदःपित्तरसादिकः, प्रवृद्धो दुष्टः, अन्तरग्निं संशम्य मन्दीकृत्य, वर्चोमिश्रः पुरीषयुक्तः, अतीवाधः सरति, आचार्यास्तं घोरं व्याधिमतीसारमाहुः, तं पुनः षट्प्रकारं वदन्ति । तत्प्रकारान् विभजन्नाह-वातेन, पित्तेन, श्लेष्मणा त्रयः, सन्निपातेन चतुर्थः, शोकेन पञ्चमः, आमेन षष्ठः, एवं षडतीसाराः । संख्येयानिर्देशादेव संख्याया लब्धायाः षड्विधग्रहणं नियमार्थं, तेन द्वन्द्वजा अतीसारा न भवन्ति व्याधिस्वभावादिति सूचितम् । नन्वत्र भयशोकाभ्यां वायुः प्रकुप्यति तर्हि [illegible] निरोधः, पृथग्ग्रहणमिदं किं ? उच्यते-सुश्रुतेन हेतुमन्वनीकचिकित्सार्थं पृथक् पठितम्' ॥४॥ (मा०द०)

१ 'दुष्टमद्यपानीयपानादतिमद्यपानात्' इति चरके पाठः । २ 'वर्चोन्मिश्रो' क. । ३ 'षट्' क. । ४ 'तत्षड्विधत्वं' [illegible] क. ।

जावपि चरके हेतुप्रत्यनीकचिकित्सार्थं पृथक् पठितौ, सुश्रुते भयज केवलवाति केऽवरुद्ध, मानसत्वाविशेषाद्वा शोकजेऽवरुद्ध इति जेज्जट । ननु, षष्ठ आमेन चोक्त इति पृथक्करणमसगतं, यत सर्वेषामेवातीसाराणा प्रागवस्था आमशब्दवाच्या, जीर्णावस्था पक्वशब्दवाच्या, अत एव सर्वातीसारगोचरमुदाहरन्ति,—"आमपक्वक्रम हित्वा नातिसारे क्रिया हिता । अत सर्वातिसारेषु ज्ञेयं पक्वामलक्षणम्" ( सु उ. तं. अ ४० )—इति । नैव, आमेनैवारभ्यत इति आमज, दोषास्तु ससर्गिण प्रेरयितारश्च, नत्वारम्भका । आमश्च दुष्टान्नकार्यो दोषधातुमलव्यतिरिक्तो वातादिससृष्टो वातादिप्रेरितो वा रसादिवद्व्याध्यारम्भक इति । द्वन्द्वजास्त्वतीसारा प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वान्न पृथग्गणिता, विकृतिविषमसमवायारब्धास्तु न सभवन्त्येव, व्याधिस्वभावात् । शैली चेयमाचार्याणा प्राय प्रकृतिसमसमवायारब्धान् द्वन्द्वान् सन्निपातांश्च न गणयन्ति, विकृतिविषमसमवायारब्धांस्त्वुद्दिश्य लिखन्ति । यथा चरके,—"पञ्च गुल्मा"—इत्यभिधाय, "ससृष्टरूपानपरास्तु गुल्माञ्जीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्" ( च. चि. स्था. अ. ५ )—इत्युक्त, तथा सुश्रुते,—"षडर्शांसि" इत्यभिधाय, "अर्शसु दृश्यते रूप यदा वै दोषयोर्द्वयो । ससर्गं त विजानीयात्ससर्ग षड्विधश्च स"—( सु नि स्था. अ. २ ) इत्युक्तम् ॥ ४ ॥

*हृन्नाभिपायूदरकुक्षितोदगात्रावसादानिलसन्निरोधाः ।
विट्सङ्ग आध्मानमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुर.सराणि ॥५॥

सर्वातीसारपूर्वरूपमाह—हृन्नाभीत्यादि ।—तोद सर्वैर्हृदादिभि संबध्यते, अत्र कुक्षिशब्द उदरैकदेशवाची, तेन न पौनरुक्त्यम् । अनिलसन्निरोध इति वायोर प्रवृत्ति । विट्सङ्ग. पुरीषाप्रवृत्ति, एतच्च दोषदूष्यसमूर्च्छनावस्थाप्रतिनियत पूर्वरूप तेन रूपावस्थाया नानुवर्तते, यद्यनुवर्तेत तदा तत्र व्याधिरेव नोत्पद्येत, विट्सङ्गादिप्रतिषेधात् । अविपाकोऽन्नस्य । पुर सराणि पूर्वरूपाणीति ॥ ५ ॥

†अरुणं फेनिलं रूक्षमल्पमल्पं मुहुर्मुहुः ।
शकृदामं सरुक्शब्दं मारुतेनातिसार्यते ॥ ६ ॥

वातिकमाह—अरुणमित्यादि । अरुणमिति वायोररूपस्यापि दोषदूष्यसमूर्च्छनाद्भवति, एवमन्यत्रापि । फेनिलं सफेनं, फेनादिलच् । शकृत् पुरीषम् । सरुक्शब्दमिति सशूलं सशब्द चेति ॥ ६ ॥

‡पित्तात्पीतं नीलमालोहितं वा तृष्णामूर्च्छादाहपाकोपपन्नम् ।

* "हृन्नाभीत्यादि । भविष्यतो भाविनोऽतीसारस्य हृत्तोदादीनि पुर सराणि पूर्वरूपाणि भवन्ति । पायुर्गुदम् । गात्रावसादो देहे ग्लानि" ( आ० द० ) ॥ ५ ॥

† "वातातीसारलक्षणमाह—अरुणमित्यादि । मारुतेन वायुना अरुणादियुक्त शकृत् पुरीषमतिसार्यते । रूक्ष नि स्नेह, अल्पमल्प स्तोक, मुहुर्मुहुर्वारंवार, आममपरिपक्व" ( आ० द० ) ॥ ६ ॥

‡ "पित्तातिसारलक्षणमाह—पित्तादित्यादि । पीत पीतवर्ण, नील नीलवर्णं, आलोहित- मीषल्लोहितम् । तृष्णेत्यादि मूर्च्छा प्रसिद्धा" ( आ० द० ) ॥

पैत्तिकमाह—पित्तादित्यादि । दाहपाकोपपन्नमिति दाहः सर्वाङ्गे, पाको गुद एव । उक्तं हि तन्त्रान्तरे—"तृष्णादाहस्वेदमूर्च्छार्त्तिशूलसन्तापपाकपरीतः"—इति, शूलो गुदे । अत्राप्यतिसार्यत इत्यनुवर्तते, एवं श्लैष्मिकेऽपि ॥—

*शुक्लं सान्द्रं श्लेष्मणा श्लेष्मयुक्तं विस्रं शीतं हृष्टरोमा मनुष्यः ॥७॥

श्लैष्मिकमाह—शुक्लमित्यादि । शुक्लमित्यादिना हृष्टरोमा इत्यन्तेन श्लैष्मिकः । विस्रमामगन्धि ॥ ७ ॥

वराहस्नेहमांसाम्बुसदृशं सर्वरूपिणम् ।
कृच्छ्रसाध्यमतीसारं विद्याद्दोषत्रयोद्भवम् ॥ ८ ॥

सान्निपातिकमाह—वराहेत्यादि । वराहस्नेह शूकरस्य मेदो मज्जा वा, मांसाम्बु मांसप्रक्षालनोदकं, ते सदृशम् । सर्वरूपिणमिति उक्तवातादातीसारत्रयलक्षणयुक्तम् । एवंविधमतीसारं दोषत्रयोद्भवं विद्यात् स च कृच्छ्रसाध्यः, त्रिदोषजत्वादेव ॥ ८ ॥

†तैस्तैर्भावैः शोचतोऽल्पाशनस्य
बाष्पोष्मा वै वह्निमाविश्य जन्तोः ।
कोष्ठं गत्वा क्षोभयेत्तस्य रक्तं
तच्चाधस्तात्काकणन्तीप्रकाशम् ॥ ९ ॥
निर्गच्छेद्वै विड्विमिश्रं ह्यविड्वा
निर्गन्धं वा गन्धवद्वाऽतिसारः ।
शोकोत्पन्नो दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रं
रोगो वैद्यैः कष्ट एष प्रदिष्टः ॥ १० ॥

शोकजमाह—तैस्तैरित्यादि । तैस्तैर्भावैर्धनबन्धुनाशादिभिः । शोचतः शोकं कुर्वतः । अल्पाशनस्य शोकादेवाल्पं भुञ्जानस्य, एतेन धातुक्षयोऽप्यस्य स्यादित्युक्तम् । बाष्पोऽश्रु नेत्रनासागतादिगतं जलं, तत्सहित ऊष्मा शोकज देहतेजो बाष्पोष्मा स कोष्ठं गत्वा वह्निमाविश्य व्याकुलीकृत्य, क्षोभयेत्तस्य रक्तं अम्ल-त्वद्रवत्वाभ्यां समानगुणत्वात्, तच्च रक्तं काकणन्तीप्रकाशं गुञ्जाफलप्रकाशं, अधस्तान्निर्गच्छेत् । वह्निमाविश्येति पाठान्तरे स एवार्थः । गदाधरस्तु वह्निशब्देन पित्तमाह । तच्च रक्तं विड्विमिश्रं निर्गच्छेत् अविड्वा अन्यथेद, अल्पाशनत्वात् । निर्गन्धं गन्धवद्वेति विकल्पोऽपि इयमविरुद्धमिति कार्तिकः, मन्ये पित्तस्य

पूतित्वात्प्रबलगन्धवत्ता, तस्य नातिदुष्टत्वा निर्गन्धत्वमिति, गन्धश्च विस इत्याहु । क्षोभयेत्तस्य रक्तमिलन 'शोषयेत्तस्य भुक्त'-इति पाठान्तरमयुक्त, काकणन्तीप्रकारत्वे हेत्वन्तराभावात्, तस्मादाद्य एव पाठो ज्यायान्, व्याख्यातश्च जेज्जटादिभि सर्वैरेव । अथ वातपित्तज उक्त । दुश्चिकित्स्योऽतिमात्रमिति शोकापनोद विना केवलेन भेषजेनानुपशमात् । अत एवाह-कष्ट एव प्रदिष्ट इति । वैद्यनन्द्यादिभि । गदाधरस्त्वाह-'एष' इत्यनेनैवसमासिक एव कष्टो नत्वन्य शोकज इति ॥ ९ ॥ १० ॥

*अन्नाजीर्णात्प्रद्रुताः क्षोभयन्तः
कोष्ठं दोषा धातुसंघान्मलांश्च ।
नानावर्णं नैकशः सारयन्ति
शूलोपेतं षष्ठमेनं वदन्ति ॥ ११ ॥

आमातीसारमाह—अन्नाजीर्णादित्यादि । अन्न च तदजीर्णं चेति अन्नाजीर्णम् । अत एवाह क्षारपाणि,—"यथाभुक्तमशनमुपविशति"-इति । प्रद्रुता विमार्गगा । क्षोभयन्तो दूषयन्त । धातुसंघान् रक्तादीन् । मलान् पुरीषादीन् । नैकशो बहुश ॥ ११ ॥

†संसृष्टमेभिर्दोषैस्तु न्यस्तमप्स्ववसीदति ।
पुरीषं भृशदुर्गन्धि पिच्छिलं चामसंज्ञितम् ॥ १२ ॥
एतान्येव तु लिङ्गानि विपरीतानि यस्य वै ।
लाघवं च विशेषेण तस्य पक्वं विनिर्दिशेत् ॥ १३ ॥

सर्वातिसाराणा चिकित्सोपयोगित्वेनामलक्षण पक्वलक्षण चाह—संसृष्टमित्यादि । संसृष्ट संबद्ध, एभिर्दोषैर्दुष्टैरिति वातपित्तकफैर्वातादिर्यतीसारलिङ्गै । दुष्टप्रधान यथासंभव व्यस्ता समस्ताश्च बोद्धव्या, तेन सर्वातिसाराणा न सांनिपातिकत्वप्रसङ्ग । न्यस्तमप्सु जले क्षिप्त, अवसीदति निमज्जति, आमस्य गौरवात् । भृशशब्द पिच्छिलेनापि संबध्यते । दुर्गन्धि विस्रम् । पिच्छिलमामसंबन्धात् । एतानीति

* 'अन्नेत्यादि । अन्न च तदजीर्णं चेति अन्नाजीर्णं, तस्मात् प्रद्रुता उदीरिता दोषा, कोष्ठ क्षोभयन्तो दूषयन्त, कोष्ठशब्देन समस्तमुदरमध्यमुच्यते तत्र गता इत्यर्थ । ते नानावर्णं सारयन्ति । भूयसेति पाठान्तरे बहुवेगत्व सूचितम् । शूलोपेत शूलयुक्तम् । अत्र पुन षष्ठ इति सख्यावचन नियमार्थं, तेन भयलेहाजीर्णविसूचिकाद्यजीर्णादिनिमित्ता अतीसारा न पृथग्गणनीया, यतस्ते दोषनैरेवान्तर्भूता । प्रसङ्गादामलक्षण लिख्यते-"आहारस्य रस शेषो यो न पक्वोऽग्निलाघवात् । स हेतु सर्वरोगाणामाम इत्यभिधीयते"-इति' (आ० द० ) ॥ ११ ॥

† 'अथामलक्षणमाह-संसृष्टमित्यादि एभि पूर्वनिर्दिष्टै । पक्वलक्षणमाह-एतानि जलनिमज्जनादीनि यस्य पुरीषस्य विपरीतानि-जले प्लवन, गन्धरहितत्व, अपिच्छिलत्व मित्यर्थ । यस्येति मनुष्यस्येति केचिद् व्याख्यानयन्ति । चकारात्कटुद्ग पुरीष समुच्चीयते । यदुक्तम्-"मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले । विनाऽतिद्रवसंघाताच्छैत्यश्लेष्मप्रदूषणात्" इति । ननु, कफसंसृष्ट पक्वमपि जले निमज्जति तत्कथ पक्वकफातीसारज्ञान ? उच्यते, इतरलक्षणैरेव' (आ० द० ) ॥ १२ ॥ १३ ॥

जलनिमज्जनादीनि। लाघवं कोष्ठस्य शरीरस्य च, चकारेण कफशैत्यदुष्ट्यादिकं विनाऽप्यम्बुनिमज्जनं लक्षणमिति समुच्चीयते। यदुक्तं—"मज्जत्यामा गुरुत्वाद्विट् पक्वा तूत्प्लवते जले। विनाऽतिद्रवसंघाताच्छैत्याच्छ्लेष्मप्रदूषणात्"—इति। अथवा आमलिङ्गवैपरीत्येनैव लाघवे सिद्धे पुनर्लाघवकरणं तत्र कफदुष्ट्यादिव्यतिरेकं बोधयतीति॥ १२॥ १३॥

*पक्वजाम्बवसंकाशं यकृत्खण्डनिभं तनु।
घृततैलवसामज्जवेसवारपयोदधि-॥ १४॥
मांसधावनतोयाभं कृष्णं नीलारुणप्रभम्।
मेचकं स्निग्धकर्बुरं चन्द्रकोपगतं घनम्॥ १५॥
कुणपं मस्तुलुङ्गाभं सुगन्धि कुथितं बहु।
तृष्णादाहतमःश्वासहिक्कापार्श्वास्थिशूलिनम्॥ १६॥
संमूर्च्छारतिसंमोहयुक्तं पक्वबलीगुदम्।
प्रलापयुक्तं च भिषग्वर्जयेदतिसारिणम्॥ १७॥
असंवृतगुदं क्षीणं दुराध्मातमुपद्रुतम्।
गुदे पक्वे गतोष्माणमतिसारकिणं त्यजेत्॥ १८॥
श्वासशूलपिपासार्तं क्षीणं ज्वरनिपीडितम्।
विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत्॥ १९॥

असाध्यलक्षणान्याह—पक्वेत्यादि। पक्वजाम्बवसंकाशं पक्वजम्बूफलरसवर्णं स्निग्धकृष्णमित्यर्थः। यकृत्खण्डनिभं कृष्णलोहितम्। तनु स्वच्छ(त्व)म्। घृतादीनां मांसधावनतोयान्तानामिवाभाः प्रतिभासो यस्य तत्तथा। वेसवारो "निरस्थिपिशितं पिष्टं"—इत्यादिपरिभाषितमांसप्रकारः। कृष्णमञ्जनप्रख्यम्। एतच्च कृष्ण-

* 'पक्वेत्यादि। भिषक् पक्वजाम्बवसंकाशादिपुरीषं तथा तृष्णादिदुःखमतीसारिणं पुरुषं च वर्जयेदिति संबन्धः। यकृत्खण्डनिभं कालखण्डतुल्यं कृष्णलोहितमित्यर्थः। वेसवार- मिश्रमांसं [illegible]। स्निग्धं चिक्कणं, धातुक्लेदयोगात्। कुणपं गन्धयुक्तम्। बहु मात्राधिक्यात्। [illegible] अतीसारोपद्रवैः। यथाहुः— "तृष्णा दाहोऽरुचिः शोषः [illegible]। [illegible] [illegible]॥ मूर्च्छा [illegible] [illegible]। [illegible]"-इति। [illegible]—"[illegible] मूत्रनिग्रहः। [illegible]"-इति। [illegible]—"[illegible] क्षीणं ज्वरनिपीडितम्। विशेषेण नरं वृद्धमतीसारो विनाशयेत्॥ [illegible]"-इति। [illegible] [illegible]। [illegible]—दोषेत्यादि। [illegible]' ( [illegible] ) ॥ १४-१९॥

1 '[illegible]' क.।

त्यादिकं पित्तातिसारवर्जं बोद्धव्यं, तत्र रूपत्वेन पठितत्वात् । नीलारुणं चाषपक्षवर्णम् । मेचकं मर्दनाञ्जनपिण्डवद्दीप्तकृष्णरूपम् । कर्बुरं नानावर्णं, तच्च स्निग्धं स्नेहद्रवधातुयोगात् । चन्द्रकोपगतं मयूरपिच्छचन्द्रकैरिव धातुस्नेहैरुपगतम् । उक्तं हि करवीराचार्येण,—"चन्द्रकैः शिखिपिच्छाभैर्नीलपीतादिराजिभिः । धात्वृतं मेचकाराम्बुमज्जशीरोपमं सृजेत्"—इति । तदेव घनं धात्वन्तरव्यामिश्रत्वात् । कुणपं शवदुर्गन्धि । मस्तुलुङ्गाभं मस्तुलुङ्गं मस्तकाभ्यन्तरस्नेह घृतस्नेनि रूपगतं, तत्सदृशम् । कुथितं पूति । तृष्णेत्यादि ।—तृष्णादीनां पार्श्वास्थिशूलान्तानां द्वन्द्वं कृत्वा मत्वर्थीय इति, तृष्णादियुक्तमित्यर्थः । अत्र समूर्च्छा मनोमोहः, संमोह इन्द्रियमोह इत्यपौनरुक्त्यम् । चकाराच्चरकोक्त सहसोपरतातीसारश्चासाध्यो बोद्धव्यः । पक्वबलीगुदं पक्वा बलयो गुदे यस्य स पक्वबलीगुदम् । असंवृतगुदं गुदसंवरणाक्षमम् । तमेव क्षीणं बलोपचयरहितम् । दुराध्मातं सुदाध्मानयुक्तं, तस्य विरेकवाध्यत्वेनातिसारविरुद्धोपक्रमत्वात्; दुरात्मानमिति पाठान्तरे दुरात्म करणं, अजितेन्द्रियमिति जेजट, उपद्रुतमतिसारोपद्रवैः शोथादिभिर्युक्तम् । यदुक्तं,—"शोथं शूलं ज्वरं तृष्णा श्वास कासमरोचकम् । छर्दि मूर्च्छा च हिक्का च दृष्ट्वाऽतीसारिणं त्यजेत्"—इति । गुदे पक्वे गतोष्माणमिति गुदे पाकारम्भकपित्ते वर्तमानेऽपि गतोष्माणं शीतगात्रं नष्टाग्निं वा । अतिसारकिणं अतिसारयुक्तम् । "वातातीसाराभ्यां कुक् च" ( पा. अ. अ. ५ पा. २ सू. १२९ )-इति कुक्, चादिनि. । विशेषेणेति वचनाद्बालस्याप्यतिसारोऽसाध्य इति बोधयति । यदा सुश्रुतश्चिकित्सायां,—"कृच्छ्रसाध्यं बालवृद्धेष्वसाध्य " ( सु. उ. त. अ. ४० )-इति । एतच्चाबलत्वे सति बोद्धव्यम् ॥ १४–१९ ॥

पित्तकृन्ति यदाऽत्यर्थं द्रव्याण्यश्नाति पैत्तिके ।
तदोपजायतेऽभीक्ष्णं रक्तातीसार उल्बणः ॥ २० ॥

ननु, रक्तजोऽप्यतिसारोऽस्ति तस्य सप्तमत्वापत्तेरुक्तं षट्त्वं विरुध्यते, इत्याशङ्क्य पैत्तिकस्यायमवस्थाविशेष इत्याह–पित्तेत्यादि । पैत्तिकेऽतीसारे विद्यमाने भविष्यति वा पित्तकृन्ति पित्तकारकाणि द्रव्याण्यत्यर्थं प्रभूतमभीक्ष्णं निरन्तरमश्नाति तदा रक्तातीसार उल्बणो महानुपजायत इति सम्बन्ध । अत्र चारुणकृष्णपाण्डुत्वादिना वातादयो दूषका बोद्धव्या । यदुक्तं,—"दोषलिङ्गेन मतिमान् संसर्गं तत्र लक्षयेत्"—इति । एवं स्नेहाजीर्णविसूचिकाविषार्शःक्रिमिप्रकृतिजन्येष्वतीसारेषु षट्काविरिक्तत्वं अतिक्षिप्तं बोद्धव्यं, अव्यभिचरितदोषलिङ्गत्वादिति जेजट ॥ २० ॥

*वायुः प्रवृद्धो निचितं बलासं नुदत्यधस्तादहिताशनस्य ।
प्रवाहतोऽल्पं बहुशो मलाक्तं प्रवाहिकां तां प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥२१॥

* 'दुष्टो वायुरहिताशनस्य संचितं बलासं श्लेष्माणं मलाक्तं पुरीषसहितमधस्तान्नुदति गुदेन पातयति । प्रवाहमाणस्य प्रवाहणं कुर्वतः, बलासमित्युपलक्षणं, तेन पित्त रक्तं वा निचितं ज्ञेयम्' । ( आ० द० ) ॥ २१ ॥

अथ द्रवसरणादामपक्वलक्षणयोगात्प्रवाहिकातीसारयोः साधर्म्यं, अतोऽतीसाराधिकारे प्रवाहिकासम्प्राप्तिमाह—वायुरित्यादि । अतीसारे नानाविधद्रवधातुसरणं, प्रवाहिकायां तु कफमात्रसरणमिति भेदः । निचितं बलासमहिताशनस्य सञ्चितं कफं, मलाक्तं पुरीषसहितं, वायुर्वृद्धः, अधस्तात्प्रवर्तयति गुदेन पातयति । प्रवाहतः प्रवाहणं कुर्वतः । भोजादौ त्वियं विस्रंसीति नाम्ना पठ्यते, पराशरे त्वन्तर्मन्थिरिति, हारीतस्तु निर्धारकाख्यामेतां पठति । यदाह,—"प्रवाहिकेति सा ज्ञेया कैश्चिन्निर्धारकस्तु सः"—इति ॥ २१ ॥

*प्रवाहिका वातकृता सशूला पित्तात्सदाहा सकफा कफाच्च ।
सशोणिता शोणितसंभवा च ताः स्नेहरूक्षप्रभवा मतास्तु ।
तासामतीसारवदादिशेच्च लिङ्गं क्रमं चामविपक्वतां च ॥ २२ ॥

तस्या वातादिभेदेन रूपमाह-प्रवाहिकेत्यादि । ननु, वायुः प्रवृद्धो निचितं मलासमित्युक्तं तत्कथं वातकृतेति ? उच्यते, आधिक्येन व्यपदेशात् । ननु, तथाऽपि पित्तरक्तसंभवा कुतः ? उच्यते, अहिताशनस्येत्युक्तं, आहारो हि विरुद्धस्तस्यामवस्थायां पित्तं रक्तं च कोपयति, ते च पश्चाद्वातस्यानुबले स्वलिङ्गं यदा दर्शयतस्तदा ताभ्यां व्यपदेशः । स्नेहरूक्षप्रभवा इति स्नेहप्रभवा कफजा, रूक्षप्रभवा वातजा, तुशब्दाच्च तीक्ष्णोष्णप्रभवा पित्तजा रक्तजा च । लिङ्गं वातादिभेदेन लक्षणम् । क्रममामपक्वभेदेन चिकित्साक्रममिति ॥ २२ ॥

†यस्योच्चारं विना मूत्रं सम्यग्वायुश्च गच्छति ।
दीप्ताग्नेर्लघुकोष्ठस्य स्थितस्तस्योदरामयः ॥ २३ ॥
(ज्वरातीसारयोरुक्तं निदानं यत्पृथक् पृथक् ।
तस्माज्ज्वरातिसारस्य तेन नाम्नोदितं पुनः ॥ १ ॥)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽतीसारनिदानं समाप्तम् ।

वातविष्टम्भादुदावर्ताद्वा मलाप्रवृत्तावतीसारनिवृत्तिरिति शङ्कानिरासार्थमतीसारनिवृत्तिलक्षणमाह—यस्येत्यादि । उच्चारं विना यस्य मूत्रं प्रवर्तते, सम्यगिति शर्म्यग्भूरया न हीनयोगेनेत्यर्थः । वायुश्च गच्छति, गुदेनेति शेषः । स्थितो निवृत्तिं गतः । उदरामयोऽतीसारः, प्रकरणात् । एतेन संप्राप्तिभङ्ग उक्तः । अतीसारे

---

*'वातकृता सशूला भवति, पित्तजा दाहयुक्ता, कफजा कफयुक्ता, सशोणिता सरुधिरा सम्भाव्यते । तासां हेतुमाह—स्नेहेत्यादि । तासां चतसृणां अतीसारवदादिशेत्, वातादिभेदेन लिङ्गं लक्षणं, आमपक्वभेदेन क्रमं चिकित्साक्रममित्यर्थः' (आ० ८०) ॥ २२ ॥

† 'यस्यातीसारिण उच्चारं पुरीषं विना मूत्रं प्रवर्तते वायुश्च गच्छति 'गुदेन' इति शेषः । दीप्ताग्नेः प्रवृद्धजठरानलस्य, अत एव सम्यग्जाताहारस्य लघुकोष्ठस्य, अतीसारप्रकरणत्वात् उदरामयोऽतीसारः, स्थितो गतः, निवृत्त इत्यर्थः' (आ० ८०) ॥ २३ ॥

---

१ 'त्वन्तर्मन्थिरिति' इति पा० । २ 'निःसारकाख्या' इति पा० । ३ 'निःसारकस्तु' इति पा० । ४ 'नातिमात्रया' इति पा० ।

हि संप्राप्तिरियं—यन्मूत्रोचितोऽपि द्रवधातुर्गुदेनैव प्रवर्तते, सर्वस्यैवाब्धातोर्गुदप्रवृत्तत्वात्; यदा तु मूत्रमार्गेण प्रवर्तते, तदाऽपि पुरीषप्रवृत्तिसमकालमिति ॥ २३ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामतीसारनिदानं समाप्तम् ॥

---

# अथ ग्रहणीरोगनिदानम् ।

*अतीसारे निवृत्तेऽपि मन्दाग्नेरहिताशिनः ।
भूयः संदूषितो वह्निर्ग्रहणीमभिदूषयेत् ॥ १ ॥

द्रवसरणसाधर्म्यात्परस्परानुबन्धित्वाच्चातीसारानन्तरं ग्रहणी, तस्याः संप्राप्तिमाह—अतीसार इत्यादि । अपिशब्दादनिवृत्तेऽप्यतीसार इति व्याचक्षते । मन्दाग्नेरित्यनेन दीप्ताग्नेरहिताशनमपि न विकारकारीति बोधयति । उक्तं हि,—"दीप्ताग्नेर्विरुद्धं वितथं भवेत् ( सु. सू. स्था. अ. २० )"—इति । भूय इति पुनरर्थे वा, संदूषितः पूर्वमतीसारेऽपि दूषितत्वात्, अभिदूषयेत् समन्ताद्दूषयेत् । एतेन निवृत्तातीसारेणाहिताहारपरिहारः करणीयः, आवह्निबललाभादित्युक्तं भवति । अत एवाह सुश्रुतः,—"तस्मात्कार्यः परीहारस्त्वतीसारे विरिक्तवत् । यावन्न प्रकृतिस्थः स्याद्दोषतः प्राणतस्तथा" ( सु. उ. तं. अ. ४० )—इति ॥ १ ॥

†एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः ।
सा दुष्टा बहुशो भुक्तमाममेव विमुञ्चति ॥ २ ॥
पक्वं वा सरुजं पूति मुहुर्बद्धं मुहुर्द्रवम् ।
ग्रहणीरोगमाहुस्तमायुर्वेदविदो जनाः ॥ ३ ॥

तस्याः संप्राप्तिपूर्वकं सामान्यलक्षणमाह—एकैकश इत्यादि । मूर्च्छितैरतिवृद्धैः, 'मूर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः'—इति धात्वर्थात् । 'वर्द्धितैः'—इति पाठान्तरे स एवार्थः । सा ग्रहणी दोषैर्दुष्टा सती भुक्तमाहारमाममपक्वमेव पक्वं वा विमुञ्चति । वाशब्दश्चार्थे, एवकारः समुच्चीयमानावधारणे, यथा,—"नरं च नारायणमेव चोभौ स्वतःसुतौ संजनयांबभूवतुः"—इति । अथवा एवकारो विकल्पार्थः, निपातानामनेकार्थत्वादिति । सरुजं सशूलं, पूति दुर्गन्धि । वातेन मुहुर्बद्धं, पित्तेन मुहुर्द्रवम् । ग्रहणीरोगमिति ग्रहण्या रोगो ग्रहणीरोगः । ग्रहणी चाग्न्यधिष्ठानं

* 'अतीसार इत्यादि । केयं ग्रहणी नाम ? उक्तं च सुश्रुते—"षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता । पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता"—इति । अपिशब्दादनातीसारस्यापि स्वहेतोर्ग्रहणीरोगः स्यादिति बोधयति । अन्ये त्वपिशब्दादनिवृत्तेऽप्यतीसारे इति व्याचक्षते' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

† 'भिषजस्तं ग्रहणीरोगमाहुः । बहुशः बहून्वारान्विमुञ्चति । पित्तेनापि दूष्यते वसन्तेनेव वह्निः, अतो दोषैरिति बहुवचनमुक्तम् । पित्तेन मुहुर्द्रवं कफेन मुहुर्बद्धं च' ( आ० द० ) ॥ २ ॥ ३ ॥

नाडी । यदाह चरकः,—"अग्न्यधिष्ठानमन्नस्य ग्रहणाद्ग्रहणी मता । नाभेरुपरि सा ह्यग्निबलोपस्तम्भबृंहिता ॥ अपक्वं धारयत्यन्नं पक्वं सृजति चाप्यधः" ( च. चि. स्था. अ. १५ )—इति । सुश्रुतेऽप्येतदुक्तं,—"षष्ठी पित्तधरा नाम या कला परिकीर्तिता । पक्वामाशयमध्यस्था ग्रहणी सा प्रकीर्तिता" ( सु. उ. तं. अ. ४० )—इति । कला धात्वाशयान्तरमर्यादा, पक्वामाशयमध्यस्था पच्यमानाशयरूपेत्यर्थः ॥ २ ॥ ३ ॥

*पूर्वरूपं तु तस्येदं तृष्णाऽऽलस्यं बलक्षयः ।
विदाहोऽन्नस्य पाकश्च चिरात्कायस्य गौरवम् ॥ ४ ॥

पूर्वरूपमाह—पूर्वरूपमित्यादि । तृष्णा पिपासा । विदाहोऽन्नस्य अग्निमान्द्येनाहारस्य विदग्धत्वं, अत एव चिरात् पाकश्चान्नस्यैव । कायस्य गौरवं सामत्वादिति ॥४॥

†कटुतिक्तकषायातिरूक्षसंदुष्टभोजनैः ।
प्रमितानशनात्यध्ववेगनिग्रहमैथुनैः ॥ ५ ॥
मारुतः कुपितो वह्निं संछाद्य कुरुते गदान् ।
तस्यान्नं पच्यते दुःखं शुक्तपाकं खराङ्गता ॥ ६ ॥
कण्ठास्यशोषोऽक्षुत्तृष्णा तिमिरं कर्णयोः स्वनः ।
पार्श्वोरुवङ्क्षणग्रीवारुगभीक्ष्णं विसूचिका ॥ ७ ॥
हृत्पीडा कार्श्यदौर्बल्यं वैरस्यं परिकर्तिका ।
गृद्धिः सर्वरसानां च मनसः सदनं तथा ॥ ८ ॥
जीर्णे जीर्यति चाध्मानं भुक्ते स्वास्थ्यमुपैति च ।
स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्की च मानवः ॥ ९ ॥
चिराद्दुःखं द्रवं शुष्कं तन्वामं शब्दफेनवत् ।
पुनः पुनः सृजेद्वर्चः कासश्वासार्दितोऽनिलात् ॥ १० ॥

वातिकग्रहण्या निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं रूपमाह—कटुतिक्तेत्यादि । संदुष्टभोजनं संयोगादिविरुद्धभोजनम् । संदुष्टभोजनैरित्यत्र शीतादिभोजनैरिति पाठान्तरम् । प्रमितमल्पभोजनं, प्रमृतेति पाठान्तरे अतीतकालभोजनं बोद्धव्यम् । अनशनमुपवासः । एतैः कारणैः कुपितो मारुतः, वह्निं संछाद्य सदूष्य, गदान् करोति । कान् गदान् करोतीत्याह—तस्यान्नमित्यादि । शुक्तपाकं अम्लपाकं, एतच्चाग्निमान्द्यजनितान्नविदाहाद्भवति । खराङ्गता कर्कशशरीरत्वं, वातेन स्वरगतस्नेहशोषात् । तिमिरं मन्ददृष्टिता । रुक् पीडा, सा च पार्श्वादिभिः संबध्यते । विसूचिका ऊर्ध्व-

* 'आलस्यं सक्तावप्यनुत्साहः.' ( आ॰ द॰ ) ॥ ४ ॥

† अतिशब्दः कटुतिक्तकषायैः सह संबध्यते । अत्यध्वा अतिमार्गगमनम् । वेगनिग्रहः मूत्रपुरीषादीनाम् । कण्ठास्यशो. शोषः । अक्षुत् क्षुधाया अभावः । वङ्क्षणः ऊरुमूलयोः संधिः । मनसः सदनं मनोग्लानिः । आहारे भुक्ते भोजने कृते सति स्वास्थ्यं सामर्थ्यं सुखं समवैति स्वस्थतां प्राप्नोति । चिरादल्पादिर् द्रवं, कदाचिच्छुष्कं, शब्दफेनसहितं आमयुक्तं वर्चः पुरीषं पुनःपुनः वारंवारं त्यागकाले सृजति । 'हगणे, मुतने, कारण होते.' ( आ॰ द॰ ) ॥ ५–१० ॥

मधर्धामात्रप्रभृति । वैरस्यं निरुद्धरसास्यता । परिकर्तिका गुदे कर्तनवत्पीडा । गृद्धिः काङ्क्षा, सर्वरसानां मधुरादीनां, कर्मणि षष्ठी, एतच्च वातदूषितान्तःकरणत्वेन, व्याधिमहिम्ना वा । मनसः सदनमवसादः । आध्मानं जीर्णे जीर्यति च 'अन्ने' इति शेषः । स वातगुल्महृद्रोगप्लीहाशङ्कीति वातगुल्मादिवत्पीडायुक्तत्वात्तच्छङ्की । द्रवं शुष्कं कदाचित् द्रवं, कदाचित् शुष्कम् । तनु अल्पमिति ॥ ५–१० ॥

*कट्वजीर्णविदाह्यम्लक्षाराद्यैः पित्तमुल्बणम् ।
आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम् ॥ ११ ॥
सोऽजीर्णं नीलपीताभं पीताभः सार्यते द्रवम् ।
पूत्यम्लोद्गारहृत्कण्ठदाहारुचितृडर्दितः ॥ १२ ॥

पैत्तिकग्रहण्या निदानसम्प्राप्तिपूर्वकं रूपमाह—कट्वित्यादि । विदाहि विदाहजनकं वंशकरीरादि । क्षारोऽपामार्गादिकृतः, तथा सक्षारं च द्रव्यं, क्षारोदकसाधितं हि व्यञ्जनमश्नन्ति कामरूपादौ । आद्यग्रहणाल्लवणतीक्ष्णोष्णानां ग्रहणं, तैर्दुष्टं पित्तमनलमाप्लावयदभिभवत् हन्ति । ननु, पित्तमाग्नेयमग्निरेव वा, ततश्च वृद्धिमेवाप्नोति, कथं हन्त्यत आह—जलं तप्तमिवानलमिति । यथा उष्णगुणयुक्तमपि जलमनलं हन्ति, तथा द्रवांशेन परिवृद्धं पित्तमूष्मरूपमग्निं हन्त्येवेति । स पीताभः पुरुषः सार्यते, 'वर्चः' इत्यनुवर्तते ॥ ११ ॥ १२ ॥

†गुर्वतिस्निग्धशीतादिभोजनादतिभोजनात् ।
भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निं कुपितः कफः ॥ १३ ॥
तस्यान्नं पच्यते दुःखं हृल्लासच्छर्द्यरोचकाः ।
आस्योपदेहमाधुर्यकासष्ठीवनपीनसाः ॥ १४ ॥
हृदयं मन्यते स्त्यानमुदरं स्तिमितं गुरु ।
दुष्टो मधुर उद्गारः सदनं स्त्रीष्वहर्षणम् ॥ १५ ॥
भिन्नामश्लेष्मसंसृष्टगुरुवर्चःप्रवर्तनम् ।
अकृशस्यापि दौर्बल्यमालस्यं च कफात्मके ॥ १६ ॥

श्लैष्मिकग्रहण्या निदानादिपूर्वकं रूपमाह—गुर्वित्यादि ।—आदिशब्दात् पिच्छिलमधुरादीनां ग्रहणम् । अतिभोजनादतिमात्रभोजनात् । ननु, भुक्तमात्रस्य च स्वप्नाद्धन्त्यग्निमिति विरुद्धं[1] स्वप्नोऽत्र दिवास्वप्नो ग्राह्यः, रात्रिस्वापस्य स्वास्थ्यहेतुत्वात्, दिवास्वापस्य शीतसमीलनेन जठरानलं सन्धुक्षयति, अत एवाह,—"अजीर्णिनामजीर्णिनां' च दिवास्वापो विहितः "—इति ।' उच्यते, भुक्तवतां दिवास्वापे-

* 'स पीताभः पीतवर्णः पुरुषोऽजीर्णमपक्वं नीलपीताभं सार्यते 'वर्चः' इत्यनुवर्तनीयम् । पूत्यम्लोद्गारः सधूमोद्गारः । हृत्कण्ठदाह इति हृद्दाहः कण्ठदाहश्च' (आ० द०) ॥ ११ ॥ १२ ॥

† 'इदानीं सनिदानं श्लेष्मग्रहणीलक्षणमाह—गुर्वित्यादि । तस्य पुरुषस्यान्नं कष्टेन पाकं गच्छति । तस्य हृल्लासादीनि लिङ्गानि स्युः । उदरं जठरं, स्तिमितं विबद्धं निश्चलं वा, गुरु गौरवयुक्तं मन्यते । सदनमङ्गानाम् । भिन्नं विदीर्णं, गुरु ईषद्बद्धं वर्चः, तस्य प्रवर्तनम् । अकृशस्यापि दौर्बल्यमसामर्थ्यमित्यर्थः । कफात्मके कफग्रहणीगदे' (आ० द०) ॥ १३–१६ ॥

१ 'ऊर्ध्वमधश्चाममलप्रवृत्तिः' इति पा० ।

त्वन्तकफत्वाद्याऽऽमं हन्ति, अभुक्तवतां तु संधुक्षयति । यदुक्तं,—"नराञ्छिरःस्नानान् कामं दिवा स्वापयेत्—" इति । आस्योपदेहमाधुर्यमिति मुखस्य लिप्तत्वं मधुरत्वं च श्लेष्मणैव । स्त्यानं घनद्रवापूरितमिव । स्तिमितं विबद्धं, निश्चलमित्यर्थः । गुरु जडम् । दुष्टो विकृतः । मधुरः मधुरत्वेनोपलक्षित उद्गारः । सदनमवसादः । स्त्रीष्वहर्षणं स्त्रीरिरंसाया अभावः । मिश्रं च तदामश्लेष्मभ्यां संसृष्टं चेति समासार्थः । दौर्बल्यमसामर्थ्यमिति ॥१३–१६॥

*पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गसमागमे ।
त्रिदोषं निर्दिशेदेवं, तेषां वक्ष्यामि भेषजम् ॥ १७ ॥
( अन्त्रकूजनमालस्यं दौर्बल्यं सदनं तथा ।
द्रवं शीतं घनं स्निग्धं सकटीवेदनं शकृत् ॥ १ ॥
आमं बहु सपैच्छिल्यं सशब्दं मन्दवेदनम् ।
पक्षान्मासाद्दशाहाद्वा नित्यं वाऽप्यथ मुञ्चति ॥ २ ॥
दिवा प्रकोपो भवति रात्रौ शान्तिं व्रजेच्च सा ।
दुर्विज्ञेया दुश्चिकित्स्या चिरकालानुबन्धिनी ॥ ३ ॥
सा भवेदामवातेन संग्रहग्रहणी मता ।
स्वपतः पार्श्वयोः शूलं गलज्जलघटीध्वनिः ।
तं वदन्ति घटीयन्त्रमसाध्यं ग्रहणीगदम् ॥ ४ ॥ )

शिष्यहितैषितया प्रकृतिसमसमवेतत्वेन सुगमाया अपि त्रिदोषजग्रहण्या अतिदेशेन लक्षणमाह—पृथगित्यादि । संपूर्णश्लोकानुरोधात् 'तेषां वक्ष्यामि भेषजम्—' इति लिखितम् । ग्रहणीदुष्ट्या ग्रहण्याश्रितवह्नेरपि दुष्टेरग्निमान्द्यादयोऽपि ग्रहणीविकारा उच्यन्ते । यदुक्तं चरके,—"यथाग्निः पूर्वमुद्दिष्टो रोगानीके चतुर्विधः । तं चापि ग्रहणीरोगं समवर्जं प्रचक्षते" ( च. चि. स्था. अ. १५ )-इति ॥ १७ ॥

†दोषं सामं निरामं च विद्यादत्रातिसारवत् ॥ १८ ॥
लिङ्गैरसाध्यो ग्रहणीविकारो यैस्तैरतीसारगदो न सिध्येत् ।
वृद्धस्य नूनं ग्रहणीविकारो हत्वा तनूं नैव निवर्तते च ॥ १९ ॥
( बालके ग्रहणी साध्या यूनि कृच्छ्रा समीरिता ।
वृद्धे त्वसाध्या विज्ञेया मतं धन्वन्तरेरिदम् ॥ १ ॥ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ग्रहणीनिदानं समाप्तम् ॥ ४ ॥

यथाऽतीसारे जलनिमज्जनादिना आमं, तद्विपरीतेन निरामं ज्ञायते, तथाऽत्रापि ज्ञेयम् । लिङ्गैरतीसारगदो न सिध्येदिति लिङ्गैर्ग्रहणीविकारोऽसाध्यः, अतीसारस्य चान्यान्यप्यरिष्टानि ग्रहण्या अपि तानि ॥ १८ ॥ १९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां ग्रहणीनिदानं समाप्तम् ॥ ४ ॥

---

* 'अथ त्रिदोषजग्रहणीमाह—पृथगित्यादि । पृथग्वातादिनिर्दिष्टहेतुलिङ्गानां समागमे संयोगे सति त्रिदोषग्रहणीगदं स्पष्टयेत् 'त्रिधा' इति दोषः' ( का० ८० ) ॥ १७ ॥

† 'ग्रहण्यामामनिराममाह—दोषमित्यादि' । ( का० ८० ) ॥ १८ ॥ १९ ॥

# अथार्शोनिदानम् ।

*पृथग्दोषैः समस्तैश्च शोणितात्सहजानि च ।
अर्शांसि षट्प्रकाराणि विद्याद्गुदवलिश्रये ॥ १ ॥

अतीसारग्रहण्यर्शसां परस्परानुबन्धित्वादतीसारग्रहण्यनन्तरमर्श उच्यते—पृथगित्यादि । अरिवत् प्राणान् शृणाति हिनस्तीत्यर्शः इति पृषोदरादिपाठान्निरुक्तिमाहुः । सहजानीति सह शरीरेण जातानि, गुदवल्यारम्भकबीजभागस्य दूषितत्वात् । अत्र द्वन्द्वजानि प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वान्न पृथग्गणितानि । उक्तं हि सुश्रुते,—"अर्शः सु दृश्यते रूपं यदा वै दोषयोर्द्वयोः । संसर्गं तं विजानीयात्संसर्गः षड्विधश्च सः ( सु. नि. स्था. अ. २ )"—इति । षड्विधत्वं चात्र संसर्गस्य वातादिभिर्युग्मैस्त्रयः संसर्गाः, तैरेव रक्तयोगादपरे त्रय इति । सन्निपातजं त्वेकैकदोषजेष्वदृष्टस्यासाध्यत्वस्य योगाद्विकृतिविषमसमवायारब्धमिति संख्यया पृथग्गणितम् । गुदवलिश्रय इति [1]अर्धपञ्चाङ्गुलमानं गुदं, तस्यावयवभूतास्तिस्रो वलय उपर्युपरि व्यवस्थिताः शङ्खावर्तनिभाः प्रवाहणीविसर्जनीसंवरणीनामिकाः; तत्र गुदौष्ठमर्धाङ्गुलं, तदूर्ध्वमङ्गुलमाना प्रथमा वलिः सुश्रुतेन ( सु. नि. स्था. अ. २ ) निर्दिष्टा, भोजेऽप्युक्तं,—"रोमान्तेभ्यो यवाध्यर्धं[2] गुदौष्ठं परिचक्षते । गुदौष्ठादङ्गुलं चैकं प्रथमां तां वलीं विदुः—" इति । सार्धाङ्गुलमाना द्वितीया चेति ॥ १ ॥

†दोषास्त्वङ्मांसमेदांसि संदूष्य विविधाकृतीन् ।
मांसाङ्कुरानपानादौ कुर्वन्त्यर्शांसि तान् जगुः ॥ २ ॥

संप्राप्तिपूर्वकमर्शःस्वरूपमाह—दोषा इत्यादि । त्वङ्मांसग्रहणेन त्वङ्मांसाश्रितं रक्तमपि गृह्यते, चिकित्सायां रक्तस्रावणोपदेशात् । अपानं गुदं, आदिशब्देन नासिकादीनां ग्रहणम् । कायचिकित्सकास्तु गुदजस्यैवार्शस्त्वमिच्छन्ति नासादिजानां त्वधिमांसत्वं, 'तेषु 'पञ्चात्मा मारुतः' इत्यादिसंप्राप्तेरभावात्, विष्टम्भ इत्यादिपूर्वरूपस्य चासंभवात् । यदाह चरकः,—"शिश्न"—इत्यारभ्य यावत् "अधिमांसव्यपदेश एव" ( च. चि. स्था. अ. १४ )—इति । सुश्रुतेन तु मांसाङ्कुरत्वसाधर्म्यात्

* 'अर्शांसि षट्प्रकाराणि भवन्ति—पृथग्दोषैर्वातादिभिः त्रीणि, समस्तैर्दोषैरेकं, शोणितेन चैकं, एकं सहजमित्येवं षडर्शांसि । तत्र सहजानि कुलजानीत्यर्थः । त्रिदोषजं तु विकृतिविषमसमवायारब्धत्वेनासाध्यत्वात्संख्यया पृथग्गणितम् । तत्र गुदौष्ठमर्धाङ्गुलं, तदूर्ध्वमङ्गुलद्वयप्रमाणा प्रथमा वलिः, द्वितीया सार्धैकाङ्गुला, तृतीयाऽपि सार्धैकाङ्गुला, एवं सार्धपञ्चाङ्गुलं गुदं सुश्रुतेन निर्दिष्टम् ।' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

† 'दोषा वातादयस्त्वङ्मांसमेदांसि संदूष्य अपानादौ यान् मांसाङ्कुरान् कुर्वन्ति भिषजस्तान्मांसाङ्कुरानर्शांसि जगुः कथयन्ति । आदिशब्देन नासिकाश्रवणचक्षुर्मेढ्रनाभिप्रभृतयो गृह्यन्ते । एषां लक्षणानि सुश्रुते पठितानि ।' ( आ० द० ) ॥ २ ॥

---

१ अर्धपञ्चममङ्गुलं यस्मिन् तत्तथा; एतेन सार्धचतुरङ्गुलप्रमाणं गुदमित्यर्थः ॥
२ यवाध्यर्धं सार्धयवं, अर्धाङ्गुलप्रमाणमित्यर्थः; अङ्गुलस्य त्रियवप्रमाणत्वात् ॥

शस्त्रक्षाराग्निसाध्यत्वाच्च तेष्वर्शःशब्दप्रयोगः कृतः, सर्षपादिस्नेहे तैलव्यपदेशवत्; सुश्रुतानुवादिनो वाग्भटस्याप्ययमेवाभिप्राय इति ॥ २ ॥

*कषायकटुतिक्तानि रूक्षशीतलघूनि च ।
प्रमिताल्पाशनं तीक्ष्णं मद्यं मैथुनसेवनम् ॥ ३ ॥
लङ्घनं देशकालौ च शीतौ व्यायामकर्म च ।
शोको वातातपस्पर्शो हेतुर्वातार्शसां मतः ॥ ४ ॥

वातार्शसो निदानमाह—कषायेत्यादि । प्रमितमल्पतमं, अल्पं मात्राहीनमशनं, जेज्जटस्त्वाह-प्रमितमतीतकालभोजनं; प्रमृतेति पाठे [illegible] नष्टशाकिकं धान्यादिकमाहुः । प्रमिताशनमेकरसाभ्यास इत्यन्ये । तथाहियुक्तं, एकरसाभ्यासः किं वातप्रकोपकस्य कट्वादेः, कफप्रकोपकस्य मधुरादेर्वा? नाद्यः, कट्वादेरत्रैवोपात्तत्वात्, द्वितीये मधुरादीनां रसाभ्यासो वातशामक एव, एकरसाभ्यासाच्च दौर्बल्यमुक्तं न तु वातवृद्धिरिति चिन्त्यमेतत् । तीक्ष्णमिति मद्यविशेषणं, पैष्टिकादिमृदुमद्यस्य वातप्रशमकत्वात् । शीतो देश आनूपः, कालो हेमन्तादिः । आतपस्योष्णगुणस्याप्युद्धृतरौक्ष्याद्वातप्रकोपकत्वमिति ॥ ३ ॥ ४ ॥

†कट्वम्ललवणोष्णानि व्यायामाग्न्यातपप्रभाः ।
देशकालावशिशिरौ क्रोधो मद्यमसूयनम् ॥ ५ ॥
विदाहि तीक्ष्णमुष्णं च सर्वं पानान्नभेषजम् ।
पित्तोल्बणानां विज्ञेयः प्रकोपे हेतुरर्शसाम् ॥ ६ ॥

पित्तार्शोनिदानमाह—कट्वम्लेत्यादि । देशकालावशिशिराविति उष्णो देशो मरुः, उष्णः कालः शरद् ग्रीष्मश्च । असूयनं परसंपत्सु द्वेषः, [illegible] क्रोधविशेष एव । पित्तोल्बणानामित्यनेन सर्वेषामर्शसां त्रिदोषजत्वं, अधिकेन [illegible] व्यपदेश इति दर्शितं चरकेण । यदाह स एव,—"अर्शांसि नाम जायन्ते मांसाधिष्ठितैस्त्रिभिः । दोषैर्दोषविशेषात्तु विशेषः कल्प्यतेऽर्शसाम्" (च. चि. स्था. अ. १४)—इति ॥ ५ ॥ ६ ॥

‡मधुरस्निग्धशीतानि लवणाम्लगुरूणि च ।
अव्यायामो दिवास्वप्नः शय्यासनसुखे रतिः ॥ ७ ॥
प्राग्वातसेवा शीतौ च देशकालावचिन्तनम् ।
श्लैष्मिकाणां समुद्दिष्टमेतत्कारणमर्शसाम् ॥ ८ ॥

श्लैष्मार्शोनिदानमाह—मधुरेत्यादि । शय्यासनसुखे रतिरिति सुखशय्यासने रतिरासक्तिः । प्राग्वातसेवा पुरोवातसेवनम् । अचिन्तनं निश्चिन्तता ॥ ७ ॥ ८ ॥

---

* "कषायेत्यादि । एतत्सर्वं वातार्शसां हेतुः कारणम् । प्रमिताल्पाशनम्, अन्ये प्रमितमशने अशितमिति पठन्ति, तत्रातीतकालभोजनम् ।" (आ० द०) ॥ ३ ॥ ४ ॥

† "कट्वित्यादि । कट्वम्लेत्यादिको हेतुर्हेतुः ।" (आ० द०) ॥ ५ ॥ ६ ॥

‡ "मधुरेत्यादि । श्लेष्मोल्बणानामर्शसां समुत्थानमिन्द्रियस्थमेतत्कारणमुक्तम् ।" (आ० द०) ॥ ७ ॥ ८ ॥

*हेतुलक्षणसंसर्गाद्विद्याद्द्वन्द्वोल्बणानि च ।

द्वन्द्वजार्शोनिदानादिकमाह—हेत्वित्यादि ।–हेतुलक्षणसंसर्गादिति दोषद्वयस्य निदानमेलकेन लक्षणमेलकेन च द्वन्द्वोल्बणानि द्वन्द्वजानि विद्यात् ॥–

सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणां सहजैर्लक्षणं समम् ॥ ९ ॥—

त्रिदोषजार्शोनिदानमाह—सर्व इत्यादि । सर्वो हेतुरिति एकैकशो वाताद्यर्शसां यो हेतुरुक्तः स त्रिदोषजानां भवति, त्रयो दोषा जनकत्वेनैषां सन्तीति त्रिदोषजानि । सहजैर्लक्षणं सममिति तेषां लक्षणं सहजैरर्शोभिः सह समं सदृशं, सहजानां यल्लक्षणं तत्त्रिदोषजानामित्यर्थः । 'सहजैर्लक्षणैः समं' इति पाठान्तरे । सहजैः सहजार्शोभवैर्लक्षणैः समं सह सर्वो हेतुस्त्रिदोषाणामिति योज्यम् । सहजार्शोलक्षणं चात्र संग्रहेणो- ( द्दे शो ) क्तं तन्त्रान्तरादनुसर्तव्यं; यदाह सुश्रुतः—"दुर्दर्शनानि परुषारुणपाण्डूनि दारुणान्तर्मुखानि, तैरुपहतः कृशोऽल्पभुक् सिरासंततगात्रोऽल्पप्रजः क्षीणरेताः क्षामस्वरः क्रोधनोऽल्पाग्निर्घ्राणशिरोऽक्षिश्रवणरोगवान्, सततमन्त्रकूजनाटोपहृदयोपलेपारोचकप्रभृतिभिः पीड्यते-( सु. नि. स्था. अ. २ )" इति; चरके च,–"कानिचिदणूनि–"( च. चि. स्था. अ. १४ ) इत्यादिना प्रभूततरं लक्षणमुक्तम् । ननु, त्रिदोषजानीति विशेषाभिधानमनुपपन्नं, सर्वेषामेव रोगाणां त्रिदोषजत्वात् । यदुक्तं,— "द्रव्यमेकरसं नास्ति न रोगोऽप्येकदोषजः । योऽधिकस्तेन निर्देशः क्रियते रसदोषयो."–इति । नैवं; 'सर्वदेहचरास्तु वातपित्तश्लेष्माणः' इति वचनादेकस्मिन् धात्वादौ दोषेण दूषिते सति तद्गतेतरदोषेऽप्यवश्यंभाविनी काचिद्दुष्टिः, दुष्टदोषसंबन्धात् । किंच स्वकारणाद्दुष्टो वायुः शैत्याच्छीतस्य श्लेष्मणो बलमादधाति, लाघवात्तेजोरूपस्य पित्तस्य; पित्तं च कटुत्वाद्वातस्य, द्रवत्वात् श्लेष्मणः; कफश्च शैत्याद्वायोः, द्रवत्वात् पित्तस्येति । अत एवोक्तं,–"न रोगोऽप्येकदोषजः"–इति । अनेनैवाभिप्रायेणोक्तं,–"एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्"–इति । यत्र तु स्वकारणात्त्रयोऽपि कुपितास्तत्र त्रिदोषव्यपदेश इति सिद्धान्तः; एवं सर्वत्र. ॥ ९ ॥

†गुदाङ्कुरा बह्वनिलाः शुष्काश्चिमचिमान्विताः ।
म्लानाः श्यावारुणाः स्तब्धा विशदाः परुषाः खराः ॥ १० ॥
मिथोविसदृशा वक्रास्तीक्ष्णा विस्फुटिताननाः ।
बिम्बीखर्जूरकर्कन्धूकार्पासीफलसन्निभाः ॥ ११ ॥
केचित्कदम्बपुष्पाभाः केचित्सिद्धार्थकोपमाः ।
शिरःपार्श्वांसकट्यूरुवङ्क्षणाद्यधिकव्यथाः ॥ १२ ॥

---

* 'दोषाणां हेतुलक्षणैरेव द्वन्द्वोल्बणमाह–हेत्वित्यादि । दोषद्वयस्य निदानमेलके लक्षणमेलके च द्वन्द्वोल्बणानि द्वन्द्वजानि विद्यात् जानीयात्' ( आ० द० )–

† 'चिमिचिमा वेदनाविशेषस्तेनान्विताः; सर्षपकल्कलिप्ता इवेति यावत् । श्यावारुणा वर्णतः । स्तब्धाः कठिनाः कीलवत् । विषमा इति पाठे विषमा निम्नोन्नताः । वक्रा धनुर्वत्कुटिलाः । तीक्ष्णा दर्भाङ्कुरवत्सूक्ष्माग्राः । विस्फुटिताननाः केसरादिवदानन देशे ते विदीर्णमुखा इत्यर्थः । बिम्ब्यादिफलवत्सदृशत्वमाकृत्या, कर्कन्धुः कोलवदरी ।

क्षवथ्वाटोपविष्टम्भहृद्ग्रहारोचकप्रदाः ।
कासश्वासाग्निवैषम्यकर्णनादभ्रमावहाः ॥ १३ ॥
तैरार्तो ग्रथितं स्तोकं सशब्दं सप्रवाहिकम् ।
रुक्फेनपिच्छानुगतं विबद्धमुपवेश्यते ॥ १४ ॥
कृष्णत्वङ्नखविण्मूत्रनेत्रवक्त्रश्च जायते ।
गुल्मप्लीहोदराष्ठीलासंभवस्तत एव च ॥ १५ ॥

पूर्वं निदानमुक्तं, संप्रति वातादिभेदेनार्शसां लक्षणान्युच्यन्ते, तत्र प्रथमं वातार्शोलक्षणमाह—गुदेत्यादि ।—गुदाङ्कुरा गुदे अङ्कुराकारा मांसप्ररोहाः, त एव अर्शांसि । बह्वनिला वातोल्बणाः । शुष्काः स्रावरहिताः । चिमचिमा वेदनाविशेषः । म्लाना अनुपचिताः । स्तब्धाः काठिन्यात् । विशदा अपिच्छिलाः, धूलिस्पर्शवत् । परुषाः कर्कशाः, गोजिह्वास्पर्शवत् । खराः कर्कोटफलवत्सूक्ष्मानेककण्टकाचिताः । एषु विकल्पेषु वक्ष्यमाणं केचिदिति पदं संबन्धनीयम् । मिथोविसदृशाः परस्परभिन्नरूपाः । वक्रा भग्नकाष्ठादिवत् । तीक्ष्णाः सूक्ष्माग्राः । फलसन्निभा इति बिम्ब्यादिभिः संबध्यते, बिम्ब्यादिसन्निभत्वं चाकृत्या ज्ञेयम् । बिम्बी ओष्ठोपमफला, 'वेलाकुचा' इति लोके ख्याता, कार्पासी वनकार्पासी, कदम्बपुष्पाभाः स्थूला अनेकसूक्ष्मशिखराः । सिद्धार्थकोपमाः सूक्ष्मपिडकारूपाः । हृदयं गृहीतमिवेति वेदना हृद्ग्रहः । ग्रथितं ग्रन्थिलं पाषाणवत् । रुक् शूलम् । पिच्छा पिच्छिलो द्रवभागः । उपवेश्यते वर्चस्त्याज्यते । कृष्णशब्दस्त्वगादिभिर्वैकान्तैः प्रत्येकं संबध्यते । अस्योपद्रवमाह—गुल्मेत्यादि । अष्ठीला वातरोगविशेषः ॥ १०–१५ ॥

*पित्तोत्तरा नीलमुखा रक्तपीतासितप्रभाः ।
तन्वस्रस्राविणो विस्रास्तनवो मृदवः श्लथाः ॥ १६ ॥
शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोवक्त्रसन्निभाः ।
दाहपाकज्वरस्वेदतृण्मूर्च्छारुचिमोहदाः ॥ १७ ॥
सोष्माणो द्रवनीलोष्णपीतरक्तामवर्चसः ।
यवमध्या हरित्पीतहारिद्रत्वङ्नखादयः ॥ १८ ॥

---

केचिदिति केचित्कदम्बपुष्पाभाः स्थूलाः, केचित्सिद्धार्थकोपमाः सर्षपवत्सूक्ष्माः । शिरःप्रभृतीनामभ्यधिकव्यथा अतिवेदना । क्षवथ्विति क्षवथुः छिक्का । विष्टम्भो मलस्य । तैरिति तैर्गुदाङ्कुरैरर्शोभिः पीडितः पुरुषः, स्तोकमल्प, सप्रवाहिक वाहप्रवाहिकालक्षणोपेतः रुक् शूल, पिच्छा पिच्छिलो द्रवभागस्तेनानुगतं, ईदृग्वर्चः उपवेश्यते त्याज्यते, गुदेनेति शेषः । ततो वातार्शोभ्य उपद्रवरूपाणामेषां संभव उत्पत्तिः । अष्ठीला नाभेरधोभागे पाषाणपिण्डिकावद्वातरोगविशेषः' (आ० द०) ॥ १०–१५ ॥

* 'पञ्चिकामाह–पित्तोत्तरा इत्यादि । पित्तोत्तराः पित्तोल्बणा गुदाङ्कुरा ईदृशा ज्ञेयाः । अन्ये 'मृदुलम्बिन' इति पठन्ति, तत्र लम्बिनो लम्बनशीलाः । आकृत्या च शुकजिह्वायकृत्खण्डजलौकोमुखसन्निभाः सदृशाः । उपद्रवानाह–दाहेत्यादि । दाहादिमोहान्तोपद्रवदायिनः । सोष्माणः उष्णस्पर्शाः । द्रव नीलमुष्ण पीतरक्त, आममपक्व वर्चं उपवेशयन्ति । यवमध्येति यववन्मध्ये स्थूलाः प्रान्ते सूक्ष्माः । हरितादिवत् त्वगादि येषां ते । आदिशब्दाश्च नेत्रादयो गृह्यन्ते' (आ० द०) ॥ १६–१८ ॥

पित्तार्शोलक्षणमाह—पित्तोत्तरा इत्यादि। नीलमुखा नीलाग्राः। तनु अघनं, अस्रं रक्तं, स्रवन्तीति तन्वस्रस्राविणः। विस्रा आमगन्धिनः। तनवः स्वल्पाः। मृदवः कोमलाः। श्लथा लम्बनशीलाः। यवमध्याः यववन्मध्ये स्थूलाः। हरितपत्रवर्णं, पीतं हरितालाभं, हारिद्रं हरिद्रावर्णं; आदिशब्दाद्विष्णुसूत्रेनेत्रकाणां ग्रहणम्॥ १६–१८॥

*श्लेष्मोल्बणा महामूला घना मन्दरुजः सिताः।
उत्सन्नोपचितस्निग्धस्तब्धवृत्तगुरुस्थिराः॥ १९॥
पिच्छिलाः स्तिमिताः श्लक्ष्णाः कण्ड्वाढ्याः स्पर्शनप्रियाः।
करीरपनसास्थ्याभास्तथा गोस्तनसन्निभाः॥ २०॥
वङ्क्षणानाहिनः पायुबस्तिनाभिविकर्षिणः।
सश्वासकासहृल्लासप्रसेकारुचिपीनसाः॥ २१॥
मेहकृच्छ्रशिरोजाड्यशिशिरज्वरकारिणः।
क्लैब्याग्निमार्दवच्छर्दिरामप्रायविकारदाः॥ २२॥
वसाभसकफप्रायपुरीषाः सप्रवाहिकाः।
न स्रवन्ति न भिद्यन्ते पाण्डुस्निग्धत्वगादयः॥ २३॥

श्लेष्मार्शोलक्षणमाह—श्लेष्मोल्बणा इत्यादि। अत्र गुदाङ्कुरा इत्यनुवर्तते। महामूला दूरपास्त्ववगाहिनः¹। घना निबिडावयवाः। उत्सन्ना दैर्घ्येणोद्गताः, उपचिताः परिणाहेन स्थूलाः, स्तब्धा अनम्राः, वृत्ताः परिणाहेन वर्तुलाः, गुरवो गुरुद्रव्याक्रान्तमिव गुदं कुर्वते, स्थिरा अचञ्चलाः। श्लक्ष्णा मणिवन्मसृणाः। कण्ड्वाढ्याः कण्डूबहुलाः; कण्डूव्यपगमार्थं स्पृश्यमानाः प्रीणयन्त्यर्शांसमिति स्पर्शनप्रियाः। करीरो मरुजद्रुमः, पनसः कण्टकिफलं, तयोरस्थ्याभाः; अथवा करीरो वंशाङ्कुरः; तेन करीराभाः, पनसास्थ्याभाश्चेत्यर्थः। तथा गोस्तनसन्निभाः गोस्तनसदृशा इत्यर्थः। वङ्क्षणौ आनद्धुं बद्धुमिव शीलं येषां ते तथा, गुदप्रत्यासत्त्या वङ्क्षणयोः प्रेरणायासामर्थ्यकारिण इत्यर्थः। पायुबस्तिनाभिविकर्षिण इति पाय्वादिष्वाकर्षणरूपपीडाकारिणः। प्रसेको मुखस्य गुदस्य वा। कृच्छ्रं मूत्रकृच्छ्रं, शिरोजाड्यं शिरःस्तिमितता, शिशिरज्वरकारिणः शीतज्वरकारिणः। क्लैब्यं क्लीब्यमुत्साहः, अग्निमार्दवं वह्निमान्द्यं, छर्दिर्वमिः,। आमप्रायविकारदाः आमबहुला ये रोगा अतीसारग्रहण्यादयस्तत्प्रदाः। प्रायःस्थाने 'प्राज्य' इति पाठान्तरे स एवार्थः, प्रायःप्राज्यशब्दयोः प्रचुरार्थत्वात्। वसाभं च सकफं च प्राज्यं च पुरीषं येषां ते

* 'श्लैष्मिकान्याह–श्लेष्मोल्बणा इत्यादि। मन्दरुजः स्वल्पपीडाः। सिताः शुक्लवर्णाः। उत्सन्ना इत्यत्र उच्छूना इति पाठे श्वयथुमन्तः। स्थिरा निश्चलाः। पिच्छिला अविशदाः। स्तिमिता मन्दाः। बस्तिः मूत्रकोष्ठः। उपद्रवानाह–सकासेत्यादि। हृल्लासः उपस्थितवमनत्वमिव, सप्रवाहिकाः श्लैष्मिकप्रवाहिकायुक्ताः। पाण्डुस्निग्धत्वगादयः त्वङ्नखनयनवदनानि यत्र पुरुषाणां भवन्ति' (आ० द०)॥ १९–२३॥

१ 'दूरपाल्लवगाहिनः' इति पाठान्तरम्।

तथा । न स्रवन्ति 'क्लेदरक्तादिक' इति शेष । न भिद्यन्ते गाढविङ्प्रपीडिता अपि न विदीर्यन्त इति ॥ १९–२३ ॥

**सर्वैः सर्वात्मकान्याहुर्लक्षणैः सहजानि च ।**

सन्निपातार्शस सहजार्शसश्च लक्षणमाह—सर्वैरित्यादि ।–सर्ववातजाद्यर्शोभवैर्लक्षणै, सर्वात्मकानि त्रिदोषजानि, तथा तैरेव लक्षणै सहजान्यप्याहु, तेषामपि त्रिदोषजत्वात् ॥—

*रक्तोल्वणा गुदेकीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः ॥ २४ ॥
वटप्ररोहसदृशा गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः ।
तेऽत्यर्थं दुष्टमुष्णं च गाढविङ्प्रपीडिताः ॥ २५ ॥
स्रवन्ति सहसा रक्तं तस्य चातिप्रवृत्तितः ।
भेकाभः पीड्यते दुःखैः शोणितक्षयसंभवैः ॥ २६ ॥
हीनवर्णबलोत्साहो हतौजाः कलुषेन्द्रियः ।
विट् श्यावं कठिनं रूक्षमधोवायुर्न वर्तते ॥ २७ ॥

रक्तार्शोलक्षणमाह—रक्तोल्वणा इत्यादि । गुदेकीला कीलवत् कील अर्शांसि, "हलदन्तात् सप्तम्या संज्ञायाम्"—( पा अ ६ पा ३ सू ९ ) इत्यलुक्समास । पित्ताकृतिसमन्विता पैत्तिकार्शोलक्षणयुक्ता । विद्रुमसन्निभा प्रवालमणिवल्लोहिता इत्यर्थं । ते गाढविङ्प्रपीडिता कठिनपुरीषपीडिता, दुष्ट आविल, उष्ण च रक्त स्रवन्ति । तस्येति रक्तस्य, अतिप्रवृत्तितोऽतिक्षयात्, भेकाभ प्राप्तेऽपवर्णाभ्याम पीतच्छवि, 'पुरुष' इति शेष । दु खै रोगै । शोणितक्षयसंभवैरिति त्वक्पारुष्याम्लशीतप्रार्थनाशिराशैथिल्यै सुश्रुतोक्तै ( सु सू स्था अ १५ ) । बल स्थौल्य, उत्साहो हर्ष । हतौजा हतशक्ति । कलुषेन्द्रिय आविलचक्षु, व्याकुलसर्वेन्द्रियो वा । विट् श्यावमिति विट्शब्दो नपुंसकोऽप्यस्ति, एतन्निर्देशादेव । काश्मीरास्तु चरके,—"विट् श्यावा कठिना रूक्षा"—इत्येव पठन्ति । अधोवायुर्न वर्तते गुदेन प्रतिलोमगत्वात् ॥ २४–२७ ॥

†तनु चारुणवर्णं च फेनिलं चासृगर्शसाम् ।
कटयूरुगुदशूलं च दौर्बल्यं यदि चाधिकम् ॥ २८ ॥
तत्रानुबन्धो वातस्य हेतुर्यदि च रूक्षणम् ।
शिथिलं श्वेतपीतं च विट् स्निग्धं गुरु शीतलम् ॥ २९ ॥
यद्यर्शसां घनं चासृक् तन्तुमत्पाण्डु पिच्छिलम् ।
गुदं सपिच्छं स्तिमितं गुरु स्निग्धं च कारणम् ।
श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयस्तत्र रक्तार्शसां बुधैः ॥ ३० ॥

---

* 'रक्तजान्याह–रक्तोल्वणा इत्यादि । आकृता च गुञ्जा रक्तगुञ्जा, विद्रुमप्रवालमणिस्तद्वल्लोहिता इत्यर्थ । अत्यर्थं अतिशयेन दुष्टम् । सहसा अकस्मात् ।' ( आ० द० ) ॥ २४–२७ ॥

† 'रक्तोल्बणानामर्शसामनुबन्धपरीक्षा मर्थ'—तनु अल्प, कट्यादिषु शूल, अधिक च दौर्बल्य, तत्र रक्तार्शसि वातानुबन्धो ज्ञेय । यदि च रूक्षं रूक्षद्रव्यादि हेतुकारणम् । श्लेष्मानुबन्धमाह—रक्तोल्बणानामर्शसां यदि शिथिल श्वेतपीतं च विट्

इदानीं तस्यैव रक्तार्शसो निदानस्य रक्तस्य वातादिभेदेन लक्षणमाह—तन्नित्यादि। तत्रानुबन्धो वातस्येति वातादिदुष्टस्यैव रक्तस्यारम्भकत्वात्तु केवलस्य, दोषत्वाभावात्। शिथिलमित्यादिना कफानुबन्धस्य। ननु, पित्तानुबन्धः कुतो नोक्त इति? उच्यते, रक्तपित्तयोः प्रायः समानलिङ्गत्वात्। उक्तं च पूर्वं 'रक्तोल्बणा गुदे कीलाः पित्ताकृतिसमन्विताः'—इति ॥ २८–३० ॥

*विष्टम्भोऽन्नस्य दौर्बल्यं कुक्षेराटोप एव च।
कार्श्यमुद्गारबाहुल्यं सक्थिसादोऽल्पविट्कता ॥ ३१ ॥
ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्त्तेराशङ्का चोदरस्य च।
पूर्वरूपाणि निर्दिष्टान्यर्शसामभिवृद्धये ॥ ३२ ॥

पूर्वरूपमाह—विष्टम्भ इत्यादि। विष्टम्भोऽन्नस्येति विष्टम्भ्यान्नस्य जीर्णत्वागमनं, आहारो विष्टब्ध आमाशय एवावतिष्ठते, वातवैगुण्यात्। दौर्बल्यं हीनशक्तिता। 'विष्टम्भोऽन्नस्य' इति पाठान्तरे विष्टम्भो मलस्य, अन्नस्य दौर्बल्यम्। यद्यपि निदानानन्तरं पूर्वरूपं वक्तव्यं भवति, तथाऽपि निदानलक्षणानन्तरमत्र पूर्वरूपं; निदानलिङ्गयोश्चिकित्सायामुपयोगितमत्वप्रतिपादनार्थं तयोः पूर्वमभिधानं; अथवाऽवश्यवक्तव्यानां कामचारादभिधानमिति। एवमन्यत्रापि व्यतिक्रमे द्रष्टव्यम्। कुक्षेराटोपो गुडगुडाशब्द इति चक्रः, तनतनीति गुणाकरः; रुजापूर्वकः क्षोभ इति गदाधरः, पुरीषवृद्धिलक्षणे च आटोपमाध्मानमिति विवृतवान्; एतच्च न, सर्वत्र गुल्मपूर्वरूपे आटोपाध्मानयोरुभयोरपि पाठात्। उद्गारबाहुल्यमधोनिरुद्धस्य वायोरूर्ध्वगमनात्। सक्थिसादो जङ्घावसादः। ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तेः ग्रहणीदोषयुक्तपाण्डुरोगस्य उदरस्य चाशङ्का, तेषां लक्षणदर्शनात्। 'ग्रहणीदोषपाण्ड्वर्तिः' इति पाठान्तरे ग्रहणीदोषस्य पाण्डोः पाण्डुरोगस्य चार्तिः पीडा स्यात्। अभिवृद्धये उत्पत्त्यर्थमिति ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

†पञ्चात्मा मारुतः पित्तं कफो गुदवलित्रयम्।
सर्वं एव प्रकुप्यन्ति गुदजानां समुद्भवे ॥ ३३ ॥
तस्मादर्शांसि दुःखानि बहुव्याधिकराणि च।
सर्वदेहोपतापीनि प्रायः कृच्छ्रतमानि च ॥ ३४ ॥

---

प्रवर्तते, यदि च स्निग्धं गुरु शीतलं तन्तुमत्पाण्डु पिच्छिलं चासृक्प्रवर्तते, तन्तुमत्तन्तुप्रकारं, गुदमपि पिच्छिलमार्द्रं, स्तिमितं स्थिरं च भवति, तस्मिन् रक्तार्शसि श्लेष्मानुबन्धो विज्ञेयः। गुरु स्निग्धं च तत्र कारणं हेतुः। इति' ( मा० द० ) ॥ २८–३० ॥

* 'विष्टम्भोऽन्नस्येत्यादि पुरीषवृद्धिस्थाने आटोपः आध्मानमिति माधवः। अल्पविट्कता अल्पपुरीषत्वम्।' ( मा० द० ) ॥ ३१ ॥ ३२ ॥

† 'पञ्चात्मेत्यादि। गुदजानां समुद्भवे संभवे एते सर्वं एवोक्तस्वरूपा वातादयः प्रकुप्यन्ति। तेषां स्थानानि—"हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः। उदानः कण्ठदेशे च व्यानः सर्वशरीरगः"—इति। एवं पञ्चात्मा वायुः कथ्यते। "योऽनिलो वक्त्रसंचारी स प्राणो नाम देहधृक्। सोऽन्नं प्रवेशयत्यन्तः प्राणांश्चैवावलम्बते। कुपितः

ननु, गुददेशदुष्ट्या गुदजस्योत्पादात्कथं सर्वदेहे रूक्षत्वकृष्णत्वादिरूपा दुष्टिरित्यत आह—पञ्चात्मेत्यादि । पञ्चात्मा पञ्चस्वरूपः, प्राणापानसमानोदानव्यानभेदात्, एवं लिङ्गविपरिणामात् पञ्चात्मकत्वं पित्तेऽपि योज्यं, पित्तं ह्यालोचकरञ्जकसाधकपाचकभ्राजकभेदाद्भिन्नं, एवं कफोऽपि पञ्चात्मा, हृदयामाशयजिह्वाशिरःसन्धिषु क्रमेणावलम्बकक्लेदकबोधकतर्पकश्लेष्मकभेदात् । यदाह गौतमः, "श्लेष्मा पञ्चविधोरःस्थः श्लेष्मकादिस्वकर्मणा । कफधाम्नां च सर्वेषां यत् करोत्यवलम्बनम् ॥ अतोऽवलम्बकः, श्लेष्मा यस्त्वामाशयसंस्थितः । क्लेदकः सोऽन्नसङ्घातक्लेदनात्, रसबोधनात् ॥ बोधको रसनास्थस्तु, शिरःस्थोऽक्षतर्पणात् । तर्पकः, श्लेष्मकः सम्यक् श्लेषणात्सन्धिषु

~~~

कुरुते चापि हिक्काश्वासादिकान् गदान् ॥ उदानो नाम यस्तूर्ध्वमुपैति पवनोत्तमः । तेन भाषितगीतादिविशेषश्चाभिवर्तते । ऊर्ध्वजत्रुगतान् रोगान् करोति कुपितश्च सः ॥ आमपक्वाशयचरः समानोऽग्निसहायवान् । अन्नं पचति तज्जांश्च विकारान् प्रच्यवनक्ति सः । गुल्माग्निसादातीसारप्रभृतींश्च करोति सः ॥ पक्वाधानालयोऽपानः काले कर्षति चाप्ययम् । वातमूत्रपुरीषाणि शुक्रगर्भार्तवानि च । क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् घोरान् बस्तिगुदाश्रयान् ॥ सर्वदेहचरो व्यानो रससंवहनोद्यतः । स्वेदासृक्स्रावणश्चापि पञ्चधा चेष्टयत्यपि ॥ क्रुद्धश्च कुरुते रोगान् प्रायशः सर्वदेहगान् । युगपत् कुपितास्त्वमी देहं भिन्द्युरसंशयम्'—इति पञ्चात्मा वायुः । 'रजोगुणमयः सूक्ष्मः शीतो रूक्षो लघुश्चलः'—इति । एवं पञ्चात्मकत्वं पित्ते योज्यं, आलोचकरञ्जकसाधकपाचकभ्राजकभेदात्, "पाचकं भ्राजकं चैव रञ्जकालोचके तथा । साधकं चेति पञ्चैव पित्तनामान्यनुक्रमात् ॥ स्वाशये पाचकं पित्तमग्निरूपं तिलोन्मितम् । भ्राजकं भ्राजते यत्तु लेपाभ्यङ्गादि पाचकम् ॥ रञ्जकं तु यकृत्प्लीह्नोस्तद्रसं शोणितं नयेत् । आलोचकं स्थितं नेत्रे रूपदर्शनकारि तत् ॥ साधकं हृदये तिष्ठेन्मेधाप्रभाकरं च तत् । पित्तमुष्णं द्रवं पीतं नीलं सत्त्वगुणोत्तरम् ॥ कटुतिक्तरसं चैव विदग्धं चाम्लतां व्रजेत्"—इति । तेषां स्थानानि आलोचकं नेत्रयोः, रञ्जकं यकृत्प्लीह्नोः, साधकं हृदि, पाचकं पक्वामाशययोर्मध्ये, भ्राजकं त्वचि । एवं कफोऽपि पञ्चात्मा, "उरः कण्ठः शिरः सन्धिः पर्वाण्यामाशयो रसः । मेदो घ्राणं च जिह्वा च कफस्थानमुरो भृशम्"—इति । एवं दोषत्रयाणां पञ्चात्मकत्वं सिद्धम् । पञ्चात्मानो दोषास्त्रयः गुदवलित्रयं च गुदजानां सम्भवे सर्व एव प्रकुप्यन्ति, अन्ये तु गुदवलित्रय इति पठन्ति व्याख्यानयन्ति च—सर्वे दोषा गुदवलित्रये कुप्यन्ति । तन्नातियुक्तं, प्राणोदानयोस्तत्रासन्निधानात् । अन्ये व्याख्यानयन्ति—गुदवलित्रये गुदजानां सम्भवे उत्पत्तौ सत्यां सर्व एव दोषाः प्रकुप्यन्तीति । तस्मादर्शांसि दुःखप्रदानि अत एव सर्वशरीरतापीनि । प्रायः कृच्छ्रतमानीति प्रायोग्रहणादसाध्यानि । सुश्रुतस्तु—"क्षता स्थूलवत्यो येषां दुर्नामभिरुपद्रुताः । तानिस्तु प्रहितो वायुरपानः सन्निवर्तते ॥ ततो व्यानेन संगम्य ज्योतिर्गृह्णाति देहिनाम्'—इति ( आ० द० ) ॥ २३-२४ ॥

---

१ 'गुदजः स्यात्, गुदस्योपादानात्कथ'—इति पाठान्तरम् । २ 'हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः ॥ उदानः कण्ठदेशे स्याद्व्यानः सर्वशरीरगः ॥' ३ आलोचकं नेत्रयोः, रञ्जकं यकृत्प्लीह्नोः, साधकं हृदि, पाचकं पक्वामाशययोर्मध्ये, भ्राजकं त्वचि । ४ 'व्यानेनापि च संगम्य' इति पाठान्तरम् ।
~~~

स्थित."-इति । गुदवलित्रयस्य च प्रकोपो विह्वलत्वं, प्रवाहणादिस्वकार्याकर्तृत्वं च । गुदवलित्रये इति पाठान्तरं न युक्तं, तत्र प्राणोदानयो. सन्निधानस्याप्यभावात्, वलित्रुटेरप्राप्तेश्च । सर्व एवेति उक्तमारुतादय एवेति । बहुव्याधिकराणीति जठराग्निमान्द्याद्युपद्रवकराणि । प्रायः कृच्छ्रतमानीति प्रायोग्रहणादसाध्यानि सुखसाध्यान्यपि ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

*बाह्यायां तु वलौ जातान्येकदोषोल्बणानि च ।
अर्शांसि सुखसाध्यानि नचिरोत्पतितानि च ॥ ३५ ॥
द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वलौ यान्याश्रितानि च ।
कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहुः परिसंवत्सराणि च ॥ ३६ ॥
सहजानि त्रिदोषाणि यानि चाभ्यन्तरां वलिम् ।
जायन्तेऽर्शांसि संश्रित्य तान्यसाध्यानि निर्दिशेत् ॥ ३७ ॥

उक्तवाताद्यर्शसां साध्यत्वादिकमाह—बाह्यायामित्यादि । नचिरोत्पतितानीति अनतिक्रान्तसंवत्सराणि । परिसंवत्सराणीति परिगतोऽतिक्रान्त. संवत्सरो यैस्तानि तथा । यानि तु बाह्यवलिजातानि द्विदोषोल्बणानि तानि कृच्छ्राणि, त्रिदोषजानि याप्यानीत्युक्तं, एवं द्वितीयायामेकदोषोल्बणानि कृच्छ्राणि, द्विदोषोल्बणानि याप्यानि, त्रिदोषोल्बणान्यसाध्यानि, एवं तृतीयायामेकदोषोल्बणानि याप्यानि, शेषाण्यसाध्यानि । यथायाप्यं प्रत्याख्येयं वा तद्दोषवलिभेदेऽप्यसाध्यमेव, यदुक्तं चरकेण,-"नासाध्यः साध्यतां याति साध्यो याति त्वसाध्यताम्" ( च नि स्था. अ. ८ )-इति ॥ ३५॥-३७ ॥

†शेषत्वादायुषस्तानि चतुष्पादसमन्विते ।
याप्यन्ते दीप्तकायाग्नेः प्रत्याख्येयान्यतोऽन्यथा ॥ ३८ ॥

---

* 'सुखसाध्यान्याह-बाह्यायामित्यादि । कृच्छ्रसाध्यान्याह-द्वन्द्वजानि द्वितीयायां वली यान्यर्शांसि कृच्छ्रसाध्यानि तान्याहु । कृच्छ्रसाध्यानि याप्यानीत्यर्थ. । असाध्यान्याह-सहजानीत्यादि । यानि सहजानि तान्यसाध्यानि, तथा त्रिदोषजान्युत्तरकालजान्यपि, यान्यभ्यन्तरां वलिं संश्रित्य जायन्त इत्यर्थ ।' ( मा० द० ) ॥ ३५-३७ ॥

† 'असाध्यस्य याप्यप्रत्याख्येयभेदेन द्वैविध्यमाह-शेषत्वादित्यादि । यदायुष. शेषोऽस्ति तदा चतुष्पादसमन्विते तान्यर्शांसि याप्यन्ते 'रोगिण' इति शेष । कीदृशे रोगिणि ? दीप्तकायाग्नौ, पुन. कीदृशे ? चतुष्पादसमन्विते, अतोऽन्यथा विपरीतानि प्रत्याख्येयानि असाध्यानि । पादचतुष्टय यथा-रोगी भिषक् परिचारक औषध च । तत्र रोगी चिर व्याधयुक्तो जितेन्द्रिय , वैद्य शास्त्रे कर्मणि कुशलो निर्लोभ सत्यधर्मपरश्च, परिचारक आप्त कुलीनोऽनलस आतुरच्छन्दानुवर्ती च, औषध नव रसवीर्यादिसंपन्न च । तदुक्त-"वैद्यो व्याध्युपसृष्टश्च भेषज परिचारक । एते पादाश्चिकित्साया कर्मसाधनहेतव ॥ तत्राधिगतशास्त्रार्थो दृष्टकर्मा स्वयंकृती । लघुहस्त शुचि शूरः सज्जोपस्कर-भेषज ॥ प्रत्युत्पन्नमतिर्धीमान् व्यवसायी विशारद । सत्यधर्मपरो यश्च स भिषक्पाद उच्यते ॥ आयुष्मान् सत्ववान् साध्यो द्रव्यवानात्मवानपि । आस्तिको वैद्यवाक्यस्थो व्याधित पाद उच्यते ॥ प्रशस्तदेशसंभूतं प्रशस्तेऽहनि चोद्धृतम् । युक्तमात्रं मनस्कान्तं गन्ध-

असाध्यो हि द्विविधो याप्यप्रत्याख्येयभेदात्, तत्र यद्यायुःशेषोऽस्ति चतुष्पादसंपत्तिश्च तदा याप्यत्वमन्यथा प्रत्याख्येयत्वमित्याह—शेषत्वादित्यादि । चतुष्पादसमन्विते 'अर्शोरोगिणि' इति शेषः । समन्वित इति भावे क्तः, तेन चतुष्पादसमन्वये सतीति चक्रः ॥ ३८ ॥

*हस्ते पादे मुखे नाभ्यां गुदे वृषणयोस्तथा ।
शोथो हृत्पार्श्वशूलं च यस्यासाध्योऽर्शसो हि सः ॥ ३९ ॥
हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्छर्दिरङ्गस्य रुग्ज्वरः ।
तृष्णा गुदस्य पाकश्च निहन्युर्गुदजातुरम् ॥ ४० ॥
तृष्णारोचकशूलार्तमतिप्रस्रुतशोणितम् ।
शोथातिसारसंयुक्तमर्शांसि क्षपयन्ति हि ॥ ४१ ॥

उपद्रवादसाध्यत्वमाह—हस्त इत्यादि ।–हस्तपादादिशोथो मिलितोऽसाध्यलक्षणम् । अत्र हृत्पार्श्वशूलसंमोहादि व्यस्तं समस्तं वा ॥ ३९–४१ ॥

†मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वं, नाभिजानि च ।
गण्डूपदास्यरूपाणि पिच्छिलानि मृदूनि च ॥ ४२ ॥

अथ मेढ्रादीनां स्वरूपमाह—मेढ्रादिष्वित्यादि । मेढ्रादिष्वपि वक्ष्यन्ते यथास्वमित्यन्तेन छेदः । तेन नासार्श इत्यादिव्यपदेशः । गण्डूपदास्यरूपाणि किंशुलकमुखसदृशानि ॥ ४२ ॥

‡व्यानो गृहीत्वा श्लेष्माणं करोत्यर्शस्त्वचो बहिः ।
कीलोपमं स्थिरखरं चर्मकीलं तु तद्विदुः ॥ ४३ ॥

वर्णरसान्वितम् ॥ दोषघ्नमग्लानिकरमविकारि विपर्यये । समीक्ष्य काले दत्तं च भेषजं पाद उच्यते ॥ स्निग्धोऽजुगुप्सुर्बलवान् युक्तो व्याधितरक्षणे । वैद्यवाक्यकृदश्रान्तः पादः परिचरः स्मृतः"–इति । यथा चतुष्पादसंपत्तिः । सा चायुषः शेषत्वादवधे' ( आ० द० ) ॥ ३८ ॥

* 'अथोपद्रवादसाध्यत्वमाह–हस्त इत्यादि । यस्य हस्तपादादिषु श्वयथुः स्यात् हृत्पार्श्वशूलं च स अर्शसोऽर्शोरोगी असाध्यः । असाध्यस्य लक्षणमाह–हृदित्यादि । हृत्पार्श्वशूलं संमोहश्च; तथा हृत्पार्श्वशूलादि समस्तं व्यस्तं च, अङ्गस्य रुक् पीडा, गुदमुष्कयोः पाकश्च, गुदजानि अर्शांसि, तं नरं घ्नन्तीत्यर्थः । रक्तार्शसोऽसाध्यत्वमाह–तृष्णेत्यादि । अतिप्रस्रुतशोणितं तृष्णारोचकाद्युपद्रवयुक्तं पुरुषमर्शांसि क्षपयन्ति नाशयन्ति, हि पादपूरणे' ( आ० द० ) ॥ ३९–४१ ॥

† 'स्थानान्तरेष्वन्यान्यप्यर्शांस्याह–मेढ्रादिष्वित्यादि । मांसाङ्कुरत्वादेषामर्शस्त्वेन व्यपदेशः, सर्षपादिस्नेहेषु तैलव्यपदेशवत् । मेढ्रः शेफः आदिशब्दाच्चक्षुर्नासादीनि । यथास्वं यथास्थानम् । नाभिजानि तु गण्डूपदास्यरूपाणि किंशुलमुखसदृशानि आकृत्येत्यर्थः । तानि पिच्छिलानि मृदूनि च भवन्ति' ( आ० द० ) ॥ ४२ ॥

‡ 'व्यानो वायुः, कफं गृहीत्वा सगृह्य, त्वचो बहिः कीलसदृशमर्शः कुर्यात्, स्थिरं निश्चलं, स चर्मकीलं प्राहुः । त्वचो बहिरिति गुदौष्ठं परित्यज्येत्यर्थः, तत्र त्वगंशस्यैव संभवत्वात्' ( आ० द० ) ॥ ४३ ॥

चर्मकीलसंप्राप्तिमाह—व्यान इत्यादि । व्यानो वायुः, एतच्च गुदोष्ठदेश एव नान्यत्रेति कार्तिककुण्डादयः ॥ ४३ ॥

*वातेन तोदपारुष्यं पित्तादसितवक्त्रता ।
श्लेष्मणा स्निग्धता चास्य ग्रथितत्वं सवर्णता ॥ ४४ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽर्शोनिदानं समाप्तम् ॥ ५ ॥

तस्यैव वातादिभेदेन लक्षणमाह—वातेनेत्यादि । सवर्णता गात्रसवर्णता ॥४४॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामर्शोनिदानं समाप्तम् ॥ ५ ॥

---

# अथाग्निमान्द्याजीर्णविसूचिकालसक-विलम्बिकानिदानम् ।

†मन्दस्तीक्ष्णोऽथ विषमः समश्चेति चतुर्विधः ।
कफपित्तानिलाधिक्यात्तत्साम्याज्जाठरोऽनलः ॥ १ ॥

अग्नेः कार्यत्वादग्निमान्द्यादीनां तान्याह—मन्द इत्यादि । मन्दस्य दुर्जयत्वात्प्रागभिधानम् । कफपित्तानिलाधिक्यादिति यथाक्रमं मन्दादिषु योज्यम् । तत्साम्यादिति तेषां कफादीनां साम्यात् । समोऽविकृतः, धातुसाम्यहेतुरित्यर्थः । एतस्याविकारस्यापि विकारप्रस्तावेऽभिधानं प्रकृतिज्ञानानन्तरीयकं विकृतिज्ञानमिति बोधनार्थम् । जाठर इति धात्वग्निभूताग्निव्यवच्छेदार्थम् ॥ १ ॥

‡विषमो वातजान् रोगान् तीक्ष्णः पित्तनिमित्तजान् ।
करोत्यग्निस्तथा मन्दो विकारान् कफसंभवान् ॥ २ ॥

---

* 'तस्यैव वातादिलक्षणमाह—वातेनेत्यादि । वातेन तोदः पीडाविशेषः, पारुष्यं परुषता, पित्तात् असितं किंचित्कृष्णं वक्त्रं, श्लेष्मणा स्निग्धता, ग्रथितत्वं, सवर्णता गात्रसमानवर्णता । दोषाः प्रकुपिता मेदोमांसशोणिते प्रदूष्य कण्डूं कुर्वन्ति, ततः कण्डूयतां क्षतम् । "तस्मिन् क्षते प्ररोहाः स्युर्मांसजा रुधिरस्रवाः । विनाशयन्ति शेफः ते घ्नन्ति पुंस्त्वं च सत्वरम्"—इति । शेफो मेढ्रं, पुंस्त्वं शुक्रम् । "तथा योनौ च ते दुष्टा गण्डूपदमुखाकृतीन् । दुर्गन्धान् कुमाराश्च पिच्छिलान् जनयन्ति हि"—इति । मांसाङ्कुरानिति शेषः । चकाराद्योनेरार्तवं च घ्नन्ति । "तथैवोर्ध्वगतैर्दोषैः कर्णजार्शस्तु जायते । बाधिर्यं शूलमत्युग्रं सततं वर्णपूतिता ॥ नेत्रेषु जलस्रावो वेदना चाल्पदर्शनम् । अक्ष्णां जायते वर्त्मावरोधोऽर्शस्सु सततम् ॥ घ्राणजेषु प्रतिश्याय कृच्छ्रोच्छ्वास शिरोव्यथा । क्षवथुः पूतिवक्त्रं च वाक्यं स्यादनुनासिकम् ॥ मुखार्शःसु च कण्ठौष्ठतालुमध्येषु जन्मसु । स्यादि गद्गदवाक्यत्वं रसाज्ञानं मुखामयाः"—इति' ( आ० द० ) ॥ ४४ ॥

† 'अर्शोऽन्योऽग्निमान्द्यस्य संभवस्ततोऽर्शोनन्तरमग्निमान्द्यादिकान् रोगानाह—मन्द इत्यादि । अनलो वह्निश्चतुर्विधो भवति—मन्दः, तीक्ष्णो, विषमः समश्चेति ।' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

‡ 'तेषां स्वरूपमाह—विषम इत्यादि । तेषां लक्षणमाह—समेनेत्यादि । मन्दाग्नेः मन्दवेग

समा समाग्नेरशिता मात्रा सम्यग्विपच्यते ।
स्वल्पाऽपि नैव मन्दाग्नेर्विषमाग्नेस्तु देहिनः ॥ ३ ॥
कदाचित्पच्यते सम्यक्कदाचिन्न विपच्यते ।
मात्राऽतिमात्राऽप्यशिता सुखं यस्य विपच्यते ।
तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यात्समाग्निः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ४ ॥

प्रतिलोमतन्त्रयुक्त्या तेषां रूपमाह—विषम इत्यादि । वातजान् रोगानिति वातनानात्मजानामशीतेरन्यतमात्, सामान्यजांश्च ज्वरातीसारादीन्, एवं पित्तनानात्मजानां मोषचोषादीनां चत्वारिंशतोऽन्यतमात्, एवं कफनानात्मजानां विंशतेरालस्यादीनामन्यतमात् । एते च विकाराश्चरके महारोगाध्याये (च. सू. स्था. अ. २०) एव द्रष्टव्याः । समेत्यादि ।—समा उचिता, मात्रा आहारस्य, सम्यग्यस्य विपच्यते स समाग्निः । तीक्ष्णाग्निरिति तं विद्यादिति छेदः । मात्राऽतिमात्रेत्युपलक्षणं, तेनाजीर्णगुरुभोजनादिकमपि लक्षणीयम् । यदुक्तमन्यत्र,—"अतिमात्रमजीर्णेऽपि गुरु चान्नमथाश्नतः । दिवाऽपि स्वपतो यस्य पच्यते सोऽग्निरुत्तमः"—इति । तीक्ष्णग्रहणेन भस्मकस्यावरोधः, अत्यन्ततीक्ष्णाग्निरेव भस्मक इत्युच्यते । यदुक्तं चरके, "नरे क्षीणकफे पित्तं कुपितं मारुतानुगम् । स्वोष्मणा पावकस्थाने बलमग्नेः प्रयच्छति ॥ तदा लब्धबलो देहं विरुजेत् सानिलोऽनलः । अभिभूय पचत्यन्नं तैक्ष्ण्यादाशु मुहुर्मुहुः ॥ पक्त्वाऽन्नं स ततो धातून् शोणितादीन् पचत्यपि । ततो दौर्बल्यमातङ्कान् मृत्युं चोपानयेन्नरम् ॥ भुक्तेऽन्ने लभते शान्तिं जीर्णमात्रे प्रताम्यति । तृट्कासदाहमूर्च्छाः स्युर्व्याधयोऽत्यग्निसम्भवाः ॥ (च. चि. स्था. अ. १५)"—इति ॥ २-४ ॥

*आमं विदग्धं विष्टब्धं कफपित्तानिलैस्त्रिभिः ।
अजीर्णं केचिदिच्छन्ति चतुर्थं रसशेषतः ॥ ५ ॥
अजीर्णं पञ्चमं केचिन्निर्दोषं दिनपाकि च ।
वदन्ति षष्ठं चाजीर्णं प्राकृतं प्रतिवासरम् ॥ ६ ॥

अग्निमान्द्याजीर्णयोः परस्परकारणत्वादजीर्णान्याह—आममित्यादि । त्रिभिरिति कफादिभिरेकैकशो यथासङ्ख्येन । रसशेषत इति रसाय शेषो रसशेषः, प्रकृतिविकृतिभावे चतुर्थी, यथा—यूपाय दारु यूपदारु, अथवा रसशब्देन रसवानाहारोऽभिप्रेतो लक्षणया, तेन रसशब्देन रसवानाहारोऽभिधीयते, तस्य शेषोऽपरि-

भुक्तस्य स्वल्पाऽपि मात्रा अशिता सम्यङ् नैव विपच्यते । विषमाग्नेस्तु भुक्तस्य कदाचित्सम्यक् पाकं गच्छति कदाचिन्न गच्छति, वायोर्विषमगतित्वात् । तीक्ष्णाग्निरिति [illegible] । तेषु मध्ये समाग्निरुत्तम' (आ० द०) ॥ २-४ ॥

* 'आहारस्यैव अपक्व अवशिष्टो रसो रसशेषस्ततः । मतान्तरमाह—अजीर्णमित्यादि ।' (आ० द०) ॥ ५ ॥ ६ ॥

---

१ ये वातादिभिर्दोषैः शरीरैकदेशेऽन्यत्र ते नानात्मजाः ।

पतिलक्षणो रसशेष इति जेज्जट । ननु, यद्येव तदा आमविदग्धविष्टब्धानामन्यतम रूपस्यावश्यभावित्वान्न तेभ्यो भेद, किंच तल्लिङ्गैरम्लोद्गारादिभिर्भवितव्य, तथाच सत्युद्गारशुद्धे रसशेषाजीर्णलक्षणस्यानुदयप्रसङ्ग । उक्त हि सुश्रुते,—"उद्गारशुद्धावपि भक्तकाङ्क्षा न जायते हृद्गुरुता च यस्य । रसावशेषेण तु सप्रसेक चतुर्थमेतत्प्रवदन्त्यजीर्णम्"–इति (सु सू स्था अ ४६)। आरोग्यमञ्जर्यां नागार्जुनोऽप्याह,—"उद्गारेऽपि विशुद्धतामुपगते काङ्क्षा न भक्तादिषु स्निग्धत्व वदनस्य सन्धिषु रुजा कृत्वा शिरोगौरवम् । मन्दाजीर्णरसे तु लक्षणमिद तत्रातिवृद्धे पुनर्हृल्लासज्वरमूर्छनादि च भवेत्सर्वामयक्षोभणम्"–इति । नैव, अवश्यभाविविदग्धादिरूपस्याप्याहारशेषस्यात्यल्पत्वेन न तदनुरञ्जितोद्गारोदयप्रसङ्ग, अकालबुभुक्षायामिव । यदाह सुश्रुत,–"स्वल्प यदा .दोषविबद्धमाम लीन न तेज पथमावृणोति । भवत्यजीर्णेऽपि तदा बुभुक्षा सा मन्दबुद्धिं विषवन्निहन्ति" (सु सू स्था अ ४६)–इति । तन्त्रान्तरेऽप्याहारापाकजरसशेषलक्षणमुक्त–"आम विदग्ध विष्टब्ध रसशेषमथापि च । चतुर्विधमजीर्णं स्यादाहारापरिपाकत"–इति । गदाधरस्त्वाह—रसे शेषो रसशेष, आहारजनिते रसे शेष आहारावयवोऽनुप्रविष्टोऽलक्ष्यमाण क्षीरे नीरमिव रसशेष । ननु, आमाजीर्णादिभ्यो रसशेषस्य को भेद ? उच्यते, आमादित्रयमन्नज, रसशेषस्त्वाहाररसज, वातिकादिव्यपदेशश्चात्र न कृत, अल्पत्वाद्वातादिलिङ्गाना, हेतुलक्षणचिकित्साभेदाच्चास्य भेद इति । अजीर्णमिति तद्विरोधे नञ्, जीर्णं पक्क तद्विरुद्धमजीर्ण, यथा—असितम् । सर्वमजीर्णं त्रिदोषज, एकदोषव्यपदेशस्तूत्कटैकदोषलिङ्गत्वेनोक्त इति व्याख्यानयन्ति, यतस्त्रैदोषिकमेवाजीर्णकारणमुक्त, 'अत्यम्बुपानात्' इत्यादि । अजीर्णादपि दोषत्रयकोपो भवति । यदुक्त सुश्रुते–"अजीर्णात्पवनादीना विभ्रमो बलवान् भवेत्" (सु सू. स्था अ ४६)–इति । अजीर्णं पञ्चम केचिदित्यादि । निर्दोषमाध्मानादिदुष्टेरकारकम् । दिनपाकि चेत्यहोरात्रेणाहार पच्यत इत्युत्सर्ग, यत्र तु मात्राकालसात्म्यादिदोषादपरदिने पच्यते तद्दिनपाकि । कालव्यतिक्रमेण पच्यमानमप्याध्मानादिक न करोतीति पूर्वेभ्यो भेद । एतदभिधानस्य तु प्रयोजन पाककालप्रतीक्षण, नैशाजीर्णे भोजननिषेधात् । प्राकृत प्रतिवासरमिति प्राकृतमवैकारिक, प्रतिवासरं प्रतिदिन क्रियमाणम् । अयमभिसन्धि—अद्यैव भुक्तमन्न किं जीर्णमजीर्णं वा ? न तावज्जीर्णं, क्षुत्पिपासामलोत्सर्गादेर्जीर्णलक्षणस्यानुदयात्, तस्मादजीर्णं, तच्चाध्मानादिक न करोतीति पूर्वेभ्यो भिन्नम् । तस्य चाभिधानप्रयोजन पाकार्थं वामपार्श्वशयनाद्याचारसेवा । उक्त हि सुश्रुते,–"भुक्त्वा पादशत गत्वा वामपार्श्वेन सविशेत् । शब्दरूपरसस्पर्शगन्धांश्च मनस प्रियान् ॥ भुक्तवानुपसेवेत तेनान्न साधु तिष्ठति" (सु सू स्था अ. ४६)—इति । न चानाहारस्य निषेध, तस्य शास्त्रेण विहितत्वात् । चरके तु,–"तस्य लिङ्गमजीर्णस्य"–इत्यादिना "घोरमन्नविष च"–इत्यन्तेनान्नविषाख्यमजीर्णं पठित, तच्च पित्तादिसपृष्टरसदोषाजीर्णमेवेति व्याचक्षते, तेन रसशेष एव तस्यान्तर्भाव इति न पृथक् पठितम् ॥ ५ ॥ ६ ॥

१ 'एतदनन्तरं 'परं प्रकृत्याऽविकारित्वमस्य' इति आवश्यकर्शेऽधिक' पाठः ।

*अत्यम्बुपानाद्विषमाशनाच्च संधारणात्स्वप्नविपर्ययाच्च ।
कालेऽपि सात्म्यं लघु चापि भुक्तमन्नं न पाकं भजते नरस्य ॥ ७ ॥
ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन लुब्धेन रुग्दैन्यनिपीडितेन ।
प्रद्वेषयुक्तेन च सेव्यमानमन्नं न सम्यक्परिपाकमेति ॥ ८ ॥
मात्रयाऽप्यभ्यवहृतं पथ्यं चान्नं न जीर्यति ।
चिन्ताशोकभयक्रोधदुःखशय्याप्रजागरैः ॥ ९ ॥

अजीर्णकारणमाह—अत्यम्बुपानादित्यादि । संधारणादिति वेगानाम् । स्वप्नविपर्ययात् दिवास्वप्नादेः । लघु चापीत्यपिशब्देन स्निग्धोष्णादिगुणयुक्तमपि बोध्यम् । केचित् 'ईर्ष्याभयक्रोधपरिप्लुतेन'-इत्यादिश्लोकं पठन्ति, स च मानसदोषाजीर्णविषयो बोद्धव्य इति ॥ ७-९ ॥

† तत्रामे गुरुतोत्क्लेदः शोथो गण्डाक्षिकूटगः ।
उद्गारश्च यथाभुक्तमविदग्धः प्रवर्तते ॥ १० ॥
विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छाः पित्ताच्च विविधा रुजः ।
उद्गारश्च सधूमाम्लः स्वेदो दाहश्च जायते ॥ ११ ॥
विष्टब्धे शूलमाध्मानं विविधा वातवेदनाः ।
मलवाताप्रवृत्तिश्च स्तम्भो मोहोऽङ्गपीडनम् ॥ १२ ॥
रसशेषेऽन्नविद्वेषो हृदयाशुद्धिगौरवे ।

उद्दिष्टानामजीर्णादीनां लक्षणमाह—तत्रेत्यादि । तत्रेति तेषु मध्ये । गण्डः कपोलः, अक्षिकूटश्चक्षुर्गोलकः, तद्गतः शोथो भवति प्रभावात् । उद्गारश्च यथाभुक्तमिति मधुरादिरूपः । अविदग्धोऽनम्लः, द्वितीयपाके ह्याहारस्याम्लता दर्शिता । विदग्ध इत्यादि ।

---

* 'अजीर्णस्य कारणमाह—अत्यम्ब्वित्यादि' । विषमाशनं "बहु स्तोकमकाले वा तज्ज्ञेयं विषमाशनम्—" इति । क्षुत्तृड्वातपुरीषादिवेगानां संधारणं, रात्रिजागरणं दिवास्वापः स्वप्नविपर्ययः । कायिकं कारणमभिधाय मानसं रजस्तमोदोषकारणमाह—ईर्ष्येत्यादि । ईर्ष्या परसंपत्तेरसहिष्णुता, भयं परस्मात्त्रासः, क्रोधः पराभिद्रोहलक्षणः, तैः परिप्लुतेन परिभूतेन, लुब्धेन लोभसहितेन, रुग्दैन्यनिपीडितेन रोगदैन्याभ्यामार्तेन, दैन्यं निर्गतित्वं, प्रद्वेषो मात्सर्यमिति' ( आ० द० ) ॥ ७-९ ॥

† 'आमे अजीर्णे गुरुत्वादिचिह्नं भवति । गुरुता उदराङ्गयोर्गौरवम् । उत्क्लेद उपस्थितवमनायनमिव । अविदग्धोऽनम्लः, एतस्य लक्षणं सुश्रुते उक्तं—"माधुर्यमन्नं गतमामसंज्ञम्—" इति । तदेतत् कफदूषितान्नस्यामावस्थामात्रम् । कफकार्याणि गौरवकण्डूप्रभृतीनि द्रष्टव्यानि । विदग्धलक्षणमाह—विदग्धं किंचित्पक्वमम्लभावगतम् । उक्तं च सुश्रुते—"विदग्धसंज्ञं गतमम्लभावम्—" इति । विष्टब्धलक्षणमाह—विष्टब्ध इत्यादि । आनद्धवातं विष्टब्धं कथ्यते । उक्तं च सुश्रुते—'किंचिद्विपक्वं भृशतोदशूलं विष्टब्धमानद्धविरुद्धवातम्—" इति । तत्र तेषु मध्ये विष्टब्धेऽजीर्णे विविधवातवेदनास्तोदभेदादिरूपाः । 'ग्लानिर्गौरवविष्टम्भभ्रममारुतमूढताः । विबन्धश्चाप्रवृत्तिश्च सामान्याजीर्णलक्षणम्' ( आ० द० ) ॥ १०-१२ ॥—

विविधा वातवेदना तोदभेदादिरूपा । अङ्गपीडनं सामवातवेदनादि । पित्ताच्च विविधा रुज इति ओषचोषादयः । सधूमाम्ल इति धूमोद्गारोऽम्लोद्गारश्च ॥ १०–१२ ॥—

*मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः ।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः ॥ १३ ॥

उपद्रवानाह—मूर्च्छेत्यादि । अतिप्रवृद्धाजीर्णे तु मरणमपि ॥ १३ ॥

†अनात्मवन्तः पशुवद्भुञ्जते येऽप्रमाणतः ।
रोगानीकस्य ते मूलमजीर्णं प्राप्नुवन्ति हि ॥ १४ ॥

उक्ताजीर्णकारणेभ्योऽतिमात्रभोजनस्य विशेषकारणत्वमाह[1]—अनात्मवन्त इत्यादि । अनात्मवन्तो दुष्टमनोबुद्धयः, लोलुपत्वेन तदात्वसुखाकाङ्क्षिण इति । अत एवोक्तं पशुवदिति । रोगानीकस्य रोगसमूहस्य विसूच्यादेः, मूलं कारणम् ॥ १४ ॥

‡अजीर्णमामं विष्टब्धं विदग्धं च यदीरितम् ।
विसूच्यलसकौ तस्माद्भवेच्चापि विलम्बिका ॥ १५ ॥

अजीर्णसंभवत्वाद्विसूच्यादीनामजीर्णानन्तरं विसूच्यादीनाह—अजीर्णमित्यादि । "आमविष्टब्धविदग्धेषु त्रिषु विसूच्यलसकविलम्बिका यथासंख्यं भवन्ति"—इति कार्तिककुण्डः । 'तत्र'—इति बकुलकरः । यथासंख्ये हि विलम्बिका विदग्धात् प्राप्नोति, तां च कफवाताभ्यां पठिष्यति, तस्मात्त्रिविधाजीर्णाद्यथासंभवं विसूच्यादीनामुत्पाद इति युक्तम् । उक्तं हि[2]—"अजीर्णात्पवनादीनां विभ्रमो बलवान् भवेत्"—इति ॥ १५ ॥

§सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् संतिष्ठतेऽनिलः ।
यत्राजीर्णेन सा वैद्यैर्विसूचीति निगद्यते ॥ १६ ॥
न तां परिमिताहारा लभन्ते विदितागमाः ।
मूढास्तामजितात्मानो लभन्तेऽशनलोलुपाः ॥ १७ ॥

---

* 'अजीर्णस्योपद्रवानाह—मूर्च्छेत्यादि । मूर्च्छा चेतनाच्युतिः, प्रलापोऽसंबद्धभाषणं, वमथुः छर्दिः, सदनमङ्गग्लानिः, अन्ये तु सदनमिवाहारानामिति वदन्ति' (आ० द०) ॥१३॥

† 'ये नरा अप्रमाणतः पशुवद्भुञ्जते, तेऽजीर्णं प्राप्नुवन्ति' ( आ० द० ) ॥ १४ ॥

‡ 'अजीर्णसंभवा विसूच्यादय इत्यजीर्णानन्तरं विसूच्यादीनाह—अजीर्णमित्यादि । यदामादिभेदेनाजीर्णमुक्तं तस्मात्त्रिविधाजीर्णाद्विसूच्यलसकौ स्यातां तथा विलम्बिकाऽपि भवेत्; यदत्र चतुर्थस्याजीर्णस्य रसशेषस्योपादानं न कृतं तदपरिणाममात्रत्वेन तस्य विसूच्याद्यारम्भकत्वाभावादेकीयमतत्वेनोक्तत्वाच्च' ( आ० द० ) ॥ १५ ॥

§ 'यस्यां विसूचिकायामनिलः सूचीभिरिव गात्राणि तुदन् सन् तिष्ठते वैद्यादिवैरजीर्णात्सा विसूचीति कथ्यते । नेत्यादि । एवंविधाः पुरुषास्तां विसूचिकां न प्राप्नुवन्ति, लभन्तीति मूढाः भक्ष्याभक्ष्यानभिज्ञाः, पुरुषास्तां भजन्ते[3] । अजितात्मानोऽजितेन्द्रियाः, 'कलुषाशयाः' इत्यन्ये पठन्ति, कलुषो दुष्ट आमाशयो येषां ते कलुषाशयाः; आमाशयदुष्टिश्च दुष्टान्नसंपर्कात्, वातादिकोपाच्च' ( आ० द० ) ॥ १६–१७ ॥

---

१ 'अपि कारणत्वमाह' इति क. । २ 'आर्षं हि' इति क. । ३ 'लभन्ते' इत्यत्र 'भजन्ते' इति पाठाभिप्रायेण ।

विसूच्या निरुक्तिमाह—सूचीभिरित्यादि । 'बाहुल्याद्वायुः सूचीभिरिव तुदन्' इति विसूचिनिरुक्तिः । पाण्डुरोगवत्सूचीभिरिव तोदनं विहायान्येऽपि वेदनाभेदा विविधा भवन्त्येव । यदुक्तं तन्त्रान्तरे—"विविधैर्वेदनाभेदैर्वाय्वादेर्भृशकोपतः । सूचीभिरिव गात्राणि भिनत्तीति विसूचिका"—इति । विदितागमा विदितायुर्वेदाः । मूढास्तज्ज्ञानानभिज्ञाः । अजितात्मानोऽजितेन्द्रियाः । अशनलोलुपाः पशुवदप्रमाणभोजिनः ॥ १६ ॥ १७ ॥

*मूर्च्छाऽतिसारो वमथुः पिपासा शूलो भ्रमोद्वेष्टनजृम्भदाहाः ।
वैवर्ण्यकम्पौ हृदये रुजश्च भवन्ति तस्यां शिरसश्च भेदः ॥ १८ ॥

विसूच्या लक्षणमाह—मूर्च्छेत्यादि । वमथुर्वान्तिः । शिरसश्च भेदः शिरःशूलम् । अत्र वमनातीसारौ मिलितौ लक्षणमिति; सुश्रुते त्वधोगाया आमातीसारेण ग्रहणं, ऊर्ध्वगायाश्च छर्द्याः । चरके तु पठ्यते,—"ऊर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विसूचीं विद्यात्" ( च. वि. स्था. अ. २ )—इति । अत ऊर्ध्वगा विसूची भवति, तथाऽधोगाऽपि, चरके आमातीसारस्यापठितत्वात्; चकारादुभयमार्गगाऽपीति व्याचक्षते, ऊर्ध्वगायाश्चापक्वाहारवमनेन त्रिदोषच्छर्दिभ्यो भेद इति मन्तव्यम् ॥ १८ ॥

†कुक्षिरानह्यतेऽत्यर्थं प्रताम्येत्परिकूजति ।
निरुद्धो मारुतश्चैव कुक्षावुपरि धावति ॥ १९ ॥
वातवर्चोनिरोधश्च यस्यात्यर्थं भवेदपि ।
तस्यालसकमाचष्टे तृष्णोद्गारौ च यस्य तु ॥ २० ॥

अलसकमाह—कुक्षिरित्यादि । आनह्यते आध्मायते, मलविष्टम्भस्य वक्ष्यमाणत्वात् । प्रताम्येत् मुह्यति पुरुषः, परिकूजति आर्तनादं करोति । निरुद्ध इत्यगीर्णभावः अविरुद्धगतिः कुक्षौ वा, तेनोपरि धावति ऊर्ध्वं हृदयकण्ठादिकं गच्छति । अलसक इति दोषस्थिरत्वनिमित्ता संज्ञा । यदुक्तं तन्त्रान्तरे,—"प्रयाति नोर्ध्वं नाधस्तादाहारो न विपच्यते । आमाशयेऽलसीभूतस्तेन सोऽलसकः स्मृतः"—इति ॥ १९ ॥ २० ॥

‡दुष्टं तु भुक्तं कफमारुताभ्यां प्रवर्तते नोर्ध्वमधश्च यस्य ।
विलम्बिकां तां भृशदुश्चिकित्स्यामाचक्षते शास्त्रविदः पुराणाः २१

---

* 'उद्वेष्टनं मोटनं जङ्घादीनां, ताडीति लोके । तस्यां विसूच्याः अत्र वमनातीसारौ मिलितौ लक्षयन्तीति सुश्रुतः । सा च द्विविधा अधोगा ऊर्ध्वगा च । आमातिसारेणाधोगा छर्द्योर्ध्वगा चेति डल्हणः, चरके तु "ऊर्ध्वं चाधश्च प्रवृत्तामदोषां यथोक्तरूपां विद्यात्" इत्युभयगा ।' ( आ० द० ) ॥ १८ ॥

† 'अलसकमिदमाह—कुक्षिरित्यादि । कुक्षिरुदरम् । यस्य पुरुषस्यालसकनामानं रोगमाचष्टे कथयति' ( आ० द० ) ॥ १९ ॥ २० ॥

‡ 'यस्य पुरुषस्य भुक्तमन्नं कफमारुताभ्यां दुष्टं सदूर्ध्वमधश्च न प्रवर्तते, पुराणाः शास्त्रविदस्तां विलम्बिकामाहुः; कृतं बुद्धिमतां प्रकारवाक्यपर्यालोचनानिश्चयैः । दुष्टमित्यत्र जीर्णमिति केचित्पठन्ति । इदमेव विलम्बिका तन्त्रान्तरे दण्डालसक इति नाम्ना पठ्यते ।

विलम्बिकामाह—दुष्टमित्यादि ।-भुक्तमन्नं कफमारुताभ्यां दुष्टमिति संबन्धः । भृशं दुश्चिकित्स्यामत्यर्थं दुश्चिकित्स्यां, असाध्येयां वर्जनीयामित्यर्थः । ननु, अलसकविलम्बिकयोरुभयोरपि वातकफप्रबलयोरूर्ध्वाधोऽप्रवर्तनशीलयोस्तुल्यत्वात् को भेद [1] उच्यते, अलसके तीव्रा शूलादयो भवन्ति, यदुक्तं,—"पीडितं मारुतेनान्नं श्लेष्मणा रुद्धमन्तरा । अलसं क्षोभितं दोषैः शल्यत्वेनैव संस्थितम् ॥ शूलादीन्कुरुते तीव्रांश्छर्द्यतीसारवर्जितान्"—इति ॥ २१ ॥

*यत्रस्थमामं विरुजेत्तमेव देशं विशेषेण विकारजातैः ।
दोषेण येनावततं शरीरं तल्लक्षणैरामसमुद्भवैश्च ॥ २२ ॥

अजीर्णजातान् विसूच्यादीनभिधायाजीर्णजन्यस्यामस्य कार्यान्तरमाह—यत्रस्थमित्यादि ।-आमं कर्तृ, यत्रस्थं तमेव देशं विशेषेण रुजेत्, एतेनान्यदेशेऽपि किंचिद्रुजं करोतीति बोधयति । यत्रेति सर्वनामशब्देन कुपितवातादीनामिवानियतमेव स्थानमामस्येति दर्शितम् । कैः रुजेदित्याह—विकारजातैर्विकारसमूहैः । किंभूतैरित्याह—दोषेण येन स्वकारणकुपितेन वातादिनाऽवततं व्याप्तं शरीरं, तल्लक्षणैः तल्लिङ्गैस्तोददाहगौरवादिभिः, न केवलं तैरामसमुद्भवैश्च विकारजातैरपाकालस्यादिभिरपि । अनेनैव श्लोकेन तन्त्रान्तरोक्तमामवाताख्यं रोगं गृहीतवान् सुश्रुतः तस्य लक्षणस्य समानत्वादित्याहुः ॥ २२ ॥

†यः श्यावदन्तौष्ठनखोऽल्पसंज्ञो वम्यर्दितोऽभ्यन्तरयातनेत्रः ।
क्षामस्वरः सर्वविमुक्तसन्धिर्यायान्नरः सोऽपुनरागमाय ॥ २३ ॥

विसूच्यलसकयोरसाध्यत्वलक्षणमाह—य इत्यादि । विलम्बिकायास्तु स्वरूपेणैवासाध्यत्वमिति जेज्जटः । अल्पसंज्ञो मोहयुक्तः । अभ्यन्तरयातनेत्रः कोटरान्तःप्रविष्टाक्षिगोलकः । सर्वविमुक्तसन्धिः श्लथीभूतसर्वपर्वास्थिसन्धिः । अपुनरागमाय मरणाय ॥ २३ ॥

---

तथाच—"दुष्टं दण्डालसके दोषात्छर्द्यतीसारवर्जिता । कारकाख्यातमरुज्ज्ञादे स्रोतसां संनिरोधकाः ॥ निप्रयोगात्तु सर्वाः दण्डवत्स्तम्भयन्ति च । स दण्डालसकः शीघ्रं नरदेहविनाशकृत्"—इति' (आ० द० ) ॥ २१ ॥

* 'आममसम्यक्परिणतं, तथाच—"अविपक्वमसंयुक्तं दुर्गन्धं बहु पिच्छिलम् । सादनं सर्वगात्राणामाममित्यभिधीयते"—इति । यत् आमं वस्तु, यत्रस्थं वायुप्रेरणाकर्षणस्य (स्य) वैगुण्यसद्भावात् व्यवस्थितं तमेव देशं विशेषेण रुजेत् पीडयेत्, एतावता धातुभूतादीनां मान्द्यत्वेनामसंभवत्वात् शोथव्रणविद्रध्यादिरोगाणां तज्जन्यत्वमुक्तं भवति । यदुक्तं,—"धातूनां सप्त सप्तानां भूतानां पञ्च पावकाः । त्रयोदश भवन्त्येव सह जाठरवह्निना"—इति । यत्र धातुप्रदेशे वह्निर्मन्दो भवति तत्रैवामसंभवात्पिडकाद्युत्पत्तिः स्यात् ।' (आ० द० ) ॥ २२ ॥

† 'यः पुरुषः श्यावदन्तादिलक्षणयुक्तः स्यात्, श्यावशब्दो दन्तादिभिः प्रत्येकं संबध्यते, क्षामस्वरः क्षीणध्वनिः, सर्वविमुक्तसन्धिश्च, स नरोऽपुनरागमाय अपुनरावृत्तये मरणाय

---

१ 'स्तब्धत्वेनैव' इति क

*उद्गारशुद्धिरुत्साहो वेगोत्सर्गो यथोचितः ।
लघुता क्षुत्पिपासा च जीर्णाहारस्य लक्षणम् ॥ २४ ॥
निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता ।
अमी ह्युपद्रवा घोरा विसूच्यां पञ्च दारुणाः ॥ २५ ॥
प्रायेणाहारवैषम्यादजीर्णं जायते नृणाम् ।
तन्मूलो रोगसंघातस्तद्विनाशाद्विनश्यति ॥ २६ ॥
ग्लानिर्गौरवविष्टम्भभ्रममारुतमूढताः ।
विबन्धो वा प्रवृत्तिर्वा सामान्याजीर्णलक्षणम् ॥ २७ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽग्निमान्द्याजीर्णविसूचिकालसक-
विलम्बिकानिदानं समाप्तम् ॥ ६ ॥

अजीर्णप्रतियोगितया जीर्णाहारलक्षणमाह—उद्गारेत्यादि ।–उद्गारशुद्धिर्धूमाम्ला-
दिरहितत्वम् । उत्साहः शरीरमनसोर्बलम् । उत्सर्गो मलमूत्रप्रवृत्तिः, वेगसहित
उत्सर्गो वेगोत्सर्गः । यथोचित उपयुक्ताहारानुरूपः । लघुता देहस्य, विशेषेण
कोष्ठस्येति ॥ २४–२७ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामग्निमान्द्याजीर्णविसूचिकालसक-
विलम्बिकानिदानं समाप्तम् ॥ ६ ॥

---

# अथ क्रिमिनिदानम् ।

†क्रिमयश्च द्विधा प्रोक्ता बाह्याभ्यन्तरभेदतः ।
बहिर्मलकफासृग्विड्जन्मभेदाच्चतुर्विधाः ॥ १ ॥
नामतो विंशतिविधा बाह्यास्तत्र मलोद्भवाः ।

---

[illegible] । अत्रान्ये–निद्रानाशादिभिर्ग्रन्थान्तरे पठन्ति । चरके तु "निद्रानाशोऽरतिः कम्पो मूत्राघातो विसंज्ञता । अमी ह्युपद्रवा घोरा विसूच्याः पञ्च दारुणाः–" इति [illegible] ( आ० द० ) ॥ २१ ॥

* 'जीर्णाहारस्य [illegible]' ( आ० द० ) ॥ २४–२७ ॥

† 'इहैके बाह्याः [illegible] यूकालिक्षादयः, अन्ये आभ्यन्तराः । आभ्यन्तरा [illegible] । [illegible], तथा [illegible], [illegible], [illegible] चतुर्धा । त एव चतुर्विधा नामतो [illegible] [illegible] भवन्ति तत्राह–नामत इत्यादि । नामतो विंशतिविधा विंशति-[illegible] नामत इत्यर्थः । एते च नामविशेषाः [illegible] [illegible] पूर्वाचार्यैः [illegible] । तेषां नामानि पृथक् [illegible], [illegible] [illegible]; [illegible], [illegible], [illegible], महागुदाः, चुरवः, [illegible], [illegible], [illegible], [illegible], [illegible]–[illegible], [illegible]

अजीर्णात् क्रिमिसम्भव इत्यतोऽजीर्णानन्तरं क्रिमिनिदानमाह—क्रिमय इत्यादि। तत्र बाह्यास्त्वगुपलेपकबाह्यमलसम्भवा, आभ्यन्तरा आमाशयादिसम्भवा, ते देशभेदेन द्वैविध्येनोक्ता कारणभेदाच्चतुर्धा भवन्तीत्याह—बहिर्मलेत्यादि। बहिर्मलो गात्रोपलेपी स्वेदादिरुक्त एवं, बहिर्मलादिषु चतुर्षु जन्म बहिर्मलादिजन्म तद्भेदात्। त एव चतुर्विधा नामभेदेन विंशतिविधा भवन्ति, विंशत्यतिरिक्ता धातिसूक्ष्मा ह्यसव सहजाश्चरकेणोक्ता, ते चावैकारिकत्वेन रोगाधिकारे नोच्यन्ते, विंशतिविधास्तु क्रिमयो दोषप्रकोपणद्वारेण ज्वरशूलादीन् जनयन्तीति रोगा उच्यन्ते ॥ १ ॥–

*तिलप्रमाणसंस्थानवर्णाः केशाम्बराश्रयाः ॥ २ ॥
बहुपादाश्च सूक्ष्माश्च यूका लिक्षाश्च नामतः ।
द्विधा ते कोठपिडकाकण्डूगण्डान् प्रकुर्वते ॥ ३ ॥

उक्तान् बाह्यान् विवृणोति—बाह्या इत्यादि। तिलानामिव प्रमाणं परिमाणं संस्थानमाकृतिर्वर्णश्च श्वेत कृष्णो वा येषां यूकादिरूपाणां ते तथा। केशाम्बराश्रया इति अम्बरं वस्त्रम्। बहुपादा इति यूका, सूक्ष्मा इति लिक्षा ॥ २ ॥ ३ ॥

†अजीर्णभोजी मधुराम्लनित्यो द्रवप्रियः पिष्टगुडोपभोक्ता ।
व्यायामवर्जी च दिवाशयानो विरुद्धभुक् संलभते क्रिमींस्तु ॥ ४ ॥

तेषां निदानमाह—अजीर्णेत्यादि।—अजीर्णे भोजनशीलोऽजीर्णभोजी। मधुराम्लनित्य सततमधुराम्लभोजी। विरुद्ध क्षीरमत्स्यादि ॥ ४ ॥

‡माषपिष्टाम्ललवणगुडशाकैः पुरीषजाः ।
मांसमत्स्यगुडक्षीरदधिशुक्तैः कफोद्भवाः ॥ ५ ॥
विरुद्धाजीर्णशाकाद्यैः शोणितोत्था भवन्ति हि ।

क्रिमिविशेषे निदानविशेषमाह—माषेत्यादि ॥ ५ ॥—

---

विप्लुता, रोमद्वीपा, उदुम्बरा, सौरसा, मातर., एव षट्, यशो स्नान रक्तादिसिरा, पुरीषोत्था पञ्च–ककेरुका, मकेरुका, सौसुरादा, सशूला, लेलिहा, पक्वाशय पक्वाशय, एव विंशति' ( आ० द० ) ॥ १ ॥—

* 'तत्र तेषु चतुर्षु, बाह्या बाह्यमलोद्भवा, केशाम्बराश्रया इति–केशा कचा अम्बर वस्त्र च आश्रयो येषाम्। ते के क्रिमयो भवन्तीति ज्ञानाह–बहुपादा इत्यादि। यूका केशविद्धा, बहुपादा बहुचरणा, लिक्षा सूक्ष्मा अमय ' ( आ० द० ) ॥२॥३॥

† 'ना पुरुष क्रिमीन् लभते, कथमूत ? अजीर्णे पिष्ट गोधूमचूर्णकृत पूपादि' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

‡ 'पुरीषजाना निदानमाह–माषेत्यादि। एतै कारणै पुरीषजा जायन्ते, 'पक्वाशय' इति शेष। कफोद्भवनिदानमाह–मांसेत्यादि। शुक्त मधुरस काल तरेणाम्लीभूत। एते आमाशये। शोणितजाना कारणमाह–विरुद्धेत्यादि। शाकमपक्वहरितचणकादिशाकभक्षणम्' ( आ० द० ) ॥ ५ ॥—

---

१ 'पत्र' इति क।

*ज्वरो विवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं भ्रमः ॥ ६ ॥
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातक्रिमिलक्षणम् ।

आभ्यन्तरक्रिमिलक्षणमाह—ज्वर इत्यादि ॥ ६ ॥—

†कफादामाशये जाता वृद्धाः सर्पन्ति सर्वतः ॥ ७ ॥
पृथुब्रध्ननिभाः केचित्केचिद्गण्डूपदोपमाः ।
रूढधान्याङ्कुराकारास्तनुदीर्घास्तथाऽणवः ॥ ८ ॥
श्वेतास्ताम्रावभासाश्च नामतः सप्तधा तु ते ।
अन्त्रादा उदरावेष्टा हृदयादा महागुदाः ॥ ९ ॥
चुरवो दर्भकुसुमाः सुगन्धास्ते च कुर्वते ।
हृल्लासमास्यस्रवणमविपाकमरोचकम् ॥ १० ॥
मूर्च्छाच्छर्दिज्वरानाहकार्श्यक्षवथुपीनसान् ।

कफजानाह—कफादित्यादि । कफनिमित्ताः क्रिमयो य आमाशये जायन्ते, ते च वृद्धाः सन्तः सर्वत ऊर्ध्वमधश्च सर्पन्ति, एवं पुरीषजादिषु द्रष्टव्यम् । ब्रध्नश्चर्मलता, भभीति लोके, स्थूलं ब्रह्मम् । तनवः परिणाहेन, दीर्घा आयामेन, अणवः उभाभ्यामपि स्वल्पाः । ते इति कफजाः । तेषां नामानि विवृणोति—अन्त्रादा इत्यादि । एते च नामविशेषाः केचिदन्वर्थाः केचित्संज्ञया व्यवहारार्थं पूर्वाचार्यैः प्रणीताः; एवं वक्ष्यमाणेष्वपि बोध्यमिति ॥ ७–१० ॥—

‡रक्तवाहिसिरास्थानरक्तजा जन्तवोऽणवः ॥ ११ ॥
अपादा वृत्तताम्राश्च सौक्ष्म्यात्केचिददर्शनाः ।
केशादा रोमविध्वंसा रोमद्वीपा उदुम्बराः ।
षट् ते कुष्ठैककर्माणः सहसौरसमातरः ॥ १२ ॥

---

* 'विवर्णता शरीरे श्यामादिता, शूलमामाशये पक्वाशये च, हृद्रोगो हृदयविकारो द्रवणादि, भ्रमश्चक्रारूढस्येव, भक्तद्वेषो भोजनाविद्वेषः' (आ० द०) ॥ ६ ॥—

† 'कफजानां लक्षणमाह—कफादित्यादि । आमाशये नाभेरूर्ध्वं, आकारेण पृथुब्रध्ननिभा विस्तीर्णचर्मरज्ज्वाकाराः, केचिदपरे गण्डूपदोपमा भूनिम्बाकाराः, केचिद्रूढधान्याङ्कुराकारास्तनवो दीर्घा भवन्ति, रूढं प्ररूढमङ्कुरितमिति यावत् । श्वेता शुभ्राः, ताम्रावभासास्ताम्रवर्णाः, [illegible] । नामतस्तु ते कफजाः सप्तधा [illegible] । ते कुर्वते यान् रोगान् कुर्वते तानाह—हृल्लासमित्यादि । [illegible], आस्यस्रवणं लालास्रावः, आनाह उदरे विबन्धः' (आ० द०) ॥ ७–१० ॥—

‡ 'रक्तजानां लक्षणमाह—रक्तेत्यादि । रक्तस्य वहाः सिराः, रक्तवाहिसिरास्थानं देशो येषां ते तथा । [illegible] अपादाः पादरहिताः, वृत्ता वर्तुलाः, ताम्रास्ताम्रवर्णाः, ते सौक्ष्म्यात् [illegible] केचिददर्शनाः । नामतः षट्—केशादा रोमविध्वंसा रोमद्वीपा उदुम्बराः सहसौरसमातरः, एवं षड् भवन्ति । ते कुष्ठैककर्माणः [illegible] । अथवा कुष्ठेन सहैकं समानं कर्म [illegible] च येषां तत् [illegible]' (आ० द०) ॥ ११ ॥ १२ ॥

रक्तजानाह—रक्तेत्यादि । रक्तवाहिसिरास्थानाश्च ते रक्तजाश्चेति रक्तवाहिसिरास्थानरक्तजाः; अथवा रक्तवाहिसिरास्थानं यद्रक्तं तज्जाः । नामभेदात्ते षट्, तत्र केशादादयश्चत्वारः, सह सौरसनामभ्यां मातृनामभ्यां क्रिमिभ्यां वर्तन्त इति सहसौरसमातरः, एवं षड् भवन्ति । कुष्ठैककर्माण इति कुष्ठमेवैकं कार्यं येषां ते तथा, कुष्ठजनका इति यावत् । उक्तं हि सुश्रुते,—"सर्वाणि कुष्ठानि सवातानि सपित्तानि सश्लेष्माणि सक्रिमीणि चोपदिश्यन्ते"—इति ( सु. नि. स्था. अ. ५ ) ॥ ११ ॥ १२ ॥

*पक्वाशये पुरीषोत्था जायन्तेऽधोविसर्पिणः ।
प्रवृद्धाः स्युर्भवेयुश्च ते यदाऽऽमाशयोन्मुखाः ॥ १३ ॥
तदाऽस्योद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः ।
पृथुवृत्ततनुस्थूलाः श्यावपीतसितासिताः ॥ १४ ॥
ते पञ्च नाम्ना क्रिमयः ककेरुकमकेरुकाः ।
सौसुरादाः सशूलाख्या लेलिहा जनयन्ति हि ॥ १५ ॥
विड्भेदशूलविष्टम्भकार्श्यपारुष्यपाण्डुताः ।
रोमहर्षाग्निसदनं गुदकण्डूर्विमार्गगाः ॥ १६ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने क्रिमिनिदानं समाप्तम् ॥ ७ ॥

पुरीषजानाह—पक्वाशय इत्यादि । अधोविसर्पिण इति गुदनिःसरणशीलाः, ते यदाऽतिवृद्धाः सन्त आमाशयोन्मुखा भवेयुस्तदाऽस्य रोगिण उद्गारनिःश्वासा विड्गन्धानुविधायिनः पुरीषगन्धयुक्ता भवन्तीति योज्यम् । शेषं सुबोधम् ॥ १३–१६ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां क्रिमिनिदानं समाप्तम् ॥ ७ ॥

---

# अथ पाण्डुरोगकामलाकुम्भकामलाहलीमकनिदानम् ।

†पाण्डुरोगाः स्मृताः पञ्च वातपित्तकफैस्त्रयः ।
चतुर्थः सन्निपातेन पञ्चमो भक्षणान्मृदः ॥ १ ॥

पुरीषजाः क्रिमयः सूक्ष्माः पाण्डुतां जनयन्ति, अतः क्रिमेरनन्तरं पाण्डुरोगमाह—पाण्डुरोगा इत्यादि । पाण्डुत्वेनोपलक्षितो रोगः पाण्डुरोगः । चरके अष्टोदरीयाध्याये "पञ्च पाण्डुरोगाः" ( च. सू. स्था. अ.१९ )—इत्यभिधायापि "पाण्डुरोगाः

---

* 'पुरीषोत्थाः कृमयः पक्वाशय एव जायन्ते, पुरीषस्य पक्वाशयस्थितत्वात् । ते चाधोविसर्पिणः स्युर्नोर्ध्वगाः; पृथवो दीर्घाः वृत्ता वर्तुलाः, तनवः अल्पाः, स्थूला उत्सन्नाः 'आकारेण' इति शेषः । वर्णतः श्यावाः ईषत्पीतश्वेताः । असिताः कृष्णाः । नामतः पञ्चधा ककेरुकादिभेदेन । ते पञ्च यान् रोगान् जनयन्ति तानाह—विड्भेदेत्यादि । विड्भेदः सान्द्रमलप्रवृत्तिः, शूलं पक्वाशये, विष्टम्भो मलस्य, पारुष्यं कर्कशाङ्गत्वं, अग्निसदनं वह्निग्लानिः, विमार्गगा विमार्गप्रवृत्तयः' ( आ० द० ) ॥ १३–१६ ॥

† 'पाण्डुत्वेनोपलक्षितो रोगः पाण्डुरोगः । स च पञ्चविधः—वातपित्तकफैस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, मृद्भक्षणादेकः, एव पञ्च' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

स्मृता पञ्च" ( च चि स्था अ १६ )—इति यदेतत्पुनश्चरकवचनं तत् पञ्चानामपि साध्यत्वं बोधयति, न तु पञ्चोन्मादेष्विव सान्निपातिकस्यासाध्यत्वमिति जेज्जट', न्यूनसङ्ख्याव्यवच्छेदार्थमिति चक्र । ननु, सुश्रुते हि मृत्तिकाजो न पठितः, मृत्तिकाऽपि दोषप्रकोपद्वारेणैव पाण्डुरोगं जनयतीति, यदुक्तं,—"कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम्" ( च चि स्था अ १६ )—इति, निदानभेदाच्च रोगभेदे रोगानन्त्यप्रसङ्गः, वातजस्यापि रूक्षशीताद्यनेकवातनिदानकुपितवातजन्यत्वात् । उच्यते, दोषजत्वाविशेषेऽपि विशिष्टरूपचिकित्साप्रतिपादनार्थं पृथगभिधानं, मूत्राघातरहितवत्; सुश्रुतेन तु पराधिकारेषु न विस्तरोक्तिरित्यभिप्रायेण न पृथक्कृतः । चिकित्सा तु दोषचिकित्सैवोऽपि भवतीति ॥ १ ॥

*व्यायाममम्लं लवणानि मद्यं मृदं दिवास्वप्नमतीव तीक्ष्णम् ।
निषेवमाणस्य प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचः पाण्डुरतां नयन्ति ॥ २ ॥

सम्प्राप्तिमाह—व्यायाममित्यादि ।—रक्तमित्युपलक्षणं, तेन त्वङ्मांसमपि दूष्यत्वेन दृढबलेन पठितं, हारीतेन रसोऽपीति ॥ २ ॥

†त्वक्स्फोटनष्ठीवनगात्रसादमृद्भक्षणप्रेक्षणकूटशोथाः ।
विण्मूत्रपीतत्वमथाविपाको भविष्यतस्तस्य पुरःसराणि ॥ ३ ॥

पूर्वरूपमाह—त्वगित्यादि । त्वक्स्फोटनं त्वचः किञ्चिद्विदरणम् । मृद्भक्षणं मृद्भक्षणेच्छा । प्रेक्षणकूटशोथो अक्षिगोलकशोथः । अविपाक आहारस्य । पुरःसराणि पूर्वरूपाणि ॥ ३ ॥

‡त्वङ्मूत्रनयनादीनां रूक्षकृष्णारुणाभता ।
वातपाण्ड्वामये तोदकम्पानाहभ्रमादयः ॥ ४ ॥

वातिकलक्षणमाह—त्वगित्यादि । अत्र कृष्णारुणाभता न पाण्डुतामतिक्रामति, अन्यथा पाण्डुरोगत्वाभावः । उक्तं च सुश्रुते,—"सर्वेषु चैतेष्विह पाण्डुभावो यतोऽधिकोऽतः खलु पाण्डुरोगः" ( सु उ त अ ४४ )—इति । भ्रमादय इति आदिशब्देन भेदशूलादीनां ग्रहणम् ॥ ४ ॥

* 'पाण्डुरोगनिदानमाह—व्यवायमित्यादि । व्यवायादीनि निषेवमाणस्य पुंसो दुष्टा दोषा रक्तं विदूष्य त्वचि पाण्डुभावं कुर्वन्तीति पिण्डार्थः । रक्तमित्युपलक्षणं, त्वचं मांसमपि दूषयन्तीति दृढबलेन पठितं, हारीतेन तथोक्तत्वात् । व्यवाय स्त्रीसेवा, अन्ये 'व्यायाम' इति पठन्ति । लवणानीति बहुवचनेन क्षाराण्यपि बोद्धव्यानि । मृद् मृत्तिकाम् । तीक्ष्णं राजिकादि' ( आ० द० ) ॥ २ ॥

† 'अन्ये 'त्वक्पाटनिष्ठीवनगात्रसादाः' इति पठन्ति, तत्रापि स एवार्थः । निष्ठीवनं मुखेन, थुकथुकीति लोके । तस्य भाविनः भवन्ति' ( आ० द० ) ॥ ३ ॥

‡ 'तोदः पीडाभेदः, आनाहः उदराटोपः, भ्रमश्चक्रारूढस्येव' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

१ 'दोषचिकित्सायामन्तर्भवति' इति क । २—'समेत्य रक्तं कुर्वन्ति दोषास्त्वचि पाण्डुभावम्' इति पाठान्तरम् । ३ 'व्यवायमम्ल' इति पाठाभिप्रायेण ।

*पीतमूत्रशकृन्नेत्रो दाहतृष्णाज्वरान्वितः ।
भिन्नविट्कोऽतिपीताभः पित्तपाण्ड्वामयी नरः ॥ ५ ॥

पैत्तिकलक्षणमाह—पीतेत्यादि । ननु, पित्तपाण्ड्वामयीति न युक्तं, पाण्डुरोगस्य पित्तकार्यत्वादेव । उच्यते, इतरदोषासंश्लिष्टप्रबलपित्तजन्यत्वेन पैत्तिकाभिधानं, यथा—पैत्तिकरक्तपित्तमिति ॥ ५ ॥

†कफप्रसेकश्वयथुतन्द्रालस्यातिगौरवैः ।
पाण्डुरोगी कफाच्छुक्लैस्त्वङ्मूत्रनयनाननैः ॥ ६ ॥

श्लैष्मिकलक्षणमाह—कफप्रसेकेत्यादि । कफात्तः पाण्डुरोगी स शुक्लैस्त्वङ्मूत्रनयनाननैरुपलक्षित इति योज्यम् ॥ ६ ॥

‡ज्वरारोचकहृल्लासच्छर्दितृष्णाक्लमान्वितः ।
पाण्डुरोगी त्रिभिर्दोषैस्त्याज्यः क्षीणो हतेन्द्रियः ॥ ७ ॥

सान्निपातिकस्तु प्रकृतिसमसमवेतत्वेन उक्तवातजादिलक्षणैरेव बोद्धव्यः । उक्तं हि चरके,—"सर्वान्नसेविनः सर्वे दुष्टा दोषास्त्रिदोषजम् । त्रिलिङ्गं संप्रकुर्वन्ति पाण्डुरोगं सुदुःसहम्" ( च. चि. स्था. अ. १६ )-इति । तस्यैव सोपद्रवस्यासाध्यत्वमाह—ज्वरारोचकेत्यादि । हतेन्द्रियः स्वविषयाग्राहकेन्द्रियः ॥ ७ ॥

§मृत्तिकादनशीलस्य कुप्यत्यन्यतमो मलः ।
कषाया मारुतं पित्तमूषरा मधुरा कफम् ॥ ८ ॥
कोपयेन्मृद्रसादींश्च रौक्ष्याद्भुक्तं च रूक्षयेत् ।
पूरयत्यविपक्वैव स्रोतांसि निरुणद्धि च ॥ ९ ॥
इन्द्रियाणां बलं हत्वा तेजो वीर्यौजसी तथा ।
पाण्डुरोगं करोत्याशु बलवर्णाग्निनाशनम् ॥ १० ॥

मृज्जसंप्राप्तिमाह—मृत्तिकेत्यादि । अन्यतमो मलो वातादिः । ऊषरा सक्षारा । रसादीन् रूक्षयेत्, भुक्तं च रूक्षयेदिति योज्यम् । रौक्ष्यात् प्राकृतिकोद्भूतरौक्ष्यगुणात् । अविपक्वैव कोष्ठपाचकाग्निभिः पाकं न गत्वैव, स्रोतांसि रसवहादीनि, पूरयति रुणद्धि च ।

---

* 'भिन्नविट्कः सद्रवमलः, अतिपीताभः अतिशयेन पीतः' ( आ० द० ) ॥ ५ ॥

† 'कफप्रसेकः कफस्रावः' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥

‡ 'त्रिदोषजः पाण्डुरोग एतैरुपद्रवैर्युक्तस्त्याज्यः असाध्य इत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥७॥

§ 'मृत्तिकाजनितपाण्डुरोगमाह—मृत्तिकेत्यादि । मृत्तिकाभक्षणशीलस्य पुरुषस्य अन्यतमो मलो दोषो वातादिः कोपं गच्छति । मृत्तिकायास्त्रिदोषप्रकोपणे हेतुं दर्शयति—कषायेत्यादि ।—कषाया मृत्तिका मारुतं प्रकोपयेत्, ऊषरा सक्षारा पित्तं, मधुरा कफं, रौक्ष्याच्च रसादीन् धातून् रूक्षयेत् भुक्तं च रूक्षयेत्, तस्याः स्वभावोद्भूतरूक्षगुणत्वात् । अपक्वैवेत्यादि न कोष्ठपाचकाग्निभिः पाकं गच्छति किन्त्वपक्वैव रसवाहीनि स्रोतांसि पूरयति निरुणद्धि च । बलवर्णाग्निनाशनमित्यत्र बलं शरीरे सामर्थ्यम्' (आ० द०) ॥८॥९॥१०॥

इन्द्रियाणां बलं स्वविषयग्रहणशक्तिम् । तेजो दीप्तिरिति जेज्जटः, कान्तिरिति चक्रः । वीर्यं शक्तिः । ओजः सर्वधातुसारभूतं हृदयस्थमिति पराशरः, पराभिभवेच्छेति जेज्जटः ॥ ८–१० ॥

*शूनाक्षिकूटगण्डभ्रूः शूनपान्नाभिमेहनः ।
क्रिमिकोष्ठोऽतिसार्येत मलं सासृक्कफान्वितम् ॥ ११ ॥

मृज्जस्य लक्षणमाह—शूनेत्यादि । सर्वपाण्डुरोगेषु क्रिमिकोष्ठता यदा स्यात्तदैतल्लक्षणमिति जेज्जटः, मृत्तिकाजानन्तरपठितत्वेन तस्यैव लक्षणमित्यन्ये । विदेहे तु पठ्यते,—"मृद्भक्षणाद्भवेत् पाण्डुस्तन्द्रालस्यनिपीडितः । सश्वासकासशोषार्शःसादारुचिसमन्वितः ॥ शूनपादाननकरः कृशाङ्गः कृशपावकः"–इति ॥ ११ ॥

†पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः खरीभूतो न सिध्यति ।
कालप्रकर्षाच्छूनानां यो वा पीतानि पश्यति ॥ १२ ॥
बद्धाल्पविट् सहरितं सकफं योऽतिसार्यते ।
दीनः श्वेतातिदिग्धाङ्गश्छर्दिमूर्च्छातृडर्दितः ॥ १३ ॥
स नास्त्यसृक्क्षयाद्यश्च पाण्डुः श्वेतत्वमाप्नुयात् ।
पाण्डुदन्तनखो यस्तु पाण्डुनेत्रश्च यो भवेत् ।
पाण्डुसंघातदर्शी च पाण्डुरोगी विनश्यति ॥ १४ ॥
अन्तेषु शूनं परिहीणमध्यं म्लानं तथाऽन्तेषु च मध्यशूनम् ।
गुदे च शेफस्यथ मुष्कयोश्च शूनं प्रताम्यन्तमसंज्ञकल्पम् ।
विवर्जयेत्पाण्डुकिनं यशोऽर्थी तथाऽतिसारज्वरपीडितं च ॥ १५ ॥

असाध्यलक्षणमाह—पाण्डुरोग इत्यादि पाण्डुरोगश्चिरोत्पन्नः कालप्रकर्षात् खरीभूतो जठरतां गतो न सिध्यति, अचिरोत्पन्नोऽपि शूनानां मध्ये यो वा पीतानि पश्यति ॥ पाण्डुरोगी न सिध्यतीत्यपरमसाध्यलक्षणमिति जेज्जटस्य योजना । चक्रस्त्वाह,—"चिरोत्पन्नः खरीभूतोऽत्यर्थरूक्षितसर्वधातुर्न सिध्यति, तथा कालप्रकर्षादित्यादिनाऽपरमसाध्यलक्षणम्"–इति । अत्र शूनानां शोथवतां मध्ये यो वा पीतानि पश्यति स न सिध्यतीति । 'शूनो ना' इति पाठान्तरे ना पुरुषः । 'शूनाक्षो यो वा

* 'मृज्जनितस्योपद्रवमाह–शूनेत्यादि । अक्षिकूटोऽक्षिगोलकः, गण्डः कपोलः, एतेषु श्वयथुः । तथा शूनपान्नाभिमेहनः शूनचरणौ नाभिमेहने च यस्य स तथा । तथा च कृमिकोष्ठः पुमान्, सरुधिरं सकफं च पुरीषमतिसार्येत । इति' ( आ० द० ) ॥ ११ ॥

† 'हरितं हरितशाकवर्णम् । अत्रैवापरमप्यसाध्यलक्षणमाह–असृक्क्षयात्‌ पाण्डुरोगी श्वेतत्वमाप्नुयात्सोऽप्यसाध्यः । नयनरश्मिसहचरितं बहिर्निर्गतं पित्तं तद्योगादखिलमपि वस्तु पीतवर्णमिश्रितं पश्यति । मध्यदेशः शून. श्वयथुयुक्तो यस्य स तादृशस्तम् । अपरमसाध्यलक्षणमाह–गुदे शेफसि मुष्कयोश्च शूनं शोथयुक्तं, प्रताम्यन्तं मोहमुपगच्छन्तं मूर्च्छन्तमित्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ १२–१५ ॥

पीतानि पश्यति' इति पाठान्तरं सुगमम्। अपरमसाध्यलक्षणमाह—यद्वेत्यादि। अत्र श्वकफत्वेऽपि यद्दत्वाल्पत्वहरितत्वानि व्याधिप्रभावात्, यद्वाल्पस्थाने बहुलमिति पाठान्तरम्। विट्शब्दो नपुंसकोऽप्यस्त्रीत्येवनिर्देशादेवोन्नेयमित्याहुः। अपरमसाध्यलक्षणमाह—दीन इत्यादि। दीनः ग्लानः। श्वेतातिदिग्धाङ्ग इति श्वेतवर्णलिप्ताङ्ग इवेत्यर्थः। स नास्ति नष्ट इव असाध्य इत्यर्थः। अपरमाह—अस्रगित्यादि। अपरमसाध्यलक्षणमाह—पाण्डुदन्तेत्यादि। पाण्डुसंघातदर्शी नयनरश्मिसहचरितं बहिर्निर्गतं पित्तं संपिण्डितं पश्यति। अपरमसाध्यलक्षणमाह—अन्तेष्वित्यादि।—अन्तेषु बाहुजङ्घाशिरःसु, शूनं शोथयुक्तम्। परिहीणमध्यं दुर्बलमध्यदेहम्। एतद्वैपरीत्येनापरमसाध्यलक्षणमाह—म्लानमित्यादि। म्लानं दुर्बलम्। असंज्ञकल्पं मृतप्रायम्। एवंविधं पाण्डुकिनं पाण्डुरोगिणं यशोर्थी वैद्यो विवर्जयेदिति। अत्र सौश्रुतश्लोके पाण्डुकिनमित्यत्र पालकिनमिति पाठान्तरं, युक्तं चैतत्; एवं हि पठ्यमाने पाण्डुरोगावस्थाविशेषस्य पालकिनो लक्षणमपि कृतं स्यात्। उक्तं हि सुश्रुते,—"सकामलापालकिपाण्डुरोगः कुम्भाह्वयो लाघवकोऽलसाख्य." ( सु. उ. तं. अ. ४४ )—इति। अनेनैवाभिप्रायेण कश्चिदभियुक्तो लिखितवान्, "अन्ते शूनः कृशो मध्येऽन्यथा च गुदशेफसि। शूनो ज्वरातिसारार्तो मृतकल्पस्तु पालकी"—इति ॥ १२–१५ ॥

*पाण्डुरोगी तु योऽत्यर्थं पित्तलानि निषेवते।
तस्य पित्तमसृङ्मांसं दग्ध्वा रोगाय कल्पते ॥ १६ ॥
हारिद्रनेत्रः स भृशं हारिद्रत्वङ्नखाननः।
रक्तपीतशकृन्मूत्रो भेकवर्णो हतेन्द्रियः ॥ १७ ॥
दाहाविपाकदौर्बल्यसदनारुचिकर्षितः।
कामला बहुपित्तैषा कोष्ठशाखाश्रया मता ॥ १८ ॥

पाण्डुरोगावस्थायां कामलामाह—पाण्डुरोगीत्यादि। दग्ध्वा संदूष्य। रोगाय कामलारूपाय। भेकवर्णः प्रावृषेण्यभेकवर्णः। कोष्ठशाखाश्रयेति एका कोष्ठाश्रया, अपरा शाखाश्रया, शाखा रक्तादयो धातवः। स्वतन्त्राऽपि कामला भवति, यथा राजयक्ष्मा स्वतन्त्र उपेक्षितेष्वपि कासेषु भवतीत्याहुः ॥ १६–१८ ॥

†कालान्तरात् खरीभूता कृच्छ्रा स्यात्कुम्भकामला।

---

* 'य. पाण्डुरोगी पित्तजनकानि अत्यर्थं सेवते तस्य रोगिणः पित्त दोषोऽसृङ्मांसं दग्ध्वा संदूष्य रोगाय कामलारूपाय जायते। तस्य च रक्तं पीतं शकृन्मूत्रं, 'रक्तपीतशकृन्नेत्रे' इति वा पाठः। हतेन्द्रियः हतेन्द्रियशक्तिः। एतैश्चोपद्रवैर्दाहादिभिः कर्षितः पीडितः, अविपाक आहारस्य, सदनमङ्गग्लानिः। बहुपित्ता एषा कामला। उपेक्षितः पाण्डुरोगः कामलायै भवति' ( आ० द० ) ॥ १६–१८ ॥

† 'कालान्तरात् खरीभूता कठिनतां गता कृच्छ्रसाध्या; कुम्भः कोष्ठं, तत्साधर्म्याच्चद्रुता कामला कोष्ठाश्रयेत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥—

---

१ 'पालकिन' क. 'पाकलिन' इति ख.।

तस्या अवस्थान्तरं कुम्भकामलामाह—कालान्तरादित्यादि। खरीभूतेति पूर्ववद्व्याख्येयम्। कृच्छ्रा च कृच्छ्रसाध्या। कुम्भः कोष्ठः, अन्तःशुषिरसाधर्म्यात्; तद्गता कामला कुम्भकामला, कोष्ठाश्रयेत्यर्थः॥—

*कृष्णपीतशकृन्मूत्रो भृशं शूनश्च मानवः॥ १९॥
सरक्ताक्षिमुखच्छर्दिविण्मूत्रो यश्च ताम्यति।
दाहारुचितृडानाहतन्द्रामोहसमन्वितः॥ २०॥
नष्टाग्निसंज्ञः क्षिप्रं हि कामलावान्विपद्यते।

कामलाया असाध्यलक्षणमाह—कृष्णेत्यादि। कृष्णेत्यादिना ताम्यतीत्यन्तेनैकमसाध्यलक्षणम्। ताम्यति मुह्यति। दाहेत्यादिना विपद्यत इत्यन्तेनापरमसाध्यलक्षणमिति जेज्जटः॥ १९॥ २०॥—

†छर्द्यरोचकहृल्लासज्वरक्लमनिपीडितः॥ २१॥
नश्यति श्वासकासार्तो विड्भेदी कुम्भकामली।

कुम्भकामलिनोऽसाध्यलक्षणमाह—छर्दीत्यादि॥ २१॥—

‡यदा तु पाण्डोर्वर्णः स्याद्धरितः श्यावपीतकः॥ २२॥
बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा मन्दाग्नित्वं मृदुज्वरः।
स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिर्भ्रमः।
हलीमकं तदा तस्य विद्यादनिलपित्ततः॥ २३॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पाण्डुरोगकामलाकुम्भकामला-
हलीमकनिदानं समाप्तम्॥ ८॥

पाण्डुरोगावस्थायां हलीमकमाह—यदेत्यादि। यदा तु पाण्डोः पाण्डुरोगिणः हरितादिवर्णयुक्तस्यैते उपद्रवा भवन्ति तदा तस्य वातपित्तकोपजं हलीमकं जानीयात्। हरितः शाकवर्णः। श्यावो नीलवर्णः। स्त्रीष्वहर्षः स्त्रीरिरंसाया अभावः। अङ्गमर्दोऽङ्गमोटनम्। लाघवकालसकादीनां पाण्डुरोगावस्थाविशेषाणां लक्षणं सुश्रुतादिष्वनुसर्तव्यमिति॥ २२॥ २३॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां पाण्डुरोगकामलाकुम्भकामला-
हलीमकनिदानं समाप्तम्॥ ८॥

---

# अथ रक्तपित्तनिदानम्।

§घर्मव्यायामशोकाध्वव्यवायैरतिसेवितैः।
तीक्ष्णोष्णक्षारलवणैरम्लैः कटुभिरेव च॥ १॥

---

* 'छर्दिरिति छर्दिरपि रक्ता। नष्टेऽग्निः संज्ञा चेतना च यस्य स तथा' (आ० द०)॥ १९॥ २०॥—

† 'आयासेन विनैव श्रमः क्लमः। विड्भेदः सद्रवमलप्रवृत्तिः। एभिरुपद्रवैः कुम्भकामली त्याज्यः'। (आ० द०)॥ २१॥—

‡ 'बलोत्साहक्षय इति बलोत्साहयोर्नाशः।' (आ० द०)॥ २२॥ २३॥

§ 'एभिः स्वकारणगुणैर्विदग्धं दुष्टं पित्तं शोणितं निदहति कोपयति। अथवा पच्यते॥

पित्तं विदग्धं स्वगुणैर्विदहत्याशु शोणितम् ।
ततः प्रवर्तते रक्तमूर्ध्वं चाधो द्विधाऽपि वा ॥ २ ॥
ऊर्ध्वं नासाक्षिकर्णास्यैर्मेढ्रयोनिगुदैरधः ।
कुपितं रोमकूपैश्च समस्तैस्तत्प्रवर्तते ॥ ३ ॥

पाण्डुरोगवद्रक्तपित्तस्यापि पित्तजन्यत्वात्तदनन्तरं रक्तपित्तनिदानमाह—घर्मेत्यादि । घर्मे आतपः । तीक्ष्णं तीक्ष्णवीर्यं मरिचादि, उष्णोऽभितापः, क्षारो यवक्षारादिः, पन्थाः मार्गः क्षारादिकृतश्च; विदग्धं कुपितम् । स्वगुणैरिति 'पित्तं तीक्ष्णं द्रवं पूति' इत्यादिभिः, विदहति कोपयति स्वगुणैरेव, 'विदाहश्चास्य पित्तवत्' (सु. सू. स्था. अ. २१) इत्युक्तेः । ततः प्रवर्तते निःसरति, पित्तं रक्तं च धातुरूपं; ननु केवलं रक्तं, रक्तपित्तमिति व्यपदेशानुपपत्तेः । अथ पित्तेन दुष्टं रक्तं रक्तपित्तमित्युच्यते, तदा पित्तरक्तमिति व्यपदेशः प्रसज्येत, एतेन रक्तं च पित्तं चेति द्वन्द्वसमासाश्रितदृष्टिः सुश्रुतेन । ननु, चरके रागपरिप्लुतं पित्तं रक्तपित्तमित्युक्तं, तेन रक्तं च तत् पित्तं चेति कर्मधारयसमासेन निरुक्तिरुक्ता । अत्र च कारणत्रयमुक्तं । यदाह,—"संयोगाद्दूषणात्तत्तु सामान्याद्गन्धवर्णयोः । रक्तस्य पित्तमाख्यातं रक्तपित्तं मनीषिभिः" ( च. चि. स्था. अ. ४ )—इति, तत्कथं न विरोधः ? नैवं, अत्रापि रक्तप्रवृत्तेः, दुष्टं हि रक्तं पित्ते रागलाद्धस्ततदसंसर्गि रक्तं स्वयमपि प्रवर्तेत इति पूर्वं एवार्थः । तेन रक्तं च पित्तं चेति रक्तपित्तं, रक्तं च तत् पित्तं चेत्युभयथाऽपि निरुक्तावदोषः ॥ १-३ ॥

*सदनं शीतकामित्वं कण्ठधूमायनं वमिः ।
लोहगन्धिश्च निःश्वासो भवत्यस्मिन् भविष्यति ॥ ४ ॥

पूर्वरूपमाह—सदनमित्यादि । कण्ठधूमायनं कण्ठाद्धूमनिर्गम इव प्रतीतिः ॥ ४ ॥

सान्द्रं सपाण्डु सस्नेहं पिच्छिलं च कफान्वितम् ।

श्लैष्मिकमाह—सान्द्रमित्यादि । सान्द्रं घनं, सपाण्डु सस्नेहमिति ईषत्पाण्डुस्नेहम्—

श्यावारुणं सफेनं च तनु रूक्षं च वातिकम् ॥ ५ ॥

वातिकमाह—श्यावेत्यादि । तनु अघनम् ॥ ५ ॥

*रक्तपित्तं कषायाभं कृष्णं गोमूत्रसंनिभम् ।
मेचकागारधूमाभमञ्जनाभं च पैत्तिकम् ॥ ६ ॥
संसृष्टलिङ्गं संसर्गात्त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ।

पैत्तिकमाह—रक्तेत्यादि । कषायाभं बदरादिकाथवर्णम् । मेचकागारधूमाभमिति मेचकागारधूमयोरिवाभा यस्य तत्तथा; मेचकाभं, अगारधूमाभं च । मसृणीकृत-कृष्णमणिवर्णस्येव वर्णो मेचक इति जेज्जटादयः प्राहुः, चिक्कणकृष्ण इत्यर्थः । अञ्जनाभं सौवीराञ्जनवर्णाभम्।ननु, सर्वमेव रक्तपित्तं दुष्टेन पित्तेनारभ्यते तत्कथं पैत्तिकं रक्तपित्त-मिति ? उच्यते—सत्यं, किंतु यदा स्वस्थानस्थं पित्तं रक्तपित्तारम्भकं स्थानान्तरावस्थितेन पित्तेन संगृह्यते, किंवा दोषान्तरासंश्लिष्टं केवलं पित्तमारम्भकं तदा पैत्तिकमिति व्यपदेश इति । ननु, केवलपैत्तिकं न संभवत्येव, यद्वक्ष्यति,—"ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवना-नुगम्"—इति; नच तस्य निर्दिष्टो मार्गः । उच्यते, यदा स्वकारणोद्भूतेन कफेन वातेन वा स्वलक्षणकारिणा संसृष्टं भवति, तदा श्लैष्मिकादिव्यपदेशः; नतु मार्गसंबन्धानुगतेन कफवातसंबन्धेन । ऊर्ध्वगं हि मार्गसंबन्धमहिम्नाऽवश्यं कफेन, अधोगं चावश्यं वातेन, अनुबध्यते । नच तत्र कफवातौ स्वलक्षणं कुरुतः, यथा शारदि ज्वरकरं पित्तं कालमहिम्नाऽनुगतेन कफेनानुबध्यते तथाऽपि पैत्तिक एवासौ प्राकृतो ज्वरः । यदुक्तं,—"कुर्यात्पित्तं च शारदं तस्य चानुबलः कफः" ( च. चि. स्था. अ. ३ )—इति । तेन यदेकदोषलिङ्गयुक्तं भवति तदेकदोषानुगं, एवं द्विदोषलिङ्गं त्रिदोषलिङ्गं च बोध्यम् । तेनोर्ध्वगमधोगं चैकद्वित्रिलिङ्गं भवति । एतेन पैत्तिकस्य मार्गो न दर्शित इति यदुक्तं तन्निरस्तमिति ॥ ६ ॥—

†ऊर्ध्वगं कफसंसृष्टमधोगं पवनानुगम् ।
द्विमार्गं कफवाताभ्यामुभाभ्यामनुवर्तते ॥ ७ ॥

संसर्गविशेषेण मार्गभेदमाह—ऊर्ध्वगमित्यादि ॥ ७ ॥

‡ऊर्ध्वं साध्यमधो याप्यमसाध्यं युगपद्गतम् ।

* 'मेचकाभं कृष्णराजिरञ्जितमणिमसृणीकृतकृष्णवस्त्रवर्ण इव वर्णो मेचक इति जेज्जटादयः, चिक्कणकृष्ण इत्यर्थः । संसर्गसंनिपातजानि रक्तपित्तान्याह—संसृष्टेत्यादि । यदा द्विदोषलिङ्गैरुपलक्षितं भवति तदा द्विदोषजं, यदा च त्रिदोषलिङ्गैः संसृष्टं त्रिलिङ्गं भवति तदा सान्निपातिकम्' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥

† 'दोषभेदेनास्य मार्गभेदमाह—ऊर्ध्वगमित्यादि । यदा कफानुगतं रक्तपित्तं तदोर्ध्व-मार्गेषु प्रवर्तते, यदि च वातानुगं तदाऽधोमार्गेषु, यदि तूभाभ्यां कफवाताभ्यां संसृष्टं भवति तदा मार्गद्वयेषु प्रवर्तते । एतेन पैत्तिकस्य मार्गो न दर्शितः, रोगस्य रक्तपित्त-प्राधान्यतयैव' ( आ० द० ) ॥ ७ ॥

‡ 'मार्गप्रवृत्त्या तस्य साध्यासाध्यत्वमाह—ऊर्ध्वमित्यादि । युगपद्गतमेककालं मार्गद्वये प्रवृत्तम्' ( आ० द० )—

१ 'मसारमहामणिकादिमसृणीकृतकृष्णवर्णवस्त्रस्येव' इति क. ।

मार्गभेदेन साध्यत्वादिकमाह—ऊर्ध्वमित्यादि। ऊर्ध्वं साध्यमिति ऊर्ध्वगस्य कफपित्तसंश्लिष्टत्वेन कषायतिक्तौ रसौ कफपित्तहरौ योग्यौ, पित्तहरणे प्रधानं विरेचनं च योग्यम्। अधोगे त्वेक एव मधुरो वातपित्तप्रशमनः, वमनं च प्रतिमार्गत्वेन वेगमात्रविरोधि, न तु पित्तहरणम्। उभयमार्गं च विरुद्धोपक्रमत्वादेवासाध्यम्। यदुक्तं चरके,—"साध्यं लोहितपित्तं तद्यदूर्ध्वं प्रतिपद्यते। विरेचनस्य योग्यत्वाद्बहुत्वाद्भेषजस्य च॥ विरेचनं हि पित्तस्य जयाय परमौषधम्" ( च. नि. स्था. अ. २ )—इत्यादि॥—

*एकमार्गं बलवतो नातिवेगं नवोत्थितम्॥ ८॥
रक्तपित्तं सुखे काले साध्यं स्यान्निरुपद्रवम्।

साध्यत्वे हेतुमाह—एकमार्गमित्यादि। एकमार्गमत्रोर्ध्वगममभिप्रेतं, अधोगस्य याप्यत्वात्। नवोत्थितमचिरजम्। सुखे काले हेमन्तशिशिरयोः। निरुपद्रवं वक्ष्यमाणदौर्बल्याद्युपद्रवरहितम्॥ ८॥—

†एकदोषानुगं साध्यं द्विदोषं याप्यमुच्यते॥ ९॥
यत्त्रिदोषमसाध्यं स्यान्मन्दाग्नेरतिवेगवत्।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यानश्नतश्च यत्॥ १०॥

दोषभेदेन साध्यत्वादिकमाह—एकदोषानुगमित्यादि। मार्गभेददोषभेदाभ्यां साध्यत्वासाध्यत्वविरोधेऽत्र सन्निहितदोषभेदबलिभेदाभ्यां साध्यत्वासाध्यत्वव्यवस्थेयम्। मन्दाग्नेस्तथा व्याधिभिः क्षीणदेहस्य यदतिवेगवत्तदसाध्यम्। अनश्नतः अरुच्यादिना, अन्नाभावाद्वा॥ ९॥ १०॥

‡दौर्बल्यश्वासकासज्वरवमथुमदाः पाण्डुतादाहमूर्च्छा,
भुक्ते घोरो विदाहस्त्वधृतिरपि सदा हृद्यतुल्या च पीडा।
तृष्णा कोष्ठस्य भेदः शिरसि च तपनं पूतिनिष्ठीवनत्वं,
भक्तद्वेषाविपाकौ विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गाः॥ ११॥

उपद्रवानाह—दौर्बल्येत्यादि। दौर्बल्यं शक्त्युपचययोरभाव इति गदाधरः। भुक्ते इति पक्वार्थे सप्तमीति कार्तिकः। हृद्यतुल्येति हृदि अतुल्या असदृशी पीडा। कोष्ठस्य भेदः कोष्ठमलस्य भेदः। तपनं तापः। 'प्रविततशिरस' इति पाठान्तरे प्रविततं विस्तीर्यमाणमिव; प्रवितता विस्तीर्णा वेदना शिरसि यस्य स तथेति कार्तिकः। 'प्रवि-

* 'एकमार्गमिति ऊर्ध्वमार्गप्रवृत्तं, बलयुतस्य पुंसः, नातिवेगं मन्दवेगम्' (मा० द०)॥८॥

† 'पुनरपि दोषानुबन्धवशेन साध्यासाध्यत्वमाह—एकदोषानुगमित्यादि। यत्त्रिदोषमिति त्रयो दोषाः प्रकोपहेतवो यस्य तत्त्रिदोषं रक्तपित्तमिति।' ( मा० द० ) ॥९॥१०॥

‡ 'वमथुः छर्दिः, मदः मद्यपानादिजन्यमदवत्। भा सवर्णतः पाण्डुता। दाहः सर्वाङ्गगतः। मूर्च्छा चेतनाच्युतिः। भुक्ते घोरो विदाह इति भुक्तस्यान्नस्य दारुणो विदाहः, पूतिनिष्ठीवनत्वं निष्ठ्यूतदौर्गन्ध्यम्' ( मा० द० )॥ ११॥

ततसिरता' इति पाठान्तरे सिराव्याप्ततता । अविपाक आहारस्य । विकृतिरपि भवेद्रक्तपित्तोपसर्गा इति एते रक्तपित्तस्य उपसर्गा उपद्रवाः, तथा तस्य विकृतिरपि भवेदिति योज्यम् । सा च वक्ष्यमाणमांसप्रक्षालनाभमित्यादिरूपा । 'रक्तपित्तोपसर्गात्' इति पाठान्तरे सुगमम् ॥ ११ ॥

*मांसप्रक्षालनाभं कुथितमिव च यत्कर्दमाम्भोनिभं वा,
मेदःपूयास्रकल्पं यकृदिव यदि वा पक्वजम्बूफलाभम् ।
यत्कृष्णं यच्च नीलं भृशमतिकुणपं यत्र चोक्ता विकारा-
स्तद्वर्ज्यं रक्तपित्तं सुरपतिधनुषा यच्च तुल्यं विभाति ॥ १२ ॥
येन चोपहतो रक्तं रक्तपित्तेन मानवः ।
पश्येद्दृश्यं वियच्चापि तच्चासाध्यमसंशयम् ॥ १३ ॥
लोहितं छर्दयेद्यस्तु बहुशो लोहितेक्षणः ।
लोहितोद्गारदर्शी च म्रियते रक्तपैत्तिकः ॥ १४ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने रक्तपित्तनिदानं समाप्तम् ॥ ९ ॥

असाध्यलक्षणमाह—मांसेत्यादि । कुथितमिव पूतितां गतमिव । कर्दमाविलमम्भः कर्दमाम्भः, अथवा कर्दमनिभमम्भोनिभं च । तथा मेदःपूयास्रकल्पमिति कल्पशब्दो मेदःप्रभृतिभिस्त्रिभिः सम्बध्यत इति गयदासः । यकृदिव यकृत्खण्डमिव । पक्वजम्बूफलाभं स्निग्धकृष्णम् । कृष्णमञ्जनाभम् । नीलं चाषपक्षप्रतिमम् । ननु, पैत्तिके कृष्णत्वं पठितं न च तदसाध्यं ? नैवं, अतिशब्देनात्र विशेषितत्वात्, तेन तत्र मनाक्कृष्णत्वं बोध्यमिति जेज्जटः, अथवा जम्बूफलाभं यत् कृष्णं तदिति योज्यम् । उक्ता विकारा श्वासकासादयः । सुरपतिधनुषा तुल्यं नानावर्णम् । येनेत्यादि ।—येन रक्तपित्तेनेति योज्यम् । पश्येद्दृश्यं वियच्चापि अदृश्यमपि वियद्दृश्यमिव पश्यतीति योज्यं रक्तपित्तोपहतनेत्रत्वादिति, अथवा दृश्यं घटपटादि, वियच्च रक्तं पश्यतीति । यो बहुशश्छर्दयेदिति सम्बन्धः । लोहितोद्गारदर्शीति लोहितोद्गारो लोहितदर्शी च, उद्गारोऽपि लोहितः प्रवर्तत इत्यर्थः, अथवा लोहितमुद्गारे पश्यतीति लोहितोद्गारदर्शीति ॥ १२–१४ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां रक्तपित्तनिदानं समाप्तम् ॥ ९ ॥

---

* 'तस्य निकृतिरूपत्वेनासाध्यत्वमाह—मांसेत्यादि । भृशमिति अत्यर्थम्, नीलम् । अतिकुणपं शवगन्धि । यत्र चोक्ता विकारा श्वासकासादय उपद्रवाः, 'भवन्ति' इति शेषः । तदपि पूर्वोक्तलक्षणैर्युक्तं विकृतैर्वर्णैश्च रक्तपित्तं त्याज्यम् । असाध्यलक्षणान्तरमाह—येनेत्यादि । येन रक्तपित्तेनोपहतो मनुष्यो दृश्यं घटपटादिकं वियच्चादृश्यं पश्यति स नश्यति । अन्ये 'पश्येद्रक्तं वियच्चापि' इति पठन्ति । लक्षणान्तरमाह—लोहितमित्यादि । यो बहुशो रक्तं छर्दयेत्, रक्तनयनश्च' (आ० द०) ॥ १२–१४ ॥

# अथ राजयक्ष्मक्षतक्षीणनिदानम्।

*वेगरोधात् क्षयाच्चैव साहसाद्विषमाशनात्।
त्रिदोषो जायते यक्ष्मा गदो हेतुचतुष्टयात्॥१॥

राजयक्ष्मरूपेषु पित्ताद्रक्तस्य चागम इति वचनाद्रक्तपित्तानन्तरं यक्ष्मनिदानम्। चिकित्सोपयोगिविप्रकृष्टकारणं चतुर्विधमाह—वेगरोधादित्यादि। वेगोऽत्र वातमूत्रपुरीषाणां, नतु न वेगान्धारणीयोक्तानां जृम्भादीनां सर्वेषाम्। यदुक्तं चरके,—"ह्रीमत्त्वाद्वा घृणित्वाद्वा भयाद्वा वेगमागतम्। वातमूत्रपुरीषाणां निगृह्णाति यदा नरः" (च. चि. स्था. अ. ८)—इत्यादि। क्षयादिति क्षीयते अनेनेति क्षयः, तेनातिव्यवायानशनेर्ष्याविषादादयो धातुक्षयहेतवो गृह्यन्ते। साहसादिति साहसो बलवद्विग्रहादिरुरःक्षतहेतुत्वेन कारणम्। विषमाशनादिति सुश्रुतोक्तद्वादशाशनप्रविचारव्यतिरेकेणोपयोगः, तस्य शीघ्रं स्रोतोरोधकरत्वात्। उक्तं हि चरके,—"विविधान्यन्नपानानि वैषम्येण समश्नताम्। जनयन्त्यामयान् घोरान् विषमा मारुतादयः॥ रुद्ध्वा स्रोतांसि धातूनां वैषम्याद्विषमं गताः। दोषा रोगाय कल्पन्ते पुष्यन्ति न च धातवः" (च. चि. स्था. अ. ८) इति। त्रिदोष इति मिलितत्रिदोषज एक एव, नतु कारणभेदादनेकः। यदाह सुश्रुतः,—"एक एव मतः शोषः संनिपातात्मको यतः। उद्रेकात्तत्र लिङ्गानि दोषाणां निपतन्ति हि" (सु. उ. तं. अ. ४१)-इति। ननु, वेगरोधादयो वातं प्रकोपयन्ति, तज्जनितो यक्ष्मा कथं त्रिदोषज इति चेत्? उच्यते, वातप्रकोपादेवाभिद्रुत्या कफपित्तयोरपि प्रकोप इत्याहुः। हेतुचतुष्टयादित्यनेनासंख्येया अपि हेतव उक्तचतुष्टयेऽन्तर्भवन्तीति दर्शयति। शोषादिनानाशब्दपर्यायेण चास्य सुश्रुतोऽन्वयमकार्षीत्। यथा,—"संशोषणाद्रसादीनां शोष इत्यभिधीयते। क्रियाक्षयकरत्वाच्च क्षय इत्युच्यते बुधैः॥ राज्ञश्चन्द्रमसो यस्मादभूदेष किलामयः। तस्मात्तं राजयक्ष्मेति केचिदाहुर्मनीषिणः" (सु. उ. तं. अ. ४१)—इति। वाग्भटे तु—"यक्ष्मणां राजा राजयक्ष्मा"—इत्युक्तम्। "राजदन्तादिषु परम्"—इति उपसर्जनस्य यक्ष्मशब्दस्य परनिपातः॥१॥

†कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु।
अतिव्यवायिनो वाऽपि क्षीणे रेतस्यनन्तराः।
क्षीयन्ते धातवः सर्वे ततः शुष्यति मानवः॥२॥

* 'क्षयो धातुक्षयः। स च व्यवायानशनासृक्स्रावोपवासादिभिरनेककारणैर्भवति। विषमाशनादिति "बहुस्तोकमकाले वा ज्ञेयं तद्विषमाशनम्"—इति। तदनेनोक्तं कारणचतुष्टयमुक्तम्—"व्यवायशोकौ वेगसंधारणं क्षयः। साहसं कारणं विषमाशनम्" इति' (आ० द०)॥१॥

† 'ननु दोषैस्त्रिभिः बहुत्वेन दोषत्रयमुच्यते, तदयं कफस्य प्रधानत्वम्', उच्यते—तस्य प्रधा-

१ 'तेषां स्वस्वकर्मकारीषु गुणः' इति पा०। २ वाग्भटे तु "नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यदयं पुरा। यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः" इति पठ्यते (वा. नि. स्था. अ. ५)। ३ 'तथैव विषमाशनम्' इति पाठान्तरम्।

न केवलं धातुक्षयमानादेव यक्ष्मा भवति, अपि तु रसादिवहस्रोतोनिवहनिरोधादिभिरपीति दर्शयितुं विशिष्टां सम्प्राप्तिमाह—कफेत्यादि । यदा त्वेवं न स्यात्, तदा धातुक्षय एव रोगो ननु यक्ष्मा । कफः प्रधानं येषामनिलादीनां दोषाणां ते तथा । ननु, दोषैरित्यनेन दोषत्रयमुच्यते, कफस्य विशेषणत्वेनोपात्तत्वात्, कथं तस्यैवान्यपदार्थवाच्यता ? उच्यते, स्वावयवेन विग्रहः, समुदायः समासार्थः, यथा—बहुदर्शधनमिति समाधानविस्तरस्तु सुश्रुते जेज्जटे द्रष्टव्यः । कफप्रधानता च वेगरोधादिषु पित्तवातविस्रुताभिमान्यादिना बोद्धव्या । रसवर्त्मसु रसवहधमनीषु, अन्नादिशब्दो लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । तेन रक्तादिवहस्रोतोरोधोऽपि बोध्यः । अथवा रसकारणतया रक्तादीनां रसदुष्ट्यैव रक्तादिदुष्टिरिति कार्त्तिकः । इदमत्र सूचितं,—यन्मार्गरोधाद्हृदयस्थो रसस्तत्रैवावस्थितो विकृतो मुखेन निःसरति । यदाह चरकः—"रसः स्रोतःसु रुद्धेषु स्वस्थानस्थो विदह्यते । स ऊर्ध्वं कासवेगेन बहुरूपः प्रवर्तते" (च. चि. स्था. ८)—इति । एतेनानुलोमक्षयो दर्शितः, कारणभूतरसधातुक्षये सति रक्तादीनां रसकार्याणां पोषकाभावेन क्षीयमाणत्वात् । प्रतिलोमक्षयं दर्शयितुमाह—अतिव्यवायिनो वेत्यादि, रेतसि क्षीणे तदनन्तरा समीपगा धातवः क्षीयन्ते, तद्यथा—शुक्रे क्षीणे मज्जा क्षीयते, मज्जनि क्षीणेऽस्थि, एवं पूर्वं पूर्वम् । ननु, कार्यभूतस्य शुक्रस्य क्षयात् कथं कारणभूतानां धातूनां क्षय इति चेत्?[2] उच्यते, शुक्रक्षयाद्वायुः प्रकुप्यति । यदुक्तं,—"वायोर्धातुक्षयात् कोपो मार्गस्यावरणेन च" (च. चि. स्था. अ. २८)—इति । स वायुः सान्निध्यान्मज्जानं शोषयति, एवं पूर्वपूर्वधातून् । दृष्टं च प्रत्यासत्त्याऽपि कार्यजननं, यथा—अग्निसन्तप्तायोगोलकसन्निधानादार्द्रभूभागस्यापि शोषः । तथा च रससञ्चारपक्षे सुश्रुतवचनं,—"पूर्वः पूर्वोऽतिवृद्धत्वाद्वर्धयेद्धि परं परम् । तस्मादतिप्रवृद्धानां धातूनां ह्रासनं हितम्" (सु. सू. स्था. अ. १५) इति ॥ २ ॥

*श्वासाङ्गमर्दकफसंस्रवतालुशोष-
वम्यग्निसादमदपीनसकासनिद्राः ।
शोषे भविष्यति भवन्ति स चापि जन्तुः
शुक्लेक्षणो भवति मांसपरो रिरंसुः ॥ ३ ॥

नता वेगरोधादिषु भिन्नवातविस्रुताभिमान्यादिना बोद्धव्या । अथेदमत्र सूचितं—यन्मार्गावरोधाद्धृदयस्थो रसो विदह्यते, स तत्रैवावस्थितो विकृतिबहुलपिच्छिलविस्रहरितपीतश्वेतकासवेगेन मुखमार्गेण निःसरति । अतिव्यवायिनोऽत्यर्थं ग्राम्यधर्मसेविनः । ननु, रसवर्त्मरोधाद्रसो न रक्तस्य वृद्धणायालं रक्तापचयान्मांसस्यापचय इत्यादिपूर्वपूर्वधातुक्षीणतया शुक्रक्षयो युक्तः, कार्यभूतशुक्रक्षये पूर्वधातूनां कथं क्षयः ? उच्यते, शुक्रक्षयाद्वायुः कुप्यति, स वायुः सान्निध्यान्मज्जानं शोषयति एवं पूर्वपूर्वधातून् । दृष्टं च प्रत्यासन्नतया कार्यजनकत्वं यथा महाजलाधारपरिक्षये तत्र प्रविष्टानां जलाशयानां परिक्षयः' ( आ० द० ) ॥ २ ॥

* 'भविष्यति उत्पद्यमाने शोषे श्वासादयो भवन्तीति संबन्धः । अङ्गसादोऽङ्गग्लानिः ।

१ 'दोषैरिति बहुत्वेन' ( आ० द० )। २ अस्याग्रे 'यदि क्षीणेभ्यो न निवर्तते तदा' इत्याद्यधिकं पठ्यते ।

स्वप्नेषु काकशुकशल्लकिनीलकण्ठा
गृध्रास्तथैव कपयः कृकलासकाश्च ।
तं वाहयन्ति स नदीर्विजलाश्च पश्ये-
च्छुष्कांस्तरून्पवनधूमदवार्दितांश्च ॥ ४ ॥

पूर्वरूपमाह—श्वासेत्यादि । सदव ष्ठीवनम् । पीनस प्रतिश्याय । मांसपरो मांसभोजनेच्छु । रिरंसु स्त्रियं रन्तुमिच्छु, एतच्च व्याधिमहिम्ना मनोदोषात् । तथा स्वप्नेषु काकादिवाहनं च पूर्वरूपमेव । शल्लकी 'शराह' इति ख्याता, नीलकण्ठो मयूर । विजला निर्जला । दवो वनाग्नि । आर्दितान् अभिभूतान् । चकारात्तृणकेश-निपातादयो द्रष्टव्या । यदुक्तं चरके,—"पूर्वरूपं प्रतिश्यायो दौर्बल्यं दोषदर्शनम् । अदोषेष्वपि भावेषु, काये बीभत्सदर्शनम् ॥ घृणित्वमश्नतश्चापि बलमांसपरिक्षय । स्त्रीमद्यमांसप्रियता प्रियता चावगुण्ठने ॥ मक्षिकाघुणकेशानां तृणानां पतनानि च । प्रायोऽन्नपाने, केशानां नखानां चातिवर्धनम् ॥ पतत्रिभि पतङ्गैश्च श्वापदैश्चाभिध-र्षणम्" ( च चि स्था अ ८ )—इति । तत्र श्वापदा व्याघ्रादय ॥ ३ ॥ ४ ॥

अंसपार्श्वाभितापश्च संतापः करपादयो ।
ज्वरः सर्वाङ्गगश्चेति लक्षणं राजयक्ष्मणः ॥ ५ ॥

निरूपसपणमाह—अंसेत्यादि ।—अंसपार्श्वयोरभिताप पीडा, अंसो भुजस्योपरि भाग, अभितापत्वेनैकं रूप, एवं संतापेऽपि वाच्यम् । करपादयोरित्यत्र प्राप्यकरत्वा-देकवद्भाव मन्यमाना काश्मीरा –'ताप पादकरस्य च'–इति पठन्ति, 'करपादिक' इति च पाठान्तरम् । एतत्त्रय प्रायोभावित्वेन चरकेणोक्त, तेनैकादशरूपेषु मध्येऽन्य-दपि त्रय बोध्यम् । तथा च भोज –"कासो ज्वरो रक्तपित्तं त्रिरूपे राजयक्ष्मणि"–इति । अन्ये त्वाहु,–राजयक्ष्मणि यो ज्वरस्तस्यैतल्लक्षणमिति, जेज्जटस्तु निरूपसप-त्तिमेव व्याख्यातवान् ॥ ५ ॥

*(भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम् ।
स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपे राजयक्ष्मणि ॥)

---

पश्चसंख्य कफष्ठीवन, मद्यो धत्तूरफलभक्षणादिव मनोमोह, पीनस प्रतिश्याय, 'कास-हिका' इतिस्थानेऽन्ये 'पाण्डुनिद्रा' इति पठन्ति, तत्र पाण्डु पाण्डुदेहच्छवि । स च पुरुष शुक्लनयनो भवति । शल्ली गोधानुकारी वज्रदन्ती 'सेहरु' इति विख्यात, कृकलास सरट 'गिरगिट' इति पूर्वदेशीया भाषन्ते, एते त वाहनीभूय वहन्ति । पवनो वायु, अर्दितान् अभिभूतान् ( मा० द० ) ॥ ३ ॥ ४ ॥

* 'इदानीं तस्यैव षड्रूपाणि दर्शयितुमाह–भक्तेत्यादि' ( मा० द० )

---

१ 'भोजने माता' इति ( मा० द० ) २ एतदनन्तर 'स्वप्ने पेशाभिराजीनां मलनक्षाभिरोहणम् ॥ जलाशयानां शैलानां वनानां ज्योतिषामपि । शुष्यतां क्षीय-माणानां पततां चापि दर्शनम् ॥ प्राग्रूपं बहुरूपस्य तज्ज्ञेयं राजयक्ष्मण' इत्यधिकं दर्शनेऽधिकं पठ्यते ।

*स्वरभेदोऽनिलाच्छूलं संकोचश्चांसपार्श्वयोः ।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च पित्ताद्रक्तस्य चागमः ॥ ६ ॥
शिरसः परिपूर्णत्वमभक्तच्छन्द एव च ।
कासः कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेयः कफकोपतः ॥ ७ ॥

राजयक्ष्मणश्चैदोषिकस्यैकादशरूपाणि विभज्य व्याधिप्रभावाज्जायन्ते, न तु सन्निपातज्वरलिङ्गवत्सर्वदोषैः सर्वाणीत्याह—स्वरभेदोऽनिलादित्यादि । शूलमंसपार्श्वयोरेव, संकोच एक एव गणनीयः । अभक्तच्छन्दो भक्तारुचिः । कण्ठस्योद्ध्वंसः कण्ठभेदः, उरकासिकेति कार्त्तिकः ॥ ६ ॥ ७ ॥

†एकादशभिरेभिर्वा षड्भिर्वाऽपि समन्वितम् ।
कासातीसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः ॥ ८ ॥
त्रिभिर्वा पीडितं लिङ्गैः कासश्वासासृगामयैः ।
जह्याच्छोषार्दितं जन्तुमिच्छन् सुविमलं यशः ॥ ९ ॥
सर्वैरर्धैस्त्रिभिर्वाऽपि लिङ्गैर्मांसबलक्षये ।
युक्तो वर्ज्यश्चिकित्स्यस्तु सर्वरूपोऽप्यतोऽन्यथा ॥ १० ॥
महाशनं क्षीयमाणमतीसारनिपीडितम् ।
शूनमुष्कोदरं चैव यक्ष्मिणं परिवर्जयेत् ॥ ११ ॥
शुक्लाक्षमन्नद्वेष्टारमूर्ध्वश्वासनिपीडितम् ।
कृच्छ्रेण बहुमेहन्तं यक्ष्मा हन्तीह मानवम् ॥ १२ ॥

---

* 'दोषभेदेनैकादशरूपाणि दर्शयन्नाह—स्वरेत्यादि । अंसपार्श्वयोः संकोच इत्यत्रापरे 'सङ्कोच' इति पठन्ति, तत्र संकोचो कुञ्चितमिव अंसयोः पार्श्वयोश्च, तेनैव त्रीणि; ज्वरादीनि चत्वारि पित्तेन; शिरसः परिपूर्णत्वं कफेनेति शेषः, अभक्तच्छन्दो भोजने अश्रद्धा, एवं चत्वारि कफेन; एवमेकादश रूपाणि; एवं बहुरूपाण्यपि वातादिभेदेन ज्ञेयानि' (आ० द०) ॥ ६ ॥ ७ ॥

† 'बहुरूपो राजयक्ष्माऽसाध्यस्तमाह—एकादशभिरित्यादि । एतैरिति स्वरभेदोऽनिलाच्छूलमित्यादिकैरेकादशभिः । षड्भिर्वाऽपीति भक्तद्वेषो ज्वर इत्यादिभिः षड्भिः, अपिशब्दात् त्रिभिर्वा अंसपार्श्वाभितापश्चेत्यादिकैः, समन्वितं जह्यात् त्यजेत् । शोषान्वितं पुरुषं यक्ष्मिणमिति । यदि मांसबलक्षये सतीति बोध्यम् । असाध्यलक्षणमाह—सर्वैरिति सर्वैरेकादशभिः । एतैर्लिङ्गैर्मांसबलक्षयैर्युक्तो वर्ज्य इति सम्बन्धः । मांसबलयोः क्षयलिङ्गानि सुश्रुतेनोक्तानि । तद्यथा—"मांसक्षयेऽस्फिगण्डौष्ठोपस्थोरुवक्षःकक्षापिण्डिकोदरग्रीवाशुष्कता रूक्षता सादो गात्राणां धमनीशैथिल्यं च" इति । बलं ओजः । "मूर्च्छा मांसक्षयो मोहः प्रलापोऽज्ञानमेव च । पूर्वोक्तानि च लिङ्गानि मरणं च बलक्षये"—इति । अपरे 'मांसबलक्षये' इति पठन्ति, तत्र मांसबलक्षये सतीति योज्यम् । अतोऽन्यथेति मांसबलक्षयेऽसतीति । एतेन बलमांसाभ्यियुक्तः प्रत्याख्येय. न चिकित्स्यः सर्वरूपोऽपि । अपरमसाध्यलक्षणमाह—महाशनमिति ।—महाशनं बह्वशनमपि क्षीयमाणं मांसबलाभ्यां क्षीणमरिष्ट-

१ 'एभिर्वा' इत्यत्र—'एतैर्वा' इति पाठाशयेन । २ 'शोषान्वितं' इति पाठाभिप्रायेण ।

असाध्यलक्षणमाह—एकादशभिरित्यादि। एकादशभिरेभिरिति स्वरभेदादिभिः कण्ठोद्ध्वंसान्तैः। षड्भिरिति सुश्रुतेन षड्रूपाणि पठितानि,—"भक्तद्वेषो ज्वरः श्वासः कासः शोणितदर्शनम्। स्वरभेदश्च जायेत षड्रूपे राजयक्ष्मणि" (सु. उ. तं. अ. ४१)—इति। 'कासातिसारपार्श्वार्तिस्वरभेदारुचिज्वरैः'—इति तु कस्यचित्तन्त्रस्य षड्रूपाणि माधवकरेण लिखितानीति। एतानि चैकादशरूपाणि प्रायोभावित्वादुक्तानि, अन्यतमरूपपरिहाराद्रूपान्तरयोगेऽप्येकादशत्वं षट्त्वं च स्यादेव, तथाहि चरको निदाने एकादशरूपाणि पठित्वा चिकित्सितेऽपि वेगरोधादिकारणचतुष्टयजे प्रतिकारणं चतुर्धा एकादशरूपाणि पठितवान्। यथा,—"कासोंऽसतापो वैस्वर्यं ज्वरः पार्श्वशिरोरुजा। छर्दनं रक्तकफयोः श्वासो वर्चोग्रहोऽरुचिः॥ रूपाण्येकादशैतानि, यक्ष्मणि षडिमानि च। कासो ज्वरः पार्श्वशूलं स्वरवर्चोग्रहोऽरुचिः" (च. चि. स्था. अ. ८)—इति। एकादशवचनेनैवं बोधयति—संपूर्णे यक्ष्मण्येकादशैव रूपाणि भवन्तीति। जघ्रादिति 'बलमांसक्षये सति' इति शेषः। तथाच चरकः,—"वातव्याधिरपस्मारी कुष्ठी भ्रमी चिरज्वरी। गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः॥ अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षयात्। स्वल्पेष्वपि विकारेषु भिषगेतान् विवर्जयेत्—(च. इ. स्था. अ. ९)" इति। सर्वैरित्यादि। ननु, सर्वरूपाण्येकादश, एकादशानामर्धं सार्धपञ्च भवन्ति, तत्र कतमस्य रूपस्यार्धत्वं, किंभूतं वा भवति? उच्यते, एकस्य रूपस्यार्धत्वासंभवे यदपररूपयोरर्धयोरुत्कृष्टत्वात् षड्रूप एवार्थो ग्राह्यः। निर्दिष्ट इति संबन्धः। अतोऽन्यथेति बलमांसक्षयाभावे सति। महाशनं क्षीयमाणमित्येकमसाध्यलक्षणं, अरिष्टरूपत्वात्; अतीसारपीडितमिति द्वितीयं, यक्ष्मिणो मलायत्तजीवितत्वोक्तत्वात्; शूनमुष्कोदरमिति तृतीयं, मुष्कशोफस्य विरेकसाध्यत्वेन निरुपक्रमत्वात्। शुक्लेत्यादि।—शुक्लाक्षत्वादय एकैकशोऽसाध्यलक्षणानि॥ ८–१२॥

ज्वरानुबन्धरहितं बलवन्तं क्रियासहम्।
उपक्रमेदात्मवन्तं दीप्ताग्निमकृशं नरम्॥ १३॥

चिकित्स्यत्वमाह—ज्वरेत्यादि। उपक्रमेत् चिकित्सेत्। अकृशमित्यनेन यक्ष्मिणोऽपि बलाद्याश्रयोपक्रम्यत्व इति सूच्यते। यदुक्तमन्यत्र,—"परं दिनसहस्रं तु यदि जीवति मानवः। सुभिषग्भिरुपक्रान्तस्तरुणः शोषपीडितः"—इति॥ १३॥

त्वात्। अतीसारनिर्दीपितमतीसारयुक्तम्। उक्तं च "मलायत्तं बलं पुंसां शुक्रायत्तं तु जीवितम्। तस्माद्यत्नेन संरक्षेद्यक्ष्मिणो मलरेतसी"—इति; शूनमुष्कोदरं शोथयुक्तं मुष्कमुदरे च यस्य तं। असाध्यमपि वर्जनीय—शुक्लाक्षमित्यादि। शुक्लेन पाण्डुरेणान्नं करेण बहुतरं मेहन्तं 'भन्नं' इति शेषः। एतेनाग्नेस्तु मन्दभावः कथितः। यस्य पाण्डुरो मलो निष्पद्यते तस्य मार्गरुद्धरो भवति स पुनरसाध्यः स्यात्। एवंभूतं नरं ज्वरातुरानुप्रबन्धितं यक्ष्मा हन्तीति संबन्धः। 'यक्ष्मसिन् दाभ्ये' (आ० द०)॥ ८–१२॥

१ 'अर्धोनानि षट्' इति क.।

*व्यवायशोकवार्धक्यव्यायामाध्वप्रशोषितान् ।
व्रणोरःक्षतसंज्ञौ च शोषिणौ लक्षणैः शृणु ॥ १४ ॥

व्यवायादिजनितधातुशोषणमात्रेण राजयक्ष्मत्वं निरस्यन्नाह—व्यवायेत्यादि । यदुक्तं सुश्रुते,—"केषांचिदेवं शोषो हि कारणैर्भेदमागतः । न तत्र दोषलिङ्गानां समस्तानां निपातनम् ॥ क्षया एव हि ते ज्ञेयाः प्रत्येकं धातुसंक्षयात्" (सु. उ. तं. अ. ४१)-इति । वृद्धस्य भावो वार्धक्यमिति स्वार्थे कय(ष्य)ञिति कार्त्तिकः ॥ १४ ॥

†व्यवायशोषी शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरुपद्रुतः ।
पाण्डुदेहो यथापूर्वं क्षीयन्ते चास्य धातवः ॥ १५ ॥

व्यवायशोषिणो लक्षणमाह—व्यवायेत्यादि । शुक्रस्य क्षयलिङ्गैरिति सुश्रुतोक्तैः । तद्यथा,—"शुक्रक्षये मेढ्रवृषणवेदना, अशक्तिर्मैथुने, चिराद्वा प्रसेकः, प्रसेके चाल्पदर्शनं रक्तस्य शुक्रस्य वा" (सु. सू. स्था. अ. १५)-इति ॥ १५ ॥

‡प्रध्यानशीलः स्रस्ताङ्गः शोकशोष्यपि तादृशः ।

शोकशोषिणो लक्षणमाह—प्रध्यानेत्यादिना । शोकशोष्यपि तादृश इति शुक्रस्य क्षयलक्षणव्यतिरिक्तेन शुक्रशोषलिङ्गेन युक्तः, यदुक्तं सुश्रुते,—"विना शुक्रक्षयकृतैर्विकारैरुपलक्षितः" (सु उ. तं. अ. ४१)-इति ॥

§जराशोषी कृशो मन्दवीर्यबुद्धिबलेन्द्रियः ॥ १६ ॥
कम्पनोऽरुचिमान् भिन्नकांस्यपात्रहतस्वरः ।
ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनं गौरवारतिपीडितः ॥ १७ ॥
संप्रस्रुतास्यनासाक्षिः शुष्करूक्षमलच्छविः ।

वार्धक्यशोषिणो लक्षणमाह—जरेत्यादि । कम्पनः कम्पयुक्तः । भिन्नस्य स्फुटितस्य कांस्यपात्रस्य हतस्य दण्डादिनेव स्वरो यस्य स तथा । ष्ठीवति श्लेष्मणा हीनमिति श्लेष्महरणाय यत्ने कृतेऽपि न श्लेष्मनिःसरणम् । शुष्करूक्षमलच्छविरिति शुष्करूक्षे यथाक्रमं मलच्छवी यस्य स तथा ॥ १६ ॥ १७ ॥—

* 'व्यवायः स्त्रीसेवा, शोकः पुत्रादिवियोगेन चित्तोद्वेगः, वार्धक्यं वृद्धत्वं, व्यायामः शरीरायासजननं, अध्वा दीर्घमार्गाटनं, व्रणः क्षतं, उर:क्षतमुरोऽन्तराभिघातजनितव्रणः । यक्ष्मणो लक्षणैरिति तल्लिङ्गैः, न तु यक्ष्मभवैः.' (आ० द०) ॥ १४ ॥

† 'यथापूर्वं धातवः क्षीयन्ते; तत्र शुक्रस्य पूर्वो मज्जा, मज्ज्ञोऽस्थि, अस्थ्नो मेदः, मेदसो मांसं, मांसस्य रक्तमित्येवं, परं यदि स्त्रीभ्यो न निवर्तते' (आ० द०) ॥ १५ ॥

‡ 'शोकशोषमाह-प्रध्यानशीलः चिन्तापरः, स्रस्ताङ्गः अवसन्नगात्रः' ॥—

§ 'जराशोषिणमाह-जरेत्यादि । मन्दशब्दो वीर्यादिभिः प्रत्येकं संबध्यते । वीर्यं शक्तिः, बलमोजो हृदि स्थितं सप्तधातूनां धाम । अरतिपीडित इति पुनररोचकग्रहणमत्यन्तमरोचकत्वाख्यापनार्थम् । संप्रस्रुतशब्द आस्यादिभिः संबध्यते । आस्यं मुखकुहरं, अक्षि लोचनम्' (आ० द०) ॥ १६-१७ ॥—

१ 'गौरवारुचिपीडितः' इति क. । २ 'बले' इति (आ० द०) । ३ अस्याग्रे क. पुस्तके 'पुनररुचिग्रहणमत्यन्तारोचकख्यापनार्थं' इत्यधिकं पठ्यते । ४ एतच्च 'यक्ष्मणो लक्षणैः शृणु'-इति पाठाभिप्रायेण । ५ एतच्च 'गौरवारुचिपीडित' इति पाठाभिप्रायेण ।

*अध्वशोषी च स्रस्ताङ्गः संभृष्टपरुषच्छविः ॥ १८ ॥
प्रसुप्तगात्रावयवः शुष्कक्लोमगलाननः ।

अध्वशोषिणो लक्षणमाह—अध्वेत्यादि । संभृष्टस्येव भर्जितस्येव छविर्वर्णो यस्य स तथा । प्रसुप्तः स्पर्शानभिज्ञः । क्लोम पिपासास्थानं, क्लोमस्थाने तात्विति पाठान्तरम् ॥ १८ ॥—

†व्यायामशोषी भूयिष्ठमेभिरेव समन्वितः ।
लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना ॥ १९ ॥

व्यायामशोषिणो लक्षणमाह—व्यायामेत्यादि । एभिरध्वशोषलक्षणैः, अध्वनो व्यायाममात्रसामान्यात्[१] । भूयिष्ठमत्यर्थं, अध्वशोषेऽल्पानि लक्षणानि व्यायामजे तु महान्तीत्यर्थः । तथा 'उरःक्षतकृतैर्लिङ्गैः संयुक्तः क्षतवर्जितः' इति सुगमः पाठः । गदाधरस्तु,—"लिङ्गैरुरःक्षतकृतैः संयुक्तश्च क्षतं विना—" इति पठति, व्याचष्टे च—उरःक्षतेन व्यायामभाराध्ययनद्रुतयानादिहेतुना यः कृतः शोषः सोऽप्येभिरेवाध्वशोषलिङ्गैर्भूयिष्ठं संयुक्तः, क्षतं क्षतकार्यं विना । क्षतकार्यं तु सुश्रुते यथा,—"तस्योरसि क्षते रक्तं पूयं श्लेष्मा च गच्छति—" इत्यारभ्य "भिन्नवर्णस्वरो नरः" ( सु. उ. त. अ. ४१ )-इत्यन्तमेतान्येव लक्षणानि क्षतेऽधिकानि, उरःक्षतकारणव्यायामभारादिकृतशोषस्य लक्षणमेव भूयिष्ठं यस्तदेवोरःक्षतकारणमात्रत्वादध्वनोऽपीत्यर्थः । अथवा क्षतं विना व्रणं विना, उरःक्षतनिमित्तभाराध्ययनादिनाऽतिमात्रेण यः कृतः शोषः सोऽप्येभिरेवाध्वशोषलिङ्गैः समन्वित इति प्रकृतेन संबन्धः, सव्रणस्य तु वक्ष्यमाणमेव लक्षणमिति ॥ १९ ॥

‡रक्तक्षयाद्वेदनाभिस्तथैवाहारयन्त्रणात् ।
व्रणितस्य भवेच्छोषः स चासाध्यतमो मतः ॥ २० ॥

कारणत्रयेण व्रणशोषिणमाह—रक्तक्षयादित्यादि । वेदना व्रणवेदनाः, ताभिर्भयशोकवन्मनःक्षोभाद्वातप्रकोपादेव शोषः । स चासाध्यतम इति स्वार्थिकस्तमप्, यथा—"युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम्"-इति । अन्येनैवातिशायिकप्रत्ययेन प्रशस्ततमत्वस्य प्रतिपादितत्वात् अथवा याप्यापेक्षयाऽसाध्यतमशब्देन प्रत्याख्येय उच्यते,

* 'स्रस्ताङ्गः' इति स्रस्ताङ्गः शिथिलगात्रः । प्रसुप्तगात्रावयव इति प्रसुप्तः स्पर्शानभिज्ञोऽवयवः शरीरप्रदेशो यस्य तथोक्तः । शुष्कशब्दः क्लोमादिभिः प्रत्येकं संबध्यते । यद्यपि यथोद्देशं जराशोषानन्तरं व्यायामशोषी वाच्यो नाध्वशोषी, तथाऽप्यध्वशोषिणो लक्षणानां व्यायामशोषिण्यतिदेशात् पूर्वमत्राध्वशोषी निर्दिष्टः । यद्येवं तर्हि व्यायामशोषिलक्षणान्येव कुतोऽध्वशोषिणि नातिदिश्यन्ते । सत्यं, उरःक्षतलिङ्गानामधिकानां व्यायामशोषिणि सद्भावात् । अथैवं चेदध्वशोषी कथमाद्यावुक्त इति चेत्—छन्दोऽनुरोधात्' ॥ १८ ॥—

† 'एभिरिति स्रस्ताङ्गत्वादिभिरत्र परोक्तैरेवाध्वशोषिलक्षणैः, '[illegible] संयुक्त' इति सुगमः पाठः । 'कासमानश्छर्दयेच्च पीतरक्तं सितारुणम् ॥ संतप्तवक्षा रोगार्तः दूयनात्परितप्यति । दुर्गन्धोच्छ्वासवदनो भिन्नवर्णस्वरो नरः "-इति' (मा० द०) ॥ १९ ॥

‡ 'व्रणशोषिणमाह—रक्तेत्यादि । रक्तक्षयात् रक्तातिस्रुतेः' ॥ २० ॥

१ 'व्यायाममात्रमाध्वनम्' इति च ।

याप्यस्याप्यसाध्यरूपत्वात् । ननु, एवं सति "कृशानां क्षणशोषिणाम् । बृंहणीयो विधि कार्य ( सु. चि स्था. अ १ )"-इति सुश्रुतेनैवोक्त चिकित्सितस्थाने विरुध्यते ? उच्यते, प्रबलशोषे प्रत्याख्येयत्वं, नातिप्रबले तु चिकित्साविधानमिति समर्थनीयम् । चन्द्रिकाकारस्तु 'स चासाध्यतम स्मृत '-इत्यस्य स्थाने 'याप्यासाध्यतमस्तु सः' इति पठति, चिकित्साया बृंहणविधेरभिधानादिति ॥ २० ॥

*धनुषाऽऽयस्यतोऽत्यर्थं भारमुद्वहतो गुरुम् ।
युध्यमानस्य बलिभिः पततो विषमोच्चतः ॥ २१ ॥
वृषं हयं वा धावन्तं दम्यं वाऽन्यं निगृह्णतः ।
शिलाकाष्ठाश्मनिर्घातान् क्षिपतो निघ्नतः परान् ॥ २२ ॥
अधीयानस्य वाऽत्युच्चैर्दूरं वा व्रजतो द्रुतम् ।
महानदीर्वा तरतो हयैर्वा सह धावतः ॥ २३ ॥
सहसोत्पततो दूरं तूर्णं वाऽपि प्रनृत्यत. ।
तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्भृशमभ्याहतस्य वा ॥ २४ ॥
विक्षते वक्षसि व्याधिर्बलवान् समुदीर्यते ।
स्त्रीषु चातिप्रसक्तस्य रूक्षाल्पप्रमिताशिनः ॥ २५ ॥
उरो विभज्यतेऽत्यर्थं भिद्यतेऽथ विरुज्यते ।
प्रपीड्यते ततः पार्श्वे शुष्यत्यङ्गं प्रवेपते ॥ २६ ॥
क्रमाद्वीर्यं बलं वर्णो रुचिरग्निश्च हीयते ।
ज्वरो व्यथा मनोदैन्यं विड्भेदाग्निवधावपि ॥ २७ ॥
दुष्टः श्यावः सुदुर्गन्धः पीतो विग्रथितो बहुः ।
कासमानस्य चाभीक्ष्णं कफः सासृक् प्रवर्तते ॥ २८ ॥
स क्षती क्षीयतेऽत्यर्थं तथा शुक्रौजसोः क्षयात् ।

शोषनिदानेनैव साहसादिना उर क्षतस्य सम्भवात्, उर क्षतेनापि शोषसम्भवात्, शोषाधिकारे सनिदानमुर क्षतमाह—धनुषेत्यादि । आयस्यत इति आयास कुर्वतो 'नरस्य' इति शेष , 'आयम्यत ' इति पाठान्तरे विस्तीर्यमाणहृदयस्य । दम्य दमनार्ह

* 'अधीयानस्य उच्चै पठत । दूर वा व्रजतो द्रुतमिति शीघ्र दूर गच्छत । तूर्णं शीघ्रमतिनृत्यत । विक्षते विदारिते, वक्षसि हृदि । बलवान् समुदीर्यते उत्कट उत्पद्यते । उर क्षतक्षीणस्यैऽपरमपि कारणमाह—स्त्रीष्वित्यादि । रूक्ष चणकादि, अल्प स्तोक, प्रमितमकालभोजनम् । उरो भिद्यत इव शूलेन, विभज्यते द्विधा क्रियत इव, 'विरुह्यते' इति पाठान्तरम् । वर्णो गौरादि , ०यथो अङ्गाना, मनोदैन्य मनोग्लानि , अग्निवधोऽग्न्यभाव , कफ सास्रं प्रवर्तते इति रुधिरयुक्त कफ ष्ठीवति, 'सास्र' इत्यत्र 'सान्द्र' इति पाठान्तर, तत्र सान्द्रो घन', एभि कारणै , सक्षत क्षतवान्, 'स तत' इति पाठे स पुरुष , तत उर क्षतात्; अत्यर्थं क्षीयते धातुशोषमाप्नोतीत्यर्थ ।( आ० द० ) ॥ २१—२८ ॥—

१ एतच्च 'सास्र' इति पाठाभिप्रायेण ।

तृणादिकमेव बलवन्तमित्यर्थः । अन्यं वा गजोष्ट्रादिकं, निगृह्णतः विधारयतः । शिला दीर्घशिला, अश्मा तदितरप्रस्तरखण्डः, निर्घातोऽस्त्रविशेषः, किंवा निर्घातः शिलादीनां प्रेरणविशेषोऽतिबलसंपादितः । निघ्नतः परान् शत्रून् ताडयतः । अधीयानस्य पठतः । महानदीस्तरत इति, 'बाहुभ्यां' इति शेषः । तूर्णं शीघ्रम् । तथाऽन्यैः कर्मभिः क्रूरैर्मल्लयुद्धादिभिरभ्याहतस्य, क्रूरैरित्यत्र शूरैरिति शत्रुभिरित्यन्ये । एषां कारणानां मध्ये किंचिन्निखिलदेहस्यायासकरं, किंचिदुरस एवेति बोद्धव्यम् । व्याधिरिति उरःक्षतलक्षणः, अथवा व्याधिर्वायुः, 'दोषा अपि व्याधिशब्दं लभन्ते' इत्यागमादिति जेज्जटः । उरो विभज्यते भज्यत इव, भिद्यते विदार्यते द्विधा क्रियत इव; विदह्यत इति पाठान्तरमसंगतं, कारणाभावात् टीकाकारैरव्याख्यातत्वाच्च । वीर्यं शक्तिः । बलं मांसोपचयः । विड्भेदोऽग्निवधादपीति पाठान्तरे अग्निवधादेतोर्विड्भेदो भवतीत्यर्थः; अपिशब्दात् व्याधिमहिम्ना विनाऽप्यग्निवधाद्विड्भेदो भवतीत्याहुः । दुष्टो व्यापन्नः, तदेव विवृणोति—श्याव इत्यादि । विग्रथितो विशेषेण ग्रन्थिलः, विबद्ध इति जेज्जटः । स पुरुषः, क्षती उरःक्षतवान्, क्षीयते धातुशोषमाप्नोति । न केवलं क्षतादेव क्षीयते, किं तर्हि स्त्रीसेवादिना शुक्रौजसोः क्षयादपीत्याह—तथेत्यादि ॥ २१—२८ ॥—[1]

*अव्यक्तं लक्षणं तस्य पूर्वरूपमिति स्मृतम् ॥ २९ ॥

पूर्वरूपमाह—अव्यक्तमित्यादि ॥ २९ ॥

†उरोरुक् शोणितच्छर्दिः कासो वैशेषिकः क्षते ।
क्षीणे सरक्तमूत्रत्वं पार्श्वपृष्ठकटीग्रहः ॥ ३० ॥

क्षतक्षीणयोरसाधारणलक्षणमाह—उरोरुगित्यादि । वैशेषिको विशिष्टः कासः; स च विशेष उक्तो दुष्टश्यावादिकफसंयुक्तत्वं; किंवा वैशेषिक उपद्रवः । क्षत इति छेदः । क्षीण इति क्षय इत्यर्थः । सरक्तमूत्रत्वमालोहितमूत्रता ॥ ३० ॥

‡अल्पलिङ्गस्य दीप्ताग्नेः साध्यो बलवतो नवः ।
परिसंवत्सरो याप्यः सर्वलिङ्गं तु वर्जयेत् ॥ ३१ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने राजयक्ष्मक्षतक्षीणनिदानं समाप्तम् ।

तयोः साध्यलक्षणमाह—अल्पेत्यादि ॥ ३१ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां राजयक्ष्मक्षतक्षीणनिदानं समाप्तम् ॥ १० ॥

---

* 'तस्य क्षतस्य, रूपमव्यक्तमस्पष्टम्' ( आ० द० ) ॥ २९ ॥

† 'क्षते उरःक्षते । वैशेषिकः क्षीणकासापेक्षया अधिक इत्यर्थः । शुक्रौजसोः क्षये तु सरक्तमूत्रादिरुपद्रवः । वैशेषिको विशिष्टः कास इत्यस्मिन् स्थाने संबध्यते' (आ०द०) ।३०॥

‡ 'उरःक्षते साध्ययाप्यासाध्यत्वमाह—अल्पेत्यादि । अल्पलिङ्गस्य अल्परूपस्य' ( आ० द० ) ॥ ३१ ॥

१ 'पर्वतादिप्रस्तरखण्डः' इति क. ।

# अथ कासनिदानम् ।

*धूमोपघाताद्रसतस्तथैव व्यायामरूक्षान्ननिषेवणाच्च ।
विमार्गगत्वाच्च हि भोजनस्य वेगावरोधात् क्षवथोस्तथैव ॥ १ ॥
प्राणो ह्युदानानुगतः प्रदुष्टः स भिन्नकांस्यस्वनतुल्यघोषः ।
निरेति वक्त्रात्सहसा सदोषो मनीषिभिः कास इति प्रदिष्टः ॥ २ ॥

क्षयरूपे कासपाठात् कासोपेक्षया च क्षयोत्पत्तेस्तदनन्तरं कासनिदानमाह—धूमोपघातादित्यादि ।—धूमेन मुखनासाप्रविष्टेनोपघातो धूमोपघातः । रसत इति वातेनोर्ध्वं नीताद्रसात्, रजस इति पाठान्तरे मुखनासाप्रविष्टधूलेरित्यर्थः । विमार्गगत्वं च हि भोजनस्यातिद्रुताभ्यवहारादिना, चशब्दः समुच्चये, हि पादपूरणे । वेगावरोधादिति पुरीषादेः, तेन हि वायुरूर्ध्वगः स्यात् । क्षवथोस्तथैवेति वेगावरोधादिति संबन्धः । प्राणो वायुरुदानेन दुष्टेनानुगतो वक्त्रान्निरेति । स वायुः, भिन्नकांस्यपात्रवत् हतस्वनः कास इति प्रदिष्टः । सदोषः सकफपित्तः, वातिकपैत्तिकादिभेदभिन्न इति वा । एतेनैव समानस्थाननिदानाभ्यां हिक्काश्वासाभ्यामस्य भेदः, न हि तत्र वातिकपैत्तिकादिभेदेन व्यपदेश इति गदाधरः । कसति शिरःकण्ठादूर्ध्वं गच्छति वायुरिति कासः, 'कस' गतौ इत्यस्मात्; 'कसनात् कासः' (च. चि. स्था. अ. १८)—इति चरके पाठः, कासनं कास इति वा, "भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव" (सु. उ. तं. ५२)—इति सुश्रुतदर्शनात् ॥ १ ॥ २ ॥

†पञ्च कासाः स्मृता वातपित्तश्लेष्मक्षतक्षयैः ।
क्षयायोपेक्षिताः सर्वे बलिनश्चोत्तरोत्तरम् ॥ ३ ॥

संख्यामाह—पञ्चेत्यादि । पञ्च कासा इति संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां पञ्चग्रहणं जराकासस्य दोषजेष्वन्तर्भूतस्याधिक्यनिरासार्थं, पञ्चानामपि वा क्षयकारणत्वप्रतिपादनार्थमिति । क्षयाय धातुक्षयाय ॥ ३ ॥

‡पूर्वरूपं भवेत्तेषां शूकपूर्णगलास्यता ।
कण्ठे कण्डूश्च भोज्यानामवरोधश्च जायते ॥ ४ ॥

पूर्वरूपमाह—पूर्वेत्यादि । भोज्यानामवरोध इत्यरुचिरभ्यवहारासामर्थ्यं वा ॥ ४ ॥

---

* 'रजसेति रजसा मुखनासाप्रविष्टेन, 'रसतः' इति पाठान्तरं, तत्र रसो जलं; व्यायाम आयासः, रूक्षान्नं चणकादि । तस्य संप्राप्तिमाह—प्राण इत्यादि । प्राणो वायुर्दुष्टः उदानेन दुष्टेनानुगतो बहिर्निरेति गच्छति, स दोषो रोगः कास इति प्रदिष्टः । कार्ये कारणोपचारोऽयं रोग इति बोध्यम् । किंविशिष्टः स दोषः ? भिन्नकांस्यपात्रस्वनः, भग्नकांस्यपात्रस्वनः, स वातपित्तकफभेदैर्भिन्न इति तस्य निरुक्तिः । कास इति 'कास' दीप्तौ, इत्यस्माद्धातोः अनवधानतः अनेकार्थत्वाद्धातूनामयमर्थः । अथवा कासनं कास इति घञ्; "कसनात्" कास इति चरकपाठात् (आ० द०) ॥ १ ॥ २ ॥

† 'उरःशिरःस्थैः अनतिरिच्यमानैः क्षयाय धातुक्षयाय भवन्ति; उत्तरोत्तरमिति वातात्पैत्तिकः, पैत्तिकात् श्लैष्मिकः, तस्मात्क्षतजो बली, तस्मात् क्षयजः.' (आ० द०) ॥ ३ ॥

‡ 'शूके धान्याग्रे शूकपूर्णकण्ठाकारः' (आ० द०) ॥ ४ ॥

*हृच्छङ्खमूर्धोदरपार्श्वशूली क्षामाननः क्षीणबलस्वरौजाः ।
प्रसक्तवेगस्तु समीरणेन भिन्नस्वरः कासति शुष्कमेव ॥ ५ ॥

वातिककासस्वरूपमाह—हृदित्यादि । शङ्खो ललाटैकदेशः । क्षामाननः शुष्कमुखः, वातेन शोषणात् । प्रसक्तवेगः सततकासवेगः । शुष्कमिति श्लेष्मादिनिष्ठीवन-रहितम् ॥ ५ ॥

†उरोविदाहज्वरवक्त्रशोषैरभ्यर्दितस्तिक्तमुखस्तृषार्तः ।
पित्तेन पीतानि वमेत्कटूनि कासेत्सपाण्डुः परिदह्यमानः ॥ ६ ॥

पैत्तिककासमाह—उर इत्यादि । अभ्यर्दितः पीडितः ॥ ६ ॥

‡प्रलिप्यमानेन मुखेन सीदन् शिरोरुजार्तः कफपूर्णदेहः ।
अभक्तरुग्गौरवकण्डुयुक्तः कासेद्भृशं सान्द्रकफः कफेन ॥ ७ ॥

कफजकासमाह—प्रलिप्यमानेनेत्यादि । प्रलिप्यमानेन श्लेष्मलिप्तेन मुखेनोपलक्षितः, सीदन् अङ्गावसादयुक्तः । अभक्तरुगरुचिः ॥ ७ ॥

§अतिव्यवायभाराध्वयुद्धाश्वगजविग्रहैः ।
रूक्षस्योरः क्षतं वायुर्गृहीत्वा कासमाचरेत् ॥ ८ ॥
स पूर्वं कासते शुष्कं ततः ष्ठीवेत्सशोणितम् ।
कण्ठेन रुजताऽत्यर्थं विरुग्णेनेव चोरसा ॥ ९ ॥
सूचीभिरिव तीक्ष्णाभिस्तुद्यमानेन शूलिना ।
दुःखस्पर्शेन शूलेन भेदपीडाभितापिना ॥ १० ॥
पर्वभेदज्वरश्वासतृष्णावैस्वर्यपीडितः ।
पारावत इवाकूजन् कासवेगात् क्षतोद्भवात् ॥ ११ ॥

क्षतकासमाह—अतिव्यवायेत्यादि । विग्रहो निधारणं युद्धस्योपात्तत्वात्; विग्रह इति पाठे स एवार्थः । ततः ष्ठीवेत् सशोणितमिति कासाभिघातेन हृदयस्य विदारणात् । कण्ठेनेत्युपलक्षणे तृतीया, एवमुरसेति । विरुग्णेनेव भग्नेनेव, सूचीभिरिव तुद्यमानेन, शूलिना दुःखस्पर्शेन चोरसेति सम्बन्धः, दुःखस्पर्शत्वं स्पर्शासहत्वम् । शूलेनोपलक्षितः, तच्च पार्श्वादौ बोध्यम् । वाग्भटेनापि पठ्यते,—"पार्श्वशूली" (पा

*'क्षीणबलस्वरौजा इति क्षीणं बलं स्वर ओजश्च यस्य स तथा । भिन्नस्वरः छिन्नभिन्न-स्वर इव' (आ० द० ) ॥ ५ ॥

† "उरोपद्रवे पीतानि वमेत् पित्तं कफसंसृष्टं निष्ठीवति; उक्तं च तन्त्रान्तरे—"श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिकः" इति । पाण्डुना सह वर्तत इति सपाण्डुः, पित्तेन नयनादीनामपि पाण्डुत्वमुक्तम् । परिदह्यमानो दाहपरिप्लुतः' (आ० द० ) ॥ ६ ॥

‡ 'कफपूर्णदेहत्वाद्गौरवं, कण्डू कण्ठदेशे, सान्द्रकफो घनश्लेष्मा' (आ० द० ) ॥ ७ ॥

§ 'एतैः कारणैः रूक्षस्य पुरुषस्य उरः क्षतं गृहीत्वा वायुः कासमावहेत् करोति । युद्धं मल्लयुद्धादिकम् । अत्यर्थं रुजता पीड्यमानेन' (आ० द० ) ॥ ८–११ ॥

१ एतच्च 'कासमावहेत्' इति पाठाभिप्रायेण ।

नि. स्था अ. ३ )-इति । भेदपीडाभितापिनेति शूलविशेषणम् । पारावत इव कूजन्, भवतीति शेषः ॥ ८-११ ॥

*विषमासात्म्यभोज्यातिव्यवायाद्वेगनिग्रहात् ।
घृणिनां शोचतां नृणां व्यापन्नेऽग्नौ त्रयो मलाः ।
कुपिताः क्षयजं कासं कुर्युर्देहक्षयप्रदम् ॥ १२ ॥

स गात्रशूलज्वरदाहमोहान् प्राणक्षयं चोपलभेत कासी ।
शुष्यन्विनिष्ठीवति दुर्बलस्तु प्रक्षीणमांसो रुधिरं सपूयम् ।
त सर्वलिङ्गं भृशदुश्चिकित्स्यं चिकित्सितज्ञाः क्षयजं वदन्ति ॥१३॥

क्षयजकासमाह—विषमेत्यादि । घृणिना शोचता चाहाराभावात्कुपितेन वायुनाऽग्नेरपहतत्वाद्दोषत्रयप्रकोप इति । क्षयजमिति शुक्रादिधातुक्षयजं, न तु राजयक्ष्मजम् । त्रिदोषजेऽपि राजयक्ष्मणि कास कफेनैव क्रियते । यदुक्त,—"कास कण्ठस्य चोद्ध्वंसो विज्ञेय कफकोपत –"इति, क्षयजकासस्तु त्रिदोषज इति । ननु, कासादेव क्षयो जायते तत्कथ क्षयज कास इति ? उक्त हि–"कासात्संजायते क्षय "–इति । उच्यते, द्वयो हि परस्परं व्यक्तिभेदेन कार्यकारणभावो भवत , यथाऽष्ठीलावाशौऽभिमान्द्यादाविति । स गात्रशूलेत्यादिश्लोकार्धस्य क्षयजकासमध्ये पाठोऽयुक्त प्रतिभाति, सुश्रुते क्षतजकासे पठितत्वात्, क्षयकासस्थाने चरकसुश्रुतवाक्ये मेलयित्वा माधवकरेण लिखित , उच्यते, स गात्रशूलेत्याद्यनन्तरं क्षयकास सुश्रुतेन पठित , तेन स गात्रशूलेत्यादिश्लोकार्धस्य परेण सम्बन्धात् क्षयकासलिङ्गत्वमिति माधवकरस्याभिप्राय , एतच्चान्ये नानुमन्यन्ते, यत क्षतकासस्यावस्थायामसाध्यत्वख्यापनपरमेतद्व्याख्यात जेज्जटेन, गयदासेनापि क्षतजकासरूपत्वेनेति ॥ १२ ॥ १३ ॥

†इत्येष क्षयजः कासः क्षीणानां देहनाशनः ।
साध्यो बलवतां वा स्याद्याप्यस्त्वेवं क्षतोत्थितः ॥ १४ ॥
नवौ कदाचित्सिध्येतामपि पादगुणान्वितौ ।
स्थविराणां जराकासः सर्वो याप्यः प्रकीर्तितः ।
त्रीन् पूर्वान्साधयेत्साध्यान्पथ्यैर्याप्यांस्तु यापयेत् ॥ १५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने कासनिदान समाप्तम् ॥

असाध्यत्वादिलक्षणमाह—इत्येषेत्यादि । पादगुणान्विताविति वैद्यादिचतुष्पादसम्पत्तौ । स्थविराणां वृद्धानां, स्थविराणामित्युक्तेऽपि जराशब्दोपादानं जरानिमित्तधातुक्षयज एव कासो याप्य , अपचारजस्त्रिदोषजस्तु साध्य इति बोधनार्थम् ॥ १४ ॥ १५ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां कासनिदान समाप्तम् ॥

---

* 'क्षयजमिति रसादिक्षयजम् । जल्पकल्पतरौ—शुष्यन्निति शुष्यमाण, दुर्बल बलरहित, प्रक्षीणमांसस्त्वगादिभिन्न, सर्वलिङ्गमिति त्रिदोषलिङ्गमसाध्यम्' (आ० द०) ॥ १२ ॥ १३ ॥

† 'इत्येषो क्षयजः शोषो वा साध्यश्च, एवं क्षतज कदाचित्साध्यो याप्यो वा । पुन साध्यत्वमाह–नवाविति । नवौ उत्पन्नौ द्वौ पादगुणान्वितौ वैद्यादि-

# अथ हिक्काश्वासनिदानम् ।

*विदाहिगुरुविष्टम्भिरूक्षाभिष्यन्दिभोजनैः ।
शीतपानाशनस्थानरजोधूमातपानिलैः ॥ १ ॥
व्यायामकर्मभाराध्ववेगाघातापतर्पणैः ।
हिक्का श्वासश्च कासश्च नृणां समुपजायते ॥ २ ॥

समाननिदानत्वात्कासानन्तरं हिक्काश्वासौ । ननु, एतेषां प्रायस्तुल्यनिदानचिकित्सितत्वेनैकाधिकारे कथमनभिधानं ? उच्यते; यद्यपि कासश्वासहिक्कानां निदानं समानं, तथापि कासस्य दोषभेदाद्भेदः, यथा-वातिकः पैत्तिकः श्लैष्मिक इत्यादिः; हिक्काश्वासौ तु कफवातात्मकावेव, यदाह दृढबलः,-"कफवातात्मकावेतौ पित्तस्थानसमुद्भवौ" ( च. चि. स्था. अ. १७ )-इति । सुश्रुतोऽप्याह,-"वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि" ( सु. उ. त. अ. ५१ )—इति; भेदस्त्वनयोः संप्राप्तिभेदाल्लिङ्गक्रियादिना च, न तु कासवद्दोषभेदेन; श्वासकासाभ्यां हिक्कायाः स्वतन्त्रोऽपि भेदः । पित्तस्थानसमुद्भवाविति विशेषणं सुश्रुतमते क्षुद्रां न प्राप्नोति, सा हि जत्रुमूलात्प्रवर्तत इति पठ्यते; चरकमते तु यमलां न प्राप्नोति, साऽपि जत्रुमूलात्प्रवर्तत इति पठ्यते; तस्मात् पित्तस्थानसमुद्भवाविति विशेषणं छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन बोध्यम् । शीतशब्दः पानादिभिस्त्रिभिः संबध्यते । रजो धूलिः, सा च धूमवन्नासाप्रवेशात् कारणम् । व्यायामकर्म धनुराकर्षणादिव्यापारः, वेगाघातो मलादिवेगविधारणं, अपतर्पणमनशनादि । कासोक्तोऽप्येकनिदानत्वप्रतिपादनार्थं पुनरभिहित इति ॥ १ ॥ २ ॥

†मुहुर्मुहुर्वायुरुदेति सस्वनो यकृत्प्लिहान्त्राणि मुखादिवाक्षिपन् ।
स घोषवानाशु हिनस्त्यसून् यतस्ततस्तु हिक्केत्यभिधीयते बुधैः ३

यद्गुणादस्यपरिवृत्तो कदाचित् निष्पेतो साध्यो भवत इत्यर्थः । यान्त्यमाह-स्वनियमानिति । एतस्य दोषनैमन्त्यभूतस्याम पृथक्त्वम् । पञ्चत्वामपि विशिष्टाकारेण साध्यासाध्यत्वमाह-धनिति ।—वातपित्तश्लेष्मजान् यत्नैः साधयेत्, एतेन मयः श्वासाः साध्या उक्ताः; क्षतजम् सर्वेषांपदेश्य साध्यतां गदेत । सन्निपात इति सर्वैवनामवराजातस्य यत्नेषुषेऽसाध्यो भवतीति दर्शयति । "धूमायनेन स्वार्थं हरितं पीतनस्यिदम् । निर्दिनेषु प्रसन्नात्मायां न जीवति दशनः ॥ साध्यासाध्यप्रविभिन्नभेदादयो गदाः । यथाश्रुतेषुचाध्याप्यासम्भावात् त्वया जयेत्"-इति (मा० ९० ) ॥ १४ ॥ १५ ॥

* 'विदाहीनि कासिकेषुगुरुत्वकमध्वनिवार्तानि विदग्धजीवनानि, गुरूणि गुणतः मात्रया, विष्टम्भीनि चनकादीनि, अभिष्यन्दीनि आभिमुख्येन स्यन्दितुं शीलं येषां तान्यभिष्यन्दभोजनानि कारित्वमानस्मशीतादीनि' ( मा० ८० ) ॥ १ ॥ २ ॥

† 'श्वासविमात्र-मुहुर्मुहुरित्यादि । मुहुर्मुहुर्वारंवारं, यकृत्प्लीहान्त्राणि मुखादिदेशेन मुखमध्येन आक्षेपकरकारीणि लोकानि मन्यते, स च घोषवान्-"आक्षेपकरकारीणि

१ स्तत्र 'महाकाशाः सर्वे मन्त्राः महिषिताः' इति पाठान्तरेण ।

हिक्कानां स्वरूपं निरुक्तिं चाह—मुहुर्मुहुरित्यादि । वायुरत्र सोदानः प्राण इत्याहुः । उदेति ऊर्ध्वं गच्छति । सस्वन इति हिगितिशब्दवान् । ऊर्ध्वगमनमेव विशिनष्टि,—यकृदित्यादि । अत्र प्लिहेति ह्रस्वेकारश्छन्दोऽनुरोधात् । मुखादिति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी, तेन यकृत्प्लीहान्त्राणि मुखमानीय, आक्षिपन् निःसारयन्निवेत्यर्थः । स इति वायुः । 'हिनस्त्यसून्' इति हिक्केति निरुक्तिः, पृषोदरादिना रूपसिद्धिः । 'हिगिति कृत्वा कायति शब्दायते, इति हिक्का' इति शाब्दिकाः ॥ ३ ॥

*अन्नजां यमलां क्षुद्रां गम्भीरां महतीं तथा ।
वायुः कफेनानुगतः पञ्च हिक्काः करोति हि ॥ ४ ॥

तासां भेदं संख्यां चाह—अन्नजामित्यादि । यमलैव चरके व्यपेतेति नाम्ना पठिता, अन्नपाने व्यपेते परिणते जायत इत्यतो हेतोः; अस्यां चानुक्तमपि यमलवेगत्वं सुश्रुतदर्शनाद्विशेयम् । अन्नजायाः साध्यत्वेन प्राशस्त्यात्पूर्वमभिधानम् ॥ ४ ॥

†कण्ठोरसोर्गुरुत्वं च वदनस्य कषायता ।
हिक्कानां पूर्वरूपाणि कुक्षेराटोप एव च ॥ ५ ॥

पूर्वरूपमाह—कण्ठोरसोरित्यादि । वदनस्य कषायता वातात्, नतु कफान्माधुर्यं, व्याधिप्रभावात् ॥ ५ ॥

‡पानान्नैरतिसंयुक्तैः सहसा पीडितोऽनिलः ।
हिक्कयत्यूर्ध्वगो भूत्वा तां विद्यादन्नजां भिषक् ॥ ६ ॥

अन्नजाया लक्षणमाह—पानान्नैरित्यादि । हिक्कयति हिक्कां करोति ॥ ६ ॥

§चिरेण यमलैर्वेगैर्या हिक्का संप्रवर्तते ।
कम्पयन्ती शिरोग्रीवं यमलां तां विनिर्दिशेत् ॥ ७ ॥

यमलामाह—चिरेणेत्यादि । कम्पयन्ती शिरोग्रीवमित्युपलक्षणं, तेन चरकोक्तप्रलापमूर्च्छावमितृष्णावैचित्त्यजृम्भाविप्लुताक्षत्वमुखशोषा बोध्या इति गयदासः ॥ ७ ॥

स्रोतांसि विकृतोऽनिलः । हिक्काः करोति सरुष्य तासां हि पृथक्शृणु"—इति । हिक्काशब्दोऽत्र द्विरावर्तयितव्यः; तेन हिक्केति हिक्कास्वरूपकथनं स्यात्, स घोषवानित्यादिना हिक्कानिरुक्तिकथनमिति । सस्वन इत्यनेन गतत्वात् सघोषवानित्यभिधानं निरुक्तिप्रदर्शनार्थम्' (आ० द०) ॥ ३ ॥

* 'अन्नजेत्यादीनि तासां नामानि' (आ० द०) ॥ ४ ॥

† 'कुक्षेरुदरस्य, आटोपः पूर्णतामिव' (आ० द०) ॥ ५ ॥

‡ 'शीतैरिति शेषः । अतिसंयुक्तैरिति उपर्युपर्युपयुक्तैः । सहसा पीडितोऽनिलो हृदिस्थः प्राणो वायुरूर्ध्वगतिस्ताडितश्चेद्यदि हिक्कां करोति, सा हिक्का अन्नजेति कथ्यते' (आ० द०) ॥ ६ ॥

§ 'या हिक्का यमलैर्वेगैर्युग्मैरुपक्रमैः शिरोग्रीवं कम्पयन्ति चिरकालेन प्रवर्तते तां नामतो यमलामाहुः' (आ० द०) ॥ ७ ॥

---

१ 'अन्नजादीनां' इति क. ।

*प्रकृष्टकालैर्या वेगैर्मन्दैः समभिवर्तते ।
क्षुद्रिका नाम सा हिक्का जत्रुमूलात्प्रधाविता ॥ ८ ॥

क्षुद्रामाह—प्रकृष्टेत्यादि । प्रकृष्टकालैश्चिरेण । जत्रु कण्ठोरसोः सन्धिरिति जेज्जटः; जत्रु ग्रीवामूलं, तद्ग्रहणेनैव हृदयक्लोमकण्ठग्रहणमिति गयदासः ॥ ८ ॥

†नाभिप्रवृत्ता या हिक्का घोरा गम्भीरनादिनी ।
अनेकोपद्रववती गम्भीरा नाम सा स्मृता ॥ ९ ॥

गम्भीरामाह—नाभीत्यादि । नाभिप्रवृत्तेति नाभितः प्रवृत्ति संजाता, अत एवास्या गम्भीरत्वम् । अनेकोपद्रववती तृष्णाज्वरादियुक्ता ॥ ९ ॥

‡मर्माण्युत्पीडयन्तीव सततं या प्रवर्तते ।
महाहिक्केति सा ज्ञेया सर्वगात्रप्रकम्पिनी ॥ १० ॥

महतीमाह—मर्माणीत्यादि । मर्माणीति प्रधानानि बस्तिहृदयशिरांसि ॥ १० ॥

आयम्यते हिक्कतो यस्य देहो दृष्टिश्चोर्ध्वं नाम्यते यस्य नित्यम् ।
क्षीणोऽन्नद्विट् क्षौति यश्चातिमात्रं तौ द्वौ चान्त्यौ वर्जयेद्धिक्कमानौ ॥

§अतिसंचितदोषस्य भक्तच्छेदकृशस्य च ।
व्याधिभिः क्षीणदेहस्य वृद्धस्यातिव्यवायिनः ॥ १२ ॥
आसां या सा समुत्पन्ना हिक्का हन्त्याशु जीवितम् ।
यमिका च प्रलापार्तिमोहतृष्णासमन्विता ॥ १३ ॥
अक्षीणश्चाप्यदीनश्च स्थिरधात्विन्द्रियश्च यः ।
तस्य साधयितुं शक्या यमिका हन्त्यतोऽन्यथा ॥ १४ ॥

अवस्थायामसाध्यत्वमाह—आयम्यत इत्यादि । आयम्यते विस्तार्यत इव । दृष्टिश्चोर्ध्वं भवतीति शेषः । नाम्यते आकुञ्च्यते देह इति संबन्ध इति जेज्जटगयदासौ । ताम्यतीति पाठान्तरे मुह्यति हिक्की । क्षौति छिक्कति । तौ द्वाविति आयम्यत इत्यादिना नित्यमित्यन्तेनैकावस्थो हिक्की, क्षीणेत्यादिनाऽतिमात्रान्तेनापरः; साध्या-

* 'विकृष्टकालैरित्यादि । विकृष्टकालैश्चिरकालैः, मन्दवेगैः । इयं नामतः क्षुद्रिका' ( आ० द० ) ॥ ८ ॥

† 'इयं नामतो गम्भीरा' ( आ० द० ) ॥ ९ ॥

‡ 'इयं नामतो महाहिक्का' ( आ० द० ) ॥ १० ॥

§ 'यश्च क्षीणोऽन्नद्वेषी, अतिक्षौति छिक्कति, तां हिक्कां वर्जयेत्, द्वौ चान्त्यौ वर्जयेत् । अन्त्याविति गम्भीरा महती चेति । साध्यानामप्यवस्थाविशेषेणासाध्यत्वमाह—अतिसंचितदोषस्येत्यादि । पुनरवस्थाविशेषेणासाध्यत्वमाह—यमिकेत्यादि । अत्रान्नजा क्षुद्रा च साध्यैव यमलवेगवत्वोऽसाध्येत्युच्यते; न तु यमला, चरकोक्तत्वात् । स्थिरधात्विन्द्रिय इति स्थिराणि धात्विन्द्रियाणि यस्य स तथा; अन्यथा एतद्विपरीत इति' ( आ० द० ) ॥ ११—१४॥

१ 'प्रवृत्ता' इति क. । २ 'प्राधान्येन नाभिबस्तिहृदयशिरांसि' इति क. ।

नामपि मध्ये एवंविधो वर्जयेदित्यर्थः । गम्भीरामहत्योः स्वभावादेवासाध्यत्वमिति तदुक्तौ हिक्यमानावस्थौ शेषपठितावसाध्यौ; पाठान्तराणि व्याख्याविशेषाश्च विस्तरभयान्न लिखिताः । आसां या सेति आसां साध्यहिक्कानां मध्ये याऽतिसंचितदोषादेर्भवति सा हन्तीति योज्यं, अथवा आसामिति पञ्चविधानामेव । तेन महती-प्रभृतीनां स्वरूपेण यदसाध्यत्वमुक्तं तत्प्रायिकम् । यदाह जतूकर्णः,–"आद्या तु साध्या; यमिका मोहतृष्णावतः सद्य-प्राणहृत्"–इति । यमिकेत्यादि । यमिका चेत्यनेन चकारात् क्षुद्रा अन्नजा वा या साध्यत्वेनोक्ता सा यमलैर्वेगैर्जायमाना हन्तीति योज्यम् । सैवाक्षीणादेः साध्या भवतीत्याह—अक्षीण इत्यादि । अक्षीणो बलवान् । अदीनः प्रसन्नमनाः । अन्ये तु अन्नजा यमलामित्यादिसुश्रुतग्रन्थपठितां यमलां यमिकाशब्देन व्याचक्षते । तत्र, यमिका च प्रलापार्तीत्यादिश्लोकद्वयके पठित, अत्र यमला यमिकानाम्ना न पठितैव हिक्केति । यमिकाशब्देनैवार्थगत्या व्यपेतोच्यतेति चेत्; न, तर्हि व्यपेता च प्रलापार्तीत्येवमभिदध्यात् ॥ ११—१४ ॥

*महोर्ध्वच्छिन्नतमकक्षुद्रभेदैस्तु पञ्चधा ।
भिद्यते स महाव्याधिः श्वास एको विशेषतः ॥ १५ ॥
( वाताधिको भवेत् क्षुद्रस्तमकस्तु कफोद्भवः ।
कफवाताधिकश्चैव संसृष्टश्छिन्नसंज्ञकः ।
श्वासो मारुतसंसृष्टो महानूर्ध्वस्ततो मतः ॥ १२ ॥ )

श्वासानाह,—महोर्ध्वेत्यादि । एको विशेषत इति श्वासत्वेनैक एव सन् विशेषं हेतुलिङ्गभेदं प्राप्य पञ्चधा भिद्यते, पञ्चसु श्वासत्वं वेगवदूर्ध्ववातत्वं; यदुक्तमन्यैः,–"श्वासस्तु भस्त्रिकाध्मानसमवातोर्ध्वगामिता"–इति । संख्येयनिर्देशादेव पञ्चप्रकारत्वे सिद्धे पञ्चवचनं तमकभेदस्य प्रतमकस्य पृथक्त्वसंख्यानिरासार्थम् ॥१५॥

†प्राग्रूपं तस्य हृत्पीडा शूलमाध्मानमेव च ।
आनाहो वक्त्रवैरस्यं शङ्खनिस्तोद एव च ॥ १६ ॥
‡यदा स्रोतांसि संरुध्य मारुतः कफपूर्वकः ।
विष्वग्व्रजति संरुद्धस्तदा श्वासान् करोति सः ॥ १७ ॥

---

* 'हिक्काश्वासयोरेकहेतुत्वाद्धिक्कानन्तरं श्वासमाह—महेत्यादि । स महाव्याधिः श्वासत्वेनैक एव सन् विशेषं हेतुलिङ्गभेदं प्राप्य महोर्ध्वादिभिर्भेदैः पञ्चधा भिद्यते । तन्त्रान्तरे पञ्चानामपि दोषोत्कटत्वमुक्तम्,—"वातेन क्षुद्रकः श्लेष्मभूयिष्ठस्तमकः स्मृतः । छिन्नः पित्तप्रधानः स्यादन्यौ मारुतरोषजौ"–इति ( आ० द० ) ॥ १५ ॥

† 'तस्य पूर्वरूपमाह–प्राग्रूपमित्यादि । हृत्पीडा, आध्मानमाटोपः, आनाह आम शकृता त्रिगुणानिलेन निबद्धमपक्वाशयकृतम् । शङ्खनिस्तोदः शङ्खयोर्व्यथा' (आ० द०)॥१६॥

‡ 'तस्य संप्राप्तिमाह–यदेत्यादि । यदा कफपूर्वकः कफप्रधानो वायुः, तेनैव कफेन संरुद्धनिजमार्गः, प्राणोदकान्नवहानि स्रोतांसि संरुध्य, विष्वग्व्रजति सर्वत्र प्रसरति, तदा श्वासान् करोति' ( आ० द० ) ॥ १७ ॥

संप्राप्तिमाह—यदेत्यादि । स्रोतांसीति हिक्कानिर्दिष्टप्राणोदानवहानि । कफः पूर्वं प्रधानं यस्य स तथा, तेनैव कफेन रुद्धो विमार्गगतिर्विमार्गगत्वेन, विष्वग्व्रजति विष्वग्गच्छतीति, विष्वक् सर्वत इत्यर्थः ॥ १७ ॥

*उद्धूयमानवातो यः शब्दवद्दुःखितो नरः ।
उच्चैः श्वसिति संरुद्धो मत्तर्षभ इवानिशम् ॥ १८ ॥
प्रनष्टज्ञानविज्ञानस्तथा विभ्रान्तलोचनः ।
विवृताक्ष्याननो बद्धमूत्रवर्चा विशीर्णवाक् ॥ १९ ॥
दीनः प्रश्वसितं चास्य दूराद्विज्ञायते भृशम् ।
महाश्वासोपसृष्टस्तु क्षिप्रमेव विपद्यते ॥ २० ॥

महाश्वासलक्षणमाह—उद्धूयमानेत्यादि । उद्धूयमानवात इति उत् ऊर्ध्वं धूयमानो नीयमानो वातो यस्य स तथा । शब्दवत् सशब्दं यथा भवति, उच्चैर्दीर्घम् । संरुद्धो मत्तर्षभ इवेति स्वरविशेषज्ञापनार्थमयं दृष्टान्तः । ज्ञानं शास्त्रं विज्ञानं तदर्थनिश्चयः । विभ्रान्तलोचनश्चञ्चलनेत्रः । विवृते स्तब्धे अक्ष्यानने यस्य स तथा, नेत्रस्य विभ्रान्तस्तब्धत्वे कालभेदादिति जेज्जटः । विशीर्णवाक् वक्तुमक्षमः, मन्दवचनो वा । दीनः क्लान्तमनाः; हीनमिति पाठान्तरमयुक्तं, दूराद्विज्ञायते भृशमित्यनुपपत्तेरित्याहुः ॥ १८—२० ॥

†ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः ।
श्लेष्मावृतमुखस्रोताः क्रुद्धगन्धवहार्दितः ॥ २१ ॥
ऊर्ध्वदृष्टिर्विपश्यंस्तु विभ्रान्ताक्ष इतस्ततः ।
प्रमुह्यन् वेदनार्तश्च शुष्कास्योऽरतिपीडितः ॥ २२ ॥
ऊर्ध्वश्वासे प्रकुपिते ह्यधःश्वासो निरुध्यते ।
मुह्यतस्ताम्यतश्चोर्ध्वं श्वासस्तस्यैव हन्त्यसून् ॥ २३ ॥

ऊर्ध्वश्वासलक्षणमाह—ऊर्ध्वमित्यादिना । ऊर्ध्वमिति विशेषपदं, सर्वश्वासानां तथाविधत्वात् । दीर्घमिति दीर्घकालम् । नच प्रत्याहरत्यध इति न श्वासमधः-

* 'दुःखितो दुःखयुक्तः, अनिशमनवरतं, क इव ? सरुद्धो मत्तर्षभ इव मदमत्तोक्ष इव, विवृते स्तब्धे अक्षिणी नयने आननं च यस्य स तथा । अस्य च श्वासवत. श्वसितमत्यर्थं दूरादेव श्रूयते । अनेन महाश्वासेनोपसृष्टो युक्तः शीघ्रमेव विनश्यति' ( आ० द० ) ॥ १८—२० ॥

† 'ऊर्ध्वश्वासे पुमान् दीर्घकालमूर्ध्वं श्वसिति, सर्वश्वासानामूर्ध्वगत्वादत्रोर्ध्वमिति विशेषपरम् । श्लेष्मावृतानि मुखसंबन्धीनि स्रोतांसि यस्य स तथा । ऊर्ध्वं दृष्टिर्दर्शनं यस्य स ऊर्ध्वदृष्टिः । विभ्रान्ताक्षः परिक्षिप्तनेत्रः, प्रमुह्यन् मोहमुपगच्छन्, शुष्कास्यः शुष्कमुखः, अरतिः कस्मिन्नपि विषये न चिरावस्थितिः । मुह्यतस्तमसि मज्जत इव, अथवा निश्चेष्टावतः, तस्यैवंविधपुरुषस्य' ( आ० द० ) ॥ २१—२२ ॥

१ 'प्राणाश्चोदवहानि' इति क.

करोति दीर्घकालमित्यर्थः । श्लेष्मावृतमुखस्रोता इति श्लेष्मणा आवृतानि मुखं स्रोतांसि च यस्य स तथा । क्रुद्धगन्धवहार्दितः कुपितवातपीडितः, समस्तपादे तु श्लेष्मावृतमुखस्रोतस्त्वेन क्रुद्धो यो गन्धवहस्तेनार्दितः । विपश्यन् इतस्तत इति इतस्ततो निकृतिं पश्यन् । 'ऊर्ध्वं श्वसिति यो दीर्घं न च प्रत्याहरत्यधः' इति यदुक्तं तत्र हेतुमाह—ऊर्ध्वश्वास इत्यादि । निरुध्यत इति हृदय एवातिस्तम्भितः स्यात्, अथवा श्वासो वातः सोऽधो न वर्तते; ऊर्ध्वं श्वास ऊर्ध्वश्वासः । ताम्यतो ग्लायतो मुष्णतश्चासून् प्राणान् हन्ति, नाशयतीति ॥ २१—२३ ॥

*यस्तु श्वसिति विच्छिन्नं सर्वप्राणेन पीडितः ।
न वा श्वसिति दुःखार्तो मर्मच्छेदरुगर्दितः ॥ २४ ॥
आनाहस्वेदमूर्च्छार्तो दह्यमानेन बस्तिना ।
विप्लुताक्षः परिक्षीणः श्वसन् रक्तैकलोचनः ॥ २५ ॥
विचेताः परिशुष्कास्यो विवर्णः प्रलपन्नरः ।
छिन्नश्वासेन विच्छिन्नः स शीघ्रं विजहात्यसून् ॥ २६ ॥

छिन्नश्वासलक्षणमाह—यस्त्वित्यादि । विच्छिन्नं सविच्छेदम् । सर्वप्राणेन यावद्बलेन । न वा श्वसिति श्वासं न लभते । मर्मच्छेदरुगर्दित इति हृदयच्छेदवेदनयेव पीडितः । दह्यमानेन बस्तिनोपलक्षितः, एतेन वातस्य पित्तानुबन्धो दर्शितः । विप्लुताक्षश्चञ्चलनेत्रोऽश्रुपूर्णचक्षुर्वा । न वा श्वसिति न वा श्वासं लभते । रक्तैकलोचनत्वं व्याधिप्रभावात्, दोषात्तु द्वयोरपि स्यात् । विचेता उद्विग्नचित्तः । विच्छिन्नो विमोक्षितसन्धिः, पीडित इत्यन्ये, 'विहतः' इति पाठान्तरम् ॥ २४—२६ ॥

†प्रतिलोमं यदा वायुः स्रोतांसि प्रतिपद्यते ।
ग्रीवां शिरश्च संगृह्य श्लेष्माणं समुदीर्य च ॥ २७ ॥
करोति पीनसं तेन रुद्धो घुर्घुरकं तथा ।
अतीव तीव्रवेगं च श्वासं प्राणप्रपीडकम् ॥ २८ ॥
प्रताम्यति स वेगेन तृष्यते सन्निरुध्यते ।
प्रमोहं कासमानश्च स गच्छति मुहुर्मुहुः ॥ २९ ॥
श्लेष्मण्यमुच्यमाने तु भृशं भवति दुःखितः ।
तस्यैव च विमोक्षान्ते मुहूर्तं लभते सुखम् ॥ ३० ॥
तथाऽस्योद्ध्वंसते कण्ठः कृच्छ्राच्छक्नोति भाषितुम् ।
न चापि लभते निद्रां शयानः श्वासपीडितः ॥ ३१ ॥

* 'अथ छिन्नं लक्षयति—य इत्यादि । विच्छिन्नमिव विच्छिन्नमन्तरान्तरा विच्छिद्यमानमनुवर्तते सान्तरायमित्यर्थः । सर्वप्राणेन समस्तया शक्त्या, दुःखार्तः सन्, न वा श्वसिति मर्मच्छेदरुगर्दित इति मर्माणि हृदयबस्तिशिरांसि तेषां छेदनेनेव पीडितः' । ( भा० द० ) ॥ २४–२६ ॥

† 'यदि वायुः प्रतिलोमं वैपरीत्येन स्रोतांसि प्रतिपद्यते प्राप्नोति, तदा स वायुः श्लेष्माणं समुदीर्य ऊर्ध्वप्रेरणया, ग्रीवां शिरश्च संगृह्य समन्तादागृहीत्वा, पीनसं करोति,

१ 'श्लेष्मावृतमुखानि स्रोतांसि' इति क. ।

पार्श्वे तस्यावगृह्णाति शयानस्य समीरणः ।
आसीनो लभते सौख्यमुष्णं चैवाभिनन्दति ॥ ३२ ॥
उच्छ्रिताक्षो ललाटेन स्विद्यता भृशमार्तिमान् ।
विशुष्कास्यो मुहुः श्वासो मुहुश्चैवावधम्यते ॥ ३३ ॥
मेघाम्बुशीतप्राग्वातैः श्लेष्मलैश्च विवर्धते ।
स याप्यस्तमकः श्वासः साध्यो वा स्यान्नवोत्थितः ॥ ३४ ॥

तमकश्वासलक्षणमाह—प्रतिलोममित्यादि । श्लेष्माणं समुदीर्य चेत्यनेन सामान्यसंप्राप्तिलब्धस्यापि श्लेष्मणः पुनरभिधानादिह विशेषेण कारणत्वं बोधयति । तेन रुद्धः कफेनावृतः । घुर्घुरकं कण्ठे घुर्घुरशब्दम् । प्राणप्रपीडकं प्राणाधिष्ठानहृदयस्य पीडकम् । प्रताम्यति तमसि प्रविशतीव । सन्निरुध्यते निश्चेष्टो भवतीति चक्र, जेज्जटस्तु सन्निरुध्यते 'श्वासः' इति शेषमाह । तस्यैवेति श्लेष्मणः । सुखं सुखमिव । उद्ध्वंसते कण्डूयते । पार्श्वे इति कर्मपदं, अवगृह्णाति पीडयति । उष्णमभिनन्दति वातकफारब्धत्वात् । उच्छ्रिताक्ष उच्छूननेत्रः । ललाटेनेत्युपलक्षणे तृतीया । अवधम्यते गजारूढस्येव सर्वगात्रं चाल्यते ॥ २७—३४ ॥

*ज्वरमूर्च्छापरीतस्य विद्यात्प्रतमकं तु तम् ।
उदावर्तरजोजीर्णक्लिन्नकायनिरोधजः ॥ ३५ ॥
तमसा वर्धतेऽत्यर्थं शीतैश्चाशु प्रशाम्यति ।
मज्जतस्तमसीवास्य विद्यात्संतमकं तु तम् ॥ ३६ ॥

तमकस्यैव पित्तानुबन्धत्वाज्ज्वरादियोगेन प्रतमकसंज्ञामाह—ज्वरेत्यादि । ज्वरमूर्च्छाभ्यां परीतो ज्वरमूर्च्छापरीतः, ज्वरेण मूर्च्छा ज्वरमूर्च्छेति जेज्जटः । एतस्यैवापरकारणं लक्षणं चाह—उदावर्तेत्यादि । उदावर्तो रोगः, रजो धूलिः, अजीर्णमामादि, क्लिन्नं विदग्धं, काये वेगाना निरोधः कायनिरोधः; अथवा क्लिन्नकायो वृद्धनर इत्याहुः, निरोधो वेगनिरोधः; अथवा कुयोगिनां कुम्भकादिरूपवातनिरोध इति जेज्जटः । तमसा अन्धकारेण, मानसदोषेण वा; अत्यर्थमिति इतरकारणापेक्षया विशेषेण; वातकफारब्धोऽपि पित्तसंबन्धाच्छीतैरुपशाम्यतीत्याहुः । संतमकः प्रतमक एवेति । अन्ये तूदावर्तेत्यादिना प्रतमकस्योपसर्गमाहुरिति जेज्जटः ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

†रूक्षायासोद्भवः कोष्ठे क्षुद्रो वात उदीरयन् ।
क्षुद्रश्वासो न सोऽत्यर्थं दुःखेनाङ्गप्रबाधकः ॥ ३७ ॥

---

पश्चात्तेनैवावृतः कण्ठे घुरघुरशब्दं करोति, तेन श्वासवेगेन । अमुच्यमानेन कफेनातीव दुःखितो भवति । तस्यैव श्लेष्मणो विमोक्षान्ते मुहूर्तं सुखं प्राप्नोतीति । तथेति पार्श्वेऽवगृह्णाति पीडयति पर शयानस्य, आसीनः सन् सुखं लभते ।' ( मा० द० ) ॥२७–३४॥

* 'एतस्यैवापरलक्षणं—निरोधो वेगनिरोधः । तमसा अन्धकारेण, मानसतमोगुणादिदोषेण वा । तमस्यन्धकारे मज्जत इवास्य पुरुषस्य तं प्रतमकमाहुः' ॥ ३५ ॥ ३६ ॥

† 'आयासो व्यायामः, तज्जनितः । क्षुद्र इति क्षुद्रश्वासः, अल्पनिदानजनितत्वात् क्षुद्रः ।

हिनस्ति न स गात्राणि न च दुःखो यथेतरे ।
न च भोजनपानानां निरुणद्ध्युचितां गतिम् ॥ ३८ ॥
नेन्द्रियाणां व्यथां नापि कांचिदापादयेद्रुजम् ।
स साध्य उक्तो बलिनः सर्वे चाव्यक्तलक्षणाः ॥ ३९ ॥
क्षुद्रः साध्यो मतस्तेषां तमकः कृच्छ्र उच्यते ।
त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति तमको दुर्बलस्य च ॥ ४० ॥

क्षुद्रश्वासमाह—रूक्षेत्यादि । रूक्षमन्नपानम् । क्षुद्रोऽल्पनिदानलिङ्गः । उदीरयन् ऊर्ध्वं गच्छन् । इतरे ऊर्ध्वश्वासादयः । स साध्य उक्त इति छेदः । सर्वे महाश्वासादयोऽव्यक्तलक्षणाः सन्तः साध्या इति योज्यम् । त्रयः श्वासा न सिध्यन्ति महोर्ध्वच्छिन्नाः संपूर्णलक्षणाः ॥ ३७-४० ॥

*कामं प्राणहरा रोगा बहवो न तु ते तथा ।
यथा श्वासश्च हिक्का च हरतः प्राणमाशु च ॥ ४१ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने हिक्काश्वासनिदानं समाप्तम् ॥ १२ ॥

उपेक्षणादसम्यगुपक्रमाभ्यां हिक्काश्वासयोः शीघ्रं बध्यमारकत्वमाह—काममित्यादि । काममनुमतौ, प्राणहराः संनिपातज्वरादयः । शेषं सुबोधमिति ॥ ४१ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां हिक्काश्वासनिदानं समाप्तम् ॥ १२ ॥

---

## अथ स्वरभेदनिदानम् ।

†अत्युच्चभाषणविषाध्ययनाभिघात-
संदूषणैः प्रकुपिताः पवनादयस्तु ।
स्रोतःसु ते स्वरवहेषु गताः प्रतिष्ठां
हन्युः स्वरं भवति चापि हि षड्विधः सः ॥ १ ॥

कोष्ठे वात मुदीरयन् क्षुद्रश्वासं करोति । स क्षुद्रश्वासो दुःखेन बाहरवाधरो भवती । किन्तु स गात्राणि न हिनस्ति मारणात्मको न भवति । न च दुःखकारी यथेतरे श्वासाः । इन्द्रियाणां व्यथां नापादयेत् । कांचिदपि रुजं रोगं नापादयेत् । सर्वेषां साध्यत्वमाह-स इत्यादि । स क्षुद्रश्वासो बलिनः पुरुषस्य साध्यः । साध्यासाध्यतामाह-क्षुद्र इत्यादि । तेषां श्वासानां क्षुद्रः साध्यतम, तमको याप्य, महोर्ध्वच्छिन्नाख्य संपूर्णलक्षणा असाध्याः, दुर्बलस्य तमकोऽसाध्यः ' (भा० द० ) ॥ ३७-४० ॥

* 'हिक्काश्वासयोः शीघ्रप्राणहरत्वमाह-काममित्यादि । प्राणहरा संनिपातादयो रोगा बहवः सन्ति, ते तथा प्राणहरा न भवन्ति, यथा श्वासश्च हिक्का चैतौ रोगावाशु प्राणान् हरतः ' (भा० द० ) ॥ ४१ ॥

† 'हिक्काश्वासौ प्राणोपरोधकारिणौ भवतः, तदुक्तिप्रसङ्गाच्छ्वासानन्तरं स्वरभेदमाह-अत्युच्चेत्यादि । अभिघातो बलेन ताडनादि, अथवाऽत्युच्चादिभिः षष्ठिनभेनस्वदनेन ।

1 तत्र 'क्षुद्रो वातमुदीरयन्' इति पाठान्तरं वेण ।

**( वातादिभिः पृथक् सर्वैर्मेदसा च क्षयेण च । )**

प्राणोदानदुष्टिसाधर्म्यात् श्वासे च स्वरभेदो भवतीति श्वासानन्तरं स्वरभेदमाह—अत्युच्चभाषणेत्यादि । अध्ययनमुच्चैर्वेदादिपाठः, अभिघातः कण्ठादिदेशे लगुडादिभिराघातः, एतैः सदूषणैरन्यैश्च यथास्वं वातादिकोपनैः, विषं तु सर्वदोषप्रकोपणमेव । स्रोतःसु स्वरवहेषु चतुर्षु, यदुक्तं सुश्रुते,—"द्वाभ्यां भाषते, द्वाभ्यां घोषं करोति"—( सु. शा. स्था. अ. ९ ) इति; भाषणघोषणयोरल्पत्वमहत्त्वाभ्यां भेदः । प्रतिष्ठां स्थितिं वृद्धिं वा । स इति स्वरभेदः; षड्विधो वातपित्तकफसंनिपातक्षयमेदोजभेदात् ॥१॥

*वातेन कृष्णनयनाननमूत्रवर्चा
भिन्नं शनैर्वदति गर्दभवत् खरं च ।

वातिकमाह—वातेनेत्यादि । कृष्णत्वं मूत्रादिषु स्वरभेदारम्भकदोषस्य सर्वाङ्गव्यापकत्वात्, अर्थाद्वत् । भिन्नं भिन्नस्वरं, तदेवाह—गर्दभवत् खरमिति, खरं निष्ठुरमुद्वेजकमिति यावत् ॥—

पित्तेन पीतनयनाननमूत्रवर्चा
ब्रूयाद्गलेन स च दाहसमन्वितेन ॥ २ ॥

पैत्तिकमाह—पित्तेनेत्यादि । गलेनेति विशेष्योपदर्शनं, दाहसमन्वितेनेति विशेषणस्य विशेष्याधीनप्रतीतत्वात्, गलः सदाहो भवतीत्यर्थः ॥ २ ॥

†ब्रूयात्कफेन सततं कफरुद्धकण्ठः
स्वल्पं शनैर्वदति चापि दिवा विशेषात् ।

श्लैष्मिकमाह—ब्रूयादित्यादि । दिवा विशेषादिति दिने सूर्यरश्मिभिः कफस्य मन्दीभावाद्विशेषाद्विशिष्टं वदतीत्यर्थः । 'दिवा विशेषः' इति पाठान्तरे स एवार्थः ॥—

सर्वात्मके भवति सर्वविकारसंप-
त्तं चाप्यसाध्यमृषयः स्वरभेदमाहुः ॥ ३ ॥

सान्निपातिकमाह—सर्वात्मक इत्यादि । सर्वविकारसंपदिति उक्तवातादिस्वरभेदलिङ्गयोगः । तं चाप्यसाध्यमिति अपिशब्दो भिन्नक्रमे, असाध्यमपि, तेन "सर्वजे क्षयजे चापि प्रत्याख्यायाचरेत् क्रियाम्"—( सु. उ. त. अ. ५३ ) इति सुश्रुतवचनमुपपन्नं भवतीति ॥ ३ ॥

‡धूप्येत वाक् क्षयकृते क्षयमाप्नुयाच्च
वागेष चापि हतवाक् परिवर्जनीयः ।

विषजस्तु त्रिदोषप्रकोपः । एतैः सदूषणैरन्यैश्च यथास्वं वातादिकोपनैर्दुष्टा दोषाः स्रोतःसु स्थिताः प्रतिष्ठां स्थितिं वृद्धिं वा गताः स्वरं घ्नन्ति स स्वरभेदः।' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

* 'अन्ये गर्दभवत्स्वरमित्यत्र गर्दभवत्खरमिति पठन्ति, गर्दभस्य वचनाभावात्; 'कण्ठेन' इति शेषः।' ( आ० द० ) ॥—

† 'ब्रूयादित्यत्र कृच्छ्रादिति केचित्पठन्ति' ( आ० द० ) ॥—

‡ 'धूप्येत वागित्यत्र 'धूमायते' इति पाठान्तरे स एवार्थः । वचनं क्षयमाप्नुयात् 'वातात्' इति शेषः।' ( आ० द० ) ॥—

१ 'स्वरवहेषु स्रोतःसु शब्दवाहिनीषु' इति डल्हणः । २ 'सर्वेषु' इति कः ।

क्षयजमाह—धूप्येतेत्यादि । धूप्येत वागिति सधूमेव निर्गच्छन्ती वेदनयाऽनुभूयते । क्षयकृत इति धातुक्षयकृते स्वरभेदे । क्षयमाप्नुयाच्च वागिति पदच्छेद । एष च यदा हतवाग्भवति ओज क्षयाद्वचनाक्षमस्तदा न साध्य , अन्यथा तु साध्य , तेन प्रत्याख्याय क्रियाकरणमुपपन्न भवति । एषु चापीति । पाठे वातादिस्वरभेदेषु मध्ये हतवागसाध्य , किन्त्वय पाठष्टीकाकारैर्न व्याख्यात ॥—

*अन्तर्गतस्वरमलक्ष्यपदं चिरेण
मेदोऽन्वयाद्वदति दिग्धगलस्तृषार्तः ॥ ४ ॥

मेदोजलक्षणमाह—अन्तर्गतेत्यादिना । अन्तर्गतस्वरमिति क्रियाविशेषण, 'अन्तर्गतं स्वर' इति पाठे तु कण्ठस्यान्तर्गत यथा भवति तथा स्वरं वचन वदतीति योज्य, 'अन्तर्गल' इति पाठान्तरे गलस्यान्तरिति अन्तर्गल स्वर वदतीत्यर्थ । दिग्धगल इति श्लेष्मणा मेदसा वा लिप्तगल इत्यर्थ । तृषार्तश्च मेदोरुद्धस्रोतस्त्वात् ॥ ४ ॥

†क्षीणस्य वृद्धस्य कृशस्य वाऽपि चिरोत्थितो यश्च सहोपजातः ।
मेदस्विनः सर्वसमुद्भवश्च स्वरामयो यो न स सिद्धिमेति ॥ ५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्वरभेदनिदान समाप्तम् ॥

उक्तवातादिजानामेवावस्थायामसाध्यत्वमाह—क्षीणस्येत्यादिना सहोपजात इत्यन्तेन । क्षीणस्य क्षीणमांसस्य । कृशस्य अबलस्य । सहोपजातो जन्मप्रभृतिबद्ध 'काकस्वर' इति लोके । 'सहोपजात' इत्यत्र 'मदोपजात' इति पाठान्तरं, मदो रोगविशेष । मेदस्विनोऽतिस्थूलस्य मेदसाऽऽवृतस्रोतस्त्वेन यो जात , अमेदस्विनस्तु मेदोदुष्टया यो जात स साध्य पूर्वमुक्त इति न विरोध । सर्वसमुद्भवश्चावगाढ सम्पूर्णलिङ्गो वाऽसाध्यो द्रष्टव्य इति ॥ ५ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां स्वरभेदनिदान समाप्तम् ॥ १२ ॥

---

# अथारोचकनिदानम् ।

‡वातादिभिः शोकभयातिलोभक्रोधैर्मनोघ्नाशनरूपगन्धैः ।
अरोचकाः स्युः,

---

* 'मेदोन्वयात् मेद संबन्धात् । 'मेदक्षयात्' इति केचित्पाठान्तरं पठन्ति, मेदक्षयान्मेदोवृद्धेरिति, 'मेद क्षयात्' इति पाठान्तरं, अत्र स्वरशब्दो लुप्तो मध्येऽनिर्दिष्टो द्रष्टव्य , तेन मेदसा स्वरक्षयादित्यर्थ ' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥—

† 'असाध्यमाह–क्षीणस्येत्यादि । क्षीणस्य अबलस्य, कृशस्य क्षीणमांसस्य' ( आ० द० ) ॥ ५ ॥

‡ 'शोकभयादिनाऽऽगन्तुरेक एव गृहीत , तन्त्रान्तरेऽपि–"अरोचको मोहोवेरको

---

१ 'वक्त' इति पा० ।

ऊर्ध्वगविकारसाधर्म्यादरोचकमाह—वातादिभिरित्यादि। एकैकशो वातादिभिस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, शोकादिना[१] गन्धान्तेनागन्तुरेक एव गणनीयः, यतः पञ्चानामेकं लक्षणं वक्ष्यति, सुश्रुते चोक्तं,—"भक्तोपघातमिह पञ्चविधं वदन्ति—" (सु. उ. तं. अ. ५७) इति । शोकादिजस्तु यद्यपि वातादिजः[२], तथाऽपि हेतुप्रत्यनीकचिकित्साकरणार्थं पृथगुक्तः । अतिलोभोऽत्राहितस्य सततोपयोगहेतुतया दोषप्रकोपक इति दर्शयति । अरोचकाः स्युरिति छेदः ॥—

*परिहृष्टदन्तः कषायवक्त्रश्च मतोऽनिलेन ॥ १ ॥

वातिकलक्षणमाह—परीत्यादि । परिहृष्टदन्त इति अम्लभक्षणेनेव ॥ १ ॥

†कट्वम्लमुष्णं विरसं च पूति पित्तेन विद्यात्

पैत्तिकलक्षणमाह—कट्वित्यादि । कटुशब्दोऽत्र तिक्तवाची । यदाह विदेहः,—"पित्तेन तिक्तास्यविदाहकृत् स्यात्, स्वाद्वास्यहृल्लासकरः कफेन"—इति—

‡लवणं च वक्त्रम् ।

माधुर्यपैच्छिल्यगुरुत्वशैत्यविबद्धसंबद्धयुतं कफेन ॥ २ ॥

श्लैष्मिकलक्षणमाह—लवणमित्यादि । लवणं वक्त्रमिति विदग्धस्य श्लेष्मणो लवणरसत्वात् । उक्तं हि सुश्रुते,—"श्लेष्मा विदग्धो लवणः स्मृतः, पित्तं विदग्धमम्लम्"—(सु. सू. स्था. अ. ४०) इति । विबद्धसंबद्धयुतमिति विबद्धं च तत् संबद्धयुतं चेति विबद्धसंबद्धयुतम् । अत्र विबद्धं बद्धमिव, भक्षणाद्यसामर्थ्यात्; संबद्धयुतं 'कफस्य' इति शेषः, भावे क्तः, कफलिप्तमित्यर्थः । 'विदग्धसंबद्धयुतं' इति पाठान्तरं सुगमम् । 'विबद्धसम्बद्धयुतं' इति पाठे विबद्धः सम्बद्धः स च प्रकृतत्वात् कफस्य, सम्यक् बद्धः, 'णह' बन्धने इत्यस्माद्धातोः पूर्ववत् क्तादि । 'विबद्धसंस्तम्भयुतं' इति काश्मीराः ॥ २ ॥

§अरोचके शोकभयातिलोभक्रोधाद्यहृद्याशुचिगन्धजे स्यात् ।

स्वाभाविकं चास्यमथारुचिश्च

---

हृदयसंश्रयैः । सन्निपातेन मनसः संतापेन च पञ्चमः"—इति । एतैर्हेतुभिररोचका भवन्ति । मनोघ्नानशुचिच्छिष्टक्रिमिदिग्धादि, रूप शरीरभयमुपगत, गन्धः पूतिः, तैः' (आ० द० ) ॥—

* 'कषायवक्त्र इति लोभचर्वितस्येव' ( आ० द० ) ॥ १ ॥—

† 'विरसमिति रोगस्वभावात्, अन्यथा वातेन विरसास्यता । पित्तेन पूति दुर्गन्धं जानीयात् । लवणं च वक्त्रमिति कफजलक्षणे पठनीयं, यतो विदग्धः श्लेष्मा लवणभावमुपैति' ( आ० द० ) ॥—

‡ 'कफेन लवणं च वक्त्रमिति योज्यं, माधुर्यादियुतमिति वक्त्रमेव' ( आ० द० ) ॥ २ ॥

§ 'अशुचिरुच्छिष्ट, स्वाभाविकं चास्यमिति अविकृतमुखरसत्वे न [illegible] वाताद्विवक्त्रकषायत्वादिक, अथारुचिरिति विशेषत्वम्' ( आ० द० ) ॥—

---

१ 'शोकादीनामागन्तुत्वेन' इति क. । २ 'वातजः' इति क. ।

आगन्तुजमाह—अरोचक इत्यादि । अहृद्यगन्धो घ्राणोद्वेजको गन्धः । स्वाभाविकं चास्यमिति अविकृतमुखरसत्वं, न तु वातादिवत् कषायत्वादि ॥—

*त्रिदोषजे नैकरसं भवेत्तु ॥ ३ ॥

त्रिदोषजमाह—त्रिदोषज इत्यादि । त्रिदोषजे नैकरसमिति वातजाद्युक्तकषाया-द्यनेकरसम् ॥ ३ ॥

हृच्छूलपीडनयुतं पवनेन, पित्तात्
तृड्दाहचोषबहुलं, सकफप्रसेकम् ।
श्लेष्मात्मकं, बहुरुजं बहुभिश्च विद्यात्
त्रैगुण्यमोहजडताभिरथापरं च ॥ ४ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽरोचकनिदानं समाप्तम् ॥ १४ ॥

वातजादिभेदेन मुखविकृतिमभिधायान्यदेशविकृतिमाह,—हृच्छूलेत्यादि । हृदि शूलेन पीडनं हृच्छूलपीडनम् । चोषश्चूषणवत् पीडा । बहुभिरिति त्रिदोषैः । त्रैगुण्य मोहजडताभिरथापरमित्युपलक्षणे तृतीया, त्रैगुण्यं मनसो व्याकुलत्वम् । अपरमिति दोषजादन्यमागन्तुजमित्यर्थः । सत्यामपि बुभुक्षायामभ्यवहारासामर्थ्यमरुचिः, अभिलषितमप्युपनीयमानं नाभ्यवहरतीत्यन्नानभिनन्दनं, अन्नस्य श्रवणस्मरणदर्शनगन्धस्पर्शनैर्यन्नोद्विजते स भक्तद्वेषः, एवं त्रिविधोऽपि रोगश्चरकसुश्रुताभ्यामरोचकशब्देन संगृहीतः । उक्तं हि वृद्धभोजेन,—"प्रक्षिप्तं तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते मुहुः । अरोचकः स विज्ञेयो, भक्तद्वेषमतः शृणु ॥ चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वाऽपि भोजनम् । द्वेषमायाति यो जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यते ॥ कुपितस्य भयार्तस्य अभिचारहतस्य च । यस्य नान्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते"—इति ॥ ४ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामरोचकनिदानं समाप्तम् ॥ १४ ॥

---

## अथ छर्दिनिदानम् ।

‡दुष्टैर्दोषैः पृथक् सर्वैर्बीभत्सालोचनादिभिः ।
छर्दयः पञ्च विज्ञेयास्तासां लक्षणमुच्यते ॥ १ ॥
अतिद्रवैरतिस्निग्धैरहृद्यैर्लवणैरति ।
अकाले चातिमात्रैश्च तथाऽसात्म्यैश्च भोजनैः ॥ २ ॥

---

* 'नैकरसमिति अनेकरसमास्यमित्यर्थः' (मा० द०) ॥ ३ ॥

† 'पित्तादिति अरोचकमिति शेषः । श्लेष्मात्मकं सकफप्रसेकं विद्यात् । बहुरुजमनेकपीडाकरम् ।' (मा० द०) ॥ ४ ॥

‡ 'एते वक्ष्यमाणैर्दुष्टैर्दोषैश्छर्दयः पञ्च भवन्ति । वातादिभिस्त्रयः, त्रिदोषेणैका, बीभत्सादिभिरेका, एवं पञ्च । निदानपूर्वां संप्राप्तिमाह—अतीत्यादि । बीभत्सैर्हेतुभिश्च-

---

१ 'घ्राणोद्वेजकः' इत्यातङ्कदर्पणे पाठः ।

अत्याद्र्यात्तथोद्वेगादजीर्णात् क्रिमिदोषत· ।
नार्याश्चापन्नसत्त्वायास्तथाऽतिद्रुतमश्नत· ॥ ३ ॥
बीभत्सैर्हेतुभिश्चान्यैर्द्रुतमुत्क्लेशितो बलात् ।
छादयन्नाननं वेगैरर्दयन्नङ्गभञ्जनै· ।
निरुच्यते छर्दिरिति दोषो वक्त्रं प्रधावितः ॥ ४ ॥

छर्यामप्यरुचेर्भावात्तथाऽरोचकवत्पञ्चविधत्वादरोचकानन्तरं छर्दि , तस्या निदानं निरुक्तिं चाह—दुष्टैरित्यादि । बीभत्सालोचनं विकृतिदर्शनं, आदिग्रहणेनानिष्टगन्धभक्षणादीनां ग्रहणम् । नार्याश्चापन्नसत्त्वाया इति गर्भिण्या , तस्या गर्भोत्पीडनेन वातवैगुण्याच्छर्दि । छादयन्नाननमिति वेगैर्मुखं छादयन् पूरयन्, अर्दयन् पीडयन्, अङ्गभञ्जनैरङ्गभेदै । छादयति मुखं, अर्दयति चाङ्गानीति छर्दि । 'छद अपवारणे' 'अर्द हिंसायां' अनयो पृषोदरादित्वेन रूपसिद्धि ॥ १-४ ॥

*हृल्लासोद्गाररोधौ च प्रसेको लवणस्तनुः ।
द्वेषोऽन्नपाने च भृशं वमीनां पूर्वलक्षणम् ॥ ५ ॥

पूर्वरूपमाह—हृल्लासेत्यादि । उद्गाररोध उद्गाराप्रवृत्ति । प्रसेको मुखप्रसेक , तस्य लवणत्वं प्रभावात्, आमाशयोत्क्लेशभवत्वेन कफविदाहाद्वा, तनुरघनोऽल्पो वा ॥ ५ ॥

†हृत्पार्श्वपीडामुखशोषशीर्षनाभ्यर्तिकासस्वरभेदतोदैः ।
उद्गारशब्दप्रबलं सफेनं विच्छिन्नकृष्णं तनुकं कषायम् ।
कृच्छ्रेण चाल्पं महता च वेगेनार्तोऽनिलाच्छर्दयतीह दु·खम् ॥६॥

वातजाया लक्षणमाह—हृत्पार्श्वेत्यादि । शीर्षनाभ्यर्ति मस्तके नाभौ च शूलं, तोदैरित्यनन्तरं 'युक्त' इति शेष , उपलक्षणे वा तृतीया । आर्तो नरश्छर्दयतीति योज्यम् । किंभूतं छर्दयतीत्याह—उद्गारेत्यादि । उद्गारशब्दाभ्यां प्रबलमुद्गारशब्द प्रबलम् । विच्छिन्नं सान्तरवेगमल्पद्रवं वा, वातस्य स्वतो द्रवत्वाभावात् । तनुकमघनम् । कषायं कषायरसं, कषायस्य वातकृतत्वात् ॥ ६ ॥

‡मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धताल्वक्षिसन्तापतमोभ्रमार्त· ।
पीतं भृशोष्णं हरितं सतिक्तं धूम्रं च पित्तेन वमेत्सदाहम् ॥ ७ ॥

पित्तजामाह—मूर्च्छेत्यादि । तमोऽन्धकारदर्शनमिव । धूम्रं कृष्णलोहितवर्णम् ॥७॥

---

न्यैरिति पूत्यमेध्यादिदर्शनगन्धास्वादनैर्घृणाकारिभि । वेगैर्मुखं प्रति प्रधावितो दोष उदानो वायुश्छर्दिं कुर्यादित्यर्थ ' (आ० द०) ॥ १-४ ॥

* 'छर्दीनामिदं पूर्वरूपम् ।' (आ० द० ) ॥ ५ ॥

† 'वातान्नरश्छर्दयतीति योज्यम् । 'कृच्छ्रेण कष्टेन, अल्पं स्तोकं, महता वेगेन' (आ० द० ) ॥ ६ ॥

‡ 'मूर्ध्नि शिरसि ताल्वक्ष्णोश्च सतापवान् । भ्रमश्चक्रारूढस्येव, पदार्थस्य यथाज्ञान वा, तैरार्त । कीदृश वमेदित्याह—पीतमित्यादि । भृशोष्णमत्युष्णं, हरितं शाकवर्णं, पित्तेनेति योज्यम्' (आ० द० ) ॥ ७ ॥

*तन्द्रास्यमाधुर्यकफप्रसेकसन्तोषनिद्रारुचिगौरवार्तः ।
स्निग्धं घनं स्वादु कफाद्विशुद्धं सरोमहर्षोऽल्परुजं वमेत्तु ॥ ८ ॥

कफजामाह—तन्द्रेत्यादि । आस्यमाधुर्यं मुखस्य मधुररसत्वम् । सन्तोष इति सन्तोष इव सन्तोष, अन्नानभिलाष इत्यर्थ, तृप्तो हि नान्नमभिलषति । अरुचिरभ्यवहारासामर्थ्यम् । स्वादु मधुरम् । विशुद्धमतिशुभ्र, सुश्रुते 'शुक्लं हिमं सान्द्रकफं कफेन' ( सु उ त अ ४९ ) इति पाठात् ॥ ८ ॥

†शूलाविपाकारुचिदाहतृष्णाश्वासप्रमोहप्रबला प्रसक्तम् ।
छर्दिस्त्रिदोषाल्लवणाम्लनीलसान्द्रोष्णरक्तं वमतां नृणां स्यात् ॥९॥

त्रिदोषजामाह—शूलेत्यादि । शूलादिभि प्रमोहान्तै प्रबला शूलादिप्रबला । प्रसक्त निरन्तरम् । त्रिदोषादित्यत्र 'त्रिदोषा' इति पाठान्तरे त्रिदोषजेत्यर्थ ॥ ९ ॥

‡विट्स्वेदमूत्राम्बुवहानि वायु स्रोतांसि संरुध्य यदोर्ध्वमेति ।
उत्सन्नदोषस्य समाचितं तं दोषं समुद्धूय नरस्य कोष्ठात् ॥ १० ॥
विण्मूत्रयोस्तत्समगन्धवर्णं तृट्श्वासहिक्कार्तियुतं प्रसक्तम् ।
प्रच्छर्दयेद्दुष्टमिहातिवेगात्तयाऽर्दितश्चाशु विनाशमेति ॥ ११ ॥

असाध्यमाह—विडित्यादि । उत्सन्नदोषस्य उद्गतदोषस्य । दोषमिति पित्त कफं वा, स्वेदादिकान् वा तद्दुष्टान् धातुमलान् । तदिति यस्माद्विडादिवाहिस्रोतोदुष्टिस्ततो हेतोर्विण्मूत्रयो समगन्धवर्णं छर्दयतीति योज्यम् । इयं तु छर्दिर्विकृतिविषमसमवायारब्धा त्रिदोषजेति केचित्, अन्ये त्वाहु,—सर्वा एव छर्दय प्रबला एवंविधा सत्योऽसाध्या स्युरिति ॥ १० ॥ ११ ॥

§बीभत्सजा दौर्हृदजाऽऽमजा च ह्यसात्म्यजा च क्रिमिजा च या हि ।
सा पञ्चमी तां च विभावयेच्च दोषोच्छ्रयेणैव यथोक्तमादौ ॥ १२ ॥

आगन्तुजामाह—बीभत्सजेत्यादि । दौर्हृदजा दौर्हृदालाभजा, आमजा अजीर्णजा, असात्म्यजा असात्म्यभक्षणादिसंभूता, क्रिमिजा कोष्ठक्रिमिसंभवा, बीभत्सजेत्यादिना क्रिमिजान्तेनैकत्वेनैव गणनीया, आगन्तुजत्वसामान्यात्, आगन्तुज्वरवत् । सा पञ्चमीति त्रिदोषजापेक्षया, यदि तु बीभत्सजापेक्षया क्रिमिजा पञ्चमीति मन्यते, तदा तां च विभावयेद्दोषोच्छ्रयेणैवेत्यनेन क्रिमिजाया एव दोषसंबन्ध स्यात्, ततश्च बीभत्सजादीनां चिकित्सोपयोगी दोषसंबन्धो न लभ्यते । अन्ये तु तद्दोषपरिहारार्थं 'सा पञ्चमी ताश्च' इति बहुवचनान्तं पठन्ति, एवं सत्यन्तर्गणनया न प्रयोजनमित्यन्तर्गणना

---

* 'एतैरुपद्रवैरार्तं स्निग्धादिकं वमेत् । सुश्रुते—"शुक्लं हिमं सान्द्रकफं कफेन"—इति । अल्परुजमिति कफस्य द्रवरूपत्वात् सुखेन नि सरणमित्यर्थ ' ॥ ८ ॥

† 'त्रिदोषाच्च छर्दिस्तया वमतां नृणामित्यर्थ ' ( आ० द० ) ॥ ९ ॥

‡ 'वायु कोष्ठादुद्धूय ऊर्ध्वं नीत्वेति । विट् दोषान् स्वेदादिकान् धातुमलान् वा स्वस्थानात् सञ्चाल्योर्ध्वमेत्यागच्छति' ( आ० द० ) ॥ १० ॥ ११ ॥

§ 'बीभत्सजा पूयामेध्यादिदर्शनगन्धस्वादजा, आपन्नसत्त्वाया स्त्रिया दौर्हृदालाभजा, एतामागन्तुजां दोषोच्छ्रयेणैव जानीयात् । आदाविति पूर्वोक्तेन' ( आ० द० ) ॥ १२ ॥

नाद्रियन्ते । कथमत्र दोषोच्छ्रयो विभावनीय इत्याह—यथोक्तमादाविति ।-आदौ वातादिलक्षण इत्यर्थः ॥ १२ ॥

*शूलहृल्लासबहुला क्रिमिजा च विशेषतः ।
क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन च लक्षिता ॥ १३ ॥

*क्रिमिजाया लक्षणमाह—शूलेत्यादि । क्रिमिहृद्रोगतुल्येन लक्षणेन लक्षितेति क्रिमिहृद्रोगे क्रिमिलक्षणात् (ण) यत् पीडादिकं तदस्या भवतीत्यर्थः ॥ १३ ॥*

†क्षीणस्य या छर्दिरतिप्रसक्ता सोपद्रवा शोणितपूययुक्ता ।
सचन्द्रिकां तां प्रवदेदसाध्यां, साध्यां चिकित्सेन्निरुपद्रवां च ॥१४॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने छर्दिनिदानं समाप्तम् ॥ १५ ॥

असाध्यलक्षणमाह—क्षीणस्येत्यादि । सचन्द्रिकामिति मेदःप्रभृतिधातूनां स्नेहः प्रवर्तमानो मयूरपिच्छचन्द्रिकावत् प्रतिभाति । निरुपद्रवामिति कासाद्युपद्रवरहिताम् । तदुक्तं,—"कासः श्वासो ज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च । हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः"—इति ॥ १४ ॥

‡(कासश्वासोऽज्वरो हिक्का तृष्णा वैचित्त्यमेव च ।
हृद्रोगस्तमकश्चैव ज्ञेयाश्छर्देरुपद्रवाः ॥ १५ ॥)

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां छर्दिनिदानं समाप्तम् ॥ १५ ॥

---

## अथ तृष्णानिदानम् ।

§भयश्रमाभ्यां बलसंक्षयाद्वा ह्यूर्ध्वं चितं पित्तविवर्धनैश्च ।
पित्तं सवातं कुपितं नराणां तालुप्रपन्नं जनयेत्पिपासाम् ।
स्रोतःस्वपांवाहिषु दूषितेषु दोषैश्च तृट् संभवतीह जन्तोः ॥ १ ॥

---

* 'क्रिमिजाया विशेषलक्षणमाह—शूलेत्यादि । क्रिमिजाया अयं विशेषः—हृच्छूलहृल्लासाधिका क्रिमिजहृद्रोगतुल्यलक्षणेन च लक्षितेति, यथा—'उत्क्लेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः । अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोषश्च क्रिमिजे भवेत्'—इति' (आ० द०) ॥१३॥

† 'असाध्या साध्या चाह—अतिप्रसक्ता अतिशयेन निरन्तरा, सोपद्रवा वक्ष्यमाणोपद्रवयुक्ता । इत्थं पञ्चविधामपि छर्दिमसाध्यां प्रवदेत् वर्जयेदित्यर्थः । निरुपद्रवां चिकित्सेत् 'भिषक्' इति शेषः' (आ० द०) ॥ १४ ॥

‡ 'तस्या उपद्रवमाह—कास इत्यादि । वैचित्त्यं विमतचित्तता' (आ० द०) ॥ १५ ॥

§ स्वस्थाने हृदि संचितं, तालुप्रपन्नमिति सवातं पित्तं तालुगतमित्यर्थः । क्षयाद्या

---

*१ ताल्वोष्ठकण्ठास्यविशोषदाहसंतापमोहभ्रमविप्रलापाः ।
पूर्वाणि रूपाणि भवन्ति तासामुत्पत्तिकाले तु विशेषतो हि ॥

**तिस्रः स्मृतास्ताः क्षतजा चतुर्थी क्षयात्तथा ह्यामसमुद्भवा च ।**
**भक्तोद्भवा सप्तमिकेति तासां निबोध लिङ्गान्यनुपूर्वशस्तु ॥ २ ॥**

छर्देस्तृष्णोपद्रवत्वाच्छर्द्यनन्तरं तृष्णानिदानं, तस्याः संप्राप्तिमाह—भयेत्यादि । पित्तविवर्धनैरिति कट्वम्लोष्णादिभिः क्रोधोपवासादिभिश्च स्वस्थान एव संचितं कुपितं च पित्तं, वातश्च भयश्रमबलक्षयैः कुपितः, ऊर्ध्वं प्रसरन् पिपासां जनयति । ताल्वि-त्युपलक्षणं, तेन क्लोमाद्यपि बोध्यं, तस्य पिपासास्थानत्वेनोक्तत्वात् । चरकेऽप्युक्तं,— "रसवाहिनीश्च धमनीर्जिह्वामूलगलतालुकक्लोम्नः । संशोष्य नृणां देहे कुरुतस्तृष्णां महाबलौ तौ तु" ( च. स्था चि अ २२ )—इति । अप्रकाशमानां संप्राप्तिमाह—स्रोतःस्वित्यादि । ननु, अपांवाहिष्विति बहुवचनं विरुद्धं, 'द्वे उदकवहे' ( सु शा. स्था. अ ९ )—इति सुश्रुतेनोक्तत्वात् । नैवं, तयोरेवानेकप्रतानयोगादिति । दोषैरिति अप्रकाशितैः, दुष्टिकर्तृत्वाद्दुष्टदोषसंबन्धाद्वाऽऽमयोरपि दोषत्वमिति गदा-धरः । तिस्र इति वातादिभिः प्रत्येकम् । क्षतजेति क्षतनिमित्ता भणिता या भवति । चतुर्थीत्यनेनोक्तानां चतसृणां सुखसाध्यत्वं बोधयति, अन्यासां तु कष्टसा-ध्यत्वम् ॥ १ ॥ २ ॥

***क्षामास्यता मारुतसंभवायां तोदस्तथा शङ्खशिरःसु चापि ।**
**स्रोतोनिरोधो विरसं च वक्त्रं शीताभिरद्भिश्च विवृद्धिमेति ॥ ३ ॥**

वातजामाह—क्षामास्यतेत्यादि । क्षामास्यता शुष्कदीनमुखत्वम् । स्रोतोनिरोध इति रसाम्बुवाहिधमनीनिरोधः । शीताभिरद्भिरित्यनेन वायोः शीतस्य शीताम्बुना वृद्धिरित्यनुपशयनिदर्शनम् । चकाराच्चरकोक्तनिद्रानाशस्य ग्रहणम् । यदाह चरकः,— "निद्रानाशः शिरसो भ्रमस्तथा शुष्कगलताल्वोः" ( च चि स्था अ २२ ) इति ॥३॥

**†मूर्च्छान्नविद्वेषविलापदाहा रक्तेक्षणत्वं प्रततश्च शोषः ।**
**शीताभिनन्दा मुखतिक्तता च पित्तात्मिकायां परिदूयनं च ॥ ४ ॥**

पित्तजामाह—मूर्च्छेत्यादिना । विलापोऽत्र प्रलापः । प्रततश्च शोषोऽतीव महती तृष्णा । शीताभिनन्दा शीतेच्छा, 'गुरोश्च हलः'—इत्यकारप्रत्ययः । परिदू-यनमुपतापः, 'परिधूम(प)न' इति पाठेऽन्तः क्षोभः, धूमनिर्गम इव वा । चकारात् पीतविण्मूत्रनेत्रत्वादयो ग्राह्याः ॥ ४ ॥

---

पञ्चमी, आमसमुद्भवा षष्ठी, भक्तोद्भवा सप्तमीति, क्रमेण तासां लक्षणानि जानीहि' ( आ० द० ) ॥ १ ॥ २ ॥

* 'क्षामास्यता शुष्कदीनमुखत्वं, वस्तु पश्चात् वाऽसामर्थ्यमित्येके । शङ्खशिर इति शङ्खयोः शिरसि वा, तोदो व्यथाविशेषः, शङ्खयोर्ग्रहणेन बहुवचनत्वम् । स्रोतोनिरोधः शब्दाश्रवणमिति' ( आ० द० ) ॥ ३ ॥

† 'विलापो निरर्थकवचनेन भाषणं, रक्तेक्षणत्वं रक्तनेत्रत्वं, परिदूयनमित्यत्र 'परिधूमन' इति पाठान्तरं, तत्रान्तः क्षोभो धूमस्योद्गिरणमिव वा' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

---

१ 'गदाधराः' इति क० ।

*बाष्पावरोधात्कफसंवृतेऽग्नौ तृष्णा बलासेन भवेत्तथा तु ।
निद्रा गुरुत्वं मधुरास्यता च तृष्णार्दितः शुष्यति चातिमात्रम् ॥५॥

श्लेष्मजामाह—बाष्पेत्यादि । स्वकारणकुपितेन कफेनोपरिष्टादाच्छादितेऽन्तरग्नौ कफावरुद्धबाष्पेण पावकोष्मणाऽधोगतेनाम्बुवहस्रोतःशोषणात् कफजा तृष्णा भवति । ननु, कफजा तृष्णाऽनुपपन्ना ? कफस्य द्रवस्य केवलद्रवस्य पिपासाकर्तृत्वायोगात्, वातपित्तयोरेव तृष्णाकर्तृत्वेनोक्तत्वात् । यदुक्तं,—"पित्तं सवातं कुपितं नराणां"—इत्यादि । चरकेऽप्युक्तं,—"नाभेर्विना तर्षः पवनाद्वा, तौ हि शोषणे हेतू"–( च. चि. स्था. अ. २२ ) इति । सुश्रुतेऽप्युक्तं,—"मयस्तामेयवायव्यगुणावम्बुवहानि तु । स्रोतांसि शोषयेयातां ततस्तृष्णा प्रजायते" ( सु. उ. तं. अ. ४७ )—इति । अत आह—तथेति ।–उक्तप्रकारेण कफाग्नेर्बाष्पावरोधादिना, न तु स्वगुणेन; अत एव चरके कफजा तृष्णा न पठितैव, सुश्रुतेन तु चिकित्साभेदार्थं पठिता, हारीतेनापि सपित्तेनैव श्लेष्मणा तृष्णा पठिता न तु केवलेन । यदाह,—"स्वाद्वम्ललवणाजीर्णैः क्रुद्धः श्लेष्मा सहोष्मणा । मयत्याम्बुवहं स्रोतस्तृष्णां संजनयेन्नृणाम् ॥ शिरसो गौरवं तन्द्रा माधुर्यं वदनस्य च । भक्तद्वेषः प्रसेकश्च निद्राधिक्यं तथैव च ॥ एतैर्लिङ्गैर्विजानीयात्तृष्णां कफसमुद्भवाम्"–इति ॥ ५ ॥

†क्षतस्य रुक्शोणितनिर्गमाभ्यां तृष्णा चतुर्थी क्षतजा मता तु ।

क्षतजामाह—क्षतस्येत्यादि ।–शस्त्रादिक्षतयुक्तस्य ॥—

‡रसक्षयाद्या क्षयसंभवा सा तयाऽभिभूतश्च निशादिनेषु ॥ ६ ॥
पेपीयतेऽम्भः स सुखं न याति तां सन्निपातादिति केचिदाहुः ।
रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि तस्यामशेषेण भिषग्व्यवस्येत् ॥ ७ ॥

क्षयशब्दस्यानेकविषयत्वात् क्षयजां विशेषयन्नाह—रसक्षयादित्यादि । पेपीयते पुनः पुनः पिबति; एतच्च विशेषपदं, सर्वतृष्णासु तथाभूतत्वात् । यदाह सुश्रुतः,—"सततं यः पिबेद्वारि न तृप्तिमधिगच्छति । पुनः काङ्क्षति तोयं च तं तृष्णार्दितमादिशेत्"–( सु. उ. तं. अ. ५८ ) इति । रसक्षयोक्तानि च लक्षणानि सुश्रुतोक्तानि । तद्यथा,—"रसक्षये हृत्पीडा कम्पः शोषः शून्यता तृष्णा च"–( सु. सू. स्था. अ. १५ ) इति । तस्यां क्षयजायां, अशेषेण कार्त्स्न्येन ॥ ६ ॥ ७ ॥

---

* 'तया तृष्णया पीडितो मनुष्योऽतितरां कृशो भवति, जलालाभानुपचयात्' ( भा० ८० ) ॥ ५ ॥

† 'क्षतस्येति शस्त्रादिक्षतयुक्तस्य नरस्य रक्तनिर्गमाच्छोणितनिर्गमाच्च तृष्णा जायते । सा क्षतसंभवा चतुर्थी' ( भा० ८० ) ॥—

‡ 'रसक्षयात्तृष्णा भवति, सा क्षयजा ज्ञेया तया व्याप्तः पुमान् जलं पेपीयते पुनः पुनः पिबति, परं सुखं न लभते, जलेन तृप्तो न भवतीत्यर्थः । तां केचन सन्निपातजां वदन्ति । भद्रोऽनेके समस्तान्यपि भवन्ति' (भा० ८०) ॥ ६ ॥ ७ ॥

*त्रिदोषलिङ्गाऽऽमसमुद्भवा च हृच्छूलनिष्ठीवनसादकर्त्री ।

आमजामाह—त्रिदोषेत्यादि । त्रिदोषलिङ्गा त्रिदोषलिङ्गयुक्ता । आमादजीर्णात्त्रिदोषकोप इत्यादिति ॥—

स्निग्धं तथाऽम्लं लवणं च भुक्तं गुर्वन्नमेवाशु तृषां करोति ॥ ८ ॥

भुक्तोद्भवामाह—स्निग्धमित्यादि । चकारात् कटु च, नतु तिक्तकषायमधुराणीत्यर्थः । गुरुशब्देन मात्रागुरु द्रव्यगुरु च गृह्यते । दृढबलेन तु षष्ठ तृष्णा पठिता, क्षतपित्तक्षयामोपसर्गजा ( च चि स्था अ २२ ) इति, तत्र, कफजा आमजाऽमेधावरुद्धा, क्षतजा वातजाता, भक्तजा च वातजाता, भक्तावरोधेन वातप्रकोपात्, पित्तजाता वा, विदाहेन पित्तप्रकोपात् । सुश्रुते च्योपसर्गजा यथास्व दोषजासु । ननु, मद्यजाऽपि सुश्रुतेन मदात्यये ( सु उ त अ ४७ ) पठिता, तत् कथं सप्तेत्युच्यते ? सत्यं, तस्या वातपित्तजायामवरोध , एवं दृढबलमतेऽपि ॥ ८ ॥

†दीनस्वरः प्रताम्यन् दीनः संशुष्कवक्त्रगलतालुः ।
भवति खलु योपसर्गात्तृष्णा सा शोषिणी कष्टा ॥ ९ ॥

तत्रोपसर्गजामाह—दीनेत्यादि । दीनस्वर क्षामवचन , प्रताम्यन् मुह्यन्, दीन क्लान्त । उपसर्गादित्युपद्रवाद्रोगात्, उपद्रवशब्दश्च सामान्येन रोगमात्रेऽपि वर्तते, यथा—"निरुद्धोपद्रवचिकित्सितं व्याख्यास्याम "( सु चि स्था अ १८ ) इत्यत्र । कष्टा कष्टसाध्या, व्याधिकर्षितदेहत्वात् ॥ ९ ॥

‡ज्वरमोहक्षयकासश्वासाद्युपसृष्टदेहानाम् ।

तानेवोपसर्गानाह—ज्वरेत्यादि । आदिशब्देनातीसारादीनां ग्रहणम् ॥—

§सर्वास्त्वतिप्रसक्ता रोगकृशानां वमिप्रयुक्तानाम् ।
घोरोपद्रवयुक्तास्तृष्णा मरणाय विज्ञेयाः ॥ १० ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने तृष्णानिदानं समाप्तम् ॥ १६ ॥

असाध्यानां लक्षणमाह—सर्वास्त्वित्यादि । सर्वा वातजादय , अतिप्रसक्ता अतिप्रवृद्धा । घोरोपद्रवयुक्ता मुखशोषादिभिर्बलवद्भिरुपद्रवै समन्विता इति जेज्जट ॥ १० ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां तृष्णानिदानं समाप्तम् ॥ १६ ॥

---

* 'साद्रोऽङ्गानाम् । एतानुपद्रवान् करोति । आमे ह्यजीर्णात्त्रिदोषकोप इत्यादिति । तत्र च सुश्रुते–"अजीर्णात्पवनादीनां विभ्रमो बल्वा भवेत्"–इति' ॥—

† 'शोषिणी धातुशोषणात्मिका' (आ० ८०) ॥ ९ ॥

‡ 'एभिर्व्याधिभिर्गृहीतदेहानां नृणां, अत्र पूर्वस्तृष्णानुरोध ' ( आ० ८० ) ॥—

§ 'वमिप्रसक्तानामिति शरीरक्षेपणशीलानां वमनशीलानां, ता मरणाय विज्ञेया इति ता मरणकारिका इत्यर्थः ' ( आ० ८० ) ॥ १० ॥

---

१ एतच्च 'वमिप्रसक्तानां' इति पाठाभिप्रायेण ।

## अथ मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रासंन्यासनिदानम् ।

*क्षीणस्य बहुदोषस्य विरुद्धाहारसेविनः ।
वेगाघातादभिघाताद्धीनसत्त्वस्य वा पुनः ॥ १ ॥
करणायतनेषूग्रा बाह्येष्वाभ्यन्तरेषु च ।
निविशन्ते यदा दोषास्तदा मूर्च्छन्ति मानवाः ॥ २ ॥
संज्ञावहासु नाडीषु पिहितास्वनिलादिभिः ।
तमोऽभ्युपैति सहसा सुखदुःखव्यपोहकृत् ॥ ३ ॥
सुखदुःखव्यपोहाच्च नरः पतति काष्ठवत् ।
मोहो मूर्च्छेति तामाहुः षड्विधा सा प्रकीर्तिता ॥ ४ ॥
वातादिभिः शोणितेन मद्येन च विषेण च ।
षट्स्वप्येतासु पित्तं तु प्रभुत्वेनावतिष्ठते ॥ ५ ॥

तृष्णायां मोहो भवतीति तृष्णानन्तरं मूर्च्छा, उक्तं हि—'तृषितो मोहमायाति—' इति । निदानं संप्राप्तिं चाह—क्षीणस्येत्यादि । बहुदोषस्येति विपुलदोषस्य न त्वल्पदोषस्य, तथा सत्यल्पदोषजाया संप्राप्तिर्नोक्ता स्यात् । वेगाघातान्मलादिवेगधारणात् । अभिघातान्मुद्गरादेः । हीनसत्त्वस्य हीनसत्त्वगुणस्य । करणं मनः, तस्यायतनानि बाह्यानि चक्षुरादीनि, आभ्यन्तराणि मनोवहानि स्रोतांसि, यैरागत्य मनश्चक्षुरादीन्यधितिष्ठति, अथवा बाह्यानि कर्मेन्द्रियाणि, आभ्यन्तराणि धीन्द्रियाणि, तेषु यदा उग्रा दोषा निविशन्ते तदा मूर्च्छन्तीति योज्यम् । पुनः कया संप्राप्त्या इत्यत आह—संज्ञावहास्वित्यादि । संज्ञावहनाडीशब्देन शिराधमनीस्रोतसां ग्रहणमित्याहुः, यतस्तस्मिन् इन्द्रियदेशं प्राप्नोति । पिहितासु आवृतासु । तमो मनोगुणोऽज्ञानहेतुः, अभ्युपैति वर्धते, सहसा झटिति । अन्येषु तमोबहुलेषु रोगेषु मदान्धादिषु सत्यपरत्वाद् न तथा लीयेते, यथा मूर्च्छायामित्यत आह—सुखदुःखव्यपोहकृदिति ।—सुखदुःखयोरसंवित्तिकरम् । एतत्तु प्रायिकार्थेनोक्तं, (त्रिविधं ज्ञानं भवति हेयोपादेयोपेक्षणीयभेदात्,) तेनोपेक्षणीयज्ञानाभावोऽपि ज्ञेयः । व्यवहारार्थं तत्पर्यायावाह—मोहो मूर्च्छेति । वातादिभिस्त्रिभिः, शोणितमद्यविषैश्च त्रिभिः, एवं षट् । प्रभुत्वेनेति व्यापकत्वेन, तेन वातादिष्वपि उत्पत्तावसंगमहिम्नाऽपरस्य पित्तसम्बन्धः, अत एव वक्ष्यति,—"मूर्च्छा पित्ततमःप्राया" इति, चिकित्सायां च शीतक्रियाविधानमिति ॥ १-५ ॥

* 'क्षीणस्य' ।—दुर्बलस्य । विरुद्धाहारसेविनः विरुद्ध आहार.... तमो मनोगुणः ज्ञानहेतुः, तत्सम्बन्धम..... । सुखदुःखव्यपोहकृत् सुखदुःखयोर संविदिरिलर्थः, अथवा सुखं सत्त्वं, दुःखं रजः, तयोः व्यपोहकृत्, ..... अतः वातवशिरन्निति..... । मोहो मूर्च्छेति वस्य पर्यायौ, ..... मूर्च्छा सा मूर्च्छा ..... तथा । ..... ' -इति । सा च मूर्च्छा षड्विधा षट्प्रकारा भवति । वातादिभिः ..... त्रिभिः, एवं षड्भिः ......—मद्यादिभिरिति । प्रभुत्वेनेति ..... व्यापकत्वेन ..... ( मा० द० ) ॥ १-५ ॥

*हृत्पीडा जृम्भणं ग्लानिः संज्ञादौर्बल्यमेव च ।
सर्वासां पूर्वरूपाणि, यथास्वं ता विभावयेत् ॥ ६ ॥

तस्याः पूर्वरूपमाह—हृत्पीडेत्यादि । संज्ञादौर्बल्यमसम्यग्ज्ञानता । सर्वासां पूर्वरूपाणीति छेदः । यथास्वं विभावयेदिति ता मूर्च्छा वातादिभेदेन जानीयात्; व्यक्तरूपावस्थायां, न तु पूर्वरूपावस्थायामिति जेज्जटः ॥ ६ ॥

†नीलं वा यदि वा कृष्णमाकाशमथवाऽरुणम् ।
पश्यंस्तमः प्रविशति शीघ्रं च प्रतिबुध्यते ॥ ७ ॥
वेपथुश्चाङ्गमर्दश्च प्रपीडा हृदयस्य च ।
कार्श्यं श्यावाऽरुणा च्छाया मूर्च्छाये वातसंभवे ॥ ८ ॥

ता एवाह ( वातजामाह )—नीलमित्यादि । नीलं स्निग्धकृष्णं कृष्णं रूक्षकृष्णं, अरुणमीषल्लोहितम् । तमः प्रविशत्यन्धकारमिव प्रविशति मूर्च्छतीत्यर्थः । शीघ्रं च प्रतिबुध्यत इति वायोः शीघ्रकारित्वात् । कार्श्यं श्यावाऽरुणा च्छाया, 'गात्रे' इति शेषः । मूर्च्छायशब्दो मूर्च्छापर्यायः ॥ ७ ॥ ८ ॥

‡रक्तं हरितवर्णं वा वियत्पीतमथापि वा ।
पश्यंस्तमः प्रविशति सस्वेदश्च प्रबुध्यते ॥ ९ ॥
( सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः । )
( जातमात्रे पतति च शीघ्रं च प्रतिबुध्यते । )
संभिन्नवर्चाः पीताभो मूर्च्छाये पित्तसंभवे ॥ १० ॥

पित्तजमूर्च्छायमाह—रक्तमित्यादि । वियदाकाशम् । अत्र "सपिपासः ससन्तापो रक्तपीताकुलेक्षणः"—इति क्वचिदधिकः पाठः ॥ ९ ॥ १० ॥

§मेघसंकाशमाकाशमावृतं वा तमोघनैः ।
पश्यंस्तमः प्रविशति चिराच्च प्रतिबुध्यते ॥ ११ ॥
गुरुभिः प्रावृतैरङ्गैर्यथैवार्द्रेण चर्मणा ।
सप्रसेकः सहृल्लासो मूर्च्छाये कफसंभवे ॥ १२ ॥

कफजमूर्च्छायमाह—मेघेत्यादि । तमोघनैरिति तमोभिर्घनैश्च, तमोऽन्धकारः, घनोऽत्र मेघवाची ॥ ११ ॥ १२ ॥

---

* 'पूर्वरूपाणीति पादत्रयेण छेदः' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥

† 'दृश्यं गगनं च पश्यन् तमः प्रविशति' ( आ० द० ) ॥ ७ ॥ ८ ॥

‡ 'वियदाकाशं, रक्तं, हरितवर्णं शाकवर्णं, पीतं वा पश्यन् तमः प्रविशतीति मूर्च्छतीत्यर्थः । यदा प्रबुध्यते तदा स्वेदो भवति, सपिपासस्तृष्णान्वितः, सतापश्चापि भवति । रक्ते पीते आकुले व्यस्ते इव ईक्षणे लोचने यस्य स तथा । 'अन्ये रक्तपित्ताकुलेक्षण' इति पठन्ति । तत्र रक्तपित्तो विकारः । ( जातमात्रे उत्पद्यमाने, पतति शीघ्रं च प्रतिबुध्यते । ) पीताभः पीतशरीरच्छविः' ( आ० द० ) ॥ ९ ॥ १० ॥

§ 'आर्द्रेण चर्मणा इव प्रावृतैर्वेष्टितैरङ्गैरुपलक्षितः । प्रसेको मुखस्रावः, उपस्थितवमनत्वमिव' ( आ० द० ) ॥ ११ ॥ १२ ॥

*सर्वाकृतिः सन्निपातादपस्मार इवागतः।
स जन्तुं पातयत्याशु विना बीभत्सचेष्टितैः ॥ १३ ॥

सान्निपातिकमाह—सर्वेत्यादि। ननु, सर्वाकृतिरिति विरुद्धं, उद्देशे 'षड्विधा सा प्रकीर्तिता' इत्यभिहितत्वात्, सन्निपातजया च सह सप्त प्रसज्येरन्[१] उच्यते, उद्देशः सुश्रुतग्रन्थेन, चरकग्रन्थेन च विवरणम्। चरके हि वातपित्तकफत्रिदोषजा चेति चतस्र पठ्यन्ते। यदुक्तमष्टोदरीये,–"चत्वारो मूर्च्छाया इत्यपस्मारैर्व्याख्याताः"–( च. सू. स्था. अ. १८ ) इति। रक्तमद्यविषजानां यथादोषमेतास्वन्तर्भाव, सुश्रुते चैता रक्तादिजा लक्षणचिकित्साभेदख्यापनार्थं साक्षात् पठिता, त्रिदोषजाया दोषजास्वन्तर्भाव इत्यभिप्रायेण नेद आचार्ययो; संग्रहे चात्र सर्वतन्त्रलोकादुभयमपि लिखितमित्यदोष। अपस्मार इवेति यथाऽपस्मारी महताऽभिघातेन पतति चिरेण प्रतिबुध्यते। अपस्मारे फेनवमित्वदन्तपटनाक्षिवैकृत्यादिकमधिकमिति नेद। बीभत्सचेष्टितैरिति फेनवमित्वादिभिरेव ॥ १३ ॥

†पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धस्तदन्वयः।
तस्माद्रक्तस्य गन्धेन मूर्च्छन्ति भुविमानवाः ॥ १४ ॥
द्रव्यस्वभाव इत्येके दृष्ट्वा यदभिमुह्यति।

रक्तजमूर्च्छासम्प्राप्तिमाह—पृथिव्याप इत्यादि। पृथिव्यापश्चैतद्द्वयं तमोरूपं तमोबहुलं, उक्तं हि,–"तमोबहुला पृथिवी, सत्त्वतमोबहुला आप. ( सु. शा. स्था. अ. १ )"–इति। 'पृथिव्यम्भ' इति पाठेऽयमेवार्थ। तदन्वय पृथिव्यम्भोऽन्वय', 'तन्मय' इति पाठे पृथिवीजलमय, प्रकृतिविकारभावे मयट्। तस्मादिति यस्मात् पृथिव्यापस्तमोरूपं रक्तगन्धश्च तदन्वय, मूर्च्छा च तम प्राया, तस्मादित्यर्थ। भुविमानवा इति पाञ्चभौतिकत्वेऽपि शरीरस्योद्भूतभूमिगुणा ये ते भुविमानवा पार्थिवा',

* 'अपस्मार इवागत इति आगतस्यापस्मारस्य वेगवत् सा मूर्च्छा जन्तुं प्राणिनं शीघ्रं पातयति चिराच्च प्रतिबुध्यते, विना बीभत्सचेष्टितैरिति अपस्मारे फेनागमनदन्तखादनाक्षि-विकृतत्वादिदर्शनमस्ति, त्रिदोषजायां मूर्च्छायां तु न तथा, अयमेव भेद, अत एव विना बीभत्सचेष्टितैरिति' ( आ० द० ) ॥ १३ ॥

† 'तदन्वय' इत्यत्र 'तन्मय.' इति पाठे तन्मय इति पृथिव्यम्मय, तदन्वयश्चेत्यपि तत्त्वत सिद्ध, मूर्च्छा च तम प्राया, तस्मादित्यर्थ। अन्ये 'पृथिव्यम्भ' इति पठन्ति। तत्र पृथिवी चाम्भश्च पृथिव्यम्भसी तयो संबन्धि तमस्तद्रूपं तद्गुणयुक्त रक्तमिति, इत्यन्योऽत्र बाहुल्ये स्वल्पत्वे वा वर्तते, तत्र मानवजातस्यां तत्र का इति ये भौतिकत्वेऽपि तु विशेषेणोक्तादत्ते, सर्वे न विशेषणमेवाया स्तुवत्वात्। ये मानवाश्चानमना भवन्ति त एव रक्तगन्धेन मूर्च्छन्ति, न तु सात्त्विका राजसा वा रक्तगन्धेन मूर्च्छन्तीति भाव। यत् 'रक्त' इति तैव' ( आ० द० ) ॥ १४ ॥

१ तत्स्थाने 'यथा अपस्मारोऽपस्मारात् वातेन चिरेण वेगवान् उपविशति, तन्मूर्च्छा हर्षायेद.' इत्यधिकमप्युपलभ्यते।

तामसा इत्यर्थः, नतु राजसा सात्त्विका वा । ननु चम्पकादिगन्धेनापि मूर्च्छा प्रसज्येत ? तत्रापि गन्धस्य पार्थिवत्वात्, पृथिव्याश्च तमोरूपत्वादित्यत आह—द्रव्यस्वभाव इत्यादि । रक्तस्यैव स्वभावः, तेन तद्गत एव गन्धो मूर्च्छयतीति । स्वभावमेव दर्शयति—दृष्ट्वा यदभिमुह्यतीति । 'यच्च दृष्ट्वाऽपि मुह्यति'-इति पाठान्तरम् । अन्ये तु गन्धासम्बन्धेऽपि दर्शनमात्रान्मूर्च्छोपलम्भादनैकान्तिकत्वं गन्धस्य मन्यमाना स्वभावमेव हेत्वन्तरमाहुः, एतेन गन्धस्य प्रायिकत्वमुक्तम् । अन्ये तु गन्धस्य हेतुत्वमपास्य दर्शनस्यैव हेतुत्वं मन्यन्ते, तन्न, यदाह भोजः,—"स्तब्धाङ्गदृष्टिर्भवति गूढोच्छ्वासस्तथैव च । दर्शनादस्रजस्तस्याद्गन्धाच्चैव प्रमुह्यति"-इति । "पृथिव्यास्तमोरूपम्'-इति पाठान्तरं सुगमम् । "पृथिव्यम्भस्तमोरूप रक्तगन्धेन तत्त्रयम्"-इति पाठान्तरस्य जेज्जटलिखितस्यायमर्थः,—रक्तगन्धेन तु यदुक्तमव्यभिचरितं प्रकृतिविकारयोस्तादर्थ्यात्, किं तत्त्रयमित्यत उक्तं—पृथिव्यम्भस्तमोरूपमिति, पृथिव्यम्भस्तमसा रूपमित्यर्थः, शेषं पूर्ववत् । दृष्ट्वेति रक्तमिति शेषः ॥ १४ ॥—

*गुणास्तीव्रतरत्वेन स्थितास्तु विषमद्ययोः ॥ १५ ॥
त एव तस्मात्ताभ्यां तु मोहौ स्यातां यथेरितौ ।

विषमद्यजे प्राह—गुणा इत्यादि । गुणा इह यदुक्तं दृढबलेन,—"लघु रूक्षमाशु विशदं व्यवायि तीक्ष्णं विकाशि सूक्ष्मं च । उष्णमनिर्देश्यरसं दशगुणमुक्तं विषं तज्ज्ञैः" (च. चि. स्था. अ. २३)—इति । ते तैलादौ व्यस्तास्तीव्रा सन्ति, विषमद्ययोस्तु तीव्रतरा, अतस्तैलादिभिर्न मोहः, किंतु विषमद्याभ्यामिति । त एवेति गुणा लघुत्वादयः । यथेरिताविति विषजो मोहो न स्वयं निवर्तते विषस्यापाकित्वात्, मद्यजस्तु मद्यपरिणामादेव शाम्यति, अयं च भेदो विषमद्ययोः प्रभावात् । उक्तं हि तन्त्रान्तरे,—"ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सन्निपातप्रकोपनाः । त एव मद्ये दृश्यन्ते विषे तु बलवत्तराः"—इति ॥ १५ ॥—

†स्तब्धाङ्गदृष्टिस्त्वसृजा गूढोच्छ्वासश्च मूर्च्छितः ॥ १६ ॥
मद्येन विलपञ्छेते नष्टविभ्रान्तमानसः ।
गात्राणि विक्षिपन् भूमौ जरां यावन्न याति तत् ॥ १७ ॥
वेपथुस्वप्नतृष्णाः स्युस्तमश्च विषमूर्च्छिते ।
वेदितव्यं तीव्रतरं यथास्वं विषलक्षणैः ॥ १८ ॥

* 'तीव्रतरत्वेन तत्रापि भेदः—विषे तीव्रतमा, मद्ये तीव्रतरा, तैलादिषु तीव्रा व्यस्ताश्च । यथेरिताविति ताभ्यां विषमद्याभ्यां यथारीती तारतम्यादिभेदेन यथोक्तौ मोहौ स्याताम् । विषेण तीव्रतमं, मद्येन तीव्रतरं इत्यर्थः' (आ० द०) ॥ १५ ॥—

† 'गूढोच्छ्वास इत्यत्र मूर्च्छेति पाठे सनिरुद्धोच्छ्वासः । विलपन् प्रलपन् । नष्टविभ्रान्तमानस इति नष्टं स्मृतिरहितं विभ्रान्तं विक्षिप्तं मानसं चित्तं यस्य स तथा । जरां यावन्न याति तदिति यावन्तरां परिपाकं न गच्छति तावद्गात्राणि भूमौ विनिक्षिपन् ताडयन्

१. 'मदाद् भेदः' इति क । २ 'पृथिव्यापस्तमोरूपा' इति क ।

रक्तजादिमूर्च्छात्रयस्य रूपाण्याह,–रक्तगन्धादित्यादि मूर्च्छित इत्यन्तं रक्तजायाः । गूढोच्छ्वासश्चासावुच्छ्वासः । 'मूढ' इति पाठे संनिरुद्ध इत्यर्थं इति जेज्जटः । मद्येने- त्यादि तदित्यन्तं मद्यजायाः । नष्टविभ्रान्तमानस इत्यत्र 'निष्टनन् भ्रान्तमानसः' इति पाठान्तरे निष्टनन् शब्दं कुर्वन् । वेपथ्वादिना विषजायाः । यथास्वं विषलक्षणैरिति विषस्य मूलपत्रक्षीरादिभेदेन प्रातिस्विकं यल्लक्षणमुक्तं सौश्रुतकल्पस्थाने ( सु. क. स्था. अ. २ ) तल्लक्षणयुक्ता मूर्च्छा भवतीत्यर्थः ॥ १६–१८ ॥

*मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद्भ्रमः ।
तमोवातकफात्तन्द्रा निद्रा श्लेष्मतमोभवा ॥ १९ ॥
( चक्रवद्भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा ।
भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः ॥ १ ॥ )

संज्ञानाशसाधर्म्येऽपि मूर्च्छादीनां को भेदः ? इत्याह—मूर्च्छा पित्ततमः- प्रायेत्यादि । तमोवातकफादिति समाहारद्वन्द्वः । निद्रातन्द्रयोश्चैतानि कारणानि व्यस्तसमस्तानि, तेन सुश्रुतेन यदतिलङ्घितलक्षणे निद्रातन्द्रे पठिते ते[1] विनैव कफात्, अतिलङ्घनस्य श्लेष्मक्षयहेतुत्वात् ॥ १९ ॥

†इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः ।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

मूर्च्छितवत्तिष्ठतीत्यर्थः । वेपथुः कम्पः, स्वप्नो निद्रा । तमोऽन्धकारप्रविष्टस्येवार्थासंवित्तिः । यथास्वं विषलक्षणैरिति विषस्य मूलकन्दपत्रक्षीरादिभेदेन यल्लक्षणं सुश्रुते कल्पस्थाने उक्तं तेषां लक्षणैरेव तीव्रतरत्वेन युक्ता मूर्च्छा भवतीत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ १६–१८ ॥

* 'संज्ञानाशसाधर्म्यान्मूर्च्छया भेदानाह—तत्र मूर्च्छाहेतुमाह—मूर्च्छा पित्ततमः- प्राया; तमोगुणयुक्तेन पित्तेन मूर्च्छा भवति । भ्रमहेतुमाह—रज इत्यादि । रजोगुणेन पित्ता- निलाभ्यां युक्तेन भ्रमो भवति, तत्र भ्रमः स्थाणौ पुरुषज्ञानं, पुरुषे विपरीततत्त्वज्ञाना- दिकं; अन्ये चक्रस्थितस्येव संभ्रमद्वस्तुदर्शनमिति । तन्द्राहेतुमाह—तम इत्यादि । तमोगुणेन युक्ताभ्यां वातकफाभ्यां तन्द्रा भवति, समाहारद्वन्द्वेनैकवचनम् । निद्राहेतुमाह—श्लेष्मणा मिलितेन तमोगुणेन निद्रा भवति, तस्या लक्षणं—अरतिविक्रान्तमनसः सर्वेन्द्रियाणां स्ववि- षयनिवृत्तिः । चरकेऽपि "यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः । विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः"—इति । अत्र कर्मात्मान इन्द्रियाणि, निरिन्द्रियप्रदेशे मनसोऽवस्थितिर्निद्रेत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ १९ ॥

† 'इन्द्रियार्थेषु विषयेषु असंप्राप्तिरग्रहणम् । गौरवमङ्गानाम् । निद्रार्तस्येवोत्पन्ननि- द्रस्येव । अस्याग्रे क्लम*लक्षणं पठन्ति—य इत्यादि । यः शरीरे आयासवर्जितः श्रमः प्रवृद्धो भवति परं श्वासवर्जितः स क्लम इति कथितः । इन्द्रियार्थप्रबाधकः विषयग्रहणेऽसमर्थः । अयं पाठो माधवेन न लिखितः' ( आ० द० ) ॥ २० ॥

---

१ 'तेनैव कफात्' इति क० ॥

* योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वासवर्जितः । क्लमः स इति विज्ञेय इन्द्रियार्थ- प्रबाधकः ॥

तन्द्रालक्षणमाह—इन्द्रियार्थेष्वित्यादि । निद्राभ्रमयोस्तु लक्षणं नोक्तमिह, अतिप्रसिद्धत्वात् । निद्रा हि विलुप्तमनसः सर्वेन्द्रियाणां स्वविषयनिवृत्तिः । यदाह चरकः—"यदा तु मनसि क्लान्ते कर्मात्मानः क्लमान्विताः । विषयेभ्यो निवर्तन्ते तदा स्वपिति मानवः" (च. सू. स्था. अ. २१)—इति । अत्र कर्मात्मान इन्द्रियाणि, निरिन्द्रियप्रदेशे मनसोऽवस्थितिर्निद्रेति मतेऽप्ययमेवार्थः । निद्रातन्द्रयोस्तु च कारणभेदाद्भेदः उद्भूतजृम्भादेश्चानुभवसिद्धत्वादिति, तथा निद्रायामिन्द्रियमनोमोहः, तन्द्रायामिन्द्रियमोहः । भ्रमलक्षणं तु चक्रस्थितस्येव भ्रमद्वस्तुदर्शनमिति ॥ २० ॥

*दोषेषु मदमूर्च्छायाः कृतवेगेषु देहिनाम् ।
स्वयमेवोपशाम्यन्ति संन्यासो नौषधैर्विना ॥ २१ ॥

संन्यासस्य मूर्च्छादिभ्यो भेदमाह—दोषेष्वित्यादि ॥ २१ ॥

†वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्यातिबला मलाः ।
संन्यस्यन्त्यबलं जन्तुं प्राणायतनमाश्रिताः ॥ २२ ॥
स ना संन्याससंन्यस्तः काष्ठीभूतो मृतोपमः ।
प्राणैर्विमुच्यते शीघ्रं मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियाम् ॥ २३ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रासंन्यासनिदानं समाप्तम् ।

तल्लक्षणमाह—वागित्यादि । अतिबला इत्यनेन मूर्च्छाया आरम्भकदोषेभ्योऽधिकत्वेन प्रवृद्धा दोषाः संन्यासे इति बोधयति । संन्यस्यन्ति मोहयन्ति । स ना पुरुषः, संन्याससंन्यस्तः संन्यासपीडितः, काष्ठीभूत इति अत्यन्तनिष्क्रियत्वेन अकाष्ठ एव काष्ठवद्भूतः । अत एव मृतोपम इति । मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियामिति सूचीव्यधनाञ्जनावपीडकशिम्बीफलावघर्षणादिरूपा क्रिया यदि क्रियते तदा प्राणैर्विमुच्यते, अन्यथा तु जीवतीति ॥ २२ ॥ २३ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूर्च्छाभ्रमनिद्रातन्द्रासंन्यासनिदानं समाप्तम् ।

---

* 'आदिशब्दोऽत्र लुप्तो द्रष्टव्यः । आविष्टवेगेषु दोषेषु या मदादिभिर्मूर्च्छा भवति सोपशान्तवेगेषु स्वयमेवोपशमं याति, भिषक्प्रतीकारं विनेत्यर्थः, संन्यासस्तु चिकित्सकयत्नमात्रमौषधैर्विना न शाम्यतीत्यर्थः' (आ० द०) ॥ २१ ॥

† 'प्राणायतनं चेतनास्थानं हृदयमाश्रिताः, वाग्देहमनसां चेष्टामाक्षिप्य विनाश्य, अबलं दीनसत्त्वं पुरुषं, संन्यस्यन्ति । मुक्त्वा सद्यःफलां क्रियामिति सद्यः फलं यस्याः तां क्रियां त्यक्त्वेत्यर्थः' (आ० द०) ॥ २२ ॥ २३ ॥

---

१ 'निद्राऽतिपिहितमनस' इति क. । २ 'तन्द्रायां मनोमोह' इति क. ।

३ कृतवेगेष्विति वेगं कृत्वा क्षीणवेगेषु, वेगो हि दोषाणां बलक्षयकारणं भवति । यदुक्तं विषमज्वरे,—"कृत्वा वेगं गतबलाः"—इत्यादि । हतवेगेष्विति पाठान्तरम् ॥

# अथ पानात्ययपरमदपानाजीर्णपानविभ्रमनिदानम् ।

*ये विषस्य गुणाः प्रोक्तास्तेऽपि मद्ये प्रतिष्ठिताः ।
तेन मिथ्योपयुक्तेन भवन्त्युग्रो मदात्ययः ॥ १ ॥

'मूर्च्छां मद्येन च विषेण च'—इति वचनान्मूर्च्छानन्तरं मदविकारान् मदात्ययादीनाह । ननु, कथं मद्यं मोहयतीत्याह—ये विषस्येत्यादि । ते च विषगुणा मूर्च्छाध्याये निर्दिष्टाः । मिथ्योपयुक्तेनेति अयथाविधिपीतेन, विधिश्चायं यथा,—कुसुमितलतोपगूढैः प्रच्छन्ननिरन्तरनवाङ्कुरनिकररोमाञ्चैर्मधुकरमधुरसङ्कारसीत्कारैर्मुक्तकण्ठकलकण्ठकूजितैर्दक्षिणसमीरणसमुल्लसितपल्लवकरप्रचारैर्मदनतदभिदधान्तरामिरतिशोभनेषु तुषारकरकिरणराजिपराजिताशेषतापदोषेषु प्रदेशेषु¹ शृङ्गाररसगर्भशुचिसालङ्कृतिकमनीयकामिनीसेवितं ललितललनोपनीयमानं सुरभिरुचिरचषकोपदंशं कं नाम परमिनं परार्घ्यमधुपानं न सुखयति ? चरके तु विस्तरेणैतदुक्तम् ॥ १ ॥

†किंतु मद्यं स्वभावेन यथैवान्नं तथा स्मृतम् ।
अयुक्तियुक्तं रोगाय युक्तियुक्तं यथाऽमृतम् ॥ २ ॥
प्राणाः प्राणभृतामन्नं तदयुक्त्या निहन्त्यसून् ।
विषं प्राणहरं तच्च युक्तियुक्तं रसायनम् ॥ ३ ॥

ननु, विषस्य ये गुणास्ते चेन्मद्येऽपि सन्ति, तर्हि विषवन्मद्यमनुपयोज्यं प्रसज्येत ? अत आह—किंत्वित्यादि । यथैवान्नमिति देहधारकस्वभावं तदेवायुक्तियुक्तमविधियुक्तं रोगाय; तस्मादहितमपि विशिष्टविधिनोपयुक्तं हितं, हितमप्यविधिनोपयुक्तमनर्थाय भवतीति । अत्रैव दृष्टान्तमाह—प्राणा इत्यादि । तदयुक्त्येति अतिमात्रत्वादिना विसूच्यादिकं कृत्वा मारयतीत्यर्थः । युक्तियुक्तमिति यथा चरकरसायनप्रयोगे उक्तं,—"द्वौ यवावत्र हेम्नश्च तिलं दद्याद्विषस्य च ( च. चि. स्था. अ. १ )"—इति । अत्र तिलमिति तिलप्रमाणम् ॥ २ ॥ ३ ॥

* 'ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः, ते गुणा मद्येऽपि प्रतिष्ठिताः, तेन मद्येन' (आ० द०) ॥ १ ॥

† 'मद्यं स्वभावेन अन्नवत् एव देहधारणस्वभावं, तदेवात्र मद्यं चायुक्तियुक्तमविधिप्रयुक्तं रोगाय भवति, युक्तियुक्तममृतवत्सुखकारीत्यर्थः । अत्र प्राणभृतां शरीरिणां प्राणाः, शरीरधारणात्मकत्वात् । प्राणहरमपि तद्विषं युक्तियुक्तं रसायनं भवति, शरीरं धारयतीत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ २ ॥ ३ ॥

१ अस्माकं पुस्तके 'सुखकाय. पिबेत्पानः सोपदंशं यथाक्रमम् । मद्यान्ते त्रिगुणं तथा स्निग्धाहारेण पालयेत् । प्रदोषेऽल्पकं दद्यात्तदा मदरसायने ॥ वामे रामा रमणकुशला दक्षिणे पानपात्रं वामे भुक्त्वा मरिचसहितं पश्चान्मांसम् । वीणानादैः परभृतरवैः पार गीतिनृत्यैः सोऽयं धन्यः पिबति मदिरां भैरवो यस्य तुष्टः ।'—इत्यधिकः पाठ उपलभ्यते । २ 'प्रदोषेषु' इति क. ।

*विधिना मात्रया काले हितैरन्नैर्यथाबलम् ।
प्रहृष्टो यः पिबेन्मद्यं तस्य स्यादमृतोपमम् ॥ ४ ॥
स्निग्धैस्तदन्नैर्मांसैश्च भक्ष्यैश्च सह सेवितम् ।
भवेदायुःप्रकर्षाय बलायोपचयाय च ॥ ५ ॥
काम्यता मनसस्तुष्टिस्तेजो विक्रम एव च ।
विधिवत्सेव्यमाने तु मद्ये संनिहिता गुणाः ॥ ६ ॥

विधिनोपयुक्तस्य फलमाह—विधिनेत्यादि । काल इति नियते चावस्थिके च; तद्यथा-ग्रीष्मे शीतमधुरं माध्वीकादि, शीते उष्णतीक्ष्णं गौडिकपैष्टिकादि, तथा वाते स्निग्धादि, एवं वयस्युदाहार्यम् । हितैरन्नैरिति वक्ष्यमाणस्निग्धादिभिर्मद्यविपरीतगुणैः । स्निग्धैरित्युपलक्षणं, तेनान्यैरपि मद्यविपरीतगुणैरिति बोद्धव्यम् । यदुक्तं सुश्रुतेन,—"मद्यमम्लं तथा तीक्ष्णं सूक्ष्मं विशदमेव च । रूक्षमाशुकरं चैव व्यवायि च विकाशि च—" (सु. उ. तं अ. ४७) इति । अम्लरसत्वं चास्योद्भूतरसत्वेनोक्तं, यदुक्तमन्यत्र,—"सर्वेषाममद्यजातीनां मद्यं मूर्ध्नि व्यवस्थितम्"—इति । मूर्ध्नि व्यवस्थितमुत्कृष्टम् । अन्येऽप्यत्र रसाः सन्ति । यदाह भोज,—"मैरेयं मदिरा सीधु चतुर्थं मधु चोच्यते । एकैकं षड्रसं तत्र रसतो मद्यनीरितम्"—इति । अन्नभक्ष्यशब्दयोरुपादानेन प्रायो रौक्ष्यं द्रवान्तरपानं च मद्यपानोचितं न भवतीति दर्शयति । अन्नभक्ष्याभ्यां लब्धेऽपि मांसे, मांसग्रहणं विशेषेण हितत्वोपदर्शनार्थम् । बलं शक्तिः, उपचयः स्थौल्यम् । अपरमपि विधिसेवागुणमाह—काम्यतेत्यादि । काम्यता कमनीयमूर्तिता, मनस्तुष्टिः सन्तोषः । काम्यता मनस इति कमनीयमस्तुनि

---

*'विधि. पूर्वोक्त., तन्त्रान्तरोक्तश्च,—"शुद्धकाय. पिबेत्प्रातः सोपदंश यथाक्रमम् । मध्याह्ने द्विगुण तद्य स्निग्धाहारेण वै पिबेत् ॥ प्रदोषेऽल्पश्च तदन्मात्रा मद्यरसायने । आरोग्य धातुसाम्य च मदिवाग्निबलप्रदम् ॥ अनेन विधिना सेव्यं मद्य नित्यमनन्दिते."—इति; अन्ये, "तुष्ट्यादयो गुणा मात्रयुक्तमनि निरत्यया. । मात्रेव विदिना मद्यपाने रोगाय चापराः"—इति । काल इति तत्र काले द्विविधो नियत , आवस्थिकश्च, तत्र नियते ऋतुसंबन्धिनि, आवस्थिके काले-वाते स्निग्धादि, यथाबलं स्वशक्त्या । एव हृष्टो हर्षयुक्तो यो मद्य पिबेत्तस्यामृतोपम स्यात् । के सह पीत बलोपचयाय भवति तानाह—स्निग्धैरित्यादि । एभिर्वस्तुभि सेव्यमान मद्यमायु प्रकर्षाय भवति तथा बलवर्धकमिति । स्निग्धैरित्युपलक्षण, तेनान्यैर्मद्यविपरीतगुणैरिति बोद्धव्यं, तेन तीक्ष्णादिमद्यगुणविपरीतैर्मृद्वादिगुणैः सह मद्यं सेव्यमिति । अन्येऽप्यत्र रसाः सन्ति । यदुक्त तन्त्रान्तरे—"मद्यस्याम्लस्वभावस्य चत्वारोऽनुरसा. स्मृता । मधुरश्च कषायश्च कटुकस्तिक्त एव च"—इति । यदाह भोज.—"मदिरायां रसा व्यक्ता मधुरोपगतीक्ष्णकाः । लवणाम्लकषायाश्च त्रयः सूक्ष्मतराः स्मृताः ॥ विपर्ययेणैवदेवं मैरेये कथिता रसा. । माध्वीके सीधुसंज्ञे च व्यक्तौ मधुरकटू रसौ । मद्यस्य हि शेषाश्चत्वारो रसा भोजेन कीर्तिताः"—इति । अन्नैरिति गोधूमादिभिः' (आ० द०) ॥ ४-६ ॥

मनोरतिः', तुष्टिश्च मनस एवेति बोध्यम्। तेज उत्साहः। विक्रमः पराभिभवार्थं बलवती शरीरचेष्टा ॥ ४-६ ॥

*बुद्धिस्मृतिप्रीतिकरः सुखश्च पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्च।
संपाठगीतस्वरवर्धनश्च प्रोक्तोऽतिरम्यः प्रथमो मदो हि ॥ ७ ॥

उक्तविधिविपर्ययेण सेव्यमानं मद्यं मदात्ययाय संपद्यते, स च त्रिविधो भवति—पूर्वो मध्यमोऽन्तिमश्चेति, तेषां क्रमेण लक्षणमाह—बुद्धीत्यादि। बुद्धिरनुभवः, स्मृतिरनुभूतार्थानुसन्धानम्। पानान्ननिद्रारतिवर्धनश्चेति पानादिषु रतिरनुरागस्तद्वर्धनः। संपाठः सम्यक् पाठः। गयदासस्तु 'संपाठ्य'—इति पठित्वा गीतहलवाद्यानि मिलितानि संपाठ्यमुच्यते, गीतं तु केवलमेवेति व्याचष्टे। स्वरो ध्वनिः। प्रोक्तोऽतिरम्य इति (ननु मनोविकारकारित्वात्कथमस्यातिरम्यता? उच्यते-) मनोविकारकारित्वेऽपि तदात्वेन दुःखोपहतत्वात्, अत एव सुश्रुतेन मानसविकारेषु हर्षः पठितः ॥ ७ ॥

†अव्यक्तबुद्धिस्मृतिवाग्विचेष्टः सोन्मत्तलीलाकृतिरप्रशान्तः।
आलस्यनिद्राभिहतो मुहुश्च मध्येन मत्तः पुरुषो मदेन ॥ ८ ॥

द्वितीयमदमाह—अव्यक्तेत्यादि। विचेष्टो विरुद्धचेष्टः। उन्मत्तस्य लीलाकृतिभ्यां सह वर्तत इति सोन्मत्तलीलाकृतिः, उन्मत्तप्राय इत्यर्थः। अप्रशान्तः प्रचण्डः ॥८॥

‡गच्छेदगम्यांश्च गुरूंश्च मन्येत् खादेदभक्ष्याणि च नष्टसंज्ञः।
ब्रूयाच्च गुह्यानि हृदि स्थितानि मदे तृतीये पुरुषोऽस्वतन्त्रः ॥ ९ ॥

तृतीयमदमाह—गच्छेदित्यादि। ननु चरके द्वितीयतृतीययोर्मध्ये मदान्तरं पठितं, यदाह,—"मध्यमं मदमुत्क्रम्य मदमप्राप्य चोत्तमम्। न किंचिदशुभं प्राप्नुर्नरा राजसतामसाः ॥ को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम् (च. चि. स्था. अ. २४)"—इति; तत् कुतोऽत्र न पठितं? उच्यते,—द्वितीयमदान्ते तृतीयमदस्य पूर्वावस्थैवातिनिन्दनीया, सुतरां तृतीयो मद इति प्रतिपादनार्थं तत्पठितं, न तयोः परमार्थतोऽन्तराले पृथङ्मदान्तरमस्ति,—यथा, "कुम्भमीनर्क्षयोर्मध्ये यदा चरति चन्द्रमाः। नाहरेत्तृणकाष्ठानि न गच्छेद्दक्षिणां दिशम्"—इति। अत्र हि कुम्भस्य शेषांशो मीनस्य प्रथमांश एतद्वयं मध्यशब्देनोच्यत इत्याहुर्जेज्जटादयः, हरिचन्द्रव्याख्यानं तु विस्तरत्वान्न लिखितम्। अगम्यान् गुरुदारादीन् दुष्टयानादींश्च। नष्टसंज्ञ इति संज्ञा नामोल्लेखेन ज्ञानं, तन्नष्टं यस्य स तथा। गुह्यानि गोप्यानि। अस्वतन्त्रो मदपरवशः ॥ ९ ॥

---

* 'प्रीतिः परेण मैत्री। सुख इति शोकापसरणेन मनसः प्रसादादनुपहतेन्द्रियवृत्तित्वात्। गीतं गान, स्वरो ध्वनिः' (आ० द०) ॥ ७ ॥

† 'मुहुर्वारंवार, आलस्यनिद्राभ्यामभिहतः पीडितः, स चैवंविधोऽप्यनुपहतेन्द्रियवृत्तित्वात्' (आ० द०) ॥ ८ ॥

‡ 'गुरून् ज्येष्ठान्, न मन्येतावमन्येतेत्यर्थः; अभक्ष्याणि जाङ्गलीविषाणि, पराशुद्धपानादींश्च। स चैवंविधोऽर्धोपहतेन्द्रियत्वादुच्यते' (आ० द०) ॥ ९ ॥

*चतुर्थे तु मदे मूढो भग्नदार्विव निष्क्रियः ।
कार्याकार्यविभागज्ञो मृतादप्यपरो मृतः ॥ १० ॥
को मदं तादृशं गच्छेदुन्मादमिव चापरम् ।
बहुदोषमिवामूढः कान्तारं स्ववशः कृती ॥ ११ ॥

चतुर्थमदमाह—चतुर्थे त्वित्यादि । कार्याकार्यविभागज्ञः कार्यमकार्यमिति बुद्ध्या जानाति । 'कार्याकार्यविभागाज्ञ' इति पाठे कार्याकार्यविभागयोरज्ञ इत्यर्थः । मृतादप्यपरो मृत इति मृतमपेक्ष्यापरोऽयं मृत इव, अत्यन्ताज्ञानसाधर्म्यात् । 'अवर' इति पाठान्तरे मृतादप्यधम इत्यर्थः, तथाविधावस्थाया स्वयं कृतत्वात् । क इत्यादि ।—कः कृती कुशलः, सुकृती वा, कृतकृत्यो वा, स्ववशोऽपराधीनः, तादृशमुक्तप्रकारेण निन्दितं मदं, गच्छेत् आप्नुयात्, न कश्चिदेवंविधं प्राप्नुयादित्यर्थः । कमिवेत्याह—बहुदोषमिवामूढ कान्तारमिति बहुदोषं हिंस्रादियुक्तं, कान्तारं दूरशून्यमध्वानम् । यदुक्तं चरके,-"गच्छेदध्वानमत्यन्तं बहुदोषमिवाऽध्वग." ( च. चि. स्था. अ. २४ ) इति, एवं विदेहेऽपि पठितमिति । अत्रात्यन्तमशोभमानमनिष्टफलत्वेन । ननु, चरकविदेहवाग्भटादिभिश्चतुर्थो मदो न पठितस्तत्कथं सुश्रुतेन पठित ? उच्यते, चरके या द्वितीयतृतीययोरन्तरालावस्था पठिता, सैव सुश्रुतेन तृतीयो मद इति कृत्वा पठित, यस्तु चरके तृतीय स च सुश्रुते चतुर्थः पठित इत्यविरोध । वस्तुगत्या तु त्रय एव मदा इत्युपपादितम् । ननु, किंकारणमेतत्त्रैविध्यमिति चेत् ? उच्यते, मद्य हि वह्नितुल्य, यथा वह्नि सुवर्णानामुत्तममध्यमाधमानामभिव्यञ्जकस्तथा मद्यमपि प्राणिनां सत्त्वरजस्तमोभूयिष्ठानां क्रमेणाभिव्यञ्जकमिति । तथाहि चरक,—"प्रधानाधममध्यानां रुक्माणां व्यक्तिदर्शक । यथाऽग्निरेव सत्त्वानां मद्य प्रकृतिदर्शकम्"-इति ( च चि. स्था अ २४ ) । तस्मात् प्रथमद्वितीयतृतीयमदा सत्त्वरजस्तमोभूयिष्ठानां क्रमेण भवन्तीत्यर्थ ॥ १० ॥ ११ ॥

निर्भक्तमेकान्तत एव मद्यं निषेव्यमाणं मनुजेन नित्यम् ।
आपादयेत्कष्टतमान्विकारानापादयेच्चापि शरीरभेदम् ॥ १२ ॥

अविधिमद्यपानस्य विकारान्तरहेतुत्वमाह—निर्भक्तमित्यादि । ननु, अयमर्थ स्निग्धैस्तदन्नैरित्यादिना यदुक्तं तद्विपर्ययेणैव लब्ध, तत्कथ पुनरुच्यते ? नैवं, पूर्वं मद्यपानगुणाभिधानार्थमुक्त, इद तु कृच्छ्रतमव्याधिकर्तृत्वाभिधानार्थमिति भेद ।

---

* 'चतुर्थे मदे पुरुषो मूढोऽज्ञ, भग्नदार्विव निष्क्रियो भवति भग्नवृक्ष इव क्रियारहित, को मूढो गच्छेदपि ? न कोऽपि । ननु चरकविदेहवाग्भटादिभिश्चतुर्थो मदो न पठित, तत्कथ न विरोध ? उच्यते, चरके या द्वितीयतृतीययोरन्तरालावस्था पठिता, सैव सुश्रुतेन तृतीयो मद इति कृत्वा पठित । केयमन्तरालावस्था ? यथोक्तं ज्योति.शास्त्रे-"कुम्भमीनद्वयोर्मध्ये यदा चरति चन्द्रमा । नाहरेत्तृणकाष्ठानि न गच्छेद्दक्षिणां दिशम्-" इति । अत्र कुम्भस्य शेषांशो मीनस्य प्रथमांश एतद्द्वय मध्यशब्देनोच्यते इति सैवान्तरालावस्था' (आ० ८० ) ॥ १० ॥ ११ ॥

यत्परः शब्दः स शब्दार्थ इत्यभिप्रायः। कष्टतमान्विकारानिति वक्ष्यमाणपानात्ययादीन्। भेदं विनाशं शरीरस्य ॥ १२ ॥

*क्रुद्धेन भीतेन पिपासितेन शोकाभितप्तेन बुभुक्षितेन।
व्यायामभाराध्वपरिक्षतेन वेगावरोधाभिहतेन चापि ॥ १३ ॥
अत्यम्बुभक्षावततोदरेण साजीर्णभुक्तेन तथाऽबलेन।
उष्णाभितप्तेन च सेव्यमानं करोति मद्यं विविधान्विकारान् ॥ १४ ॥

अन्नसहितस्यापि मद्यस्य क्रुद्धत्वादिकारणसहितस्य विकारकारित्वप्रदर्शनार्थमाह—क्रुद्धेनेत्यादि। परिक्षतेन क्षीणेन। अवततं व्याप्तम्। विविधान् विकारान् पानात्ययादीनिति ॥ १३ ॥ १४ ॥

†पानात्ययं परमदं पानाजीर्णमथापि वा।
पानविभ्रममुग्रं च तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ १५ ॥

तानेव निर्दिशति—पानात्ययमित्यादि। ननु, अवश्यं 'आपादयेत्कष्टतमान्विकारान्'—इत्यनेनैवोक्तत्वात् कथं पुनरुक्तं? उच्यते, पूर्वेण कष्टतमविकारकारित्वमुक्तं, अनेन तु नानाविधविकारकारित्वमिति भेदः ॥ १५ ॥

‡हिक्काश्वासशिरःकम्पपार्श्वशूलप्रजागरैः।
विद्याद्बहुप्रलापस्य वातप्रायं मदात्ययम् ॥ १६ ॥
तृष्णादाहज्वरस्वेदमोहातीसारविभ्रमैः।
विद्याद्धरितवर्णस्य पित्तप्रायं मदात्ययम् ॥ १७ ॥
छर्द्यरोचकहृल्लासतन्द्रास्तैमित्यगौरवैः।
विद्याच्छीतपरीतस्य कफप्रायं मदात्ययम्।
ज्ञेयस्त्रिदोषजश्चापि सर्वलिङ्गैर्मदात्ययः ॥ १८ ॥

तेषामुद्दिष्टानां लक्षणमाह—हिक्केत्यादि। प्रजागरो निद्राविच्छेदः। वातप्रायमित्यनेन सर्वे मदात्ययास्त्रिदोषजा उद्भूतत्वेन व्यपदेश इति चरके दर्शितम्।

---

* 'व्यायामभाराध्वभिः परिक्षतेन क्षीणेन, वेगावरोधाभिहतेन मूत्रादीनां वेगाभिधारितेन। अत्यम्बुभक्षैरवततोदरेण व्याप्तोदरेण। साजीर्णभुक्तेन साजीर्णं भुक्तं यस्य स तथा तेन। अबलेन बलरहितेन, बलहीनः। उष्णाभितप्तेन घर्मसन्तप्तेन। ईदृशेन पुरुषेण सेव्यमानं विविधम् नानाविधान्, विकारान् पानात्ययादीन् करोति' (आ० द०) ॥ १३ ॥ १४ ॥

† 'पानात्ययमित्येको विकारः, पानाजीर्णमित्यन्यः, पानविभ्रममित्यपरः। तेषां क्रमेण लक्षणं वक्ष्यामि' (आ० द०) ॥ १५ ॥

‡ 'तत्र वातिकमदात्ययमाह—हिक्केत्यादि। सर्वे मदात्ययास्त्रिदोषजा, औल्बण्येन व्यपदेशः। पैत्तिकमाह—तृष्णेत्यादि। विभ्रमो वस्तुविपरीतज्ञानम्। हरितवर्णस्य पुरुषस्येति हरितवर्णता पित्तलक्षणं, शेषं सुगमम्। श्लैष्मिकमाह—छर्दीत्यादि। स्तैमित्यं निश्चलता। शीतपरीतस्य शीतयुक्तस्य। त्रिदोषजमाह—ज्ञेय इत्यादि। सर्वैर्लिङ्गैः सर्वदोषलक्षणैः' (आ० द०) ॥ १६–१८ ॥

यदाह,—"ये विषस्य गुणाः प्रोक्ताः सर्वदोषप्रकोपनाः"—इत्यारभ्य, यावत् "सर्वं मदात्ययं विद्यात्त्रिदोषं" (च. चि. स्था. अ. २४)—इति । एवं चरकसंवादात्सुश्रुतेऽपि बोध्यम् । विभ्रमो भ्रमः । हरितवर्णत्वेनेत्यनेन हरितवर्णताऽपि लक्षणम् ॥ १६-१८ ॥

*श्लेष्मोच्छ्रयोऽङ्गगुरुता विरसास्यता च
विण्मूत्रसक्तिरथ तन्द्रिररोचकश्च ।
लिङ्गं परस्य तु मदस्य वदन्ति तज्ज्ञा-
स्तृष्णा रुजा शिरसि सन्धिषु चापि भेदः ॥ १९ ॥

परमदमाह—श्लेष्मोच्छ्रय इत्यादि । श्लेष्मोच्छ्रयश्च नासास्रावादिना ज्ञेयः । सक्तिः सङ्गः, अप्रवृत्तिरिति यावत् । तन्द्रिस्तन्द्रा । परस्य मदस्येति परमदस्य; छन्दोनुरोधादसमासनिर्देशः ॥ १९ ॥

आध्मानमुग्रमथ चोद्गिरणं विदाहः
पानेऽजरां समुपगच्छति लक्षणानि ।

पानाजीर्णमाह—आध्मानमित्यादि । उद्गिरणं वान्तिः, उद्गारो वा । पाने मद्ये, अजीर्णमुपगच्छति अपाकमुपगच्छतीति पानाजीर्णविकार इत्यर्थः ॥—

हृद्गात्रतोदकफसंस्रवकण्ठधूमा
मूर्च्छावमिज्वरशिरोरुजनप्रदाहाः ॥ २० ॥
द्वेषः सुरान्नविकृतेष्वपि तेषु तेषु
तं पानविभ्रममुशन्त्यखिलेन धीराः ।

पानविभ्रममाह—हृदित्यादि । कण्ठधूमः कण्ठाद्धूमनिर्गमप्रतीतिः । शिरोरुजनं शिरःशूलम् । सुरान्नविकृतेष्विति सुराविकृतेष्वन्नविकृतेषु च, भावे क्तः । तेषु तेष्विति नानाविकारेषु सुरामैरेयपिष्टकल्कादिषु । उशन्ति इच्छन्ति । एते च परमदादयस्त्रयो न चरके पठिताः, सन्निपातेऽन्तर्भूतत्वात्; सुश्रुतेन तूक्तत्रिदोषजमदात्ययात्पृथगेते पठिताः, विकृत्या पूर्वलक्षणवैलक्षण्याभिधानार्थमित्याहुः ॥ २० ॥

†हीनोत्तरौष्ठमतिशीतममन्ददाहं
तैलप्रभास्यमपि पानहतं त्यजेत्तु ॥ २१ ॥
जिह्वौष्ठदन्तमसितं त्वथवाऽपि नीलं
पीते च यस्य नयने रुधिरप्रभे वा ।

असाध्यलक्षणमाह—हीनेत्यादि । हीनोत्तरौष्ठं प्रलम्बमानोपरितनौष्ठम् । अतिशीतं बहिः, अमन्ददाहमभ्यन्तरे, तैलप्रभास्यं तैलाक्तमुखमिव ॥ २१ ॥—

* 'अङ्गगुरुता शरीरगौरवम् । विरसास्यता मुखस्य वैरस्यम् । विण्मूत्रसक्तिर्विण्मूत्रयोरप्रवृत्तिः । शिरसि रुजा पीडा, संधिषु भेदः स्फुटनमिव' (आ० द०) ॥ १९ ॥

† 'अतिशीतममन्ददाहमिति विकल्पेन प्रत्येतव्यम्, एकदैवात्र विरुद्धधर्मद्वयासम्भवात्; कदाचिदतिशीतं, कदाचित्तीव्रदाहम्' (आ० द०) ॥ २१ ॥

*द्विविधज्वरौ वमथुवेपथुपार्श्वशूलाः
श्वासभ्रमावपि च पानहतं भजन्ते ॥ २२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने पानात्ययपरमदपानाजीर्णपान-
विभ्रमनिदानं समाप्तम् ॥

उपद्रवानाह—द्विरित्यादि । एवं कृच्छ्रसाध्यं भवति नन्वसाध्यं, असाध्य-
रूपमेव पृथक्पाठादिति जेज्जटः । ध्वंसकविक्षेपकाख्यौ मद्यविकारौ चरके पृथक्
पठितौ, तद्यथा—"विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते । ध्वंसो विक्षेपकश्चैव
रोगस्तस्योपजायते ॥ श्लेष्मप्रसेकः कण्ठास्यशोषः शब्दासहिष्णुता । तन्द्रानिद्राभियो-
गश्च ज्ञेयं ध्वंसकलक्षणम् ॥ हृत्कण्ठरोगः संमोहश्छर्दिरङ्गरुजा ज्वरः । तृष्णा कास-
शिरःशूलमेतद्विक्षेपलक्षणम् (च चि अ २४)"—इति, तौ च सुश्रुतेन
"विच्छिन्नमद्यः सहसा योऽतिमद्यं निषेवते । तस्य पानात्ययोद्दिष्टा विकाराः सम्भवन्ति
हि" (सु उ त अ ४७)-इत्यनेन सङ्गृहीतौ बोद्धव्यौ । न वा चिकित्साभेद-
स्तयोरस्ति, यतश्चरक एवोक्तवान्—"तयोः कर्म चिकित्सा च वातिके मद्यात्यये"
(च चि. अ २४)-इति ॥ २२ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशाख्यायां व्याख्यायां पानात्ययपरमदपाना-
जीर्णपानविभ्रमनिदानं समाप्तम् ॥

---

## दाहनिदानम् ।

त्वचं प्राप्तः स पानोष्मा पित्तरक्ताभिमूर्च्छितः ।
दाहं प्रकुरुते घोरं पित्तवत्तत्र भेषजम् ॥ १ ॥

मदात्ययेऽपि दाहो भवतीति सप्तप्रकारं दाहमाह, तत्र मद्यजमाह—त्वच-
मित्यादि । पानोष्मा मद्यपानकुपितपित्तसौष्म्यं, समानोष्मेति पाठान्तरमयुक्तं, सुश्रुते
पानात्यये श्लोकस्यास्य पाठात् । पित्तशोऽप्यस्य हेतुभेदात्पृथक् पठितः ॥ १ ॥

कृत्स्नदेहानुगं रक्तमुद्रिक्तं दहति ध्रुवम् ।
स उष्यते तृष्यते च ताम्राभस्ताम्रलोचनः ॥ २ ॥
लोहगन्धाङ्गवदनो वह्निनेवावकीर्यते ।

रक्तजमाह—कृत्स्नेत्यादि । स उष्यते समीपस्थेनेव वह्निना तप्यते, चंचू
ष्यत इति पाठान्तरे आचूषणवद्वेदनामनुभवति । ताम्राभ इति गात्रे । लोहगन्धा-
ङ्गवदन इति लोहस्येव गन्धोऽङ्गे वदने च यस्य स तथा ॥ २ ॥

पित्तज्वरसमः पित्तात्स चाप्यस्य विधिः स्मृतः ॥ ३ ॥

पित्तजमाह—पित्तेत्यादि । पित्तज्वरसमः पित्तज्वरलिङ्गयुक्तः, पित्तज्वरे
त्वामाशयदुष्ट्यादयोऽधिका इति भेदः । स चाप्यस्य विधिरिति पित्तज्वरचिकित्सा॥३॥

---

* 'उपद्रवानाह-द्विरित्यादि । एतौ उपद्रवा पानहतान् पुरुषान् भजन्ते । अस्तित
इत्, अथवा नोक्त चावशब्दमिमम् । गभिरमसे कतीव रक्ते' (मा० द० ) ॥ २२ ॥

*तृष्णानिरोधादब्धातौ क्षीणे तेजः समुद्धतम् ।
सबाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेन्मन्दचेतसः ॥ ४ ॥
संशुष्कगलताल्वोष्ठो जिह्वां निष्कृष्य वेपते ।

तृष्णानिरोधजमाह—तृष्णेत्यादि । तेजः समुद्धतं पित्तोष्मा वृद्ध इत्यर्थः । निष्कृष्य निःसार्य ॥ ४ ॥—

असृजः पूर्णकोष्ठस्य दाहोऽन्यः स्यात्सुदुस्तरः ॥ ५ ॥

अवगाढशस्त्रप्रहारजनितरक्तपूर्णकोष्ठजमाह—असृज इत्यादि । न चोक्तरक्तजेनास्य पौनरुक्त्यं, कृत्स्नदेहानुगमिति वचनात् कारणभेदाच्च । असृजः पूर्णकोष्ठस्येति "पूरणगुणसुहितार्थ–" इत्यादिना ज्ञापकेन कर्तरि षष्ठी, रक्तेन पूरितकोष्ठस्येत्यर्थः । कोष्ठशब्देन हृदयादयो गृह्यन्ते । यदाह सुश्रुतः,—"स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते" ( सू० चि० स्था० अ० २ )–इति ॥ ५ ॥

†धातुक्षयोक्तो यो दाहस्तेन मूर्च्छातृडर्दितः ।
क्षामस्वरः क्रियाहीनः स सीदेद्भृशपीडितः ॥ ६ ॥

धातुक्षयजमाह—धात्वित्यादि । धातवो रसादयः । क्रियाहीनो निश्चेष्टः; किंवा भृशपीडितो दाहेन क्रियाहीनश्चिकित्साहीनो यदि भवेत्तदा सीदेन्म्रियत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

‡मर्माभिघातजोऽप्यस्ति सोऽसाध्यः सप्तमो मतः ।
सर्व एव च वर्ज्याः स्युः शीतगात्रस्य देहिनः ॥ ७ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने दाहनिदानं समाप्तम् ॥ १९ ॥

मर्माभिघातजमाह–मर्मेत्यादि । मर्माणि शिरोहृदयबस्त्यादीनि । जेज्जटस्तु सप्तत्वमन्यथा गणयति,–'त्वचं प्राप्त' इत्यादिना प्रथमः, 'कृत्स्नदेहानुगं रक्तं'–

---

* 'तृष्णानिधारणादब्धातौ रसे क्षीणे सति, तेजः समुत्थितं पित्तोष्मा वृद्ध इत्यर्थः । सबाह्याभ्यन्तरं देहं प्रदहेत् । मन्दचेतसो विसंज्ञस्य । निष्कृष्य निःसार्य कम्पते' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥ ५ ॥—

† 'धातवो रसादय, तेषां क्षयेण यो दाहो भवति तेन धातुक्षयजदाहेन, क्षामस्वरो दुर्बलस्वरः' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥

‡ 'क्षतजेनाश्नतश्चान्नं शोचतो वाऽप्यनेकधा । तेनान्तर्दह्यतेऽत्यर्थं तृष्णादाहप्रलापवान्'–इति । अस्यार्थः–पूर्वमसृजः पूर्णकोष्ठस्येत्यादिना कोष्ठस्थेन रक्तेन दाहमभिधायेदानीं प्रकारान्तरेणाह—क्षतजेन, रक्तेन, अश्नतो भोजनं कुर्वतः, शोकं कुर्वतो वाऽपि नरस्यान्यो दाहो रक्तेन भवतीति सम्बन्धः, तेन दाहेनाभ्यन्तरं दह्यते, तृष्णामूर्च्छाप्रलापवान् 'नरो भवति' इति शेषः । मर्माभिघातजस्तु सप्तमः । सर्वेषामपि दाहानामवस्थायां वर्जनीयत्वमाह–सर्वे इति । सर्वे एव हि 'दाहा' इति शेषः । शेषं सुगमम्' ( आ० द० ) ॥ ७ ॥

इत्यत्र रक्तस्थाने पित्तं पठित्वा एतदादिना 'स चाप्यस्य विधिः स्मृतः' इत्यन्तेन पैत्तिको द्वितीयः तृष्णानिरोधजस्तृतीयः, 'असृजः पूर्णकोष्ठस्य' इति चतुर्थः, धातुक्षयजः पञ्चमः, षष्ठस्य तु क्षतजस्य लक्षणं पठति,–"क्षतजोऽनश्नतश्चान्नं शोचतश्चाप्यनेकधा। तेनान्तर्दह्यतेऽत्यर्थं तृष्णादाहप्रलापवान्"—इति, मर्माभिघातजस्तु सप्तम इति ॥ ७ ॥

*इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां दाहनिदानं समाप्तम् ॥ १९ ॥*

---

# अथोन्मादनिदानम्।

*मदयन्त्युद्धता दोषा यस्मादुन्मार्गमागताः।
मानसोऽयमतो व्याधिरुन्माद इति कीर्तितः ॥ १ ॥

*मदात्यये 'उन्मादमिव चापरम्'–इत्यनेनोन्मादसंकीर्तनमुन्मादसादृश्यं चोक्तं,* तथा मदात्ययेऽपि दाहो भवतीति सत्यवक्तृत्यतया दाहमभिधायोन्मादारम्भः, तस्य निरुक्तिमाह—मदयन्तीत्यादि। मदयन्ति मनोविभ्रमं कुर्वन्ति, उन्मार्गमागता *विमार्गमागता मनोवहधमनीरनुप्राप्ताः। उद्धता वृद्धाः, अथवोर्ध्वं हृदयं गताः, एतेनोत्पूर्वेणैव दोषाणां वृद्धत्वं विमार्गगत्वं च दर्शितम् ॥ १ ॥*

†एकैकशः सर्वशश्च दोषैरत्यर्थमूर्च्छितैः।
*मानसेन च दुःखेन स च पञ्चविधो मतः ॥ २ ॥*
विषाद्भवति षष्ठश्च यथास्वं तत्र भेषजम्।
स चाप्रवृद्धस्तरुणो मदसंज्ञां बिभर्ति च ॥ ३ ॥

प्रकारभेदमाह—*एकैकश इत्यादि। मानसेन च दुःखेनेति शोकादिना। स चेति* षड्विधोऽपि। अत्राप्रवृद्धपदमुपादायापि तरुणपदप्रयोगं कुर्वता सुश्रुतेन स्वतन्त्रोऽपि दोषजनितो मदो भवतीति दर्शितम्। अत एव चरके विधिशोणितीयाध्याये ( च. सू. स्था. अ. २४ ) उन्मादात्पृथगेव पठितः सनिदानचिकित्सित इति ॥ २ ॥ ३ ॥

‡विरुद्धदुष्टाशुचिभोजनानि प्रधर्षणं देवगुरुद्विजानाम्।
उन्मादहेतुर्भयहर्षपूर्वो मनोऽभिघातो विषमाश्च चेष्टाः ॥ ४ ॥

---

* 'यस्माद्दोषा मदयन्ति मनोविभ्रमं कुर्वन्ति, अतोऽयं मानसो व्याधिरुन्माद इति कीर्तित इति संबन्धः। अथवा ऊर्ध्वं हृदयं गताः' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

† 'तस्य संख्यामाह—एकैकश इत्यादि। वातेन पित्तेन श्लेष्मणा, सर्वश इति सन्निपातेन, अत्यर्थमूर्च्छितैरतिप्रवृद्धैः, विषाद् षष्ठो भवति। स चाप्रवृद्ध इति स च विकारः, यावत् प्रवृद्धो वृद्धिं गतो न भवति, यावच्च तरुणस्तावन्मद इति संज्ञां बिभर्ति मद इति कथ्यत इत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ २ ॥ ३ ॥

‡ 'दुष्टं गरदुष्टमन्नादि, अशुचिभोजनं चाण्डालादिस्पृष्टं, प्रधर्षणं निन्दाद्यभिभवनं' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

---

१ 'उन्मार्गमाश्रिताः' इति क.। २ 'तेन ततः पूर्वेणैव' इति क.।

सामान्यहेतुमाह—विरुद्धेत्यादि । दुष्टं गरसहितमन्नादि । प्रधर्षणं 'धृष' प्रधर्षणे, इत्यस्मात् प्रधर्षणमभिभव । भयहर्षपूर्वो मनोभिघात इति भयहर्षाभ्यां मनसोऽभिभव , भयहर्षपूर्व इति भय हर्षौ द्वौ वा पूर्वं यस्य स तथा, पूर्वशब्दोऽत्र कारण वाची, चकारोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्य , तेन कामक्रोधलोभादयोऽपि कारणमिति जेज्जट , अन्ये त्वाहु –क्रोधादिभिरपि भयहर्षपूर्वक एव भवतीति, तेन तौ निर्दिष्टौ । विषमाश्च चेष्टा इति विषमाङ्गन्यासबलवद्विग्रहादय उन्मादहेतव इति योज्यम् ॥ ४ ॥

*तैरल्पसत्त्वस्य मलाः प्रदुष्टा बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य ।
स्रोतांस्यधिष्ठाय मनोवहानि प्रमोहयन्त्याशु नरस्य चेतः ॥ ५ ॥

सम्प्राप्तिमाह—तैरित्यादि । तैरुक्तहेतुभि । अल्पसत्त्वस्य अल्पसत्त्वगुणस्येति चक्र , जेज्जटस्त्वाह–सत्त्व मन , तस्य चाल्पत्व रजस्तमोभ्यामावृतत्वेनाल्पज्ञानजनकत्वात् । मला वातादय । बुद्धेर्निवास हृदयमित्यनेन हृदयस्याश्रयस्य दुष्ट्या 'तदाश्रितज्ञानस्यापि दुष्टिर्भवतीति दर्शयति । स्रोतांसि मनोवहानीति हृदयाश्रिता दश धमन्य ; एताश्च विशेषेण बोध्य, निखिलदेहस्रोतसामेव मनोऽधिष्ठानत्वेन चरके दर्शितत्वात् । अधिष्ठाय व्याप्येत्यर्थ ॥ ५ ॥

†धीविभ्रम॰ सत्त्वपरिप्लवश्च पर्याकुला दृष्टिरधीरता च ।
अबद्धवाक्त्वं हृदयं च शून्यं सामान्यमुन्मादगदस्य लिङ्गम् ॥ ६ ॥

सामान्यरूपमाह—धीविभ्रम इत्यादि । एतत् सामान्य पूर्वरूपमिति जेज्जट , सामान्यरूपमिति चक्र । धीविभ्रमो भ्रान्तज्ञानत्वम् । सत्त्वपरिप्लवो मनसश्चञ्चलत्वम् । अधीरता कातरत्वम् । अबद्धवाक्त्वमसंबद्धवचनत्वम् । लिङ्ग्यतेऽनेनेति लिङ्ग, तेन पूर्वरूप रूप चेति व्याख्यातम् ॥ ६ ॥

‡रूक्षाल्पशीतान्नविरेकधातुक्षयोपवासैरनिलोऽतिवृद्धः ।
चिन्तादिदुष्टं हृदयं प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहन्ति शीघ्रम् ॥७॥
अस्थानहासस्मितनृत्यगीतवागङ्गविक्षेपणरोदनानि ।
पारुष्यकार्श्यारुणवर्णताश्च जीर्णे बलं चानिलजस्य रूपम् ॥ ८ ॥

वातजमाह—रूक्षेत्यादि । विरेकशब्देनात्र वान्तिरप्यभिधीयते, विरेचयति देहान्मलं पृथक्करोतीति व्युत्पत्त्या । अस्थानहासेत्यादि अस्थानेऽविषये हासोऽस्थानहास ,

---

* 'सम्प्राप्तिमाह—तैरित्यादि । अल्पसत्त्वस्य नरस्य मला वातादय प्रदुष्टा सन्तो बुद्धेर्निवासं हृदयं प्रदूष्य मनोवहानि स्रोतांस्यधिष्ठाय व्याप्याशु चेत प्रमोहयन्ति' ( आ० द० ) ॥ ५ ॥

† 'पर्याकुला दृष्टिरिति आकुलावलोकनम् । अन्ये तु हृदय शून्यमित्यन्तं धीविभ्रमत्वादि सामान्यलक्षणमेवाहु ' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥

‡ 'वातप्रकोपोन्मादस्य रूपम् । रूक्षाल्पशीतान्नैर्भोज्यै । धातुक्षयो रसादिधातुक्षय , एभिर्हेतुभि वायुश्चिन्ताशोकादिदुष्ट हृदय मन प्रदूष्य बुद्धिं स्मृतिं च शीघ्रमुपहन्ति । अनुभूतार्थस्मरणं स्मृति । पारुष्य रौक्ष्य, कार्श्यं कृशता, अरुणवर्णता रक्तवर्णत्वम्' ( आ० द० ) ॥ ७ ॥ ८ ॥

एवमस्थानशब्द सितादिपु प्रयोज्य । स्मितमीषद्धास । अङ्गविक्षेपो विरुद्धचेष्टा । जीर्णे बलमिति जीर्णे आहारे व्याधेर्बल भवति ॥ ७ ॥ ८ ॥

*अजीर्णकट्वम्लविदाह्यशीतैर्भोज्यैश्चितं पित्तमुदीर्णवेगम्।
उन्मादमत्युग्रमनात्मकस्य हृदि स्थितं पूर्ववदाशु कुर्यात् ॥ ९ ॥
अमर्षसंरम्भविनग्नभावाः सन्तर्जनातिद्रवणौष्ण्यरोषाः।
प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाषः पीता च भाः पित्तकृतस्य लिङ्गम् १०

पित्तजमाह—अजीर्णेत्यादि । अशीतैरिति उष्णै । उन्मादमत्युग्रमिति अत्युग्र तीव्रवेग, 'उन्मादयत्युग्र' इति पाठान्तरे उग्र यथा भवति तथोन्माद जनयति । अनात्मकस्य अनात्मवत । पूर्ववदिति चिन्तादिदुष्टहृदयस्य बुद्ध्यादिकमुपहत्येत्यादि-सम्प्राप्त्या । कुर्यादिति वक्ष्यमाण लिङ्गमिति शेष । अत्र पक्षे किं तल्लिङ्गमित्याह—अमर्षेत्यादि ।—अमर्षोऽसहिष्णुत्व, न तु रोष, तस्य वक्ष्यमाणत्वात् । संरम्भ आरभटी, विनग्नभावो नग्नत्वम् । सतर्जन परित्रासन, अतिद्रवण पलायन, औष्ण्यं गात्रस्य, औष्ठ्यमिति पाठान्तरे विकृतौष्ठत्वम् । प्रच्छायशीतान्नजलाभिलाष इति छायाया शीतयोरन्नजलयोश्चाभिलाष ॥ ९ ॥ १० ॥

†संपूरणैर्मन्दविचेष्टितस्य सोष्मा कफो मर्मणि संप्रदुष्टः।
बुद्धिं स्मृतिं चाप्युपहत्य चित्तं प्रमोहयन् संजनयेद्विकारम् ॥११॥
वाक्चेष्टितं मन्दमरोचकश्च नारीविविक्तप्रियताऽतिनिद्रा।
छर्दिश्च लाला च बलं च भुक्ते नखादिशौक्ल्यं च कफात्मके स्यात्॥

कफजमाह—संपूरणैरित्यादि । मन्दविचेष्टितस्य आयासशून्यस्य । संपूरणैर्भोजनादिभि, कफो दुष्ट इति संबन्ध । सोष्मा सपित्त । कफेनापि क्रियमाण उन्मादोऽवश्य सपित्तेन क्रियते व्याधिमहिम्ना, यथा मूर्च्छा । अन्ये त्वाहु —केवलकफेनापि क्रियते, सोष्मपदेन तु द्वन्द्वजोऽपि भवतीति सूच्यते । अन्ये त्वाहु —ऊष्मशब्देन शक्तिरुच्यते, तेनोत्कृष्टशक्तिक कफ इत्यर्थ । मर्मणीति हृदये । विकारमुन्मादम् । नारीविविक्तप्रियतेति नारीप्रियता विजनप्रियता च । बल च भुक्ते इति 'व्याधे' इति शेष । नखादीत्यादिशब्देन त्वङ्मूत्रनेत्रादीना ग्रहणम् ॥ ११ ॥ १२ ॥

‡यः सन्निपातप्रभवोऽतिघोरः सर्वैः समस्तैः स च हेतुभिः स्यात्।
सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति तादृग्विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः ॥ १३॥

* 'अजीर्णादिभिश्चित सचयता गतमुदीर्णवेग पित्त पूर्ववच्चिन्तादिदुष्टहृदयस्य बुद्ध्यादिकमुपहत्य । अजीर्णमविदग्ध, सरम्भ आरभटी, हस्तपादादिविक्षेपमित्यन्ये । विनग्नभावो वस्त्रादित्याग , सन्तर्जन परित्रासन भर्त्सनमपरस्येत्यर्थ । चोष्णो दाहविशेष । पीता च भा पीतवर्णता' ( आ० द० ) ॥ ९ ॥ १० ॥

† 'चित्त प्रमोहयन् बुद्धिं स्मृतिं चोपहत्योन्माद करोति वाक्चेष्टित मन्दमल्प, निद्राबाहुल्य, छर्दि , लालास्राव , नखनेत्रादीना शौक्ल्य च' (आ० द० ) ॥ ११ ॥ १२ ॥

‡ 'सन्निपातग्रहणेनैव सर्वात्मकत्व लब्ध पुन सर्वैरिति यद्ग्रहण कृत तदजस्तमोग्रहणार्थं, तेन रजस्तमोमिश्रितैरित्यर्थ , तेन वातादयो रजस्तमोभिर्मनोदोषैर्मिलिता समस्तैश्च

सान्निपातिकमाह—य इत्यादि । सर्वैः समस्तैरिति सर्वैरिति कृत्वाऽपि यत् समस्तैरिति करोति तेनैव बोधयति,—वातादयोऽनेकैः स्वनिदानैः कुपिता उन्मादं जनयन्ति, न तु प्रत्येकमेकनिदानकुपिताः । विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्य इति । अयमभिसन्धिः—त्रिदोषजे प्रत्येकं वातादिप्रत्यनीका क्रिया कार्या, सा च परस्परविरोधिनी, त्रिदोषघ्नं च किञ्चिदेव द्रव्यमामलक्यादि, तत्तु नात्र यौगिकं, 'न हि सर्वाणि सर्वत्र यौगिकानि भवन्ति' इति-वचनात् । ननु, यद्येवं तदा सर्व एव हि त्रिदोषजविकारा असाध्या भवेयुरित्यत उक्तं—तादृगिति । कोऽप्ययं सम्प्राप्तिविशेषो रोगविशेषो वा, येनायं विरुद्धभैषज्यविधिर्न तु सर्व इत्यर्थः । अन्ये त्वाहुः—सर्वैः समस्तैर्हेतुभिर्यः कृत स एवासाध्यः, न स्वल्पहेतुकृत इति ॥ १३ ॥

*चौरैर्नरेन्द्रपुरुषैररिभिस्तथाऽन्यै-
वित्रासितस्य धनबान्धवसंक्षयाद्वा ।
गाढं क्षते मनसि च प्रियया रिरंसो-
र्जायेत चोत्कटतमो मनसो विकारः ॥ १४ ॥
चित्रं ब्रवीति च मनोऽनुगतं विसंज्ञो
गायत्यथो हसति रोदिति चापि मूढः ।

शोकादिजमाह—चौरैरित्यादि । क्षते उपहते, प्रियया रिरंसोः कामुकस्य, अप्राप्तया प्रियया क्षते मनसीति सम्बन्धः । तस्य लक्षणमाह—चित्रमित्यादि । चित्रं विविधम् । मनोऽनुगतं गोप्यमपि । विसंज्ञो विपरीतज्ञानः, अत एव मूढः ॥ १४ ॥

†रक्तेक्षणो हतबलेन्द्रियभाः सुदीनः
श्यावाननो विषकृतेऽथ भवेद्विसंज्ञः ॥ १५ ॥

विषजमाह—रक्तेक्षण इत्यादि । हतबलेन्द्रियभा इति हतं बलमिन्द्रियाणि भाश्च यस्य स तथा । भा दीप्तिः ॥ १५ ॥

‡अवाञ्ची वाऽप्युदञ्ची वा क्षीणमांसबलो नरः ।
जागरूको ह्यसन्देहमुन्मादेन विनश्यति ॥ १६ ॥

साध्यलक्षणमाह—अवाञ्चीत्यादि । अवाञ्ची अधोमुखः, उदञ्ची ऊर्ध्वमुखः, अत एवान्ये 'अवाङ्मुखस्तून्मुखो वा' इति पठन्ति । जागरूकोऽनिद्रः ॥ १६ ॥

---

निदाने कुपिता उन्मादं जनयन्ति । सर्वाणि रूपाणि सर्वदोषलक्षणानि बिभर्ति । तादृगिति तादृशः । कोऽप्येष त्रिदोषसम्प्राप्तिविशेषो रोगविशेषो वा, येनायं विरुद्धभैषज्यविधिर्विवर्ज्यः' (आ० द०) ॥ १३ ॥

* 'मनोदुःखजमाह—चौरैरित्यादि । नरेन्द्रपुरुषैः राजाधिकारिभिः, अरिभिः, अन्यैरिति सिंहगजादिभिः, वित्रासितस्य त्रासयुक्तस्य, द्रव्यविनाशात् पुत्रादिमरणाद्वा गाढं क्षते मनसीति सम्बन्धः' (आ० द०) ॥ १४ ॥—

† 'श्यावाननः कृष्णमुखो विषजनितोन्मादेन' (आ० द०) ॥ १५ ॥

‡ 'क्षीणं मांसं बलञ्च यस्य स तथा' (आ० द०) ॥ १६ ॥

*अमर्त्यवाग्विक्रमवीर्यचेष्टो ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिर्यः ।
उन्मादकालोऽनियतश्च यस्य भूतोत्थमुन्मादमुदाहरेत्तम् ॥ १७ ॥

भौतिकोन्मादस्य सामान्यलक्षणमाह—अमर्त्यवागित्यादि । अमर्त्या अमनुष्या अनुचिता वा वागादयो यस्य स तथा । विक्रमः पराक्रमः, वीर्यं शक्तिः, चेष्टा शारीरिकी क्रिया । ज्ञानादिविज्ञानबलादिभिरित्युपलक्षणे तृतीया । ज्ञानं तत्त्वज्ञानं, विज्ञानं शिल्पादिज्ञानं; किंवा ज्ञानं शास्त्रज्ञानं, विज्ञानं तदर्थनिश्चयः; आदिशब्देन स्मृत्यादीनां ग्रहणं, तेषां बलम् । अनियत इति न वातजादिवदाहारजीर्णादिकालवत् कालनियमः । नियत इति पाठे तु वक्ष्यमाणानियततिथ्यादीनां ग्रहणं, देवग्रहाः पौर्णमास्यामित्यादि । भूतशब्देनात्र सर्व एव वक्ष्यमाणा देवादयोऽभिधीयन्ते ॥ १७ ॥

†संतुष्टः शुचिरतिदिव्यमाल्यगन्धो निस्तन्द्रीरवितथसंस्कृतप्रभाषी ।
तेजस्वी स्थिरनयनो वरप्रदाता ब्रह्मण्यो भवति नरः स देवजुष्टः ॥१८॥

देवजुष्टमाह—संतुष्ट इत्यादि । अतिदिव्यमाल्यगन्ध इति अतिमात्रो दिव्यमाल्यस्येव गन्धो यस्य स तथा । निस्तन्द्रीरनिद्रः । अवितथं सत्यम् । विदेहेऽपि,—"निःस्वप्नं सत्यसंस्कृतभाषिणम्"—इति पठितम् । ब्रह्मण्यो ब्राह्मणानुरक्तः । देवजुष्टो देवग्रहपीडितः । देवग्रहणेन गणमातृकादयोऽपि ग्राह्याः । विदेहेऽपि पठ्यते,—"क्रोधनः स्रस्तसर्वाङ्गो लालाफेनाविलाननः । निद्रालुः कम्पनो मूको गणमातृभिरर्दितः—" इति ॥ १८ ॥

‡संस्वेदी द्विजगुरुदेवदोषवक्ता जिह्माक्षो विगतभयो विमार्गदृष्टिः ।
संतुष्टो न भवति चान्नपानजातैर्दुष्टात्मा भवति स देवशत्रुजुष्टः १९

देवशत्रुजुष्टमाह—संस्वेदीत्यादि ॥ १९ ॥

§हृष्टात्मा पुलिनवनान्तरोपसेवी
स्वाचारः प्रियपरिगीतगन्धमाल्यः ।
नृत्यन्वै प्रहसति चारु चाल्पशब्दं
गन्धर्वग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ २० ॥

---

* 'अनियत इति कदाचिन्मध्याह्ने कदाचित्प्रदोषे, न तु वातादिजवदाहारजीर्णादिकालनियमः, तं भूतोत्थमुन्मादं कथयेत्' (आ० द०) ॥ १७ ॥

† 'संतुष्टः संतोषवान्, शुचिः स्नानाचमनादिना । अवितथं सत्यं संस्कृतं च प्रभाषत इति । तेजस्वी तेजोयुक्तः, स्थिरनयनो निमेषरहितः, वरदाता, यतो ब्रह्मण्यो ब्राह्मणानुरक्तः' (आ० द०) ॥ १८ ॥

‡ 'असुरजुष्टमाह—संस्वेदीत्यादि । यः संस्वेदी स्वेदवान्, ब्राह्मणगुरुदेवानां निन्दकः, जिह्माक्षः कुटिलदृष्टिः, विमार्गदृष्टिः श्रुतिधर्मनिन्दकः; अन्नं शालिमांसादि, पानं क्षीररसादि, तैः संतुष्टो न भवति । दुष्टात्मा पापबुद्धिः । एवंविधो देवशत्रुजुष्टो भवति' (आ० द०) ॥ १९ ॥

§ 'हृष्टात्मा चिन्तादिरहितः संतुष्टात्मा । पुलिनं नद्यादितटं, वनमुद्यानं, तयोरन्तरं मध्यं, तद्विशेषात्सेवत इति' (आ० द०) ॥ २० ॥

गन्धर्वाविष्टमाह—हृष्टेत्यादि । पुलिन तोयोज्झित तटं, अन्तरं मध्य, विशेषो वा । स्वाचारोऽनिन्दिताचार । प्रियेत्यादि प्रियाणि परं सर्वतो गीतगन्धमाल्यानि यस्य स तथा । नृत्यन्नित्यादि चारु ( यथा भवति तथा ) नृत्यन्नल्पशब्द यथा भवति तथा प्रहसतीति योज्यम् ॥ २० ॥

*ताम्राक्षः प्रियतनुरक्तवस्त्रधारी
गम्भीरो द्रुतगतिरल्पवाक् सहिष्णुः ।
तेजस्वी वदति च किं ददामि कस्मै
यो यक्षग्रहपरिपीडितो मनुष्यः ॥ २१ ॥

यक्षाविष्टमाह—ताम्राक्ष इत्यादि । प्रियेत्यादि प्रिय शोभन, तनु सूक्ष्मं, रक्तं च वस्त्र धर्तुं शील यस्य स तथा ॥ २१ ॥

†प्रेतानां स दिशति संस्तरेषु पिण्डान्
शान्तात्मा जलमपि चापसव्यवस्त्रः ।
मांसेप्सुस्तिलगुडपायसाभिकाम-
स्तद्भक्तो भवति पितृग्रहाभिजुष्टः ॥ २२ ॥

पितृजुष्टमाह—प्रेतानामित्यादि । प्रेताना मृतपितृणा संबन्धमात्रविवक्षया न चतुर्थी । दिशति ददाति । संस्तरेषु कुशपत्रादिरचितास्तरणेषु । अपसव्यवस्त्रो वामोत्तरीय । मांसेप्सुरित्यादि । एतदभिधानप्रयोजन यस्मिन् यस्येच्छा भवति तस्य तेनैव बलिर्दातव्य, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यम् । तद्भक्त पितृभक्त ॥ २२ ॥

‡यस्तूर्व्यां प्रसरति सर्पवत्कदाचित्
सृक्कण्यौ विलिहति जिह्वया तथैव ।
क्रोधालुर्गुडमधुदुग्धपायसेप्सु-
र्ज्ञातव्यो भवति भुजङ्गमेन जुष्टः ॥ २३ ॥

नागाविष्टमाह—यस्त्वित्यादि । प्रसरति सर्पवदिति उरसा गच्छति । सृक्कण्यौ ओष्ठप्रान्तौ । सृक्कणीशब्द ईकारान्तोऽप्यस्तीत्यवधेयम् ॥ २३ ॥

§मांसासृग्विविधसुराविकारलिप्सु-
र्निर्लज्जो भृशमतिनिष्ठुरोऽतिशूरः ।

---

* 'ताम्राक्षो रक्तनेत्र , गम्भीरोऽनाकुलितान्तःकरण , द्रुतगतिस्त्वरितगति , अल्पवागल्पभाषी, सहिष्णु सहनशील । कस्मै किं ददामीत्यव वदति' ( आ० द० ) ॥ २१ ॥

† 'पिण्डानन्नमयान्, शान्तात्मा शान्तस्वभाव , जलमपि चेति न परं दर्भसंस्तरेषु पिण्डान् ददाति किंतु जलमपि चेत्यर्थ । 'अपसव्यहस्त ' इति पाठे दक्षिणहस्त । पायस क्षीरसिद्धास्तण्डुला , अभिकामोऽभिलाषुक , तद्भक्त पितृभक्त , तद्भक्त तिलादिभोजन इति डल्हण ' ( आ० द० ) ॥ २२ ॥

‡ 'सर्पग्रहजुष्टमाह—य इत्यादि । उर्व्यां भूमौ सर्पवदुरसा गच्छति, सृक्कण्यावोष्ठप्रान्तौ जिह्वया विलिहति । क्रोधालु कोपन, गुडादिप्रिय, भुजङ्गमग्रहेण जुष्टो ज्ञेय ' ( आ० द० ) ॥ २३ ॥

§ 'विविधसुराविकारा पैष्टीप्रभृतय , भृशमत्यर्थेन लज्जारहित , अतिनिष्ठुरो दयारहित , विपुलबलोऽन्नादिनाऽपि प्रभूतबल ' ( आ० द० ) ॥ २४ ॥

क्रोधालुर्विपुलबलो निशाविहारी
शौचद्विड् भवति स राक्षसैर्गृहीतः ॥ २४ ॥

राक्षसाविष्टमाह—मांसेत्यादि । निशाविहारी निशायामेव भ्रमणशीलः । राक्षसशब्देन ब्रह्मराक्षसादयोऽपि ग्राह्याः । तथा राक्षसानन्तरं विदेहोऽपि पठति,—"देवविप्रगुरुद्वेषी वेदवेदाङ्गनिन्दकः । आत्मपीडाकरो हासी ब्रह्मराक्षससेवितः"—इति ॥२४॥

*उद्धस्तः कृशपरुषोऽऽचिरप्रलापी
दुर्गन्धो भृशमशुचिस्तथाऽतिलोलः ।
बह्वाशी विजनवनान्तरोपसेवी
व्याचेष्टन् भ्रमति रुदन् पिशाचजुष्टः ॥ २५ ॥

पिशाचाविष्टमाह—उद्धस्त इत्यादि । उद्धस्त ऊर्ध्वबाहुः; उद्ध्वस्त इति पाठान्तरं न्याय्यं, विदेहेऽपि दिगम्बरपाठात्; उद्ध्वस्तो नग्नः । परुषो रूक्षः । लोलः सर्वस्मिन्नभ्पाने च सतृष्णः । लोलुरिति पाठान्तरे स एवार्थः । व्याचेष्टन्निति विरुद्धमाचेष्टन् ॥२५॥

†स्थूलाक्षो द्रुतमटनः स फेनलेही
निद्रालुः पतति च कम्पते च यो हि ।
यश्चाद्रिद्विरदनगादिविच्युतः स्यात्
सोऽसाध्यो भवति तथा त्रयोदशाब्दे ॥ २६ ॥

त्रिविधं हि हिंसाक्रीडापूजार्थं ग्रहा गृह्णन्ति । यदुक्तम्,—"अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम् । हिंस्युर्हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि च" (सु. उ. तं. अ. ६०)—इति । तत्र हिंसार्थं गृहीतोऽसाध्यो भवति, तस्य श्लोकार्धद्वयेन लक्षणमाह—स्थूलाक्ष इत्यादि । स्थूलाक्षो विकृतनेत्र इति जेज्जटः, द्रुतमटनो द्रुतगतिः, अत एव त्वरित-

* 'कृशो निर्मांसः, चिरप्रलापी चिरप्रभाषी, 'अचिरप्रचारी' इति पाठान्तरम् । दुर्गन्धः; 'अतिलोलः' इत्यत्र अतिचपल इत्यन्ये; 'अतिलोलुः' इति पाठान्तरे महानलोलुप इत्यर्थः । बह्वाशी प्रचुरभोक्ता । विजनं निर्जनस्थानं, दिनान्तं सायाह्नं, तयोः सेवी, रात्रेः सेवी रात्रिनिचारीत्यर्थः । 'निर्जनवनान्तरोपसेवी' इति पाठान्तरम् । व्याचेष्टन् विविधं चेष्टन्; 'व्याचेष्ट' इति पाठान्तरे विरुद्धचेष्टं यथा भवति तथा भ्रमति' ( आ० द० ) ॥ २५ ॥

† 'त्रिविधं हि हिंसारतिपूजार्थं ग्रहा गृह्णन्ति । यदुक्तं "अशुचिं भिन्नमर्यादं क्षतं वा यदि वाऽक्षतम् । हिंस्युर्हिंसाविहारार्थं सत्कारार्थमथापि च"—इति । अस्यार्थः—भिन्नमर्यादं श्रुतिस्मृत्युदितकर्मणोऽन्यत्र कर्मणि प्रवृत्तं, अभक्ष्यागम्यादिहिंसादिप्रवृत्तत्वात् । क्षतं व्रणम्, मांसशोणितप्रियत्वात् । अक्षतमपि शौचादिरहितम् । अत्र विहारशब्देन रतिरभिधीयते । सत्कारः पूजा । तत्र हिंसार्थं गृहीतोऽसाध्यो भवति । तस्य लक्षणमाह—स्थूलाक्ष इत्यादि । यश्चाप्रिकम्पते सोऽसाध्यः । दशवर्षेभ्यः पतितः स्यात् सोऽप्यसाध्यः । अद्रिः पर्वतः, द्विरदो गजः, आदिग्रहणाद्वृक्षप्रासादादयो गृह्यन्ते । एतेभ्यः पतितः स्यादित्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ २६ ॥

१ 'राक्षसानन्तरं' इति क. । २ क्वचित् 'विजनदिनान्तनिशासेवी' इति पाठाभिप्रायेण ॥

गतिरिति जेज्जटेन पठितम् । यथेत्यादि ।—पर्वतादिपतित सन् यो गृह्यते सोऽप्यसाध्य, नगो वृक्षः । एवं एवोन्मादी त्रयोदशेऽब्दे देवतागृहीतोऽप्यसाध्य । त्रिदेदेऽविकमप्यसाध्यलक्षणं पठ्यते,—"मेढ्रमवृत्त क्षतज सासाक्ष सुतनासिक । दृक्षजिह्व पूतिगर्भो हतवागतिदुर्बल "—इत्यादि ॥ २६ ॥

*देवग्रहाः पौर्णमास्यामसुराः सन्ध्ययोरपि ।
गन्धर्वाः प्रायशोऽष्टम्यां यक्षाश्च प्रतिपद्यथ ॥ २७ ॥
पित्र्याः कृष्णक्षये हिंस्युः पञ्चम्यामपि चोरगाः ।
रक्षांसि रात्रौ पैशाचाश्चतुर्दश्यां विशन्ति हि ॥ २८ ॥

देवादीना ग्रहणकालमाह—देवग्रहा इत्यादि । पौर्णमास्यां पूर्णिमायाम् । कृष्णक्षयेऽमावास्यायाम् । प्रायोग्रहणादन्यदापि । तिथ्यभिधानप्रयोजन लक्षणार्थं तत्तिथौ बलिदानार्थं च ॥ २७ ॥ २८ ॥

†दर्पणादीन् यथा छाया शीतोष्णं प्राणिनो यथा ।
स्वमर्णि भास्करार्चिश्च यथा देहं च देहधृक् ।
विशन्ति च न दृश्यन्ते ग्रहास्तद्वच्छरीरिणः ॥ २९ ॥

ननु, यदि ग्रहाविष्टाना पुंसामुन्माद स्यात्, तदा विशन्तो ग्रहा कुतो न लक्ष्यन्ते ? इत्यत आह—दर्पणादीनित्यादि । अस्मदादिदर्शनायोग्यत्वाच्च दृश्यन्त इत्यर्थ । आदिशब्देन प्रकाशवानिना जलतैलादीना ग्रहणम् । छाया प्रतिकृति, शीतोष्णमिति कर्तृपद, प्राणिन इति कर्मपदम् । स्वमणिमिति सूर्यकान्तम् । देहधृगात्मा, मन इति जेज्जट । अनेकदृष्टान्तप्रयोजन जेज्जटलिखित तत्रानात्युपयुक्तत्वेन विस्तरभयाच्च न लिखितम् । देवशब्देन चात्र देवस्यानुचरा देवसधर्माणो गृह्यन्ते, देवानां मनुष्यशरीरेणाशुचिना सम्बन्धाभावात् । यदाह सुश्रुत, "न ते मनुष्यै सह संविशन्ति न ते मनुष्यान् क्वचिदाविशन्ति । ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात्ते भूतविद्याविषयादपेता ( सु. उ त अ ६० )—" इति ॥ २९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामुन्मादनिदान समाप्तम् ॥ २० ॥

---

* 'विशन्ति अनुप्रवेश कुर्वन्ति । असुरा असुरग्रहा । संध्ययोरपीत्यपिशब्द पादपूरणे, अन्येऽपिशब्दात् पौर्णमास्यामपि गृह्णन्तीति वर्णयन्ति । प्रायशोऽष्टम्यामिति प्राय-शब्दात्संध्ययोरपि गन्धर्वा विशन्तीति लभ्यते । पित्र्या॰ पितृग्रहा । पञ्चम्यामपीत्यपिशब्दात्कृष्णक्षयेऽपि । उरगा नागग्रहा । तिथ्यभिधानप्रयोजन तेषां तिथौ बलिदानार्थं, तथा चोक्त—"ग्रहा गृह्णन्ति ये येषु तेषा तेषु विशेषत । दिनेषु बलिहोमादीन् प्रयुञ्जीत चिकित्सक "—इति' ( आ॰ द॰ ) ॥ २७ ॥ २८ ॥

† 'ननु भूतै शरीरेऽनुप्रवेश क्रियते न तु शरीरिणि, तत्कथ शरीरिण इत्यभिधाने न विरुध्यते ? उच्यते—शरीरिशब्देनात्र शरीरमभिप्रेत, स्थानिनि स्थानोपचारात्, यथा—मञ्चा क्रोशन्तीति । यथा छायाशीतोष्णादयो दर्पणप्राणिप्रभृतीन् विशन्तो न दृश्यन्ते तद्वद्ग्रहा इत्यर्थ ' ( आ॰ द॰ ) ॥ २९ ॥ ३० ॥

*प्रविश्याशु शरीरं हि पीडां कुर्वन्ति दुःसहाम् ॥ ३० ॥
(तपांसि तीव्राणि तथैव दानं व्रतानि धर्मो नियमश्च सत्यम् ।
गुणास्तथाऽष्टावपि तेषु नित्या व्यस्ताः समस्ताश्च यथाप्रभावम् ३१
न ते मनुष्यैः सह संविशन्ति नवा मनुष्यान्क्वचिदाविशन्ति ।
ये त्वाविशन्तीति वदन्ति मोहात्ते भूतविद्याविषयादपोह्याः ॥३२॥
तेषां ग्रहाणां परिचारका ये कोटीसहस्रायुतपद्मसंख्याः ।
असृग्वसामांसभुजः सुभीमा निशाविहाराश्च तथाऽऽविशन्ति ॥ )
इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उन्मादनिदानं समाप्तम् ॥ २० ॥

---

## अथापस्मारनिदानम् ।

†(चिन्ताशोकादिभिर्दोषाः क्रुद्धा हृत्स्रोतसि स्थिताः ।
कृत्वा स्मृतेरपध्वंसमपस्मारं प्रकुर्वते ॥ १ ॥)
तमःप्रवेशः संरम्भो दोषोद्रेकहतस्मृतेः ।
अपस्मार इति ज्ञेयो गदो घोरश्चतुर्विधः ॥ १ ॥

---

* 'इदानीं ग्रहाणां तीव्रतपादियमादियुक्ता प्रभाववत्ता सुश्रुतोक्तेन श्लोकत्रयेण दर्शयितुमाह–तपांसीत्यादि । तपस्तपनलक्षणमुपवासादि, व्रतानि शास्त्रोदितविधिना भोजनादिनियमनानि, कर्म कायवाङ्मनसा सुचरितम् । गुणास्तथाष्टाविति अणिमा १, महिमा २, लघिमा ३, प्राकाम्यं ४, प्राकाश्यं ५, ईशित्वं ६, वशित्वं ७, कामावसायित्वं ८, चेति । अन्ये तु–"आवेशश्चेतसो ज्ञानमर्थानां छन्दतःक्रिया । दृष्टिः श्रोत्रं स्मृतिः कान्तिरिष्टतश्चाप्यदर्शनम्" इत्यष्टविधमैश्वर्यमाहुः । तेषु ग्रहेष्वेते गुणा नित्याः, न कादाचित्काः, व्यस्ता द्वित्रिचत्वार इत्यादि, समस्ताः सर्वे; यो यस्य प्रभाव इति यथाप्रभावं; तत्र व्यस्ता गुणा असुरादिग्रहाणां, समस्ता देवग्रहाणाम् । अथ ते नियमादियुक्ताश्चेत्कथमशुचिं देहमाविशन्ति, न कथञ्चन, अत एवाह–नेत्यादि । ते देवादयो मनुष्यैः सह न विशन्ति नैकीभवन्तीत्यर्थः । न वा मनुष्यान् मानुषदेहान् । क्वचिदप्यनुप्रविशन्तीत्यर्थः । ये पुनर्वैद्या 'आविशन्ति' इति मोहादज्ञानात्प्रवदन्ति, ते वैद्या भूतविद्याविषयात्तज्ज्ञानादपोह्या अपसारणीयास्त्याज्या इत्यर्थः । के तर्हि गृह्णन्तीत्याह–तेषां देवादीनां परिचारकाः प्रेष्याः, कर्मकरा इत्यर्थः । कोट्यः शतलक्षप्रमाणाः, अयुतं दशसहस्रं, एतेन कोटिभिः शतलक्षप्रमाणगुणितं यत् सहस्रं तावद्भिर्देशभिः सहस्रैरप्ययुतं बोद्धव्यं; तेषां पद्मं, पद्मं चतुर्दशबिन्दुकं, तदेव संख्या येषां ते तथा । सुभीमा अत्यर्थं भयानकाः । निशाविहारा रात्रौ भ्रमणशीलाः' ( आ० द० ) ॥ ३०–३२ ॥

† 'स्मरणाभावो जलादौ प्रवेशादिभिः । सुश्रुतादपस्मारस्य निदानं लिख्यते–"मिथ्यादियोगीन्द्रियार्थकर्मणामभिसेवनात् । विरुद्धमलिनाहारविहारकुपितैर्मलैः ॥ वेगनिग्रहशीलानामहिताशुचिभोजिनाम् । रजस्तमोभिभूतानां गच्छता च रजस्वलाम् ॥ तथा कामभयोद्वेगक्रोधशोकादिभिर्भृशम् । चेतस्यभिहते पुंसामपस्मारोऽभिजायते"–इति । अस्यार्थः–मिथ्यादियोगयुक्तानामिन्द्रियार्थानां कर्मणां चाभिसेवनादिति

मनोदुष्टिसाधर्म्यात् समानचिकित्सत्वादुन्मादानन्तरमपस्मारारम्भः । तस्य निरुक्ति सुश्रुतेन कृता,—"स्मृतिर्भूतार्थविज्ञानमपस्तत्परिवर्जनम् । अपस्मार इति प्रोक्तस्ततोऽयं व्याधिरन्तकृत् ( सु. उ. तं अ. ६१ )"—इति । स्मृतिश्च ज्ञानोपलक्षणं, तेनानुभवागमोऽपि बोध्यः । तस्य सामान्यलक्षणमाह—तम प्रवेश इत्यादि । तमःप्रवेशोऽन्धकारप्रवेश इव ज्ञानाभाव इत्यर्थः । संरम्भो नेत्रविकृतिः, हस्तपादादिक्षेपणादिकं च ॥ १ ॥

*हृत्कम्पः शून्यता स्वेदो ध्यानं मूर्च्छा प्रमूढता ।
निद्रानाशश्च तस्मिंश्च भविष्यति भवत्यथ ॥ २ ॥

पूर्वरूपमाह—हृत्कम्प इत्यादि । शून्यता हृदयस्यैव । ध्यानं जिह्मायनम् । अत्र मूर्च्छा मनोमोहः, प्रमूढता इन्द्रियमोहः ॥ २ ॥

†कम्पते प्रदशेद्दन्तान् फेनोद्वामी श्वसित्यपि ।
परुषारुणकृष्णानि पश्येद्रूपाणि चानिलात् ॥ ३ ॥

वातिकलक्षणमाह—कम्पत इत्यादि । श्वसिति खरश्वासो भवति । रूपाणीति प्राणिनः, 'नीलो मामनुधावति'—इति सुश्रुतवचनात्, एवं पैत्तिके 'पीतो मामनुधावति'—इति, एवं श्लैष्मिके 'श्वेतो मामनुधावति'—इति ॥ ३ ॥

---

ज्ञेयम् । तत्रेन्द्रियाणां श्रवणस्पर्शनदर्शनरसनघ्राणानामर्था विषयाः शब्दस्पर्शरसरूपगन्धाः, तेषां मिथ्यादिसेवनात् । तत्र परुषेष्टविनाशादिश्रवणं मिथ्यायोगः, पटहादीनामतिशब्दश्रवणमतियोगः, सर्वशोऽश्रवणमयोगः, अभिघातभूताशुचिसंस्पर्शो मिथ्यायोगः, अतिमात्रशीतोष्णादीनां स्पृश्यानां स्नानाभ्यङ्गादीनां चातिसेवनमतियोगः, तथा सर्वशोऽसेवनमयोगः तथाऽतिदीप्तभास्वरादिदर्शनमतियोगः सर्वथाऽनवलोकनमयोगः, सूक्ष्मादिदर्शनं मिथ्यायोगः, रसानामत्यादानमतियोगः, अनादानमयोगः, तथाऽयोग्यरसानामादानं मिथ्यायोगः, तथा पूत्याघ्राणं मिथ्यायोगः, अतितीक्ष्णादिगन्धाघ्राणमतियोगः, सर्वशोऽघ्राणमयोगः, तथा कायिककर्मणो व्यायामादेर्निषिद्धकालादिषु सेवनं मिथ्यायोगः, अतिसेवनमतियोगः, सर्वशोऽसेवनमयोगः, तथा वाचिककर्मणि परुषानृतादिवचनं मिथ्यायोगः, अतिवचनादिकमतियोगः, सर्वशो मौनमयोगः, तथा मानसकर्मणि शोकादिचिन्तनं मिथ्यायोगः, अतिमात्रचिन्तनादिकमतियोगः, सर्वशोऽचिन्तनमयोगः । मलिनाहारः पूतिदिष्टामेध्यपर्युषिताहारः, विहारोऽपि मलिनो दृष्टादृष्टार्थे स्मृतिषु विज्ञातव्य इति । वाग्भटादसप्राप्तिलिख्यते—"उन्मादवत्प्रकुपितैश्चित्तदेहगतैर्मलैः । हते सत्त्वे हृदि व्याप्ते संज्ञावाहिषु खेषु च ॥ तमोविशन्मूढमतिर्बीभत्साः कुरुते क्रियाः । दन्तान् खादन्वमन् फेनं हस्तौ पादौ च विक्षिपन् ॥ पश्यन्नसन्ति रूपाणि प्रस्खलन् पतति क्षितौ । विजिह्माक्षिभ्रुवो दोषवेगेऽतीते प्रबुध्यते ॥ कालान्तरेण स पुनश्चैवमेव विचेष्टते"—इति । तमःप्रवेशादिलक्षणो घोरोऽपस्माराख्यो गदो ज्ञेयः । स चतुर्विध इति वातपित्तकफसन्निपातात् । चतुर्विध इति विधानं द्वन्द्वजप्रतिषेधार्थं, द्वन्द्वजाभावस्तु व्याधिस्वभावात्' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

* 'तस्मिन्नपस्मारे भविष्यति हृत्कम्पादीनि पूर्वरूपाणि भवन्ति' ( आ० द० ) ॥ २ ॥

† 'अनिलात् दन्तान् दशति, तथा फेनमुद्वमति, परुषारुणकृष्णानि रूपाणि पश्येत्' ( आ० द० ) ॥ ३ ॥

*पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षः पीतासृग्रूपदर्शकः ।
सतृष्णोष्णानलव्याप्तलोकदर्शी च पैत्तिकः ॥ ४ ॥

पैत्तिकलक्षणमाह—पीतेत्यादि । पीतासृग्रूपदर्शक इति पीतलोहितवर्णसमस्तवस्तुदर्शी । सतृष्णेत्यादि सतृष्णश्चासावुष्णश्चेति सतृष्णोष्ण, सतृष्णोष्णश्चासावनलव्याप्तलोकदर्शी चेति समास ॥ ४ ॥

†शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षः शीतहृष्टाङ्गजो गुरुः ।
पश्येच्छुक्लानि रूपाणि श्लैष्मिको मुच्यते चिरात् ॥ ५ ॥

श्लैष्मिकलक्षणमाह—शुक्लेत्यादि । हृष्टाङ्गजो हृष्टरोमा । चिरादित्यनेन वातपित्तयोरचिरेण वेगमोक्ष इति सूचयति ॥ ५ ॥

‡सर्वैरेतैः समस्तैश्च लिङ्गैर्ज्ञेयस्त्रिदोषजः ।
अपस्मारः स चासाध्यो यः क्षीणस्यानवश्च यः ॥ ६ ॥
प्रस्फुरन्तं सुबहुशः क्षीणं प्रचलितभ्रुवम् ।
नेत्राभ्यां च विकुर्वाणमपस्मारो विनाशयेत् ॥ ७ ॥

सान्निपातिकलक्षणमाह—सर्वैरित्यादि । स चेति स सान्निपातिक । क्षीणस्यैकदोषजोऽप्यसाध्य । एवमनवश्चयोप्य । प्रस्फुरन्त प्रकम्पन्तम् । नेत्राभ्या च । विकुर्वाणमिति नेत्राभ्या विकृतिमासादयन्तम् ॥ ६ ॥ ७ ॥

§पक्षाद्वा द्वादशाहाद्वा मासाद्वा कुपिता मलाः ।
अपस्माराय कुर्वन्ति वेगं किंचिदथान्तरम् ॥ ८ ॥
देवे वर्षत्यपि यथा भूमौ बीजानि कानिचित् ।
शरदि प्रतिरोहन्ति तथा व्याधिसमुच्छ्रयाः ॥ ९ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽपस्मारनिदानं समाप्तम् ॥ २१ ॥

---

* 'पैत्तिक पित्तापस्मारयुक्त पुरुष पीतफेनाङ्गवक्त्राक्षो भवति' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

† 'श्लैष्मिको नर. शुक्लफेनाङ्गवक्त्राक्षो भवति । शीतहृष्टाङ्गज इति शीत शीतगात्र । कृष्णपीतशुक्लदर्शन वातादीना प्रभाव, न तु पैशाचादिक रूपमभिप्रेतम्' ( आ० द० ) ॥५॥

‡ 'एतै सर्वैस्त्रिभि समस्तैश्च लिङ्गैस्त्रिदोषज सान्निपातिको ज्ञेय 'बहुशोऽपसरन्त तु' इति पाठान्तर, बहुशो बहून्वारानपसरन्तमपस्मारवेगवन्त, क्षीण पुरुषमिति शेष । इत्थमूत पुरुषमपस्मारवेगाद्युपद्रवसहितमपस्मारो विनाशयेदिति सबन्ध ' (आ० द०) ॥६॥७॥

§ 'वातादिजनितापस्मारवेगदिननियमलक्षणमाह—पक्षादित्यादि । मला वातादय. कुपिता सन्तोऽपस्माराय पक्षादथवा द्वादशाहान्मासाद्वा वेग कुर्वन्ति । अयमभिसंधि । अय ह्यणाभिप्राय —यथा वर्षत्यपि देवे भूमावुप्तानि कानिचिद्बीजानि शरद्येव प्ररोहन्ति, तथा सर्वरोगबीजाना वातादीना कदाचित् कस्यचिदपस्मारादिव्याधिविशेषस्य निदानादिसंगमेऽपि दूष्यादिसमुदायेनैव समुद्भवो भवतीत्यर्थ । अपरे त्वन्यथा व्याख्यानयन्ति—ननु, संचयादिक्रमेणोपयोगो दोषाणा तदा पुन कथमल्पेनैव कालेन तद्विकारोद्गम स्यादित्यत्राह—देवेऽवर्षतीत्यादि । अवर्षत्यपि देवे यथा शरत्काले भूमौ स्तिमितत्वात्कानिचिद्बीजानि प्ररोहन्त्येव, तथाऽल्पेनापि कालेन शरीरस्था दोषा. किंचिदुपचिता विकार जनयन्तीति' ( आ० द० ) ॥ ८ ॥ ९ ॥

अपस्मारप्रकोपकालमाह—पक्षादित्यादि । पक्षात् पैत्तिक, द्वादशाहाद्वातिक, मासाच्छ्लैष्मिक । द्वादशाहानन्तरं पक्षे वक्तव्ये तत्पूर्वं पक्षाभिधान, तेनातोऽधिककालेनापि वेग करोतीत्याहु । किंचिदन्तरमिति उक्तकालेभ्योऽर्वागपि दोषतारतम्यादिति । ननु, वेग कृत्वाऽपस्मारारम्भको दोषोऽस्त्येव तत् कुत सर्वदा वेग न कुरुते? द्वादशाहादिष्वेव कुरुत इत्याह—देवे वर्षतीत्यादि । अयमभिसन्धि —तेजोवनीपवनपय सनाथ विद्यमानमपि बीज कालविशेष एवाङ्कुरं जनयति, कालविशेषस्य सहकारित्वात्, तथा गतस्याप्यपस्मारस्य पुनरुद्भव समवति । शरदीति तत्कालोचितबीजाभिप्रायेण, तेन कानिचिद्बीजानि वर्षास्वपि भवन्तीति । अयं च न्यायः धातुर्थिकज्वरादिष्वपि बोध्य ॥ ८ ॥ ९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामपस्मारनिदानं समाप्तम् ॥ २१ ॥

---

# अथ वातव्याधिनिदानम् ।

*रूक्षशीताल्पलघ्वन्नव्यवायातिप्रजागरैः ।
विषमादुपचाराच्च दोषासृक्स्रवणादपि ॥ १ ॥
लङ्घनप्लवनात्यध्वव्यायामादिविचेष्टितैः ।
धातूनां संक्षयाच्चिन्ताशोकरोगातिकर्षणात् ॥ २ ॥
वेगसंधारणादामादभिघातादभोजनात् ।
मर्माबाधाद्गजोष्ट्राश्वशीघ्रयानापतंसनात् ॥ ३ ॥
देहे स्रोतांसि रिक्तानि पूरयित्वाऽनिलो बली ।
करोति विविधान् व्याधीन् सर्वाङ्गैकाङ्गसंश्रयान् ॥ ४ ॥

अपस्मारवद्वातविकाराणामप्याक्षेपकादीनां वेगकर्तृत्वादपस्मारानन्तरं, वातव्याध्यारम्भ । ननु, वातव्याधिरिति कोऽर्थ ? किं वात एव व्याधिर्वातव्याधि, उत वातेन जनितो व्याधिर्वातव्याधि ? आद्ये स्वस्थेऽपि प्रसङ्ग, द्वितीये ज्वरादिषु । उच्यते, व्याधिपदसामानाधिकरण्यादिह्रतो दुःखकारी वातो वातव्याधि । उक्तं हि सुश्रुते,—

* 'सुश्रुते दोषाणां वात एव प्रधान । उक्त च—"पित्त पङ्गु कफ पङ्गु पङ्गवो मलधातव । वायुना यत्र नीयन्ते तत्र वर्षन्ति मेघवत्"—इति । अतो वातव्याध्यभिधानम् । तस्य संप्राप्तिपूर्वकं निदानमाह—रूक्षेत्यादि । अल्प स्तोकं, लघ्वन्न पुराणषष्टिकादि, व्यवायो मैथुनं, प्रजागरो रात्रिजागरणम् । विषमादुपचारादिति अकाले क्रियाकरणादिना । दोषासृक्स्रावणादपि वमनविरेकाभ्यां दोषस्रावाद्रक्तस्रावाच्च । अभिघातो लगुडादिभि । अभोजनमुपवासात् । मर्माबाधा मर्माभिघातात् । एते कारणैः कुपितो बली वायुः रिक्तानि स्रोतांसि पूरयित्वा सर्वाङ्गैकाङ्गजान् व्याधीन् करोति, (भा० द०) ॥ १–४ ॥

---

१ 'प्रदम' इति क ।

"पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च" ( सु. नि. स्था. अ. १ )—इति । वातजनितोऽसाधारणव्याधिर्वातव्याधिरिति विशेषणीयं, तेनोभयत्राप्रसङ्गः । यच्चोक्तं,—"कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः । कुर्यादाक्षेपकम्" इत्यादि; तत्रारम्भको वायुरेव, पित्तकफौ त्वनुबन्धाविति न विरोधः स्यात् । चरके हि द्विविधा व्याधय उक्ताः सामान्यजा नानात्मजाश्चेति, तत्र सामान्यजा ये वातादिभिः समस्तैर्व्यस्तैर्वा जन्यन्ते, यथा—ज्वरादयः, नानात्मजा ये नियतैकदोषजन्याः, यथा—आक्षेपकादयो ये वातेनैव जन्यन्ते, न स्वतन्त्रेण पित्तेन कफेन वा; तथौपचोपादयः पित्तेनैव, न वातेन कफेन च; तथा तृप्त्यादयः कफेनैव, न वातेन, न पित्तेन; एवं व्यवस्थिते वातव्याधिवत् पित्तकफव्याधी कस्मान्नोक्तौ ? उच्यते,—वायोरतिबलत्वेनाशुकारित्वेन च गरीयस्त्वात्तद्विकाराणां दुःसाध्यत्वादाशुबालयकरत्वाद्विशिष्टचिकित्सात्वाद्वातव्याध्यभिधानं, नतु कफपित्तव्याध्यभिधानम् । अत एव चरकसुश्रुतादिष्वपि वातरोगाध्याय एव निर्दिष्टो, नतु पित्तकफरोगाध्यायः । चन्द्रिकाकारस्त्वाह,—पित्तकफयो रूपरसादियोगाद्दूष्यविशेषयोगाद्वा हरिद्राचूर्णसंयोगवदनन्तविसदृशा रसादिमन्तो विकाराः पृथग्भूमानो जायन्ते, वायोस्तु रूपरसाद्यभावाद्दूष्यनिरपेक्षा आक्षेपकादयो वातादनतिभिन्नरूपा नानात्मजाः, तेन वातविकाराः पृथगुच्यन्ते, नतु पित्तकफविकारा इति । एतत्तु बकुलकरप्रभृतयो नानुमन्यन्ते, चरकविरोधात् । चरके हि पित्तकफयोरपि नानात्मजा उक्ताः, यथा,—"अशीतिर्वातविकाराः, चत्वारिंशत् पित्तविकाराः, विंशतिः श्लेष्मविकाराः" ( च. सू. स्था. अ. २० )—इति । सुश्रुतेन तु शल्याध्यायिना पित्तकफनानात्मजा न दर्शिताः, पराधिकारेषु न विस्तरोक्तिरित्यभिप्रायेणेति । लङ्घनमुत्पतनं, उपवासस्यानशनशब्देन वमनादेश्च दोषस्रवणशब्देन वक्ष्यमाणत्वात् । प्लवनं बाहुभ्यां जलप्रतरणम् । आमादिति आमरसात्, तस्य कारणत्वं मार्गावरणद्वारेण नतु स्वरूपेण; आयासादिति पाठान्तरमयुक्तं, तस्य व्यायामशब्देनोक्तत्वात् । मर्माबाधान्मर्माभिघातात् । अपतर्पणं, गजादिभ्यः शीघ्रयानेन पतनं, उच्चासनादरोह्णो वा; धातुकर्षणमिति स्वरनादः ॥ १–४ ॥

अव्यक्तं लक्षणं तेषां पूर्वरूपमिति स्मृतम् ।
आत्मरूपं तु यद्व्यक्तमपायो लघुता पुनः ॥ ५ ॥

पूर्वरूपादिकमाह—अव्यक्तमित्यादि । अव्यक्तमिति वक्ष्यमाणानां वातविकाराणां रूपमेवाव्यक्तं पूर्वरूपं, नतु ज्वरादिवद्विशिष्टमन्यत् । आत्मरूपमित्यादि तदेव व्यक्तमात्मरूपं दोषादिभेदेन सम्यक् प्रकाशितं स्वलक्षणमित्यर्थः । अपाय इति वायोश्चलत्वेन स्तम्भसंकोचकम्पादीनां कदाचिदभावात्, यदुक्तं,—"गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु"—इति । लघुतेति शरीरस्य, वायुना सर्वधातुशोषणात् । अथवा अपायो लघुता इति सर्ववातविकाराणामपायोऽभावः, किं तदित्याह—लघुतेति ।—वातलिङ्गानां लघुताऽल्पत्वेनावस्थानं, नतु निःशेषनिवृत्तिः; यथा—बहिरायामनिवृत्तावपि न रूक्षत्वादिनिवृत्तिरित्याहुः ॥ ५ ॥

१ 'सामान्यजा इति वातादिभिः प्रत्येकं मिलितैश्च ये जन्यन्ते, नानात्मजा इति ये वातादिभिर्दोषान्तरासंपृक्तैर्जन्यन्ते' चक्रः ।

*संकोचः पर्वणां स्तम्भो भङ्गोऽस्थ्नां पर्वणामपि ।
रोमहर्षः प्रलापश्च पाणिपृष्ठशिरोग्रहः ॥ ६ ॥
खाञ्ज्यपाङ्गुल्यकुब्जत्वं शोषोऽङ्गानामनिद्रता ।
गर्भशुक्ररजोनाशः स्पन्दनं गात्रसुप्तता ॥ ७ ॥
शिरोनासाक्षिजत्रूणां ग्रीवायाश्चापि हुण्डनम् ।
भेदस्तोदोऽर्तिराक्षेपो मुहुश्चायास एव च ॥ ८ ॥

करोति विविधान् व्याधीनिति यदुक्तं तद्व्याकरोति—संकोच इत्यादि । स्तम्भः पर्वणामेव । पाङ्गुल्यं पङ्गुता । शोषोऽङ्गानामिति बाहुमुखादीनाम् । अनिद्रेत्यनेनात्यनिद्रेत्याहुः । गर्भशुक्ररजोनाश इति गर्भशय्याया वाताधिष्ठितत्वेन गर्भाग्रहणमिति जेज्जटः; गर्भादिविकृतिरप्यत्र द्रष्टव्या । स्पन्दनं कम्पनम् । हुण्डनं शिरःप्रभृतीनामन्तःप्रवेशो वक्रत्वं वा, धातूनामनेकार्थत्वात् । अन्ये त्वाहुः,—शिरोहुण्डनं शेखाभूमिस्फुटनं शङ्खललाटभेदश्च, नासाहुण्डनं घ्राणनाशः, अक्षिहुण्डनमक्षिव्युदासः जत्रुहुण्डनं वक्षउपरोधः ग्रीवाहुण्डनं ग्रीवास्तम्भः । भेद इति ओष्ठदन्तश्रोण्यादीनाम् । तोदः शूलम् । अर्तिः पीडा, सा च पादपार्श्वयोर्ग्रास्तिवक्षसामिति जेज्जटः । आक्षेपश्च आक्षेपकादिषु वक्ष्यमाणः । आयासः श्रमः ॥ ६-८ ॥

एवंविधानि रूपाणि करोति कुपितोऽनिलः ।
हेतुस्थानविशेषाच्च भवेद्रोगविशेषकृत् ॥ ९ ॥

हेत्वित्यादि । हेतुविशेष आवरणादिः, यथा—श्लेष्मावृतो मन्यास्तम्भकारी; स्थानविशेषः कोष्ठादिः,—यथा-पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजनमित्यादि ॥ ९ ॥

†तत्र कोष्ठाश्रिते दुष्टे निग्रहो मूत्रवर्चसोः ।
ब्रध्नहृद्रोगगुल्मार्शः पार्श्वशूलं च जायते ॥ १० ॥
सर्वाङ्गकुपिते वाते गात्रस्फुरणभञ्जनम् ।
वेदनाभिः परीताश्च स्फुटन्तीवास्य सन्धयः ॥ ११ ॥

एतदेव विवृणोति ( कोष्ठाश्रितवातलक्षणमाह )—तत्रेत्यादि । कोष्ठशब्देनाविशेषात् सर्वे आमाशयादयो गृह्यन्ते, आमाशयादिगं तु पृथगपि वक्ष्यति । निग्रहोऽप्रवृत्तिः । ब्रध्नः कोष्ठवङ्क्षणसन्धिः ॥ १० ॥ ११ ॥

* 'संकोचः पर्वणां, अस्थ्नां भङ्गः स्फुटनं, तथा पर्वणां पाण्यादीनां ग्रहः स्तम्भ इव । खाञ्ज्यं खञ्जता, तोदः शूलं पीडाभेदः' ( आ० द० ) ॥ ६-८ ॥

† 'स्थानविशेषमाह—तत्रेत्यादि । तत्र तेषु स्थानेषु मध्ये कोष्ठाश्रिते वाते दुष्टे सति मूत्रवर्चसोर्निग्रहस्तथा ब्रध्नादयो रोगा भवन्ति । कोष्ठशब्देनात्र आमाशयादयः सर्वे गृह्यन्ते । यदुक्तम्—"स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च । हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते"—इति । सर्वाङ्गकुपितमाह—सर्वाङ्गेत्यादि । भञ्जनं भङ्गवन्तीवेत्यर्थः । सन्धयो वेदनया परीता पुनः स्फुटन्तीव' ( आ० द० ) ॥ १० ॥ ११ ॥

१ 'श्रोण्यादीनां' इति क. ।

*ग्रहो विण्मूत्रवातानां शूलाध्मानाश्मशर्कराः ।
जङ्घोरुत्रिकपात्पृष्ठरोगशोषौ गुदे स्थिते ॥ १२ ॥
रुक् पार्श्वोदरहृन्नाभेस्तृष्णोद्गारविसूचिकाः ।
कासः कण्ठास्यशोषश्च श्वासश्चामाशयस्थिते ॥ १३ ॥

गुदस्थितवातलक्षणमाह—ग्रह इत्यादि । अश्मा अश्मरी । रोगो रुजा । गुद इत्युत्तरगुदे पक्वाशय इत्यर्थः, नतु गुदमात्रे; तथा सत्यश्मरीकर्तृत्वानुपपत्तेः ॥ १२ ॥ १३ ॥

†पक्वाशयस्थोऽन्त्रकूजं शूलाटोपौ करोति च ।
कृच्छ्रमूत्रपुरीषत्वमानाहं त्रिकवेदनाम् ॥ १४ ॥
श्रोत्रादिष्विन्द्रियवधं कुर्याद्दुष्टसमीरणः ।

पक्वाशयस्थवातलक्षणमाह—पक्वाशयस्थ इत्यादि । ननु पक्वाशयस्थ इति पुनरुक्तिः, गुदे स्थित इत्यनेनैवोक्तत्वात् । उच्यते, गुदे स्थित इति दृढबलस्य लक्षणं पक्वाशयस्थ इति सुश्रुतस्य; उभयलिङ्गोपन्यासस्तु सकललिङ्गप्रदर्शनार्थमित्यविरोधः ॥ १४ ॥

‡त्वग्रूक्षा स्फुटिता सुप्ता कृशा कृष्णा च तुद्यते ।
आतन्यते सरागा च पर्वरुक् त्वग्गतेऽनिले ॥ १५ ॥

त्वग्गतवातलक्षणमाह—त्वगित्यादि । आतन्यते विस्तार्यत एव । त्वग्गत इति उपधातुरूपां त्वचं प्राप्ते; चन्द्रिकाकारस्तु त्वक्शब्देन रसमाह, तेन रसगत इत्यर्थः । हृदयस्थस्य च रसस्यामाशयसामीप्यादामाशयगतवातलक्षणेनैव तदधिगते रसगतस्यानभिधानमिति कार्तिकः ॥ १५ ॥

§रुजस्तीव्राः ससन्तापा वैवर्ण्यं कृशताऽरुचिः ।
गात्रे चारूंषि भुक्तस्य स्तम्भश्चासृग्गतेऽनिले ॥ १६ ॥

असृग्गतवातलक्षणमाह—रुज इत्यादि । अरूंषि व्रणाः । भुक्तस्य स्तम्भो भुक्तवतो गात्रस्तम्भः, सन्तर्पणेन रक्तस्य वृद्धेः । अन्ये त्वसृग्गतवातलक्षणं न पठन्ति, वातरक्तेन सहाभेदात्; तन्न, अत्र दुष्टो वायू रक्तेनावृतः कुप्यति, वातरक्ते स्वकारणादुभावपि हस्त्यादिगमनकुपितौ विशिष्टसंप्राप्त्या हस्तपादगतावेव वातरक्ताख्यं विकारं जनयत इति ॥ १६ ॥

---

* 'पक्वाशयकुपितमाह—ग्रह इत्यादि । ग्रहोऽप्रवृत्तिः, पाय्वरणम्, पृष्ठरोगाः स्तम्भादयः, रोगो रुजाविशेषः, तथा शोषश्च । आमाशयकुपितमाह—रुगित्यादि । सुगमम्' (आ० द०) ॥ १२ ॥ १३ ॥

† 'सुश्रुतोक्तं पक्वाशयगतवातलक्षणमाह—पक्वेत्यादि । अन्त्रकूजं अधोऽव्यक्तशब्दं करोति । आटोपो रुजापूर्वकक्षोभः । त्रिकः स्फिजोरुपरि सन्धिः' ।

'श्रोत्रादिगतलक्षणमाह—श्रोत्रादिष्वित्यादि । श्रोत्रादिषु गते श्रोत्रत्वक्चक्षुर्घ्राणरसनेन्द्रियाणां विनाशः स्वस्वविषयग्रहणेऽशक्तता' (आ० द०) ॥ १४ ॥—

‡ 'सांप्रतं धातुकुपितस्य लक्षणम् । तत्र रसकुपितमाह—त्वगित्यादि । त्वक् त्वचा, रौक्ष्यादियुक्ता तुद्यते; त्वक्शब्देनात्र रसोऽभिप्रेतः, तदाधारत्वात् । पर्वरुक् सर्वसन्ध्यथा' (आ० द०) ॥ १५ ॥

§ 'रक्तकुपितमाह—रुज इत्यादि । वैवर्ण्यं निच्छायता, गात्रे शरीरे' (आ० द०) ॥ १६ ॥

*गुर्वङ्गं तुद्यतेऽत्यर्थं दण्डमुष्टिहतं यथा ।
सरुक् श्रमितमत्यर्थं मांसमेदोगतेऽनिले ॥ १७ ॥
मेदोऽस्थिपर्वणां सन्धिशूलं मांसबलक्षयः ।
अस्वप्नः संतता रुक् च मज्जास्थिकुपितेऽनिले ॥ १८ ॥

मांसमेदोगतवातलक्षणमाह—गुर्वित्यादि । श्रमितं श्रान्तं निःसहमित्यर्थः । मांसमेदोगतवायोरेकलिङ्गत्वं, अदूरान्तरेण प्रत्यासत्तेराश्रयाभेदात् । एवं मज्जास्थिकुपितेऽपि वाच्यम् ॥ १७ ॥ १८ ॥

†क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति शुक्रं गर्भमथापि वा ।
विकृतिं जनयेच्चापि शुक्रस्थः कुपितोऽनिलः ॥ १९ ॥

शुक्रस्थवातलक्षणमाह—क्षिप्रमित्यादि । गर्भमिति दुष्टशुक्रारब्धत्वाद्गर्भस्य । विकृतिमिति गर्भस्य शुक्रस्य च ॥ १९ ॥

‡कुर्यात्सिरागतः शूलं सिराकुञ्चनपूरणम् ।
स बाह्याभ्यन्तरायामं खल्लीं कौब्ज्यमथापि वा ॥ २० ॥
सर्वाङ्गैकाङ्गरोगांश्च कुर्यात्स्नायुगतोऽनिलः ।

सिरागतवातलक्षणमाह—कुर्यादित्यादि । आकुञ्चनं संकोचः । पूरणं स्थूलत्वं, यदुक्तमन्यत्र,—"सुप्तास्तन्व्यो बृहत्यो वा सिरा वाते सिरागते"—इति । खल्लीं वक्ष्यमाणाम् ॥ २० ॥—

§हन्ति सन्धिगतः सन्धीन् शूलाटोपौ करोति च ॥ २१ ॥

सन्धिगतवातलक्षणमाह—हन्तीत्यादि । हन्ति सन्धिगतः सन्धीनिति सन्धिविश्लेषं स्तम्भादिकं वा करोति ॥ २१ ॥

---

* 'अनिले मांसमेदोगते सत्यङ्गं शरीरं, गुरु भारिकं, स्तब्धं निश्चलं, दण्डमुष्टिभ्यां हतमिव सरुक् पीडायुक्तं, सुश्रुते चात्र विशेष उक्तः—"कर्कशान्स्तोदबहुलान् ग्रन्थीन्मांससमाश्रितः । वायुर्मेदोगतः कुर्याद्ग्रन्थीन्मन्दरुजोऽव्रणान्"—इति । तथा मज्जास्थिकुपितस्यापि वातस्य विशेष उक्तः—"अस्थिशोषं च भेदं च कुर्याच्छूलं च तत्स्थितः । तथा मज्जगते रुक् च न कदाचित्प्रशाम्यति"—इति । मेद इत्यादि । सुगमम्' ( आ० द० ) ॥ १७ ॥ १८ ॥

† 'अनिलः शुक्रस्थः कुपितः सन् शुक्रं क्षिप्रं शीघ्रं मुञ्चति बध्नाति च, तथा गर्भमपि क्षिप्रं मुञ्चति बध्नाति च' ( आ० द० ) ॥ १९ ॥

‡ 'सिरागतो वायुः शूलं सिराऽऽकुञ्चनपूरणं च, तथा बाह्याभ्यन्तरमायामं तथा खल्लीं वक्ष्यमाणां कौब्ज्यं च कुर्यात् । स्नायुगतोऽनिलः सर्वाङ्गरोगानेकाङ्गरोगांश्च कुर्यात् । सुश्रुतेनाप्युक्तं—"स्नायुप्राप्तः स्तम्भकम्पौ शूलमाक्षेपणं तथा"—इति । वाग्भटेनोक्तं—"तथा स्नाय्वाश्रितः कुर्याद्बाह्यायामकुब्जताम्"—इति'[1] ( आ० द० ) ॥ २० ॥—

§ 'संधिगतो वायुः सन्धीन् हन्ति, तथा शूलशोफौ करोति, संधिष्विति शेषः । एतेनाकुञ्चनप्रसारणयोरभाव उक्तः' ( आ० द० ) ॥ २१ ॥

---

१ 'मलाग्रपेशमयभमावात्' इति पाठान्तरम् ।

*( प्राणोदानौ समानश्च व्यानश्चापान एव च ।
स्थानस्था मारुताः पञ्च यापयन्ति शरीरिणम् ॥ )
प्राणे पित्तावृते छर्दिर्दाहश्चैवोपजायते ।
दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैरस्यं च कफावृते ॥ २२ ॥
उदाने पित्तयुक्ते तु दाहो मूर्च्छा भ्रमः क्लमः ।
अस्वेदहर्षौ मन्दोऽग्निः शीतता च कफावृते ॥ २३ ॥
स्वेददाहौष्ण्यमूर्च्छाः स्युः समाने पित्तसंवृते ।
कफेन सक्ते विण्मूत्रे गात्रहर्षश्च जायते ॥ २४ ॥
अपाने पित्तयुक्ते तु दाहौष्ण्यं रक्तमूत्रता ।
अधःकाये गुरुत्वं च शीतता च कफावृते ॥ २५ ॥
व्याने पित्तावृते दाहो गात्रविक्षेपणं क्लमः ।
स्तम्भनो दण्डकश्चापि शूलशोथौ कफावृते ॥ २६ ॥

*[अत्र पञ्चविधस्य वायोर्नामान्याह—प्राणेत्यादि । स्थानस्था इति स्थानशब्देनात्र साम्यमुच्यते । यापयन्ति धारयन्ति ] सदनमङ्गग्लानिः । क्लमोऽनायासः श्रमः, हर्षो रोमहर्षः, 'शीतस्तम्भौ' इति पाठान्तरम् । कफेन संवृते समाने विण्मूत्रयोः सङ्गः, "कफाधिकं च विण्मूत्रं रोमहर्षः कफावृते" इति पाठान्तरम् । कफाधिकं श्लेष्मबहुलं विण्मूत्रमिति । अपान इति सुगमम् । व्यान इति । वाग्भटोक्तं द्वाविंशतिविधं वायोरावरणं लिख्यते— "वायोरावरणं चातो बहुभेदं प्रवक्ष्यते । लिङ्गं पित्तावृते दाहस्तृष्णा शूलं भ्रमस्तमः ॥ कट्वम्ललवणोष्णैश्च विदाहः शीतकामिता । शैत्यगौरवशूलानि कट्वाद्युपशयोऽधिकम् ॥ लङ्घनायासरूक्षोष्णकामिता च कफावृते । रक्तावृते सदाहार्तिस्त्वङ्मांसान्तरजो भृशम् ॥ भवेत्सरागः श्वयथुर्जायन्ते मण्डलानि च । मांसेन कठिनः शोफो विवर्णः पिडिकास्तथा ॥ हर्षः पिपीलिकानां च संचार इव जायते । चलः स्निग्धो मृदुः शीतः शोफो गात्रेष्वरोचकः ॥ आढ्यवात इति ज्ञेयः स कृच्छ्रो मेदसाऽऽवृते । स्पर्शमस्थ्यावृतेऽत्युष्णं पीडनं चाभिनन्दति ॥ सूच्येव तुद्यतेऽत्यर्थमङ्गं सीदति शूल्यते । मज्जावृते विनमनं जृम्भणं परिवेष्टनम् ॥ शूलं च पीड्यमानेन पाणिभ्यां लभते सुखम् । शुक्रावृतेऽतिवेगो वा न वा निष्फलताऽपि वा ॥ भुक्ते कुक्षौ रुजा जीर्णे शाम्यत्यन्नावृतेऽनिले । मूत्राप्रवृत्तिराध्मानं बस्तौ मूत्रावृते भवेत् ॥ विडावृते विबन्धोऽधः स्वस्थाने परिकृन्तति । व्रजत्याशु जरां स्नेहो भुक्ते चानह्यते नरः ॥ शकृत्पीडितमन्नेन दुःखं शुष्कं चिरात्सृजेत् । सर्वधात्वावृते वायौ श्रोणिवङ्क्षणपृष्ठरुक् ॥ विलोमो मारुतोऽस्वस्थं हृदयं पीड्यतेऽति च । भ्रमो मूर्च्छा रुजा दाहः पित्तेन प्राण आवृते ॥ विदग्धेऽन्ने च वमनमुदानेऽपि भ्रमादयः । दाहोऽन्तरूर्जाभ्रंशश्च, दाहो व्यानेन सर्वगः ॥ क्लमोऽङ्गचेष्टासंगश्च ससंतापः सवेदनः । समान ऊष्मोपहतिरतिस्वेदोऽरतिः सतृट् ॥ दाहश्च स्यादपाने तु मले हारिद्रवर्णता । रजोऽतिवृद्धिस्तापश्च योनौ मेहनपायुषु ॥ श्लेष्मणा त्वावृते प्राणे सादस्तन्द्राऽरुचिर्वमिः । ष्ठीवनक्षवथूद्गारनिःश्वासोच्छ्वाससंग्रहाः ॥ उदाने गुरुगात्रत्वमरुचिर्वाक्स्वरग्रहः । बलवर्णप्रणाशश्च, व्याने पर्वास्थिवाग्ग्रहाः ॥ गुरुताऽङ्गेषु सर्वेषु स्खलितं च गतौ भृशम् । समानेऽतिहिमाङ्गत्वमस्वेदो मन्दवह्निता ॥ अपाने सकफं मूत्रशकृतः स्यात्प्रवर्तनम् । इति द्वाविंशतिविधं

पित्तकफावृतानां प्राणादीनामर्धार्धश्लोकेन लिङ्गान्याह—प्राण इत्यादि । गात्रहर्षो रोमाञ्चः । दण्डको दण्डवत् स्तम्भः । परस्परं च प्राणादीनामावरणानि विंशतिर्भवन्ति । यदुक्तं चरके,—"मारुतानां हि पञ्चानामन्योन्यावरणं शृणु" ( च. चि. स्था. अ. २८ )—इत्यादि । एषां च लक्षणं चरक एव द्रष्टव्यम् । विदेहे चैक एव वायुः स्थानकर्मभेदात् पञ्चेत्याहुः, संसर्गिद्रव्यत्वेनैकाश्रये जलवत्पृथगवस्थानानुपपत्तेः । ईशानोऽप्याह,—यथैको देवदत्तः स्थानभेदात् गृहस्थो वानप्रस्थः कर्मभेदात् कुम्भकारो मालाकार इत्युच्यते, तथा वायुरपीति ॥ २२–२६ ॥

*यदा तु धमनीः सर्वाः कुपितोऽभ्येति मारुतः ।
तदाऽऽक्षिपत्याशु मुहुर्मुहुर्देहं मुहुश्चरः ॥ २७ ॥
मुहुर्मुहुश्चाक्षेपणादाक्षेपक इति स्मृतः ।

आक्षेपकस्य सामान्यलक्षणमाह—यदा त्वित्यादि । सर्वा इति ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गाः । आक्षिपति देहं हस्त्यारूढपुरुषस्येव गात्रं चालयति । मुहुश्चर इति हेतुगर्भविशेषणम् । 'बहिश्चर' इति पाठान्तरे कोष्ठाद्बहिः शाखागतश्चरन्नाक्षेपकं करोतीत्यर्थः । चन्द्रिकाकारस्त्वेतन्नानुमन्यते, स्थानगाम्भीर्यादाक्षेपकस्य तदारम्भकवायोर्बहिश्चरत्वायुक्तत्वात् ॥ २७ ॥—

† क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुः स्थानादूर्ध्वं प्रपद्यते ॥ २८ ॥
पीडयन् हृदयं गत्वा शिरः शङ्खौ च पीडयन् ।
धनुर्वन्नमयेद्गात्राण्याक्षिपेन्मोहयेत्तदा ॥ २९ ॥
स कृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्तब्धाक्षोऽथ निमीलकः ।
कपोत इव कूजेच्च निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः ॥ ३० ॥
दृष्टिं संस्तभ्य संज्ञां च हत्वा कण्ठेन कूजति ।
हृदि मुक्ते नरः स्वास्थ्यं याति मोहं वृते पुनः ॥ ३१ ॥
वायुना दारुणं प्राहुरेके तदपतानकम् ।

वायोरावरणं विदुः ॥ प्राणादयस्तथाऽन्योन्यमावृण्वन्ति यथाक्रमम् । सर्वेऽपि विंशतिविधं विद्यादावरणं च तद् ॥ निःश्वासोच्छ्वाससंरोधः प्रतिश्यायः शिरोग्रहः । हृद्रोगो मुखशोषश्च प्राणेनोदान आवृते ॥ उदानेनावृते प्राणे वर्णौजोबलसंक्षयः । दिशाऽनया च विभजेत्सर्वमावरणं भिषक्"—इति ( आ० द० ) ॥ २२–२६ ॥

* 'मुहुर्मुहुर्देहमाक्षिपति हस्त्यारूढस्येव गात्रं चालयति । मुहुश्चर इति हेतुगर्भविशेषणं; वारंवारं संचरणशीलः, आक्षेपणात् चालनात्' ( आ० द० ) ॥ २७ ॥—

† 'स्थानात् पक्वाशयात् । ऊर्ध्वं शिरसि उद्दिश्य । पीडयन् रुजन् । हृदयं ततः शिरः शङ्खौ च पीडयेत् । आक्षिपेच्चालयेत् । मोहयेदिन्द्रियाणि । कष्टेनोच्छ्वासं मुञ्चति । निमीलको निमीलिताक्षः स्तब्धाक्षो वा भवतीत्यर्थः । कपोत इव कूजेत्, निःसंज्ञः संज्ञारहितः, सोऽपतन्त्रकः, दृष्टिं रूपग्रहणयोग्यां, संस्तभ्याच्छाद्य, संज्ञां ज्ञानविषयिणीं बुद्धिं, विनाश्य । वायुना मुक्ते हृदि सुखं लभते । वृते मूर्च्छते । तमेवापतन्त्रमेके त्वपतानकमाहुः । तन्त्रान्तरेऽपतन्त्रकलक्षणं पठितम् । तद्यथा—"क्रुद्धः स्वैः कोपनैर्वायुरपानो नाभिसंश्रयः । संदूष्य हृदयस्थं च मनो व्याकुलयेत्ततः ॥ पीडयन् हृदयं प्राप्य शिरः शङ्खौ च पीडयेत् ।

अस्यैवावस्थाविशेषावपतन्त्रकापतानकावाह—क्रुद्ध इत्यारभ्य एके तदपतानकमित्यन्येन । स्वैः कोपनैरित्यनेन रूक्षादिकुपितः स्वतन्त्रो नत्वावरणकुपित इतीशानः । निमीलिताक्षः स्तब्धाक्षो वा भवतीत्यर्थः । आक्षेपकश्चतुर्विधो भवति, दण्डापतानकोऽभ्यन्तरायामो बहिरायामोऽभिघातजश्चेति । दृढबलेन यद्यप्याक्षेपकात् पूर्वमन्तरायामबहिरायामौ पठितौ, तथाऽप्याक्षेपकविशेषावेतौ मन्तव्यौ, सुश्रुतदर्शनात् ॥२८–३१॥—

*कफान्वितो भृशं वायुस्तास्वेव यदि तिष्ठति ॥ ३२ ॥
दण्डवत्स्तम्भयेद्देहं स तु दण्डापतानकः ।

एतं लक्षणमाह—कफान्वित इत्यादि । भृशं कफान्वित इत्यनेन पित्तमपि न वार्यत इत्याहुः । चरके त्वस्यासाध्यत्वं केवलवातजत्वेन द्रष्टव्यम् । यदाह,—"पाणिपादशिरःपृष्ठश्रोणीः स्तभ्नाति मारुतः । दण्डवत् स्तब्धगात्रस्य दण्डकः सोऽनुपक्रमः" (च. चि. स्था. अ. २८)–इति । तास्विति सर्वधमनीषु ॥ ३२ ॥—

†धनुस्तुल्यं नमेद्यस्तु स धनुःस्तम्भसंज्ञकः ॥ ३३ ॥

अन्तरायामबहिरायामयोः साधारणं रूपमाह—धनुस्तुल्यमित्यादि ॥ ३३ ॥

‡अङ्गुलीगुल्फजठरहृद्वक्षोगलसंश्रितः ।
स्नायुप्रतानमनिलो यदाऽऽक्षिपति वेगवान् ॥ ३४ ॥
विष्टब्धाक्षः स्तब्धहनुर्भग्नपार्श्वः कफं वमन् ।
अभ्यन्तरं धनुरिव यदा नमति मानवम् ॥ ३५ ॥
तदाऽस्याभ्यन्तरायामं कुरुते मारुतो बली ।
बाह्यस्नायुप्रतानस्थो बाह्यायामं करोति च ॥ ३६ ॥
तमसाध्यं बुधाः प्राहुर्वक्षःकट्यूरुभञ्जनम् ।

विशेषलक्षणमाह—अङ्गुलीत्यादि । वक्षो बाहुद्वयान्तरम् । हृदयं तदभ्यन्तरं व्यङ्गुलम् । स्नायुप्रतानं लतावदनेकप्ररोहं स्नायुजालं; स्नायुरित्युपलक्षणं, तेन सिराकण्डरयोरपि ग्रहणम् । यदुक्तं तन्त्रान्तरे,—"महाहेतुर्यदा वायुः सिराः सस्नायुकण्डराः ।

---

आक्षिप्य चाखिलं देहं मोहयेच्च पुनः पुनः ॥ स कृच्छ्रादुच्छ्वसेच्चापि स्वेदशैत्ययुतो बहिः । स निद्रां लभते नीरं प्राप्य चाशु प्रबुध्यते ॥ ग्रसते कम्पते भूयो निःसंज्ञः सोऽपतन्त्रकः । प्रलापो वमकदुता भ्रमो मूर्च्छाऽरुचिस्तृषा ॥ तस्मिन्पित्तान्विते स्वेदः पीताभः शीतकामिता । शिरोङ्गगौरवं ग्लानिः शीतद्विट् मन्दवेदनः । कफान्विते च सदनं शैत्यं च हृदयग्रहः ॥ वातोल्बणेऽङ्गस्फुरणं शिरोमन्याकटिव्यथा । धैर्यादिविप्लवो दैन्यं विषयेष्वनवस्थितिः" (आ० द० ) ॥ २८–३१ ॥

* 'तास्विति सर्वधमनीषु' (आ० द० ) ॥ ३२ ॥—

† 'स्तम्भः सामान्यः धनुःस्तम्भोऽस्यैव भेदः । धनुस्तुल्यमिति धनुस्तुल्यं क्रोडेन नम्रस्तिष्ठति, दण्डापतानकस्तु शुष्ककाष्ठदण्डवत्' (आ० द० ) ॥ ३३ ॥

‡ 'बली वायुः कुपितो गुल्फौ चरणघुटिके, अन्तःस्नायुप्रतानं धनुरिव नामयेत् । हनुः कण्ठकपोलसन्धिः । बहिरायामलक्षणमाह—बाह्येत्यादि । पूर्ववद्बाह्यस्नायुप्रतानं धनुर्वदानमेत् । बाह्यायामं पृष्ठे नतं वक्षःकट्यूरुभञ्जत्वात् । तमसाध्यमाहुः' (आ० द० ) ॥३४–३६॥—

मन्यापृष्ठाश्रिता बाह्याः संशोष्यायामयेद्बहिः"—इत्यादि । अभ्यन्तरायामं क्रोडे नतं, बाह्यायामं पृष्ठे नतम् । अन्तरायामबहिरायामाभ्यां तन्त्रान्तरोक्तकुब्जस्यावरोधः । यदुक्तं,—"हृदयं यदि वा पृष्ठमुन्नतं क्रमशः सरुक् । क्रुद्धो वायुर्यदा कुर्यात्तदा तं कुब्जमादिशेत्"—इति ॥ ३४-३६ ॥—

*कफपित्तान्वितो वायुर्वायुरेव च केवलः ॥ ३७ ॥
कुर्यादाक्षेपकं त्वन्यं चतुर्थमभिघातजम् ।

उक्तानामाक्षेपकप्रकाराणां कफपित्तानुबन्धमाह—कफपित्तान्वित इत्यादि । एतच्च दण्डापतानकलक्षणमेव जेज्जटेन व्याख्यातम् । पित्तकफानुबन्धश्चात्र शैत्यशोषगुरुत्वानीत्यादिनोक्तलक्षण एव बोध्यः । चतुर्थमभिघातजमिति दण्डापतानकादित्रितयापेक्षया चतुर्थत्वं, अभिघातजं दण्डाद्यभिघातकुपितवातजं, अस्य च लक्षणं-"यदा तु धमनीः सर्वाः" इत्यादिनोक्तसामान्यलक्षणं द्रष्टव्यम् ॥ ३७ ॥—

†गर्भपातनिमित्तश्च शोणितातिस्रवाच्च यः ॥ ३८ ॥
अभिघातनिमित्तश्च न सिध्यत्यपतानकः ।

असाध्यत्वमाह—गर्भपातेत्यादि । गदाधरस्त्वाह—कफपित्तान्वित इत्यादिना निमित्तभेदेनाक्षेपकश्चतुर्धेति, तद्यथा—एकः कफान्वितेन वातेन, द्वितीयः पित्तान्वितेन, तृतीयः केवलेन, चतुर्थोऽभिघातेनेति । अत्र पक्षे गर्भपातशोणितातिस्रावजौ केवलवातेन प्राप्तौ, एतेषां च मुहुर्मुहुराक्षेपणं बोध्यं, आक्षेपकविशेषत्वात् ॥ ३८ ॥—

‡गृहीत्वाऽर्धं तनोर्वायुः सिराः स्नायूर्विशोष्य च ॥ ३९ ॥
पक्षमन्यतरं हन्ति सन्धिबन्धान्विमोक्षयन् ।
कृत्स्नोऽर्धकायस्तस्य स्यादकर्मण्यो विचेतनः ॥ ४० ॥
एकाङ्गरोगं तं केचिदन्ये पक्षवधं विदुः ।
सर्वाङ्गरोगस्तद्वच्च सर्वकायाश्रितेऽनिले ॥ ४१ ॥

पक्षवधमाह—गृहीत्वेत्यादि । अर्धमिति अर्धमर्यादयाऽर्धनारीश्वरवत् । पक्षं बाहुकक्षपार्श्वादिभाग, अन्यतरमिति वामं दक्षिणं वा । सन्धिबन्धान् कफसहितस्नायुभिर्बद्धान् मोक्षयन्निति गदाधरः; अत एव सिराः स्नायूर्विशोष्येत्युक्तम् । अर्धकाय इत्यु-

* 'केवलः स्वतन्त्रः' ( आ० द० ) ॥ ३७ ॥—

† 'असाध्यमाह—गर्भेत्यादि । अन्नापतानकेत्युपलक्षणं, तेन चतुष्टयमपि गृह्यते' ( आ० द० ) ॥ ३८ ॥

‡ 'वायुस्तनोः शरीरस्यार्धं गृहीत्वा, सिराः स्नायूर्विशोष्य शोषयित्वा, अन्यतरं पक्षं हन्ति निरीहं करोति । पक्षमिति शरीरार्धं । किं कुर्वन् ? संधीनां बन्धान् सन्धिबन्धान् विमोक्षयन्निति गदाधरः । तस्य तथाविधस्य पुंसः, कृत्स्नो निःशेष अर्धकायोऽकर्मण्यो विचेतनः स्यात् । केचिदाचार्यास्तं व्याधिमेकाङ्गरोग विदुः, अन्ये पक्षवधं विदुः । सर्वकायाश्रिते समस्तदेहगते वाते तत्सर्वाङ्गरोगमित्याहुः' ( आ० द० ) ॥ ३९-४१ ॥

केऽपि कृत्स्नग्रहणं युगपत् सर्वाङ्गव्याप्त्यर्थम् । अकर्मण्य ईषच्चेष्टाक्षमः । विचेतनोऽल्पचेतनः, ईषत्स्पर्शादिज्ञानवानित्यर्थः । तद्वच्चेत्यनेन सिराः स्नायूर्विशोष्य चेत्यादिसंप्राप्तिलक्षणं चातिदिशति ॥ ३९—४१ ॥

*दाहसन्तापमूर्च्छाः स्युर्वायौ पित्तसमन्विते ।
शैत्यशोथगुरुत्वानि तस्मिन्नेव कफान्विते ॥ ४२ ॥
शुद्धवातहतं पक्षं कृच्छ्रसाध्यतमं विदुः ।
साध्यमन्येन संयुक्तमसाध्यं क्षयहेतुकम् ॥ ४३ ॥

तस्यैव साध्यासाध्यज्ञानार्थमाह—दाहेत्यादि । एतच्च लक्षणमन्यत्रापि वातरोगे द्रष्टव्यं, अत एव सामान्येन वायाविति कृतवान् । शुद्धः केवलः । अन्येनेति कफेन पित्तेन वा । क्षयहेतुकमिति धातुक्षयकुपितशुद्धवातजमिति ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

†उच्चैर्व्याहरतोऽत्यर्थं खादतः कठिनानि वा ।
हसतो जृम्भतो वाऽपि भाराद्विषमशायिनः ॥ ४४ ॥
शिरोनासौष्ठचिबुकललाटेक्षणसन्धिगः ।
अर्दयत्यनिलो वक्त्रमर्दितं जनयत्यतः ।
वक्रीभवति वक्त्रार्धं ग्रीवा चाप्यपवर्तते ॥ ४५ ॥
शिरश्चलति वाक्सङ्गो नेत्रादीनां च वैकृतम् ।
ग्रीवाचिबुकदन्तानां तस्मिन्पार्श्वे च वेदना ॥ ४६ ॥
(यस्याग्रजो रोमहर्षो वेपथुर्नेत्रमाविलम् ।
वायुरूर्ध्वं त्वचि स्वापस्तोदो मन्याहनुग्रहः ॥)
तमर्दितमिति प्राहुर्व्याधिं व्याधिविचक्षणाः ।

अर्दितमाह—उच्चैरित्यादि । अर्दयति पीडयति । अपवर्तते वक्रीभवति । चलति कम्पते । वाक्सङ्गोऽनिर्गमो वचनस्य । आदिशब्देन भ्रूगण्डादीनां ग्रहणम् । वैकृतं वेदनास्फुरणवक्रत्वादिकम् । ग्रीवेत्यादि, यस्मिन् पार्श्वेऽर्दितं तस्मिन् ग्रीवादीनां वेदनेति योज्यम् । तन्त्रान्तरे तु मुखार्धवच्छरीरार्धव्यापकोऽप्यर्दितः पठितः । यदाह दृढबलः,— "अर्धे तस्मिन् मुखार्धे वा केवले स्यात्तदर्दितम्" ( च. चि. स्था. अ. २८ )—इति । ननु, यद्येवं तदाऽर्दितार्धाङ्गवातयोः को भेदः ? उच्यते, वेगित्वेनार्दिते कदाचिद्वेदना भवति, अर्धाङ्गवाते [illegible] सर्वदैवेति भेदः; अथवा यथोक्तः सर्वलिङ्गोऽर्दितस्तद्विपरीतस्त्वर्धाङ्गवात इत्याहुः । सुश्रुतेन तु मुखमात्र एवार्दितः पठितः, अर्धशरीरस्यार्धाङ्गवातेन लब्धत्वात् । स एवात्र माधवेन लिखितः ॥ ४४–४६—

* 'पक्षाघातस्य साध्यासाध्यत्वं दर्शयन्नाह—शुद्धेत्यादि । कृच्छ्रसाध्यं कष्टसाध्यं' ( आ० द० ) ॥ ४२ ॥ ४३ ॥

† 'अर्दितस्य निदानपूर्वकं लक्षणमाह—उच्चैरित्यादि । उच्चैर्भाषणं, कठिनानि पूगफलादीनि खादतः, विषमाच्छयनात् ग्रीवादिवैपरीत्यशयनात्, ग्रीवां व्याप्य अपवर्तते वक्रीभवति, आदिशब्देन गण्डनासादीनां ग्रहणं, चिबुकं मुखकुहरस्याधोभागः' (आ० द०) ॥४४–४६॥

*क्षीणस्यानिमिषाक्षस्य प्रसक्ताव्यक्तभाषिणः ॥ ४७ ॥
न सिध्यत्यर्दितं गाढं त्रिवर्षं वेपनस्य च ।

तस्यासाध्यलक्षणमाह—क्षीणस्येत्यादि । अनिमिषाक्षस्य निमेषासमर्थचक्षुषः । प्रसक्ताव्यक्तभाषिण इति प्रसक्तं प्रकर्षेण सक्तमप्रवृत्तं, अव्यक्तं प्रपीडितवर्णपदं भाषितुं शीलं यस्य स तथा । अन्ये तु प्रसक्तं निरन्तरमाहुः; तन्न, चरके "दीना जिह्वा समुत्क्षिप्ता कले सज्जति चास्य वाक्" ( च. चि. स्था. अ. २८ )—इति वचनात् । त्रिवर्षमिति अतीतवर्षत्रयं, अथवा त्रयाणां मुखनासाचक्षुषां वर्षः स्रवणं यत्र तत्तथेत्याहुः ॥ ४७ ॥—

गते वेगे भवेत् स्वास्थ्यं सर्वेष्वाक्षेपकादिषु ॥ ४८ ॥

आक्षेपकादीनामर्दितान्तानां वेगित्वमाह—गत इत्यादि । स्वास्थ्यं पीडालाघवं, भारापगमे सुखित्वव्यपदेशवत् ॥ ४८ ॥

†जिह्वानिर्लेखनाच्छुष्कभक्षणादभिघाततः ।
कुपितो हनुमूलस्थः स्रंसयित्वाऽनिलो हनुम् ॥ ४९ ॥
करोति विवृतास्यत्वमथवा संवृतास्यताम् ।
हनुग्रहः स तेन स्यात्कृच्छ्राच्चर्वणभाषणम् ॥ ५० ॥

हनुग्रहमाह—जिह्वेत्यादि । हनुमूलस्थः कपोलमूलस्थः । हनुं स्रंसयित्वाऽधः कृत्वा । विवृतास्यत्वमास्यविवृतिं, संवृतास्यतामास्यसंवृतिं; सा च वायोरनियतकारित्वात् ॥ ४९ ॥ ५० ॥

‡दिवास्वप्नासनस्थानविवृतोर्ध्वनिरीक्षणैः ।
मन्यास्तम्भं प्रकुरुते स एव श्लेष्मणाऽऽवृतः ॥ ५१ ॥

मन्यास्तम्भमाह—दिवास्वप्नेत्यादि । स एवेति वातः ॥ ५१ ॥

वाग्वाहिनीसिरासंस्थो जिह्वां स्तम्भयतेऽनिलः ।
जिह्वास्तम्भः स तेनान्नपानवाक्येष्वनीशता ॥ ५२ ॥

जिह्वास्तम्भमाह—वागित्यादि । वाग्वाहिनीसिरासंस्थ इति वाग्वाहिनी या सिरा तत्र संस्थ इति योऽर्थः, समासपक्षे "पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु–" इत्यनेन पुंवद्भावप्राप्तेः । अन्नपानवाक्येष्वनीशतेति अन्नपानाभ्यवहारवचनेष्वसामर्थ्यम् ॥५२॥

* 'प्रसक्तेति प्रकर्षेण सक्तं स्खलनयुक्तं कण्ठताल्वादिवर्णोच्चारणस्थानेषु वेपनस्य कम्पनशीलस्य' ( आ० द० ) ॥ ४७ ॥—

† 'जिह्वानिर्लेखनात् जिह्वाघर्षणाद्दन्तकाष्ठादिना, शुष्काणां चणकादीनां भक्षणात् अभिघाततश्चाहननात् । विवृतास्यत्वं प्रसारितवदनत्वं, संवृतास्यत्वं संकुचितमुखत्वम्; अत्र संवृतिर्विवृतिश्च वायोरनियतकारित्वात् । स एव वातः कुपितः हनुग्रहः । तेन कृच्छ्राच्चर्वणं भाषणं च स्यात्' ( आ० द० ) ॥ ४९ ॥ ५० ॥

‡ 'आसनमुपवेशः, स्थानमूर्ध्वभवनं, विवृतोर्ध्वनिरीक्षणं वक्रमार्गावलोकनम् । स एवेति वातो दिवास्वप्नादिभिः कुपितः सन्, श्लेष्मणाऽऽवृतो मन्यास्तम्भं प्रकुरुते, मन्यास्तम्भं केचिदपतानकपूर्वरूपं मन्यन्ते' ( आ० द० ) ॥ ५१ ॥

१ 'हनुस्तम्भः' इति पा० । २ 'कपोलस्थः' इति क. ।

रक्तमाश्रित्य पवनः कुर्यान्मूर्धधराः सिराः।
रूक्षाः सवेदनाः कृष्णाः सोऽसाध्यः स्यात्सिराग्रहः ॥ ५३ ॥

सिराग्रहमाह—रक्तमित्यादि। मूर्धधरा इति ग्रीवागताः, तासां रूक्षत्वं वेदनावत्त्वं कृष्णत्वं च कुर्यात्। सोऽसाध्य इति स्वरूपेणैव, काकणकुष्ठवत्। शिरोग्रह इति पाठान्तरे शिरोधारकसिरादुष्ट्या शिरोवेदनाकारित्वात् 'शिरोग्रह' इति व्यपदेशः, लक्षणं तु तदेव ॥ ५३ ॥

*स्फिक्पूर्वा कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं क्रमात्।
गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैर्गृह्णाति स्पन्दते मुहुः ॥ ५४ ॥
वाताद्वातकफात्तन्द्रागौरवारोचकान्विता।
†[वातजायां भवेत्तोदो देहस्यापि प्रवक्रता।
जानुकट्यूरुसंधीनां स्फुरणं स्तब्धता भृशम् ॥ ५५ ॥
वातश्लेष्मोद्भवायां तु निमित्तं वह्निमार्दवम्।
तन्द्रा मुखप्रसेकश्च भक्तद्वेषस्तथैव च ॥ ५६ ॥]

गृध्रसीमाह—स्फिक्पूर्वेत्यादि। स्फिक् पूर्वा प्रथमतो यस्याः स्तम्भरुक्तोदैर्यस्याः सा स्फिक्पूर्वा; ईशानस्तु पूर्वा प्रथमा गृध्रसी वातादिति योजयति, एषा च व्याख्या स्फिक्शब्दस्य नपुंसकत्वेन 'पूर्वां स्फिक्कटीपृष्ठ'—इत्यादिपाठेन नोपपद्यते नान्यथा। 'स्फिक्पूर्वं' इति पाठान्तरं जानुजङ्घापदमित्यनेन योज्यम्। क्रमादिति न युगपत्। वातादिति छेदः। वातकफारब्धा गृध्रसी, केवलवातलक्षणयुक्ताऽपि तन्द्रागौरवादियुक्ता भवतीति गृध्रसीद्वयमुक्तम् ॥ ५४ ॥ ५६ ॥

‡तलं प्रत्यङ्गुलीनां याः कण्डरा बाहुपृष्ठतः ॥ ५७ ॥
बाह्वोः कर्मक्षयकरी विश्वाची चेति सोच्यते।

विश्वाचीमाह—तलमित्यादि। तलं हस्तस्योपरिभागः, तलशब्दोऽत्रोपरिवचनः, यथा—भूतलमिति गयदासः। तेनायमर्थः—बाह्वोः पृष्ठं बाहुपृष्ठं, तत आरभ्य हस्ततलं लक्षीकृत्याङ्गुलीनां याः कण्डरास्ताः संदूष्य बाह्वोः कर्मक्षयकरी या सा विश्वाची; बाह्वोः कर्म ग्रहणाकुञ्चनादि, द्वित्वं चात्र संभवपरं, तेनैकबाहावपि भवति पादखञ्जवत्। विश्वाची चेति चकारेण गृध्रसीविश्वाच्योः खल्लीसंज्ञां दर्शयति, तयोरपि करमूलावमोटनकारित्वात्; यदुक्तं हारीते,—"विश्वाची गृध्रसी चोक्ता खल्ली तीव्ररुजान्विता"—इति गयदासः। चक्रस्त्वाह चरके—'खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी' (च. चि. स्था. अ. २८)-इत्यनेन विश्वाच्याः पृथगेव खल्ली पठिता, गृध्रसीत्वेन तु खल्ली न

---

* 'गृध्रसी स्तम्भरुक्तोदैः क्रमात् कटिपृष्ठोरुजानुजङ्घापदं गृह्णाति, तथा मुहुः स्पन्दते, सा वातजा ज्ञेया, एवंभूता गृध्रसी, स्फिक्पूर्वा। गृध्रसी रहिन्नीति लोके (मा० द०) ॥ ५४ ॥

† 'गृध्रस्याः पुनरपि विशेषमनुगमाह—वातजायामित्यादि। सुगमम्' (मा० द०) ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

‡ कण्डरा महास्नायुः' (मा० द०) ॥ ५७ ॥

पठितैव, नहि तेन तन्त्रान्तरोक्तसर्वविकाराः पठ्यन्ते, चरकोक्तपरस्परवातावरणलक्षणमेव न पठितं, हारीतेन तु तीव्ररुजायोगाद्गृध्रसीविश्वाच्यो खल्लीत्वं पठितं, भवति हि धर्मान्तरयोगात् कस्यचिद्विकारस्य रोगान्तरत्वं, तथा—अष्ठीलैव प्रत्यष्ठीला, अश्मयेव शर्करा, पाण्डुरोग एव कामलेत्यादि ॥ ५७ ॥—

*वातशोणितजः शोथो जानुमध्ये महारुजः ॥ ५८ ॥
ज्ञेयः क्रोष्टुकशीर्षस्तु स्थूलः क्रोष्टुकशीर्षवत् ।

क्रोष्टुकशीर्षमाह—वातेत्यादि । वातशोणितज इति वातरक्ताख्यविकारज, चिकित्साभेदार्थं पृथक् पठित इति गयदासः । वातशोणिताभ्यां जात इति जेज्जटः । दृश्यते ह्ययं वातरक्तव्यतिरेकेणापि, जानुदेशनियतत्वेन विशिष्टलक्षणत्वेन चेतरवातरक्ताद्भेद इति । क्रोष्टुकशीर्षवत् शृगालमस्तकवत् स्थूलः ॥ ५८ ॥—

†वायुः कट्याश्रितः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेद्यदा ॥ ५९ ॥
खञ्जस्तदा भवेज्जन्तुः पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधात् ।

खञ्जमाह—वायुरित्यादि । सक्थ्नः ऊर्ध्वजङ्घायाः, कण्डरा महास्नायुः, आक्षिपेत् ईषत् क्षिपेत्, किञ्चिद्धरतिमत्त्वादिति गयदासः । सक्थ्नोरिति द्विवचनेनैव द्वित्वे लब्धे द्वयोरिति पदेन नियमयति,—सक्थिद्वयस्यैव वधात् पङ्गुः, एकसक्थिवधात् खञ्ज इति, वधश्चात्र गमनादिक्रियानाशः ॥ ५९ ॥

‡प्रक्रामन् वेपते यस्तु खञ्जन्निव च गच्छति ॥ ६० ॥
कलायखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिप्रबन्धनम् ।

खञ्जविशेषमाह—प्रक्रामन्नित्यादि । प्रक्रामन्निति गमनमारभमाणो वेपते । प्रशब्दोऽत्रादिकर्मणि । खञ्जन्निव गच्छति विकलयन्निव गच्छति, गमनारम्भे न वेपते तेन खञ्जादस्य भेदः । मुक्तसन्धिप्रबन्धनमिति शिथिलीकृतसन्धिबन्धनम् । कलायखञ्ज इति शास्त्रे रूढा संज्ञा, अयमेवान्यत्र कलायभक्षणात् इत्युक्तः ॥ ६० ॥

रुक् पादे विषमन्यस्ते श्रमाद्वा जायते यदा ॥ ६१ ॥
वातेन गुल्फमाश्रित्य तमाहुर्वातकण्टकम् ।

वातकण्टकमाह—रुगित्यादि । यदा विषमपादन्यासकुपितः श्रमकुपितो वा वायुर्गुल्फे वेदनां जनयति, तं वातकण्टकमित्याहुः, अयमेवान्यत्र खुडुकवात इत्युक्तः ॥ ६१ ॥

§पादयोः कुरुते दाहं पित्तासृक्सहितोऽनिलः ॥ ६२ ॥
विशेषतश्चङ्क्रमतः पाददाहं तमादिशेत् ।

---

* 'वातशोणिताभ्यां जातो वातशोणितजः न पुनर्वातरक्ताख्यव्याधिना जनितः । जानुरूरुजङ्घयोः सन्धिः, स्थौल्येन आकृत्या च क्रोष्टुशिरोवत्' (आ० द०) ॥ ५८ ॥

† 'खञ्जपङ्गुत्वमाह—वायुरित्यादि । यदा कट्यां स्थितो वायुः सक्थ्नः कण्डरामाक्षिपेत्तदा जन्तुः खञ्जो भवति । पङ्गुः सक्थ्नोर्द्वयोर्वधादिति सर्वथा गतिविघातात् पङ्गुरित्यर्थः' (आ० द०) ॥ ५९ ॥

‡ 'कलायखञ्जमाह—प्रक्रामन्नित्यादि । प्रक्रामन् पादनिक्षेपं कुर्वन्, वेपते कम्पते' (आ० द०) ॥ ६० ॥

§ 'विशेषतश्चङ्क्रमतः विशेषेण चलतः' (आ० द०) ॥ ६२ ॥

पाददाहमाह—पादयोरित्यादि । विशेषतश्चङ्क्रमत इत्यनेन स्थितस्य मन्दो दाह इति दर्शयति । वैवर्ण्यादिरसवाद्वातरक्तादस्य भेदः ॥ ६२ ॥

हृष्येते चरणौ यस्य भवेतां चापि सुप्तकौ ॥ ६३ ॥
पादहर्षं स विज्ञेयः कफवातप्रकोपतः ।

पादहर्षमाह—हृष्येते इत्यादि । हृष्येते हर्षयुक्तौ भवत , हर्षश्च रोमाञ्चप्रायोऽन्त-र्गतो झिंझिनिविद्धवेदनाविशेष इत्याहु , झिंझिनि तु न चिरानुबन्धिनी केवल-वातजेति भेदः ॥ ६३ ॥

*अंसदेशस्थितो वायुः शोषयेदंसबन्धनम् ॥ ६४ ॥

अंसेत्यादि । अंसेत्यादिना श्लोकार्धेनांसशोष केवलवातज उच्यते । अंसबन्ध-कारक श्लेष्मा अंसबन्धन', एतदनन्तरं 'अंसशोषं जनयेत्' इति शेष इति वार्तिक' ॥ ६४ ॥

†सिराश्चाकुञ्च्य तत्रस्थो जनयेदवबाहुकम् ।

अवबाहुकमाह—सिराश्चेत्यादिना । तत्रस्थोंऽसदेशस्थ , सिरा आकुञ्च्यावबाहुक जनयेत् । अयं वातकफज । अन्ये तु मिलितावंसावबाहुकलक्षणमाहु', तन्न, यत सुश्रुतेनोक्तम् ,—"अंसशोषावबाहुकयोर्बाहुमध्ये सिराव्यध" (सु शा स्था अ ८) —इति । एतदनन्तरं सुश्रुतेन बाधिर्यं पठित,–' यदा शब्दवह वायु "(सु नि स्था. अ १)—इत्यादिना, माधवेन तु प्रकरणानुरोध मन्यमानेन कर्णरोग एव तत् पठित, किंतु सुश्रुतेन वातव्याधौ बाधिर्यं पठित्वाऽपि बाधिर्यंकर्णशूलौ शालाक्येऽपि पठितौ, पुनरुक्तमिति चेत्, न, सम्प्राप्तिभेदमित्यत्वात् , वातव्याधौ शब्दवहमित्यनेन कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभोदेश उक्त , शालाक्ये च शब्दवहा सिरा इत्युक्तम् । माध-वेन तु कर्णरोगे शब्दाश्रवणत्वाविशेषादेतदेव तत्र पठितमित्यविरोध ॥—

‡आवृत्य वायु सकफो धमनी' शब्दवाहिनी' ॥ ६५ ॥
नरान्करोत्यक्रियकान्मूकमिन्मिनगद्गदान् ।

मूकादीनाह—आवृत्येत्यादि । अक्रियकान् अवचनक्रियकान् , नञ्मलमभावे इषदर्थे च । आद्यो मूकोऽवचन , द्वितीयो मिन्मिन सानुनासिकसवदवचन , तृतीयो गद्गदो लुप्तपदव्यक्त्यभिधायी । एषा च समानकारणाभिधानेऽपि दुष्टदूष्यादिभिरदृ-ष्टवशाद्वा भेद इत्युन्नेयम् ॥ ६५ ॥—

§अधो या वेदना याति वर्चोमूत्राशयोत्थिता ॥ ६६ ॥
भिन्दतीव गुदोपस्थं सा तूनी नाम नामतः ।

---

* 'अथश्लोकेनांसशोषलक्षणमाह–अंसेत्यादि । अंसशब्देनांससमीपोपलक्षितदेशोऽ सदेश । असौ बाहुशिर, तत्र स्थितो व्यवस्थित । अंसबन्धनमिति अंसबन्धनकारक श्लेष्मा अंसबन्धन , तत्रांसबन्धन श्लेष्माण शोषयित्वा' ( आ० द० ) ॥ ६४ ॥

† अयं च कफवातज । 'अत्रांसशोषमवबाहुकमिति रोगद्वयमुक्तवान्' (आ० द०) ॥—

‡ 'मूकादीन् जिह्वागतान् वातरोगान्सीनाह–आवृत्येत्यादि । वायु सकफ कुपित सन्, शब्दवाहिनीधमनीरावृत्यावरुध्य, नरानक्रियकान् करोति' ( आ० द० ) ॥ ६५ ॥

§ 'या वेदना शूलमथ इति गुदोपस्थ याति, नामत सा तूनी नाम, भिन्दतीव गुदोपस्थमिति भेद कुर्वतीव गुदोपस्थमित्यर्थ ' ( आ० द० ) ॥ ६६ ॥

तूनीमाह—अध इत्यादि । अध इति गुदोपस्थम् । वेदना शूलम् । वर्चोमूत्राशयोत्थिता पक्वाशयमूत्राशयोत्थिता, पक्वाशयमूत्रपुटयोर्व्यस्तसमस्तयोर्जाता । उपस्थं स्त्रीपुंसयोर्गुह्यम् । नामतः प्रसिद्धितः ॥ ६६ ॥—

*गुदोपस्थोत्थिता या तु प्रतिलोमं प्रधाविता ॥ ६७ ॥
वेगैः पक्वाशयं याति प्रतितूनीति सोच्यते ।

प्रतितूनीमाह—गुदेत्यादि । प्रतिलोममित्यूर्ध्वम् । वेगैर्वातकृतोद्गमैः । सैलनेन भिन्दतीवेत्यतिदिश्यते ॥ ६७ ॥

†साटोपमत्युग्ररुजमाध्मातमुदरं भृशम् ॥ ६८ ॥
आध्मानमिति तं विद्याद्घोरं वातनिरोधजम् ।
विमुक्तपार्श्वहृदयं तदेवामाशयोत्थितम् ॥ ६९ ॥
प्रत्याध्मानं विजानीयात्कफव्याकुलितानिलम् ।

आध्मानमाह—साटोपमित्यादि । साटोपमिति आटोपश्चलचलनमिति गयदासः, गुडगुडाशब्द इति कार्तिकः । आध्मातं वातपूर्णचर्मपुटकस्थानीयम् । उदरमिति पक्वाशयः, प्रत्याध्मानस्यामाशयसंभवत्वात् । घोरमिति कष्टप्रदम् । आमाशयसमुत्थत्वेन प्रत्यासन्नयोः पार्श्वहृदययोरपि वेदनाशङ्कानिरासार्थमाह—विमुक्तेत्यादि । तदेवेत्यनेन साटोपादित्वमतिदिशति । कफव्याकुलितानिलं कफावृतवातम् ॥ ६८ ॥ ६९ ॥—

‡नाभेरधस्तात्संजातः संचारी यदि वाऽचलः ॥ ७० ॥
अष्ठीलावद्घनो ग्रन्थिरूर्ध्वमायत उन्नतः ।
वाताष्ठीलां विजानीयाद्बहिर्मार्गावरोधिनीम् ॥ ७१ ॥
एतामेव रुजोपेतां वातविण्मूत्ररोधिनीम् ।
प्रत्यष्ठीलामिति वदेज्जठरे तिर्यगुत्थिताम् ॥ ७२ ॥

अष्ठीलामाह—नाभेरित्यादि । अष्ठीला उत्तरापथे वर्तुलः पाषाणविशेष इति जेज्जटमतानुसारी कार्तिकः, कर्मकाराणां वर्तुला दीर्घा लोहभाण्डीति गयदासः । ऊर्ध्वमायत उपरिदीर्घः । उन्नतस्तिर्यगुन्नतः । वातकृता अष्ठीला वाताष्ठीलेति सरूपपदे, व्यापारस्याभावात् । बहिर्मार्गावरोधिनी वातमूत्रपुरीषावरोधिनीम् । एतामित्यादि सैव जठरे तिर्यगुत्थिता तिर्यगायता प्रत्यष्ठीलेति भेदः । वातविण्मूत्ररोधिनीमिति विशेषपरम् ॥ ७० ॥–७२ ॥

* 'गुदोपस्थोत्थिता सैव वेदना प्रतिलोमं प्रधाविता सती वेगैर्वातकृतोद्गमैर्दुर्धर्षैः समावोपक्रमोपरश्चितैः पक्वाशयं याति, सा प्रतितूनीत्युच्यते' ( आ० द० ) ॥ ६७ ॥

† 'आटोपादिस्थगत्युग्रमुदरमाध्मातं जानीयात्; साटोपमिति आटोपश्चलनं तेन सह वर्तत इति साटोपमिति गयदासः । प्रत्याध्मानमाह—विमुक्तेत्यादि । विमुक्तं पार्श्वहृदयं येन तत्तथा' ( आ० द० ) ॥ ६८ ॥ ६९ ॥

‡ 'अष्ठीलावत् अष्ठिलासदृशं ग्रन्थिं वाताष्ठीलां विजानीयात् । घनं दृढमायतम्, ( आ० द० ) ॥ ७०–७२ ॥

*मारुतेऽनुगुणे बस्तौ मूत्रं सम्यक् प्रवर्तते ।
विकारा विविधाश्चात्र प्रतिलोमे भवन्ति च ॥ ७३ ॥

अष्ठीलाव्यतिरिक्तामपि वातविकृतिं मूत्ररोधिनीमाह—मारुत इत्यादि । अनुगुणेऽनुलोमे, प्रतिलोमे मारुत इति संबन्धः । विकारा अश्मरीमूत्रकृच्छ्रादयः ॥ ७३ ॥

†सर्वाङ्गकम्पः शिरसो वायुर्वेपथुसंज्ञकः ।

वेपथुवातविकारमाह—सर्वेत्यादि । शिरसः कम्प इति संबन्धः, शिर इत्यवयवोपलक्षणं, तेन हस्तादेरपि कम्पो वेपथुरित्यर्थः ॥—

‡खल्ली तु पादजङ्घोरुकरमूलावमोटनी ॥ ७४ ॥
( §अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन वा । ·
करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्ववातः स उच्यते ॥ ७५ ॥ )

खल्लीत्यादि । खल्ली शिरावमोटन इति लोके । "अधः प्रतिहतो वायुः श्लेष्मणा मारुतेन च । करोत्युद्गारबाहुल्यमूर्ध्ववातं प्रचक्षते" इत्यनाधिकं केचित् पठन्ति ॥ ७४ ॥ ७५ ॥

$स्थाननामानुरूपैश्च लिङ्गैः शेषान्विनिर्दिशेत् ।
सर्वेष्वेतेषु संसर्गं पित्ताद्यैरुपलक्षयेत् ॥ ७६ ॥
हनुस्तम्भार्दिताक्षेपपक्षाघातापतानकाः ।
· कालेन महता वाता यत्नात्सिध्यन्ति वा न वा ॥ ७७ ॥
नरान् बलवतस्त्वेतान् साधयेन्निरुपद्रवान् ।

अनुक्तवातरोगसंग्रहार्थमाह—स्थानेत्यादि । स्थानानुरूपैर्लिङ्गैर्यथा—कुक्षिशूलं, नगभेद इत्यादि । नामानुरूपैर्लिङ्गैर्यथा—दण्डमियुक्ते कीलनिपातवद्वेदनाविशेष एवोच्यते, तथा भेदतोदादिभिरपि पीडाविशेष एव गम्यते । वाता इति वातविकाराः, कार्यकारणयोरभेदोपचारात्, वातादिति पाठे तु वाताचे हनुस्तम्भादय इति योज्यम् ॥ ७६ ॥ ७७ ॥—

¶विसर्पदाहरुक्सङ्गमूर्च्छारुच्यग्निमार्दवैः ॥ ७८ ॥
क्षीणमांसबलं वाता घ्नन्ति पक्षवधादयः ।
शूनं सुप्तत्वचं भग्नं कम्पाध्माननिपीडितम् ।
रुजार्तिमन्तं च नरं वातव्याधिर्विनाशयेत् ॥ ७९ ॥

---

* 'अनुगुणेऽनुलोमे मारुत इत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ ७३ ॥

† 'सर्वाङ्गकम्पवातमाह—सर्वाङ्गेत्यादि । सर्वाङ्गस्य शिरसश्च कम्प इति संबन्धः' ( आ० द० ) ॥—

‡ 'खल्लीमाह—खल्लीत्यादि । मोटनीति परिवर्तनशीला' ( आ० द० ) ॥ ७४ ॥

§ 'ऊर्ध्ववातमाह—अध इति' ( आ० द० ) ॥ ७५ ॥

$ 'पित्ताद्यैरिति पित्तश्लेष्मरक्तैः संसर्गं द्विदोषं सन्निपातं च लक्षयेत् । एषां रोगाणां कृच्छ्रसाध्यत्वमाह—हन्वित्यादि । यत्नेनैव सिध्यन्त्युक्त इत्यर्थः । यद् वा तिसृणां ? वैलक्षण्यो भवति । तथा निरुपद्रवान् बलवद्देहिनान्' ( आ० द० ) ॥ ७६ ॥ ७७ ॥—

¶ 'सङ्गो मूत्रपुरीषवातरोधः । क्षीणं मांसबलं यस्य स तथा । भग्नं भग्नास्थि । रुजार्तिमन्तमतीव पीडयमानम्' ( आ० द० ) ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

---

१ पाठ 'नरांस्तु बलवतेतान्' इति पाठान्तरेण ।

वातोपद्रवानाह—विसर्पेत्यादि । वाता इति वातविकाराः, कार्यकारणयोरभेदोपचारात् । वातादिति पाठे तु वातात् पक्षवधादय इति योज्यम् । शूनमित्यादि शूनं सशोथम् । सुप्तत्वचं स्पर्शानभिज्ञत्वगिन्द्रियम् ॥ ७८ ॥ ७९ ॥

अव्याहतगतिर्यस्य स्थानस्थः प्रकृतिस्थितः ।
वायुः स्यात्सोऽधिकं जीवेद्वीतरोगः समाः शतम् ॥ ८० ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने वातव्याधिनिदानं समाप्तम् ॥२२॥

इदानीं पञ्चविधस्यापि प्रकृतिस्थस्य वायोर्लिङ्गं कार्यं चाह—अव्याहतेत्यादि । यस्येति पुरुषस्य, अव्याहतगतिरनवरुद्धमार्गः, स्थानस्थः स्वाश्रयव्यवस्थितः, प्रकृतिस्थितोऽक्षीणधाप्रवृद्धः, एतद्विशेषणत्रयं हेतुहेतुमद्भावेन योज्यम् । वीतरोगो नीरोगः कफपित्तदुष्टेरपि प्रेरकत्वात्तेनान्तरीयकत्वात् । अधिकं समाः शतमिति पञ्च दिनाधिकं सविंशं वर्षशतम् । यदाह वराह आयुर्निरूपणे,—"समाः षष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणां पञ्च च निशा."—इत्यादि ॥ ८० ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वातव्याधिनिदानं समाप्तम् ॥२२॥

---

## अथ वातरक्तनिदानम् ।

*लवणाम्लकटुक्षारस्निग्धोष्णाजीर्णभोजनैः ।
क्लिन्नशुष्काम्बुजानूपमांसपिण्याकमूलकैः ॥ १ ॥
कुलत्थमाषनिष्पावशाकादिपललेक्षुभिः ।
दध्यारनालसौवीरशुक्ततक्रसुरासवैः ॥ २ ॥
विरुद्धाध्यशनक्रोधदिवास्वप्नप्रजागरैः ।
प्रायशः सुकुमाराणां मिथ्याहारविहारिणाम् ।
स्थूलानां सुखिनां चापि कुप्यते वातशोणितम् ॥ ३ ॥

वातव्याधिविशेषत्वात्तदनन्तरं वातरक्तमाह । ननु, सुश्रुते वातरोगाध्याय एव वातरक्तं पठितं तत् कुतोऽत्र संग्रहे पृथक् पाठः ? उच्यते, सत्यपि वातरोगत्वे निदानवैशिष्ट्याद्विशिष्टदोषदूष्यख्यापनार्थं हस्तादिदेश एव संप्राप्तिकथनार्थं क्रियाविशेषख्यापनार्थं च पृथक्करणम् । अत एव चरकेऽपि वातव्याध्यनन्तरं पृथग्वातरक्ताधिकारः । ननु, रजस्तीव्रा सर्वतापा इत्यादिना रक्तगतस्य वातस्य लक्षणं वातव्याधावेवोक्तं, ततश्च वातरक्ताभिधानं पुनरुक्तं स्यात्; नैवं, वातरक्तं हि दुष्टेन वातेन दुष्टेन

* 'तस्य निदानमाह—लवणेत्यादि । लवणादिभिर्भोजनैः, तथा क्लिन्नशुष्काम्बुजादिभिः, तथा कुलत्थादिभिः, तथा दध्यादिभिः, तथा विरुद्धादिभिः, तथा प्रायशः सुकुमाराणां पुंसां, तथा मिथ्याहारविहारिणां स्थूलानां सुखिनां च वातरक्तं प्रकुप्यति । क्लिन्नं पर्युषितं, अम्बुजा मत्स्यादयः, आरनालादयः काञ्जिकभेदाः, सुरा विष्टिका, आसवो मद्य, पललं क्षीरमत्स्यादि, अध्यशनं भुक्तोपरिभोजनं, स्थूला मेदस्विनः, सुखिनश्च सम्पद्व्यापादिवर्जिताः' ( मा० द० ) ॥ १-२ ॥

रक्तेन च विशिष्टसंप्राप्तिकं विकारान्तरमेव । उक्तं हि चरके,—"वायुः प्रवृद्धो वृद्धेन रक्तेनावारितः पथि । क्रुद्धः संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वातशोणितम्" ( च. चि. स्था. अ.२९)—इति । रक्तगतवाते तु वात एव दुष्टो रक्तमदुष्टमेव गच्छतीति भेदः । लवणाम्लेत्यादि, क्लिन्नशुष्कशब्दौ मांसेन संबध्येते । पिण्याकस्तिलकल्कः । निष्पावः शिम्बि., पललं मांसम् । प्रायश इत्यादि, सुकुमारा मृदुदेहावयवाः, तेषामल्पचेष्टत्वाल्लवणादिभी रक्तं कटुतिक्तप्रजागरादिभिश्च वातः कुप्यतीतीशानः ॥ १-३ ॥

*हस्त्यश्वोष्ट्रैर्गच्छतश्चाश्नतश्च विदाह्यन्नं स विदाहोऽशनस्य ।
कृत्स्नं रक्तं विदहत्याशु तच्च स्रस्तं दुष्टं पादयोश्चीयते तु ।
तत्संपृक्तं वायुना दूषितेन तत्प्राबल्यादुच्यते वातरक्तम् ॥ ४ ॥

संप्राप्तिमाह—हस्त्यश्वेत्यादि । हस्त्यादिगमनं वातवृद्धौ विशेषेण रक्तस्य द्रवस्याधोगमनेऽपि हेतुः, विदाह्यन्नं च शोणितवृद्धौ । हस्त्यादिगमनं विशेषेण, पादेनापि गमनं हेतुरेव । तद्रक्तम् । संपृक्तं वायुना दूषितेन स्वहेतुदुष्टेन । तत्प्राबल्यादिति द्वयोर्दुष्टत्वेऽपि वातस्य प्राबल्याद्दोषत्वेन प्राधान्याद्वातरक्तव्यपदेशः, न तु रक्तवात इति ॥ ४ ॥

†स्वेदोऽत्यर्थं न वा कार्ष्ण्यं स्पर्शाज्ञत्वं क्षतेऽतिरुक् ।
सन्धिशैथिल्यमालस्यं सदनं पिडकोद्गमः ॥ ५ ॥
जानुजङ्घोरुकट्यंसहस्तपादाङ्गसन्धिषु ।
निस्तोदः स्फुरणं भेदो गुरुत्वं सुप्तिरेव च ॥ ६ ॥
कण्डूः सन्धिषु रुग्भूत्वा भूत्वा नश्यति चासकृत् ।
वैवर्ण्यं मण्डलोत्पत्तिर्वातासृक्पूर्वलक्षणम् ॥ ७ ॥

पूर्वरूपमाह—स्वेदेत्यादि । स्वेदोऽत्यर्थं नवेति धर्मागमनमत्यर्थं भवति सर्वथा वा न भवति, एतच्च व्याधिमहिम्ना कुष्ठवत् । क्षतेऽतिरुगिति यदि कारणान्तरात् क्षतं स्यात्तदाऽतिशयं रुजा स्यात्, तद्देशस्य दुष्टत्वात् ॥ ५-७ ॥

‡वातेऽधिकेऽधिकं तत्र शूलस्फुरणभञ्जनम् ।
शोथस्य रौक्ष्यं कृष्णत्वं श्यावताबृद्धिहानयः ॥ ८ ॥
धमन्यङ्गुलिसन्धीनां संकोचोऽङ्गग्रहोऽतिरुक् ।
शीतद्वेषानुपशयौ स्तम्भवेपथुसुप्तयः ॥ ९ ॥

---

* 'विदाहि विरूढकादिकम् । अश्नतो भुञ्जानस्य, शस्त्रभारादिगुरुतरकर्माणि निदहति, हस्त्यादिगमनं तथा विषमपादेनापि गमनं हेतुः । तदसिद्धमिति दुष्टं सिद्धमित्यर्थः । दूषितेनासृजाऽऽपृक्तमिति दूषितेन रक्तेन मिश्रं, तथा दुष्टः श्लेष्मा दूषितेन रक्तेनाऽऽसौ मिश्रः' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

† 'कार्ष्ण्यं मलिनत्वम् । सदनमवसादः । पिडिकाप्रादुर्भावो जान्वादिषु, निस्तोदः पीडाविशेषः, सुप्तिरस्पर्शः, वैवर्ण्यं निष्प्रभता, पूर्वरूपं वातरक्तस्य' (आ० द०) ॥५-७॥

‡ 'तत्र जान्वादिस्थानेषु शूलादिकं वेद्यं, तथा शोथस्य रौक्ष्यादिकं वृद्धिहानयश्च विशेषाः, धमन्यादीनां संकोचः । शीतद्वेषः, अनुपशयः शीतेन रोगवृद्धिः । स्तम्भित-

रक्ते शोथोऽतिरुक्तोदस्ताम्रश्चिमिचिमायते ।
स्निग्धरूक्षैः शमं नैति कण्डूक्लेदसमन्वितः ॥ १० ॥
पित्ते विदाहः संमोहः स्वेदो मूर्च्छा मदस्तृषा ।
स्पर्शासहत्वं रुग्रागः शोथः पाको भृशोष्मता ॥ ११ ॥
कफे स्तैमित्यगुरुतासुप्तिस्निग्धत्वशीतताः ।
कण्डूर्मन्दा च रुग्द्वन्द्वं सर्वलिङ्गं च संकरात् ॥ १२ ॥

वातरक्तस्य दोषान्तरसंसर्गेण लक्षणमाह—वातेऽधिक इत्यादि । वृद्धिहानय इति वातरक्तलक्षणानाम् । रक्त इत्यादि । रक्त इत्यत्र 'अधिक' इत्यनुवर्तनीयं, एवं वक्ष्यमाणपित्तादिषु । एतच्चारम्भकत्वादन्यदूष्यान्तरं बोध्यं, रक्तमपि रक्तान्तरदूषकं भवति । यदुक्तं दुष्टरक्तलक्षणे,—"पित्तवद्‌रूपेणातिकृष्णं च (सु. सू. स्था. अ. १४)—"इति । शमं नैति शान्तिं न याति । कफ इत्यादि । द्वन्द्वसर्वलिङ्गं च संकरादिति संकरात् द्विदोषत्रिदोषमेलकात् द्वन्द्वलिङ्गं सर्वलिङ्गं च क्रमाद्वातरक्तं भवति ॥ ८-१२ ॥

*पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि ।
आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमुपसर्पति ॥ १३ ॥

पादयोर्जातमप्रतिक्रियमाणं देहान्तरं व्याप्नोति, पादवद्धस्तयोरपि भवतीति दर्शयन्नाह—पादयोरित्यादि । आखोर्विषमित्यनेन मन्दविसर्पितां दर्शितवान्; एतद्वातरक्तं चरकेण द्विविधमुक्तम् । यदाह—"उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधं वातशोणितम् । त्वङ्मांसाश्रयमुत्तानं गम्भीरं त्वन्तराश्रयम्" (च. चि. स्था. अ. २९)—इति । सुश्रुतेन तु उत्तरोत्तरतो उत्तानस्योत्तरकाले गम्भीरत्वमुक्तमिति मतभेद एव ॥ १३ ॥

†आजानु स्फुटितं यच्च प्रभिन्नं प्रस्रुतं च यत् ।
उपद्रवैश्च यज्जुष्टं प्राणमांसक्षयादिभिः ॥ १४ ॥
वातरक्तमसाध्यं स्याद्याप्यं संवत्सरोत्थितम् ।
अस्वप्नारोचकश्वासमांसकोथशिरोग्रहाः ॥ १५ ॥
संमूर्च्छामदरुक्तृष्णाज्वरमोहप्रवेपकाः ।
हिक्कापाङ्गुल्यवीसर्पपाकतोदभ्रमक्लमाः ॥ १६ ॥
अङ्गुलीवक्रतास्फोटदाहमर्मग्रहार्बुदाः ।
एतैरुपद्रवैर्वर्ज्यं मोहेनैकेन वाऽपि यत् ॥ १७ ॥

लक्षणमाह—रक्त इत्यादि । कण्डूक्लेदौ शमं न यातः, क्लेदो द्रवत्वम् । पित्तविकारमाह—पित्त इत्यादि । भृशोष्मता संतापाधिक्यम् । कफविकारमाह—कफ इत्यादि । कफाधिके स्तैमित्यमार्द्रता, मन्दा अल्पवेदना, रुक् पीडा । द्वन्द्वसर्वलिङ्गमाह—द्वन्द्वमित्यादि' (आ० द०) ॥ ८-१२ ॥

* 'कदाचिदिति कस्मिंश्चित्काले । हस्तयोरपीति मूलमास्थाय' (आ० द०) ॥ १३ ॥

† 'प्रस्रुतं स्रावयुक्तम् । उपद्रवैरिति प्राणमांसक्षयादिभिः', उपद्रवानाह—अस्वप्नेत्यादि । मांसकोथो मांसपचनम् । मूर्च्छनं मूर्च्छा । [illegible]

१ अत्र 'मूर्च्छास्वेदमदस्तृष्णा' इति पाठान्तरेण ।

अकृत्स्नोपद्रवं याप्यं साध्यं स्यान्निरुपद्रवम् ।
एकदोषानुगं साध्यं नवं याप्यं द्विदोषजम् ।
त्रिदोषजमसाध्यं स्याद्यस्य च स्युरुपद्रवाः ॥ १८ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने वातरक्तनिदानं समाप्तम् ॥ २३ ॥

साध्यासाध्यत्वमाह—अकृत्स्नेत्यादि । अकृत्स्ना असम्पूर्णा उपद्रवा यस्य तद्याप्यम् । तथा स्फुटितादिकं स्फुटितं दीर्णत्वक्, प्रभिन्नं विदीर्णत्वक्, उत्पन्नोर्ध्वशोथादि अति-शब्देन महदल्पानामवस्थानां ग्रहणम् । याप्यं संवत्सरोत्थितत्वेन दीर्घकाला-दर्वाक् याप्यं, यदि स्फुटितत्वगादयो न भवेयुरित्याहुः । अस्तैरिति । प्रभूतं प्रसृतम् । मोहेनैवमेतौ वचनात् पूर्वोक्ते सम्बन्धेऽनिरूपिते इत्यर्थः ॥ १४-१८ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वातरक्तनिदानं समाप्तम् ॥ २३ ॥

---

## अथोरुस्तम्भनिदानम् ।

*शीतोष्णद्रवसंशुष्कगुरुस्निग्धैर्निषेवितैः ।
जीर्णाजीर्णे तथाऽऽयाससंक्षोभस्वप्नजागरैः ॥ १ ॥
सश्लेष्ममेदःपवनः साममत्यर्थसंचितम् ।
अभिभूयेतरं दोषमूरू चेत्प्रतिपद्यते ॥ २ ॥
सक्थ्यस्थीनि प्रपूर्यान्तः श्लेष्मणा स्तिमितेन च ।
तदा स्तभ्नाति तेनोरू स्तब्धौ शीतावचेतनौ ॥ ३ ॥
परकीयाविव गुरू स्यातामतिभृशव्यथौ ।
ध्यानाङ्गमर्दस्तैमित्यतन्द्राच्छर्द्यरुचिज्वरैः ॥ ४ ॥
संयुतौ पादसदनकृच्छ्रोद्धरणसुप्तिभिः ।
तमूरुस्तम्भमित्याहुराढ्यवातमथापरे ॥ ५ ॥

सश्लेष्ममेद पवन इति सश्लेष्ममेदश्चासौ पवनश्चेति सश्लेष्ममेद पवन इति विग्रह । इतर दोष पित्तम् । अस्यां सम्प्राप्तौ वातस्य प्राधान्यमुक्त, अत एव सुश्रुतेन महावात-व्याधावयं रोग पठित । चरके तु कफस्य प्राधान्यमुक्तम् । यदाह,—"ऊरू श्लेष्मा समेदस्को वातपित्तेऽभिभूय तु" ( च नि स्था० अ २७ )—इत्यादि । तत्र चरके आवरकस्य श्लेष्मण प्राकृचिकित्स्यत्वेन प्राधान्य, आरम्भकत्वेन च सुश्रुते पवनस्येति न विरोध । परकीयाविचेत्यनेनात्क्षेपणगमनादिष्वप्रभुत्वं दर्शयति । ध्यानादि-भिर्ज्वरान्तैरुपलक्षित 'पुरुष' इति शेष ॥ १–५ ॥

*प्राग्रूपं तस्य निद्राऽतिध्यानं स्तिमितता ज्वरः ।
रोमहर्षोऽरुचिश्छर्दिर्जङ्घोर्वोः सदनं तथा ॥ ६ ॥
वातशङ्किभिरज्ञानात्तस्य स्यात्स्नेहनात्पुनः ।
पादयोः सदनं सुप्तिः कृच्छ्रादुद्धरणं तथा ॥ ७ ॥
जङ्घोरुग्लानिरत्यर्थं शश्वच्चादाहवेदने ।
पादं च व्यथते न्यस्तं शीतस्पर्शं न वेत्ति च ॥ ८ ॥
संस्थाने पीडने गत्यां चालने चाप्यनीश्वरः ।
अन्यस्येव हि संभग्नावूरू पादौ च मन्यते ॥ ९ ॥
†यदा दाहार्तितोदार्तो वेपनः पुरुषो भवेत् ।
ऊरुस्तम्भस्तदा हन्यात्साधयेदन्यथा नवम् ॥ १० ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने ऊरुस्तम्भनिदान समाप्तम् ॥ २४ ॥

अनुपशयमाह—वातेत्यादि । वातशङ्किभिरिति सुप्तिभङ्गोचकम्पादिवातरोगसदृश-लिङ्गदर्शनात्तच्छङ्किभि । अज्ञानादनिश्चयात्, मोहादितीशान । तत्रोपशयानुपशयज्ञानार्थं स्नेहन, यदुक्त चरके,—"गूढलिङ्ग व्याधिमुपशयानुपशयाभ्या परीक्षेत" (च नि. स्था अ ४ )—इति, तत्र स्नेहनादनुपशयो भवतीत्याह—पादयोरित्यादि । उद्धर-णमूर्ध्वचालनम् । आदाहवेदने इति आङ् ईषदर्थे, अन्ये त्वीषदर्थं एव नगमाहु, उद्भूतदाहस्यासाध्यत्वेन वक्ष्यमाणत्वात् । 'आनाहवेप(द)ने' इति पाठान्तरमयुक्त, चरकटीकाकारै सर्वैरव्याख्यातत्वात् । व्याधिस्वभावादय चोरुस्तम्भ एक एव त्रिदो-षारब्ध, नतु वातादिभेदादनेकविध । उक्त हि चरके व्याधिसंख्याया,—'एक एवोरुस्तम्भ' ( च. सू स्था अ १९ )—इति । संभग्नाविति संभग्नाविव संभग्नौ ॥ ७–१० ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामूरुस्तम्भनिदान समाप्तम् ॥ २४ ॥

---

* 'अज्ञानाद् वातरोगोऽयमिति भ्रमात्, स्नेहनाद्भ्यञ्जनादे ' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥ १ ॥

† 'असाध्यत्वमाह—यदेत्यादि । अन्यथेति पूर्वोक्तपद्ये रहितं चोरुस्तम्भमात्रमेव' ( आ० द० ) ॥ १० ॥

*एकदोषानुगः साध्यो द्विदोषो याप्य उच्यते ।
सर्वदेहचरः शोथः स कृच्छ्रः सान्निपातिकः ॥ १२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने आमवातनिदानं समाप्तम् ॥ २५ ॥

तस्य साध्यत्वादिकमाह—एकेत्यादि ॥ १२ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामामवातनिदानं समाप्तम् ॥ २५ ॥

---

## अथ शूलपरिणामशूलान्नद्रवशूलनिदानम् ।

दोषैः पृथक् समस्तामद्वन्द्वैः शूलोऽष्टधा भवेत् ।
सर्वेष्वेतेषु शूलेषु प्रायेण पवनः प्रभुः ॥ १ ॥

आमवातेऽपि शूलं भवतीत्यतस्तदनन्तरं शूलनिदानम् । ज्वरादिवच्छूलस्यापि प्रागुत्पत्तिरस्ति । यदाह हारीतः,—"अनङ्गनाशाय हरस्त्रिशूलं मुमोच कोपान्मकरध्वजस्य । तमापतन्तं सहसा निरीक्ष्य भयार्दितो विष्णुतनुं प्रविष्टः ॥ स विष्णुहुङ्कारविमोहितात्मा पपात भूमौ प्रथितः स शूलः । स पञ्चभूतानुगतं शरीरं प्रदूषयत्यस्य हि पूर्वसृष्टिः'—इति । एतेन शूल( लि )संभवत्वादस्य शूलमिति संज्ञा, शूलनिखातवद्वेदनाजनकत्वाच्च । तदाह वृद्धसुश्रुतः,—"शङ्कुस्फोटनवत्तस्य यस्मात्तीव्रा हि वेदना । शूलासक्तस्य भवति तस्माच्छूलमिहोच्यते" ( सु. उ. तं अ. ४२ )—इति । कफपित्तादिशूलेष्वप्ययं भावी वायुरित्याह—सर्वेष्वित्यादि । प्रभुः कर्ता ॥ १ ॥

†व्यायामयानादतिमैथुनाच्च प्रजागराच्छीतजलातिपानात् ।
कलायमुद्गाढकिकोरदूषादत्यर्थरूक्षाध्यशनाभिघातात् ॥ २ ॥
कषायतिक्तातिविरूढजान्नविरुद्धवल्लूरकशुष्कशाकात् ।
विट्शुक्रमूत्रानिलवेगरोधाच्छोकोपवासादतिहास्यभाष्यात् ॥ ३ ॥
वायुः प्रवृद्धो जनयेद्धि शूलं हृत्पार्श्वपृष्ठत्रिकवस्तिदेशे ।
जीर्णे प्रदोषे च घनागमे च शीते च कोपं समुपैति गाढम् ॥ ४ ॥
मुहुर्मुहुश्चोपशमप्रकोपी विड्वातसंस्तम्भनतोदभेदैः ।
संस्वेदनाभ्यञ्जनमर्दनाद्यैः स्निग्धोष्णभोज्यैश्च शमं प्रयाति ॥ ५ ॥

---

* 'साध्यासाध्यत्वमाह—एकदोषानुग इत्यादि । सुगमम्' ( आ० द० ) ॥ १२ ॥

† 'व्यायामो मल्लयुद्धादि, यानं तुरगरथादि, मैथुनं स्त्रीसेवा, प्रजागरं रात्रौ, एतानु-योगात्; कलायस्त्रिपुटः, अत्यर्थं रूक्षान्नसेवा, अध्यशनं भुक्तस्योपरि भोजनं, अभिघातो लोष्टादिभिः, कषायतिक्तरससेवा, शुष्कशाकं प्रसिद्धम् । शोके बन्धुवियोगाद्, उपवासोऽभोजनं, अतिहास्योऽट्टहासः, अतिभाष्यं बहुभाषणं, एतैः कारणैर्वृद्धो वायुः शूलं कुर्यात् । स्थानसंश्रयमाह—हृत् हृदयं, पार्श्वं, पृष्ठं, त्रिक [त्रिक]कटिसंधिः स्थान-

---

१ 'वायोः प्राधान्य' ( आ० द० ) ।

वातिकमाह—व्यायामेत्यादि । शीतजलातिपानाच्छीतलजलस्य प्रभूतपानात् आढकी तुवरी, कोरदूष कोद्रव, विरूढजातमङ्कुरितधान्यकृतमन्न, विरुद्ध क्षीर-मत्स्यादिक, वल्लूरं शुष्कमांसम् । यद्यपि सर्वैरेव वातकोपनैर्वातशूलं स्यात्तथाऽपि व्यायामादिपाठेनैतद्दर्शयति,—व्यायामादयो यथा वातहेतवस्तथा शूलहेतवोऽपीति, दोषव्याधिहेतव इत्यर्थः । एव पित्तशूलादिषु द्रष्टव्यम् । जीर्णे इत्याहारे । घनागमे वर्षासु, मेघोदये च । मुहुर्मुहुरुपशमप्रकोपौ वायोश्चलत्वेन ॥ २–५ ॥

*क्षारातितीक्ष्णोष्णविदाहितैलनिष्पावपिण्याककुलत्थयूषैः ।
कट्वम्लसौवीरसुराविकारैः क्रोधानलायासरविप्रतापैः ॥ ६ ॥
ग्राम्यातियोगादशनैर्विदग्धैः पित्तं प्रकुप्याशु करोति शूलम् ।
तृण्मोहदाहार्तिकरं हि नाभ्यां संस्वेदमूर्च्छाभ्रमचोषयुक्तम् ॥ ७ ॥
मध्यन्दिने कुप्यति चार्धरात्रे विदाहकाले जलदात्यये च ।
शीते च शीतैः समुपैति शान्तिं सुस्वादुशीतैरपि भोजनैश्च ॥ ८ ॥

पैत्तिकमाह—क्षारेत्यादि । क्षारो यवक्षारादि मुष्ककादिकृतक्षारद्रव्यं च, तीक्ष्णोष्ण मरिचराजिकादि, विदाहि वंशकरीरादि, तैल तिलविकृति, निष्पाव शिम्बि, पिण्याको नि स्नेह सर्षपादिकल्क, कुलत्थयूषोऽत्र कुलत्थान्नपानोपलक्षण । सौवीरं सन्धानविशेष । रविप्रतापो रौद्र । ग्राम्यातियोगो मैथुनातिसेवा । विदाहीति पूर्वं पठितवाऽपि अशनैर्विदग्धैरित्यनेनाविदाहिवस्तुनोऽपि दोषवशेन विदाहित्व दर्शितम् । यदाह सुश्रुत,—"स्रोतस्स्रवहे पित्तमथो वा यस्य तिष्ठति । विदाहि भुक्तमन्यद्वा तस्याप्यन्न विदह्यते" ( सु सू स्था अ ४६ )—इति । विदाहकाल इत्याहारस्य । जलदात्यये शरदि ॥ ६–८ ॥

स्यात्, बस्तिर्मूत्राशय । प्रदोषे सन्ध्यासमये, शीते शीतकाले, पतेष्वधिक प्रकोप प्रयाति । मुहुर्मुहुर्वारंवार प्रकोपोपशमौ भवत । विड्वातसंस्तम्भनतोदभेदैरिति पुरीषादीना यदा स्तम्भस्तदा प्रकोप, यदा च तेषा प्रवृत्तिस्तदोपशम, भेदोऽभिघात इव, पतदुपलक्षणम् । यदा तोदभेदौ तदा प्रकोप । उपशममाह—संस्वेदनादिभि शम शान्ति प्रयाति स्निग्धोष्णभोजनैश्च' ( आ॰ द॰ ) ॥ ५ ॥

* 'कटु कटुरस, अम्लश्च, सौवीर काञ्जिक, सुराविकार शालिषष्टिकपिष्टै कृत मद्य सुरा तस्या विकार, पुनर्नवाशालिपिष्टै कृता श्वेतसुरा, बिभीतकत्वक्शालितण्डुलपिष्टैस्तु वैभीतिकी सुरेत्यादि । क्रोध कोप, अनलो वह्निसेवा, आयास अशक्यारि कर्म, रविप्रतापोऽतिघर्म । एभि कारणैर्दुष्ट पित्त शूल जनयेत् । तृट् तृषा, मोहो नष्टचित्तता, दाह प्रसिद्ध । नाभ्यां पित्तशूलस्य स्थानत्वात् । स्वेदादय प्रसिद्धा, चोष्यत इव वेदनाविशेष, एतैर्युक्तम् । मध्यन्दिनेऽर्धरात्रे च कोपं याति । विदाहकाल आहारस्य पाकावस्थिक, 'निदाघकाले' इति पाठान्तरम् । शीते शीतवीर्यैः. सुस्वादुशीतैर्मधुरशीतभोजनैश्च शान्ति गच्छति' ( आ॰ द॰ ) ॥ ६–८ ॥

*आनूपवारिजकिलाटपयोविकारै-
मांसेक्षुपिष्टकृशरातिलशष्कुलीभिः ।
अन्यैर्बलासजनकैरपि हेतुभिश्च
श्लेष्मा प्रकोपमुपगम्य करोति शूलम् ॥ ९ ॥
हृल्लासकासस‍दनारुचिसंप्रसेकै-
रामाशये स्तिमितकोष्ठशिरोगुरुत्वैः ।
भुक्ते सदैव हि रुजं कुरुतेऽतिमात्रं
सूर्योदयेऽथ शिशिरे कुसुमागमे च ॥ १० ॥

श्लैष्मिकमाह—आनूपेत्यादि । आनूपवारिजं मांसादिकं, किलाटं तक्रकूर्चिका, कृशरा तिलतण्डुलमाषयवागूः । सूर्योदये प्रातः । कुसुमागमे वसन्ते ॥९-१०॥

†सर्वेषु दोषेषु च सर्वलिङ्गं विद्याद्भिषक् सर्वभवं हि शूलम् ।
सुकष्टमेनं विषवज्रकल्पं विवर्जनीयं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ॥ ११ ॥
‡आटोपहृल्लासवमीगुरुत्वस्तैमित्यकानाहकफप्रसेकैः ।
कफस्य लिङ्गेन समानलिङ्गमामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति ॥ १२ ॥

आमशूलमाह—आटोपेत्यादि । कफस्य लिङ्गेन कफशूलोक्तलिङ्गेन ॥ ११ ॥ १२ ॥

§बस्तौ हृत्पार्श्वपृष्ठेषु स शूलः कफवातिकः ।
कुक्षौ हृन्नाभिमध्येषु स शूलः कफपैत्तिकः ॥ १३ ॥
दाहज्वरकरो घोरो विज्ञेयो वातपैत्तिकः ।

वातपैत्तिकश्चरकोक्तवातपैत्तिकशूलस्थाने द्रष्टव्यः । एवं सान्निपातिकोऽपि हृद्रोगप्रकरणस्थाने । मधुकः—"वातात्मकं बस्तिगतं वदन्ति, पित्तात्मकं चापि

*'आनूपमांसं अनूपदेशचारिणां मांसं, वारिजं मत्स्यादीनां जलचराणां मांसं, किलाटं तक्रकूर्चिका, अन्ये तु नवप्रसूतमहिषीक्षीरस्य घनतामाहुः, पयोविकारः पायसदध्यादि । मांसं ग्राम्यमांसं, इक्षुरिति इक्षुविकाराः, पिष्टमिति पिष्टान्नं, एतैः श्लेष्मजनकैः श्लेष्मा प्रकोपं प्राप्य शूलं कुर्यात् । उपद्रवानाह-हृल्लासेत्यादि । हृल्लासः उपस्थितवमनमिव, सदनं गात्रभङ्गः, संप्रसेको लालास्रावः । आमाशये रुजं कुरुते इति योजना । स्तिमितकोष्ठो गुरूकोष्ठता, एतेषु कालेष्विति विशेषेण कुर्यादिति' (आ० द०) ॥ ९ ॥ १० ॥

† 'सान्निपातिकमाह-सर्वेष्वित्यादि । त्रिदोषाणां लिङ्गैर्युक्तं त्रिदोषजं जानीयात् । सुकष्टमसाध्यम् । विषवज्रतुल्यं मारकत्वात्' (आ० द०) ॥ ११ ॥

‡ 'आटोपो गुडगुडाशब्दः, वमिः, गुरुत्वं, स्तैमित्यं, उदरे आनाहः अन्नापानयोः निरोधः, कफप्रसेकः कफस्रावः । कफस्य लिङ्गेनेति श्लैष्मिकशूलोक्तलिङ्गेनामोद्भवं शूलमुदाहरन्ति' (आ० द०) ॥ १२ ॥

§ 'द्वन्द्वजमाह-बस्तावित्यादि । बस्तौ मूत्राशये, पार्श्वे.... । कफपैत्तिकमाह-कुक्षावित्यादि । कुक्षिरुदरे । वातपैत्तिकमाह-दाहेत्यादि । दाहज्वरकरः, घोरो दारुणः' (आ० द०) ॥ १३ ॥ १४ ॥

१ इन्दुः 'विषवज्रकल्पम्' इति पाठमिच्छति ।

यदन्ति नाभ्याम् । हृत्पार्श्वकुक्षौ कफसन्निविष्टं, सर्वेषु देशेषु च सन्निपातात्"—इति ॥ १३ ॥—

एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥ १४ ॥
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ।

* साध्यत्वादिलक्षणमाह—एकेत्यादि । भूर्युपद्रव इति । उपद्रवास्तु वेदनादय । यदुक्तं,—"वेदना च तृषा मूर्च्छा ह्यानाहो गौरवारुची । कास श्वासश्च हिक्का च शूलस्योपद्रवा स्मृता "—इति ॥ १४ ॥—

*स्वैर्निदानैः प्रकुपितो वायुः संनिहितस्तदा ॥ १५ ॥
कफपित्ते समावृत्य शूलकारी भवेद्बली ।
भुक्ते जीर्यति यच्छूलं तदेव परिणामजम् ॥ १६ ॥
तस्य लक्षणमप्येतत्समासेनाभिधीयते ।

परिणामशूलमाह—स्वैरित्यादि । अस्य च त्रिदोषजस्यापि नियतपरिणामकालसम्भवत्वेन पित्तोल्बणत्व द्रष्टव्यम् । यदुक्तमन्यत्र,—"बलास प्रच्युत स्थानात्पित्तेन सह मूर्च्छित । वायुमादाय कुरुते शूल जीर्यति भोजने ॥ कुक्षौ जठरपार्श्वेषु नाभौ बस्तौ स्तनान्तरे । पृष्ठमूलप्रदेशेषु सर्वेष्वेतेषु वा पुन ॥ भुक्तमात्रेऽथवा मान्द्ये जीर्णेऽन्ने च प्रशाम्यति । षष्टिकव्रीहिशालीनामोदनेन विवर्धते ॥ तत्परिणामज शूलं दुर्विज्ञेय महागदम् । तमाहु रसवाहानां स्रोतसा दुष्टिहेतुकम् ॥ केचिदन्नद्रव प्राहुरन्ये तत्पक्तिदोषत । पक्तिशूल वदन्त्येके केचिदन्नविदाहजम्"—इति । भुक्ते जीर्यत्याहारे पच्यमाने ॥ १५ ॥ १६ ॥—

†आध्मानाटोपविण्मूत्रविबन्धारतिवेपनैः ॥ १७ ॥
स्निग्धोष्णोपशमप्रायं वातिकं तद्वदेद्भिषक् ।
तृष्णादाहारतिस्वेदं कट्वम्ललवणोत्तरम् ॥ १८ ॥
शूलं शीतशमप्रायं पैत्तिकं लक्षयेद्बुधः ।
छर्दिहृल्लाससंमोहं स्वल्परुग्दीर्घसन्तति ॥ १९ ॥
कटुतिक्तोपशान्तं च तच्च ज्ञेयं कफात्मकम् ।
संसृष्टलक्षणं बुद्ध्वा द्विदोषं परिकल्पयेत् ॥ २० ॥
त्रिदोषजमसाध्यं तु क्षीणमांसबलानलम् ।

---

* 'स्वै कारणै' कुपितो बलवान् वात सन्निहितो निकटे यदोभे कफपित्ते समावृत्य व्याप्य तिष्ठति तदा शूलकारी भवेत् । तस्य सामान्यलक्षणमाह—भुक्त इति' (आ० द०) ॥ १५ ॥ १६ ॥

† 'वातिकमाह—आध्मानेत्यादि । आध्मान ध्मातमिव वातेनोदरपूरणम् । आटोपो गुडगुडाशब्दवत्, विण्मूत्रयोरप्रवृत्ति, अरति. सुखाभाव, वेपन कम्प । स्निग्धैरुष्णैश्च शान्ति भवेत् । पैत्तिकमाह—तृष्णेत्यादि । आहारे पच्यमाने । श्लैष्मिकमाह—छर्दीत्यादि । स्वल्पा रुग्यस्मिन्, कटुतिक्तै रसैरुपशममेति । द्विदोषजसान्निपातिकमाह—संसृष्टेत्यादि । क्षीणं मांसं बलमनलो वह्निर्येन तत् क्षीणमांसबलानलम्' (आ० द०) ॥ १७–२० ॥

तस्य वातादिभेदेन लक्षणान्याह—आध्मानेत्यादि । तृष्णादाहारतिखेदा यत्र सन्ति तत्तृष्णादाहारतिखेदम् । कट्वम्ललवणोत्तरं कट्वम्ललवणैर्वृद्धम् । शीतशमप्रायं शीतलोपशम(य)बहुलम् । छर्दिहृल्लाससंमोहलिङ्गानि यस्मिन् सन्ति तच्छर्दिहृल्लाससंमोहम् । दीर्घसन्ततीति चिरानुबन्धि ॥ १७–२० ॥—

*जीर्णे जीर्यत्यजीर्णे वा यच्छूलमुपजायते ॥ २१ ॥
पथ्यापथ्यप्रयोगेण भोजनाभोजनेन च ।
न शमं याति नियमात्सोऽन्नद्रव उदाहृतः ॥ २२ ॥
( अन्नद्रवाख्यशूलेषु न तावत्स्वास्थ्यमश्नुते ।
वान्तमात्रे जरत्पित्ते शूलमाशु व्यपोहति ॥ १ ॥ )

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शूलपरिणामशूलान्नद्रव-
शूलनिदानं समाप्तम् ॥ २६ ॥

त्रिदोषविकृतिविशेषमन्नद्रवाख्यं शूलमाह—जीर्णे इत्यादि । जीर्णे 'आहारे' इति शेषः, एवं जीर्यत्यजीर्णे चेत्यत्र; सर्वदेत्यर्थः । न शमं याति नोपशेत इत्यर्थः; न त्वसाध्यं, चिकित्साविधानादिति ॥ २१–२२ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शूलनिदानं समाप्तम् ॥ २६ ॥

---

## अथोदावर्तानाहनिदानम् ।

†वातविण्मूत्रजृम्भाश्रुक्षवोद्गारवमीन्द्रियाः ।
क्षुत्तृष्णोच्छ्वासनिद्राणां धृत्योदावर्तसंभवः ॥ १ ॥

उदावर्तेऽपि शूलं भवतीति शूलानन्तरमुदावर्तमाह—वातेत्यादि । अश्रमश्रु, इन्द्रियशब्देनात्र शुक्रं, क्षुत् बुभुक्षा । धृत्या वेगविधारणेन । एते वातादयस्त्रयोदश नियमार्थाः, तेनान्येषां क्रोधादीनां वेगविधारणं न तद्धेतुः, स्वास्थ्यहेतुत्वात् । यदाह चरकः,–"लोभशोकभयक्रोधमानवेगान् विधारयेत्" ( च. सू. स्था. अ. ७ )–इत्यादि । सर्वोदावर्तेषु च वायुरेव कारणम् । यदाह सुश्रुतः,–"सर्वेष्वेतेषु विधिवदुदावर्तेषु कृत्स्नशः । वायोः क्रिया विधातव्या स्वमार्गप्रतिपत्तये" ( सु. उ. तं. अ. ५५ )–इत्यादि । उद्गतेन वेगविधारणेनावृतस्य वायोर्वर्तनमित्युदावर्तनिरुक्तिः; अन्ये तु वायोरूर्ध्वमावर्तो गमनमित्युदावर्तमाहुः; तन्न, अश्रुक्षवादेरव्यापकत्वात्; छत्रिणो गच्छन्तीति न्यायेन वा समाधेयम् ॥ १ ॥

---

* 'जीर्यति पच्यमाने, पक्वेऽपि भुक्ते न शान्तिं गच्छति । प्रायेण त्रिदोषशरीरस्यासाध्यम्' ( आ० ८० ) ॥ २१ ॥ २२ ॥

† 'एतेषां धृत्या वेगविधारणेन । अश्रु बाष्पम्, इन्द्रियं शुक्रम्, इन्द्रियम्' ( आ० ८० ) ॥ १ ॥

*वातमूत्रपुरीषाणां सङ्गो ध्मानं क्लमो रुजा ।
जठरे वातजाश्चान्ये रोगाः स्युर्वातनिग्रहात् ॥ २ ॥
आटोपशूलौ परिकर्तिका च सङ्गः पुरीषस्य तथोर्ध्ववातः ।
पुरीषमास्यादथवा निरेति पुरीषवेगेऽभिहते नरस्य ॥ ३ ॥
बस्तिमेहनयोः शूलं मूत्रकृच्छ्रं शिरोरुजा ।
विनामो वङ्क्षणानाहः स्याल्लिङ्गं मूत्रनिग्रहे ॥ ४ ॥
मन्यागलस्तम्भशिरोविकारा जृम्भोपघातात्पवनात्मकाः स्युः ।
तथाऽक्षिनासावदनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह कर्णरोगैः ॥ ५ ॥
आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि ।
शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन ॥ ६ ॥
मन्यास्तम्भः शिरःशूलमर्दितार्धावभेदकौ ।
इन्द्रियाणां च दौर्बल्यं क्षवथोः स्याद्विधारणात् ॥ ७ ॥
कण्ठास्यपूर्णत्वमतीव तोदः कूजश्च वायोरथवाऽप्रवृत्तिः ।
उद्गारवेगेऽभिहते भवन्ति घोरा विकाराः पवनप्रसूताः ॥ ८ ॥
कण्डूकोठारुचिव्यङ्गशोथपाण्ड्वामयज्वराः ।
कुष्ठहृल्लासवीसर्पाश्छर्दिनिग्रहजा गदाः ॥ ९ ॥
मूत्राशये वै गुदमुष्कयोश्च शोथो रुजा मूत्रविनिग्रहश्च ।
शुक्राश्मरी तत्स्रवणं भवेच्च ते ते विकारा विहते च शुक्रे ॥ १० ॥
तन्द्राङ्गमर्दावरुचिः श्रमश्च क्षुधाभिघातात्कृशता च दृष्टेः ।
कण्ठास्यशोषः श्रवणावरोधस्तृष्णाविघाताद्धृदये व्यथा च ॥ ११ ॥
श्रान्तस्य निश्वासविनिग्रहेण हृद्रोगमोहावथवाऽपि गुल्मः ।
जृम्भाऽङ्गमर्दोऽक्षिशिरोतिजाड्यं निद्राभिघातादथवाऽपि तन्द्रा ॥

*अपानवातस्य धारणात्, आध्मानं ध्मानमिवोदरे, सङ्गोऽप्रवृत्तिः, क्लमोऽनायासश्रमः, रुजा उदरे, पुरीषावरोधजमाह—आटोपेत्यादि । पुरीषवेगे धारिते सत्याटोपः सशब्द गुडगुडाशब्दः । शूलमिति पक्वाशये, परिकर्तिका कर्तनवद्व्यथा, सङ्गः पुरीषस्याप्रवृत्तिः, ऊर्ध्ववात उद्गारबाहुल्यं, अथवा मुखात्पुरीषनिर्गमनमूर्ध्ववातादेव । मूत्रनिग्रहजमाह—बस्तीत्यादि । मूत्रनिग्रहे मूत्रनिधारणे सति, बस्तौ मूत्राशये, मेहने मेढ्रे, व्यथा, मूत्रकृच्छ्रं-मन्दमन्दं कष्टेन मूत्रप्रवर्तनं, वङ्क्षणयोरूरुसन्ध्योः, आनाहः पूर्णत्वम् । जृम्भाघातजमाह—मन्येत्यादि । रुक्, मन्याकण्ठयोः स्तम्भ, शिरोरोगाः पवनजाः, तथाऽक्षिनासादीनां पवनजा रोगाः स्युः, तीव्रा दारुणाः, तथा कर्णरोगाः स्युर्जृम्भाविधारणात् । अश्रूदावर्तमाह—आनन्दजमित्यादि । नेत्रोदकमानन्दजनितं शोकजं वा द्विविधमपि रोचनजं, शिरोगुरुत्वादयो रोगाः पीनसेन सह तीव्रा जायन्ते । क्षवथूदावर्तमाह—मन्येत्यादि । क्षवथोरिति धारणात्, इन्द्रियाणां चक्षुरादीनां ग्रहणे दौर्बल्यं श्रवणनयननासानामयथार्थ विषयग्रहणम् । उद्गारोदावर्तमाह—कण्ठेत्यादि । उद्गारे विधारिते सति कण्ठमुखयोः पूर्णत्वमाहारेण, अतीव तोदो हृदयाशये वाऽत्यर्थव्यथा, छर्द्युदावर्तमाह—कोठे

उक्तानावाद्युदावर्तानां क्रमेण लक्षणमाह—वातेत्यादि । अन्ये इति तोदशूलादयः । मेहनं शेफः । विनाम आनाहपीडया ( बन्धनवत्पीडया ) नतगात्रत्वम् । वङ्क्षणयोरानाहो बन्धनवत्पीडा । नेत्रोदकमश्रु, प्राप्तमागतमभुञ्जतो 'नरस्य' इति शेषः । चकारात्तन्त्रान्तरोक्तप्रतिश्यायहृद्रोगारुचिप्रभृतीनां ग्रहणम् । अर्धावभेदोऽर्धशिर शूलम् । कूजोऽव्यक्तभाषणमिति कार्तिकः । वायोरप्रवृत्तिरुच्छ्वासनिरोध. । घोरा विकाराः पवनजा हिक्कादयः । मूत्राशये बस्तौ, 'मूत्रायन' इति पाठे स एवार्थः । वैशब्दः पादपूरणे । तत्क्षरणं शुक्रस्य स्यन्दनम् । अतिजाड्यं गौरवम् । "शिरोमनाक्षिगौरवं-" इति तन्त्रान्तरे पाठः ॥ २-१२ ॥

*वायुः कोष्ठानुगो रूक्षैः कषायकटुतिक्तकैः ।
भोजनैः कुपितः सद्य उदावर्तं करोति हि ॥ १३ ॥
वातमूत्रपुरीषासृक्कफमेदोवहानि वै ।
स्रोतांस्युदावर्तयति पुरीषं चातिवर्तयेत् ॥ १४ ॥
ततो हृद्बस्तिशूलार्तो हृल्लासारतिपीडितः ।
वातमूत्रपुरीषाणि कृच्छ्रेण लभते नरः ॥ १५ ॥
श्वासकासप्रतिश्यायदाहमोहतृषाज्वरान् ।
वमिहिक्काशिरोरोगमनःश्रवणविभ्रमान् ।
बहूनन्यांश्च लभते विकारान् वातकोपजान् ॥ १६ ॥

---

वर्तीरष्टस्थानः, व्यङ्ग मुखलाञ्छन, शोथादयः प्रसिद्धाः । शुक्रोदावर्तमाह—मूत्राशय इत्यादि । मैथुनप्रवृत्तौ शुक्रविधारणात् । मूत्राशये बस्तौ, अन्ये 'मूत्रासने' इति पठन्ति, तत्र मूत्रमार्गे गुदमुष्कयोश्च श्वयथुः, तेष्वेव पीडा । मूत्रनिग्रहो मूत्राघातः, शुक्राश्मरीरोगः, ते विकारा इति वातकुण्डल्यादयः । क्षुदुदावर्तलक्षणमाह—तन्द्रेत्यादि । तन्द्रा निद्राभेदः, अङ्गमर्दोऽङ्गग्रहः, श्रमः कर्मेन्द्रियाणामसामर्थ्यं, दृष्टेः कृशता मान्द्यं, चकारात् कार्श्यदौर्बल्यादयस्तन्त्रान्तरोक्ता ग्राह्याः । तृडुदावर्तलक्षणमाह—कण्ठेत्यादि । श्रवणावरोधः शब्दस्याग्रहणमङ्गुल्यपिहित इव । श्वासोदावर्तलक्षणमाह—श्रान्तस्येत्यादि । श्रान्तस्य धावनादिना खिन्नस्य, निःश्वासविनिग्रहेण हृद्रोगादयो भवन्ति । हृद्रोगो हृदयविकारः, मोहो मूर्च्छा, गुल्मस्यापि संभवः । निद्रोदावर्तमाह—जृम्भेत्यादि । अक्ष्णोः शिरसि च जाड्यं गौरवम् । अन्ये 'जृम्भाऽङ्गमर्दोऽक्षिशिरोभिजाड्यम्' इति पठन्ति । तत्र 'शिरआदिगौरवम्' ( आ० द० ) ॥ २-१२ ॥

* 'कोष्ठानुगः कोष्ठशब्देन समस्तमुदरमध्यमुच्यते, रूक्षादिभिश्चणकराजमाषादिभिः, तथा कषायादिभी रसैः कुपितः । तस्य संप्राप्तिमाह—वातेत्यादि । ततः स्वैः कारणैः कुपितो वायुर्वातमूत्रादीनां स्रोतांस्युदावर्तयत्यूर्ध्वमावृणोति पुरीषं चातिवर्तयेत् । हृद्बस्तिशूलैस्तथा हृल्लासादिभिः पीडितः कृच्छ्रेण कष्टेन वातमूत्रपुरीषाणि लभते, वैषम्यतालाभमाप्नोतीत्यर्थः । श्वासादीनन्यांश्च वातप्रकोपजान् गदान् लभते । मनोविभ्रमः व्यागो पुरुषज्ञानमित्यादि, श्रवणविभ्रमो विपरीतश्रवणम्' ( आ० द० ) ॥ १३-१६ ॥

---

१ एतच्च—'शोथपाण्ड्वामयज्वरः' इति पाठाभिप्रायेण ।

वेगनिरोधजमुदावर्तमभिधाय रूक्षादिकुपितवातजमाह—वायुरित्यादि । उदावर्तयत्याप्नोति । अविवर्तयेच्छोषयेत् । कृच्छ्रेण लभत इति कष्टेन प्रवर्तयति । अत्र केचित् सुश्रुतोक्तमसाध्यलक्षणं पठन्ति,—"तृष्णार्दितं परिक्लिष्टं क्षीणं शूलैरुपद्रुतम् । शकृद्वमन्तं मतिमानुदावर्तिनमुत्सृजेत्" (सु. उ. तं अ. ५५)—इति ॥ १३–१६ ॥

*आमं शकृद्वा निचितं क्रमेण भूयो विबद्धं विगुणानिलेन ।
प्रवर्तमानं न यथास्वमेनं विकारमानाहमुदाहरन्ति ॥ १७ ॥
तस्मिन् भवन्त्यामसमुद्भवे तु तृष्णाप्रतिश्यायशिरोविदाहाः ।
आमाशये शूलमथो गुरुत्वं हृत्स्तम्भ उद्गारविघातनं च ॥ १८ ॥
स्तम्भः कटीपृष्ठपुरीषमूत्रे शूलोऽथ मूर्च्छा शकृतश्च छर्दिः ।
शोथश्च पक्वाशयजे भवन्ति तथाऽलसोक्तानि च लक्षणानि ॥ १९ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उदावर्तानाहनिदानं समाप्तम् ।

इदानीं विगुणानिलजत्वेन समानचिकित्सत्वेनानाहमाह—आममित्यादि । नेति पूर्वेण सम्बध्यते । छर्दिरित्येक एव छकारश्छन्दोऽनुरोधात् । स्तम्भशब्दः कट्यादेः स्तब्धतावाची, मूत्रपुरीषयोश्चाप्रवृत्तिवाची । अलसोक्तानीति आध्मानवातनिरोधादीनि ॥ १७–१९ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायामुदावर्तानाहनिदानं समाप्तम् ॥

---

# अथ गुल्मनिदानम् ।

†दुष्टा वातादयोऽत्यर्थं मिथ्याहारविहारतः ।
कुर्वन्ति पञ्चधा गुल्मं कोष्ठान्तर्ग्रन्थिरूपिणम् ।
तस्य पञ्चविधं स्थानं पार्श्वहृन्नाभिबस्तयः ॥ १ ॥

---

* 'प्रवर्तमानं नेति पूर्वेण संबध्यते, तेनाप्रवर्तमानमित्यर्थः । यथास्वं स्व मार्गमित्यर्थः । एवमामं निचितं विगुणानिलेन विबद्धं सन्तं स्वमार्गे न प्रवर्तमानं शकृदेवंभूतमानाहं विकारमुदाहरन्तीति पिण्डार्थः । आमजमानाहमाह—तस्मिन्नित्यादि । तस्मिन्नानाहे आमसमुद्भवे तृष्णा संचितामजाता, गुरुत्वमामाशय एव, उद्गारविघातनमुद्गाराप्रवृत्तिः, शेषं सुगमम् । शकृत्सञ्चयजमाह—स्तम्भ इति । शूलोऽत्र कट्यादिष्वेव । पक्वाशयजे पक्वाशयोत्थ आनाह इति व्याख्यानयन्ति, ते च पक्वाशयोद्भव आनाहः पुरीषाद्भवतीति वदन्ति, तथाऽपि स पूर्वोक्त एव परिपठितोऽर्थः.' (आ० द०) ॥ १७–१९ ॥

† 'गुल्मस्य संप्राप्तिमाह—दुष्टा इत्यादि । दुष्टाः स्वकारणैर्मिथ्याहाराध्यशनादिभिः, मिथ्याविहारो वेगविधारणादिः । तेषां स्थानान्याह—तस्येत्यादि' (आ० द०) ॥ १ ॥

गुल्मेऽप्यानाहो भवतीत्यानाहानन्तरं गुल्ममाह—दुष्टा इत्यादि । पञ्चेति वातपित्तकफसन्निपातरक्तजाः । द्वन्द्वजास्तु प्रकृतिसमसमवेतत्वान्न पृथग्गण्यन्ते, अर्शोरोगवत् । कोष्ठान्तरामाशयादिमध्ये, ग्रन्थिरूपिणं गुडकाकारम् । तस्येत्यादि । एतदेव विवृणोति—पार्श्वेत्यादि । पार्श्वे द्वे गणनीये, अन्यथा पञ्चत्वानुपपत्तिः, अत एव 'पार्श्वे' इति द्विवचनान्तमेव क्वचित् पठ्यते ॥ १ ॥

*हृन्नाभ्योरन्तरे ग्रन्थिः संचारी यदि वाऽचलः ।
वृत्तश्चयापचयवान् स गुल्म इति कीर्तितः ॥ २ ॥

सामान्यगुल्मरूपमाह—हृदित्यादि । नाभिशब्देन बस्तिर्बोध्यः, सामीप्यात्; यथा गङ्गायां घोष इत्याहुः; बस्तेरपि गुल्माश्रयत्वेनोक्तत्वात् । अत एव 'हृद्बस्त्योरन्तरे' इति पाठान्तरम् । अन्ये त्वाहुः—बस्तौ विद्रधिरेव स्यान्नतु गुल्म इति । तन्न, बस्तेरपि गुल्मस्थानत्वात्; तथा च चरके—'पञ्चस्थानानि गुल्मस्य पार्श्वहृन्नाभिबस्तयः' इति । एतत् पञ्चस्थानकथनं दोषजाभिप्रायेण, रक्तजस्य तु गर्भाशयः स्थानं, अथवा पार्श्वस्थित्वाद्गर्भाशयस्य पार्श्वग्रहणेनैव ग्रहणम् । वृत्तो वर्तुलः । चयापचयवानिति कदाचिदुपचीयते, कदाचिदपचीयते; एतच्च सामान्योक्तमपि वातिके व्यवतिष्ठते, तल्लक्षणे तदभिधानादिति जेज्जटः; गदाधरस्तु सामान्यलक्षणमाह, सर्वगुल्मानां वातमूलत्वात् । 'चयोपचयवान्' इति पाठान्तरे दोषस्य चयेनोपचयवानिति वृद्धिमानित्यर्थः । गुल्म-इति लतादिविहितसंस्थानविशेषादौ गुल्मव्यपदेशो लोके, तत्सादृश्यात् संचितपरिपिण्डितदोषेऽपि गुल्मसंज्ञेत्याहुः, वाप्यचन्द्रस्त्वाह—संपिण्डितदोषो गुडकेन मीयत इति निरुक्तिः ॥ २ ॥

†स व्यस्तैर्जायते दोषैः समस्तैरपि चोच्छ्रितैः ।
पुरुषाणां, तथा स्त्रीणां ज्ञेयो रक्तेन चापरः ॥ ३ ॥

पूर्वोक्तं पञ्चविधत्वं विवृणोति—स इत्यादि । व्यस्तैरित्यनेनैकजो द्वन्द्वजोऽपि ग्राह्यः । पञ्चधा गुल्म इत्यनेन विरोध इति चेत् । न, नहि तत्रावधारणं कृतं, पञ्चधैवेति । अत एव सूत्रस्थाने चरकेण "पञ्च गुल्मा" (च. सू. स्था. अ.) इत्यभिधायापि "संसृष्टलिङ्गानपराश्च गुल्मान्नीनादिशेदौषधकल्पनार्थम्" (च. चि. स्था. अ. ५)-इत्युक्तं, समानचिकित्सत्वेन तत्रान्तर्भावात् । रक्तेन चापर इति स्त्रीणामेव । वक्ष्यति हि,-"स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मः" (च. चि. स्था. अ. ५)—इति । रक्तं चात्रार्तवं न धातुरूपं, धातुरूपरक्तजस्तु गुल्मो यद्यप्यन्योऽस्ति तथाऽपि नैतत्संप्रसिद्धो भवतीति पृथगुपदिश्यते । पृथग्ज्ञानानभिधानं तु पित्तगुल्मसमाननिदानचिकित्सत्वेन तत्रान्तर्भावात्, सुश्रुते रक्तातीसारवत् । विशेषलक्षणं च यदाह चरकः,-"तृष्णाज्वरपरीदाहशूलस्वेदाग्निमार्दवैः । गुल्मिनामरुचौ चापि रक्तमेवावसेचयेत्—"

* 'हृत् हृदयं, बस्तिर्मूत्राशयः । संचारी चलनशीलः, अथवाऽचलः स्थिरः' (आ० द० ) ॥ २ ॥

† 'तस्य संख्यामाह—स इत्यादि । स गुल्मो व्यस्तैर्वातपित्तश्लेष्मभिः, उच्छ्रितैः प्रकुपितैस्त्रिभिरपि जायते पुरुषाणाम्' (आ० द० ) ॥ ३ ॥

( च. चि. स्था. अ. ५ ) इति । धातुरूपरक्तजः स्त्रीणां पुंसां च भवतीति भट्टारहरिचन्द्रः । तथाच क्षारपाणिः,—"स्त्रीणामार्तवजो गुल्मो न पुंसामुपजायते । अन्यस्त्वसृग्भवो गुल्मः स्त्रीणां पुंसां च जायते"—इति । वाप्यचन्द्रस्त्वाह,—वातादिदोषजस्यैवापचाराद्रक्ते दुष्टे रक्तजव्यपदेशः, यथा चरके कफपित्तमेहानामतिकर्षणादुत्तरकालं वातसंसर्गे सति वातमेहत्वमुक्तम् । यदुक्तं,—"या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्बणानां विहिता क्रिया सा । वायुर्हि मेहेष्वतिकर्षितेषु कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता—( च. चि. स्था. अ. ६ )" इति । क्षारपाणेरप्येवमेवाभिप्रायः । यदि तु पृथक् स्यात्तदा तमपि नवमं लिङ्गस्थानादिभिरभिधास्यत्, न चोक्तः । जेज्जटगयदासाभ्यां तु हरिचन्द्रमतमेवानुमतमिति । सर्वगुल्मेषु वातकारणत्वं ज्ञेयम् । यदुक्तं चरके,—"गुल्मिनामनिलशान्तिरुपायैः सर्वशो विधिवदाचरितव्या । मारुते ह्यवजितेऽन्यमुदीर्णं दोषमल्पमपि कर्म निहन्यात्—" (च. चि. स्था. अ. ५ ) इति; सुश्रुतेऽप्युक्तं,—"कुपितानिलमूलत्वात्संचितत्वान्मलस्य च । तुल्यत्वाद्वा विशालत्वाद्गुल्म इत्यभिधीयते"—( सु. उ. तं. अ. ४२ ) इति । न चैतावता नानात्मजत्वप्रसङ्गः, वातस्यानुबन्धरूपत्वात्, ज्वरे पित्तवत् । ननु वाताव्यभिचाराद्द्विदोषजस्त्रिदोषजो वा गुल्मः स्यान्न केवलं कफजः पित्तजो वेति, ततश्च पञ्चेति विरोधः । नैतत्, अनुबन्धरूपेण वातजव्यपदेशो, नत्वनुबन्ध्यरूपेणेति ॥ ३ ॥

*उद्गारबाहुल्यपुरीषबन्धतृप्त्यक्षमत्वान्त्रविकूजनानि ।
आटोपमाध्मानमपक्तिशक्तिमासन्नगुल्मस्य वदन्ति चिह्नम् ॥ ४ ॥

पूर्वरूपमाह—उद्गारेत्यादि । पुरीषबन्धो विड्बन्धः । तृप्तिरन्नानभिलाषः । सुश्रुतेऽपि हि "द्वेषोऽन्ने"—( सु. उ. तं. अ. ४२ ) इति पठितम् । अक्षमत्वमसामर्थ्यम् । आटोपोऽत्र रुजापूर्वकः क्षोभः, सततं वा; न तु गुडगुडाशब्दः, तस्यान्त्रकूजनेनैव गृहीतत्वात्; माध्माध्मानं, तस्योपात्तत्वात् । अपक्तिशक्तिर्मन्दाग्निता; 'अपक्तृशक्तिः' इति पाठे स एवार्थः ॥ ४ ॥

†अरुचिः कृच्छ्रविण्मूत्रवातताऽन्त्रविकूजनम् ।
आनाहश्चोर्ध्ववातत्वं सर्वगुल्मेषु लक्षयेत् ॥ ५ ॥

गुल्मसाधारणरूपमाह—अरुचिरित्यादि ॥ ५ ॥

‡रूक्षान्नपानं विषमातिमात्रं विचेष्टनं वेगविनिग्रहश्च ।
शोकोऽभिघातोऽतिमलक्षयश्च निरन्नता चानिलगुल्महेतुः ॥ ६ ॥
यः स्थानसंस्थानरुजां विकल्पं विड्वातसङ्गं गलवक्त्रशोषम् ।
श्यावारुणत्वं शिशिरज्वरं च हृत्कुक्षिपार्श्वांसशिरोरुजं च ॥ ७ ॥

* 'उद्गारबहुलता, तृप्त्यक्षमत्वं भोक्तुमशक्तिरिति केचित् । अन्त्रविकूजनमन्त्राणामव्यक्तशब्दानुकरणम् । आध्मानमुपात्तयोराध्मानमिव, अपक्तिशक्तिर्मन्दाग्नित्वादाहारस्यापाकः' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

† 'कृच्छ्रविण्मूत्रवातता कष्टेन विण्मूत्रवातप्रवर्तनम् । अन्त्रविकूजनं गुडगुडाशब्दः, आनाहः अधोवातनिरोधः, ऊर्ध्ववातत्वमुद्गारबाहुल्यम्' ( आ० द० ) ॥ ५ ॥

‡ 'वातगुल्मस्य हेतुपूर्वकं रूपमाह—रूक्षेत्यादि । विषमं बहु स्तोकमकालभोजनं, प्र

१ 'तथ नोरुन्' इति पा० ।

करोति जीर्णेऽभ्यधिकं प्रकोपं भुक्ते मृदुत्वं समुपैति यश्च।
वातात्स गुल्मो न च तत्र रूक्षं कषायतिक्तं कटु चोपशेते ॥ ८ ॥

वातिकमाह—रूक्षेत्यादि। विषमातिमात्रमित्यन्नपानविशेषणम्। विचेष्टनं विरुद्धचेष्टा बलवद्विग्रहादि। अतिमलक्षयो विरेकादिना। निरन्नता निराहारता। विकल्पशब्दः स्थानादिभिः प्रत्येकं योज्यः। स्थानविकल्पो यथा—कदाचिन्नाभौ, कदाचित्पार्श्वयोः, कदाचिद्बस्तिवित्यादिस्थानान्तरगमनम्। संस्थानविकल्पो यथा—कदाचिदल्पः, कदाचिन्महान्, वृत्तो, दीर्घो वेति। रुजाविकल्पो यथा—कदाचिदल्पा, कदाचिन्महती, तोदरूपा, भेदरूपा, अनेकरूपा वेति। न च तत्रोपशेते न सुखयति ॥ ६–८ ॥

*कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्रोधातिमद्यार्कहुताशसेवा।
आमाभिघातो रुधिरं च दुष्टं पैत्तस्य गुल्मस्य निमित्तमुक्तम् ॥ ९ ॥
ज्वरः पिपासा वदनाङ्गरागः शूलं महज्जीर्यति भोजने च।
स्वेदो विदाहो व्रणवच्च गुल्मः स्पर्शासहः पैत्तिकगुल्मरूपम् ॥१०॥

पैत्तिकमाह—कट्वित्यादि। आमाभिघात इति विदग्धाजीर्णजनितदुष्टरसेनाभिभवः; अन्ये तु 'आमाभिघातौ' इति पठन्ति, तत्राम उक्तरूपः, अभिघातो लगुडादे रक्तदूषको ज्ञेयः। जीर्यतीति सप्तम्यन्तम्। व्रणवत् स्पर्शासह इति योज्यम् ॥ ९ ॥ १० ॥

†शीतं गुरु स्निग्धमचेष्टनं च संपूरणं प्रस्वपनं दिवा च।
गुल्मस्य हेतुः कफसंभवस्य सर्वस्तु दुष्टो निचयात्मकस्य ॥ ११ ॥
स्तैमित्यशीतज्वरगात्रसादहृल्लासकासारुचिगौरवाणि।
शैत्यं रुगल्पा कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य रूपाणि कफात्मकस्य ॥ १२ ॥

श्लैष्मिकमाह—शीतमित्यादि। संपूरणं तृप्तिभोजनम्। सर्व इति वातजाद्युक्तः। निचयात्मकस्य सन्निपातजस्य। कठिनोन्नतत्वं गुल्मस्य ॥ ११ ॥ १२ ॥

---

जलपानमपि, अतिमात्रं मात्राधिकं, एवं अन्यत्रापि। य इत्यादि। विड्वातसङ्गं विड्वाताप्रवृत्तिः, कण्ठवक्त्रयोः शोषः, श्यावारुणत्वं शरीरस्य, शीतज्वरः, हृत्कुक्ष्यादीनां पीडा, अंसौ भुजयोरुपरिभागः। जीर्णे आहारे प्रकुप्यति, भुक्ते च शान्तिं गच्छति, स वातिको गुल्मः। रूक्ष आहारः कषायतिक्तकटुका रसाः, तत्र तस्मिन्वातगुल्मे नोपशेते न सुखयति, वातकारणत्वात्' (आ० द०) ॥ ६–८ ॥

* 'विदाहि वंशकरीरादि, अतिशब्दो मद्यादिषु योज्यः। एते पैत्तिकगुल्मस्य हेतवः। तस्य लक्षणमाह—ज्वर इत्यादि। ज्वरः प्रसिद्धः; पिपासा पातुमिच्छा; वदनाङ्गरागो मुखे शरीरे चारुणता, आहारे जीर्यति पच्यमाने महच्छूलं भवति, एतत्पित्तगुल्मरूपम्' (आ० द०) ॥ ९ ॥ १० ॥

† 'शीतादिभिर्द्रव्यैः, अचेष्टनमव्यायामः। संपूरणमित्याहारादिना कोष्ठस्य तृप्तिरिव, एतत् सर्वं कफगुल्मस्य हेतुः। एतस्यैव श्लोकपादेन सान्निपातिकस्य हेतुमाह—सर्व इति। निचयात्मकस्य सान्निपातिकस्य गुल्मस्य वातजाद्युक्तहेतुः कारणं, तथा सर्वदोषोक्तलक्षणानि च भवन्ति। पुनः श्लैष्मिकस्यैव लक्षणमाह—स्तैमित्यं निश्चलत्वं, शीतज्वरादयः सुबोध्याः, शैत्यं शीतगात्रता' (आ० द०) ॥ ११ ॥ १२ ॥

*निमित्तरूपाण्युपलभ्य गुल्मे द्विदोषजे दोषबलाबलं च ।
व्यामिश्रलिङ्गानपरांश्च गुल्मांस्त्रीनादिशेदौषधकल्पनार्थम् ॥ १३ ॥

द्व्यात्मकेषु त्रिष्वेकजहेतुलक्षणातिदेशार्थमाह—निमित्तेत्यादि । निमित्तानि च रूपाणि चेति द्वन्द्वः । दोषबलाबलं चेत्यनेन समद्विदोषद्वन्द्वजत्रयेणैकोल्वणादिद्विदोषजोऽपि ग्राह्य इति दर्शयति, अन्यथा बहुत्वापत्तेः । औषधकल्पनार्थमित्येकदोषजाभिहितचिकित्सामेलकेन ताञ्चिकित्सेदित्यर्थः ॥ १३ ॥

†महारुजं दाहपरीतमश्मवद्घनोन्नतं शीघ्रविदाहि दारुणम् ।
मनःशरीराग्निबलापहारिणं त्रिदोषजं गुल्ममसाध्यमादिशेत् ॥१४॥

सान्निपातिकमाह—महारुजमित्यादि । अश्मवद्घनोन्नतं पाषाणवत् कठिनमुन्नतं च । मन इत्यादि मनोऽपहारिणं मनोवैकल्यकारिणं, शरीरापहारिणं शरीरवैवर्ण्यकरं, अग्न्यपहारिणमग्निवैषम्यकरं, बलापहारिणमसामर्थ्यकरम् । ननु, असाध्यमिति विरुद्धं, "सन्निपातोत्थिते गुल्मे त्रिदोषघ्नो विधिर्हितः"–( सु. उ. तं अ. ४२ ) इति सुश्रुतवचनात् । नैवं, अयं च विकृतिविषमसमवेतोऽसाध्यः, प्रकृतिसमसमवेतस्तु साध्य इत्याहुः । ननु, सोऽप्यसाध्यः, यदाह सुश्रुतः,–"सर्वात्मके सर्वदोषोपपत्तिम्त चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञाः" ( सु. उ. त. अ. ४२ )–इति । उच्यते, तत्राऽपीत्यपिशब्दादचिरोत्थितः साध्यो विश्वामित्रसंवादादिति गयदासः ॥ १४ ॥

‡नवप्रसूताऽहितभोजना या या चामगर्भं विसृजेदृतौ वा ।
वायुर्हि तस्याः परिगृह्य रक्तं करोति गुल्मं सरुजं सदाहम् ।
पैत्तस्य लिङ्गेन समानलिङ्गं विशेषणं चाप्यपरं निबोध ॥ १५ ॥
यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैश्चिरात्सशूलः समगर्भलिङ्गः ।
स रौधिरः स्त्रीभव एव गुल्मो मासे व्यतीते दशमे चिकित्स्यः १६

रक्तगुल्ममाह—नवेत्यादि । आमगर्भं विसृजेदिति नवममासादर्वाक् प्रसूते ऋतावार्तवप्रवृत्तिकाले, अहितभोजनेति सम्बन्धः । एतच्चोपलक्षणार्थं, तेनाहाराचारादिक

* 'लिङ्गानि लक्षणानि, द्विदोषजे गुल्मे दोषाणां बलाबलं ज्ञात्वा व्यामिश्रलिङ्गान् मिलितलिङ्गान् परांस्त्रीन् गुल्मानौषधकल्पनार्थमादिशेत्' ( आ० द० ) ॥ १३ ॥

† 'त्रिदोषजस्यासाध्यत्वमाह–महारुजमित्यादि । महारुजं तीव्रपीडाकरं, दाहपरीतं देहसंतापेन व्याप्ताखिलदेहं, शीघ्रेण विदाहकरं, दारुणं मारणात्मकं, एतल्लक्षणं विकृतिविषमसमवेतस्य' ( आ० द० ) ॥ १४ ॥

‡ 'स्त्रीणां रक्तजगुल्मस्य संप्राप्तिमाह–नवेत्यादि । या स्त्री नवप्रसूता सत्यहितभोजना भवति, ऋतावार्तवप्रवृत्तिकालेऽहितभोजनेति सम्बन्धः । तस्य लक्षणमाह–पैत्तस्येत्यादि । पैत्तिकगुल्मस्यास्यैवापरं विशेषणं, तदेव स्फुटयति–चिरात् पिण्डीभूत इव स्पन्दते हस्तपादादिभिरित्यर्थः । सशूलः पीडायुक्तः स स्त्रीभव एव रक्तजो गुल्मो दशमे मासे व्यतीते सति चिकित्स्यः स्यात् । रौधिर इत्यनेन विशेषणेनार्तवायुक्ता कुमारीमतिवृद्धां च निषेधयति, अनुद्भूतक्षीणरजस्कत्वात्तयोः' ( आ० द० ) ॥ १५ ॥ १६ ॥

१ एतच्च 'निमित्तरूपाणि' इति पाठाभिप्रायेण ।

ज्ञेयम् । यदाह चरकः—"ऋतावनाहारतया भयेन विरूक्षणैर्वेगविधारणैश्च । संस्तम्भनोल्लेखनयोनिदोषैर्गुल्मः स्त्रियं रक्तभवोऽभ्युपैति" (च. चि. स्था. अ. ५)—इति । पैत्तस्य पैत्तिकगुल्मस्य । विशेषणं पैत्तिकगुल्माद्विशेपलक्षणम् । पिण्डितः समुदितः । एवकारोऽत्रावधारणे । एतदेव स्फुटयति—नाङ्गैर्नावयवैश्चिरात् स्पन्दत इति संबन्धः । समगर्भलिङ्ग इति आर्तवादर्शनमुखस्रवणस्तनमुखकृष्णत्वदोहदादिगर्भलक्षणयुक्तः, एतच्च व्याधिप्रभावात्; यथा—क्षयार्शसोः स्त्रीरिरंसाकृष्णत्वङ्गुक्षादयः । अन्ये तु समगर्भलिङ्गोऽविकृतगर्भलिङ्ग इत्याहुः ।. उक्तविशेषणैरेव स्त्रीभवत्वे लब्धे स्त्रीग्रहणेन कुमारीमतिवृद्धां च निषेधयति, अनुद्भूतक्षीणरजस्कत्वात्तयोः । व्यतीतेऽतिक्रान्ते । गर्भसमानलिङ्गत्वेन संशयः—गर्भो वा, रक्तगुल्मो वा, इति; तच्छङ्कानिरासार्थं दशमे मासे व्यतीते इत्युक्तं; नवमदशमयोः प्रसवकालत्वादित्येके । तत्र, 'यः स्पन्दते पिण्डित एव नाङ्गैः' इत्यादिनैव विशेषदर्शनेन संशयस्य निवर्तितत्वात् । गर्भो हि निरन्तरं प्रत्यङ्गैर्निःशूलं स्पन्दते, गुल्मस्त्वेतद्विपरीतेन । किंच नवमे दशमे प्रसूत इत्युत्सर्गः, नतु नियमः, तदधिककालेऽपि प्रसवदर्शनात्, आगमाच्च । उक्तं हि चरके,—"तं स्त्री प्रसूते सुचिरेण गर्भं पुष्टो यदा वर्षगणैरपि स्यात्" (च. शा. स्था. अ. २)-इति; तस्मान्नेदं दशममासव्यतिक्रमे चिकित्साविधानस्य प्रयोजनं, किंतु व्याधिमहिम्ना तावतैव कालेन तस्य चिकित्सया सुखोच्छेदनमिति । यथा ज्वरे पुराण एव क्षीरपानविरेचने । उक्तं हि तन्त्रान्तरे—"रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्"—इति । पुराणता चास्य दशममासव्यतिक्रमेणैव भवति । जेज्जटेनाप्युक्तं,—यद्यर्वाक्भेदनं क्रियते तदा गर्भशय्यां क्षिणोति, तल्लीनत्वाद्रक्तस्य; एकादशमासे तु परिपिण्डितगुल्मे स्नेहादिनोपस्कृतदेहाया न गर्भशय्याया विकृतिमादधाति रक्तभेदनमिति ॥ १५ ॥ १६ ॥

*संचितः क्रमशो गुल्मो महावास्तुपरिग्रहः ।
कृतमूलः सिरानद्धो यदा कूर्म इवोत्थितः ॥ १७ ॥
दौर्बल्यारुचिहृल्लासकासच्छर्द्यरतिज्वरैः ।
तृष्णातन्द्रामतिश्यायैर्युज्यते स न सिध्यति ॥ १८ ॥
गृहीत्वा सज्वरं श्वासच्छर्द्यतीसारपीडितम् ।
हृन्नाभिहस्तपादेषु शोथः कर्षति गुल्मिनम् ॥ १९ ॥
श्वासः शूलं पिपासाऽन्नविद्वेषो ग्रन्थिमूढता ।
जायते दुर्बलत्वं च गुल्मिनो मरणाय वै ॥ २० ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने गुल्मनिदानं समाप्तम् ॥ २८ ॥

* 'संचित' इत्यनुपक्रान्तत्वाच्चिरकालानुबन्धित्वात्, क्रमशः क्रमेण, संचितो वृद्धिं गतो, गुल्मो यदा कूर्मवदुन्नतः स्यात्, दौर्बल्यादिभिरुपद्रवैर्युक्तो भवति, तदा न सिध्यतीत्यर्थः । पुनरसाध्यलक्षणमाह—गृहीत्वेत्यादि । गुल्मिनं गुल्मयुक्तं रोगिणं, कर्षति मारयतीत्यर्थः । सज्वरश्वासं ज्वरश्वासाभ्यामुपद्रुतम् । पुनश्चासाध्यलक्षणमाह—श्वासे-

१ एतच्च—'सज्वरश्वासं' इति पाठाभिप्रायेण ।

चिरजस्यावस्थायामसाध्यत्वमाह—संचित इत्यादि । महावास्तुपरिग्रहः सकलोदरव्यापी । कृतमूलो धात्वन्तरावगाही । सिरानद्धः सिराजालवान् । हृदयादौ गृहीत्वा शोथो गुल्मिनं कर्षति, 'मरणाय' इति शेषः । ग्रन्थिभूतत्वा ग्रन्थिरूपस्य गुल्मस्याकस्माद्विलयनमिति । ननु च, अन्तर्विद्रधिगुल्मयोः को भेदः, समानस्थानसंभवत्वात् । उच्यते, विद्रधिः पच्यते गुल्मो न पच्यते, निराश्रयत्वात् । यदाह सुश्रुतः,—"न निबन्धोऽस्ति गुल्मस्य विद्रधिः सनिबन्धनः । गुल्मस्तिष्ठति दोषे स्वे विद्रधिर्मांसशोणिते ॥ विद्रधिः पच्यते तस्माद्गुल्मः क्वापि न पच्यते" ( सु. नि. स्था. अ. ९ )-इति । ननु, गुल्मोऽपि पच्यत एव । यदाह चरकः,-"विदाहशूलसंक्षोभस्वप्ननाशारतिज्वरैः । विदह्यमानं जानीयाद्गुल्मं तमुपनाहयेत्" ( च. चि. स्था. अ. ५ ) इति । उच्यते-गुल्मो न पच्यते निराश्रयत्वात्; यदा तु कारणवशादाश्रयं मांसादिकमासादयति, वातोपशमनार्थं कृतस्वेदादिभिर्वा रक्तदुष्टिर्भवति तदा पच्यमानो विदाहनिमित्तकं विद्रधित्वमाप्नोति । उक्तं हि,-"स वै शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधीत्यभिधीयते" ( च. सू. स्था अ. १७ )-इति । न । हि यस्मात् विकाराद्यदुत्पद्यते विकारान्तरं तत् स एव भवतीति; माभूत् प्लीहैवोदरं, अश्मर्येव शर्करा, इत्यादि शास्त्रोक्तविरोधविस्तरः । तस्माद्विद्रधिः पच्यते, गुल्मो न पच्यत इति सिद्धान्तो निरपवादः । ये त्वन्तर्विद्रधिं न पठन्ति तेषामयमभिप्रायः,—गुल्मे पक्वे विद्रधौ च पाटनशोधनरोपणादेः, अपक्वे च विरेकलेपविम्लापनादेश्चिकित्सितस्य प्रायो विशेषाभावादलं पृथग्विकारस्वीकारेणेति ॥ १७–२० ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां गुल्मनिदानं समाप्तम् ॥ २८ ॥

---

# अथ हृद्रोगनिदानम् ।

*अत्युष्णगुर्वम्लकषायतिक्तश्रमाभिघाताध्यशनप्रसङ्गैः ।
संचिन्तनैर्वेगविधारणैश्च हृदामयः पञ्चविधः प्रदिष्टः ॥ १ ॥

गुल्मस्य हृदयं स्थानमुक्तं, अतो हृदयसंकीर्तनाद्धृद्रोगारम्भः । प्रसङ्गः सातत्येन सेवा, अत्युष्णादयो यथायोग्यं वातादीनां क्रिमेश्च निदानमिति बोध्यम् ॥ १ ॥

---

त्यादि । श्वासादय उपद्रवा गुल्मिनो मरणाय भवन्ति' ( आ० द० ) ॥ १७–२० ॥

* 'गुल्मस्य हृदयं स्थानमुक्तमतो गुल्मानन्तरं हृद्रोगारम्भः । तस्य हेतुमाह—अत्युष्णेत्यादि । उष्णादिभिरतिशब्दः प्रत्येकं संबध्यते । उष्णादयोऽतिसेविता वातादीनां हृदामयानां क्रिमिजस्य च हेतवो भवन्ति, श्रमो धनुःकर्षणादिः, अभिघातो हृद्येव, संचिन्तनं नृपतिभयादिकं; स च पञ्चप्रकारः-वातादिभिस्त्रयः, सन्निपातेन, क्रिमिभिश्च' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

*दूषयित्वा रसं दोषा विगुणा हृदयं गताः ।
हृदि बाधां प्रकुर्वन्ति हृद्रोगं तं प्रचक्षते ॥ २ ॥

तस्य संप्राप्तिं सामान्यलक्षणं चाह—दूषयित्वेत्यादि । दूषयित्वा रसमिति रसस्य हृदयाश्रयत्वात् । विगुणाः कुपिताः । हृद्रोगमिति वाच्ये यद्बाधाग्रहणं, तद्दोषभेदेन बाधावैचित्र्यज्ञापनार्थं; बाधाशब्देन चात्र नानाविधा पीडेति जेज्जटः, भङ्गवत् पीडेति गयदासः । हृद्रोगमिति 'वा शोकष्यञ्रोगेषु–' इति रोगे परे हृदयस्य हृद्भावः, अथवा हृदो रोगो हृद्रोगः ॥ २ ॥

आयम्यते मारुतजे हृदयं तुद्यते तथा ।
निर्मथ्यते दीर्यते च स्फोट्यते पाट्यतेऽपि च ॥ ३ ॥

वातिकहृद्रोगलक्षणमाह—आयम्यत इत्यादि । आयम्यते आकृष्यत इव । तुद्यते सूच्येव । निर्मथ्यते दण्डेनेव । दीर्यते द्विधेव क्रियते । स्फोट्यते आरयेव । पाट्यते कुठारेणेव ॥ ३ ॥

†तृष्णोष्मादाहचोषाः स्युः पैत्तिके हृदयक्लमः ।
धूमायनं च मूर्च्छा च स्वेदः शोषो मुखस्य च ॥ ४ ॥

पैत्तिकमाह—तृष्णेत्यादि । ऊष्मा किंचिद्दाहः । हृदयक्लमो हृदयाकुलत्वं, ग्लानिरिति यावत् ॥ ४ ॥

‡गौरवं कफसंस्रावोऽरुचिः स्तम्भोऽग्निमार्दवम् ।
माधुर्यमपि चास्यस्य बलासावतते हृदि ॥ ५ ॥

श्लैष्मिकमाह—गौरवमित्यादि । बलासावतते कुपितकफव्याप्ते, "दोषा दुष्टा दूषयितारो भवन्ति"—इत्यागमात् ॥ ५ ॥

§विद्यात्त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम् ।
उत्क्लेदः ष्ठीवनं तोदः शूलं हृल्लासकस्तमः ।
अरुचिः श्यावनेत्रत्वं शोथश्च क्रिमिजे भवेत् ॥ ६ ॥

---

* 'विगुणाः कुपिता दोषा रसं दूषयित्वा हृदयं गताः, हृदि रोगो हृद्रोग इति निरुक्तिः' ( आ० द० ) ॥ २ ॥

† 'ऊष्मा प्रादेशिको दाहः, हृदि किंचिद्दाह इत्यर्थः । दाहः सार्वाङ्गिकः; चोषश्चूष्यत इव, धूमायनं धूमोद्गिरणमिव, क्लेदः किंचिद्दुर्गन्धः सक्लिन्न इव, मुखस्यैव शोषश्च' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

‡ 'गौरवं हृदयस्य; स्तम्भो जडता, मार्दवं जलप्लुतमिव, माधुर्यं मुखे' ( आ० द० ) ॥५॥

§ 'त्रिदोषजक्रिमिजयोर्मिलितमेव लक्षणमाह–विद्यादित्यादि । विद्यात्त्रिदोषमित्यादि इन्द्र-वज्रोक्तलक्षणं, उत्क्लेद इत्यादिकमेकपद्य सुश्रुतोक्तं; तीव्रार्तितोदमिति मिश्रवृत्तीयत्वात्पौन-रुक्त्यं न वाच्यम् । त्रिदोषजे सर्वदोषाणां लिङ्गानि भवन्ति । क्रिमयो जायन्तेऽस्मिन्निति क्रिमिज इति निरुक्तिः । तोदो व्यथाविशेषः; उत्क्लेदोऽपक्वदोषाणां स्वांशोदयाच्युतिः,

---

१ एतच्च–'क्लेदः शोषो मुखस्य च' इति पाठाभिप्रायेण ।

सान्निपातिकमाह—विद्यादित्यादि । सर्वलिङ्गमित्यनेन प्रकृतिसमसमवायारब्धत्वमुक्तं, तेन चिकित्साऽप्यस्य प्रत्येकं वातादिजस्य या सा मिलितैव कार्या । अपचाराच्चेह ग्रन्थिरुत्पद्यते ततः क्रिमिसम्भवः । उक्तं हि चरकेण,-"त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते । तिलक्षीरगुडादीनि ग्रन्थिस्तस्योपजायते ॥ मर्मैकदेशे संक्लेदं रसश्चास्योपगच्छति । संक्लेदात् क्रिमयश्चास्य भवन्त्युपहतात्मनः" ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति । तस्येदं लक्षणमाह,-तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूमिति । उत्क्लेद इत्यादिना तमोन्तं त्रिदोषजहृद्रोगलक्षणं, तत्र तोदशूले वातात्, उत्क्लेदहृल्लासौ कफात्, तमः पित्तात्, ष्ठीवनं कफपित्तात्, अरुचिरित्यादिना क्रिमिजस्यापि जेज्झटः । गयदासस्त्वाह—श्यावनेत्रत्वपर्यन्तेन त्रिदोषजलक्षणमिति । स्यादेतत्, त्रिदोषजपदं न तावदत्र सुश्रुतेन पठितं, अतः सर्वमेवोत्क्लेदादि शोषान्तं क्रिमिजलक्षणं भविष्यति ? नैवं, विद्यात्त्रिदोषं त्वपि सर्वलिङ्गं तीव्रार्तितोदं क्रिमिजं सकण्डूम्" ( च. चि. स्था. अ. २६ )-इति दृढबलस्य वाक्यात् । उत्क्लेद इत्यादिस्त्वेक एव श्लोकः सुश्रुतेन पठितः, न तु पृथक् सन्निपातलक्षणं, ततस्त्रिदोषजस्यानभिधाने सुश्रुते न्यूनत्वं स्यात् । त्रिदोषाश्मरीवत्तस्यासम्भव एवेति चेत्[१] नैवं, तन्त्रान्तरेषु पठितत्वात् । तथा च हारीतः,-"सर्वाणि रूपाणि च सन्निपाताद्विरोधितं चापि वदन्त्यसाध्यम्"-इति । चरकेऽप्युक्तं,-"हेतुलक्षणसंसर्गादुच्यते सान्निपातिकः" ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति, तथा,-"त्रिदोषजे तु हृद्रोगे यो दुरात्मा निषेवते" ( च. सू. स्था. अ. १७ )-इत्यादि । कण्ठरवेण तु त्रिदोषजपदं यन्न पठितं सुश्रुतेन, तत् क्रिमिजस्यापि त्रिदोषजत्वख्यापनार्थमित्याचक्षते । ननु, दोषजावान्तरावस्थाविशेषत्वात् क्रिमिजोऽपि दोषज एव, तत् कथं हृदामयः पञ्चविध इति ? नैवं, रोगजस्यापि रोगस्य पृथक्त्वदर्शनात् । यदुक्तं,-'निदानार्थकरः'-इत्यादि । त्रिदोषजस्त्वनुक्तोऽपि प्रकृतिसमवायत्वाद्बोध्यः ॥ ६ ॥

क्लमः सादो भ्रमः शोषो ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः ।
क्रिमिजे क्रिमिजातीनां श्लैष्मिकाणां च ये मताः ॥ ७ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने हृद्रोगनिदानं समाप्तम् ॥ २९ ॥

सर्वेषामुपद्रवानाह—क्लम इत्यादि । श्लैष्मिकाणां ये उपद्रवास्ते क्रिमिजहृद्रोगेऽपि स्युः । ते च हृल्लासास्यस्रवणाविपाकादयः ॥ ७ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां हृद्रोगनिदानं समाप्तम् ॥ २९ ॥

---

हृल्लासो हृदयादीषद्गुर्निर्गमः, तमोऽन्धकारप्रविष्टस्येव; एतत्त्रिदोषलक्षणम् । अरुचीत्यादिना कृमिजस्येति । एतल्लक्षणम्' ( आ० ८० ) ॥ ६ ॥

---

१ लक्षणमिति शेषः ।

# अथ मूत्रकृच्छ्रनिदानम् ।

*व्यायामतीक्ष्णौषधरूक्षमद्यप्रसङ्गनित्यद्रुतपृष्ठयानात् ।
आनूपमांसाध्यशनादजीर्णात्स्युर्मूत्रकृच्छ्राणि नृणां तथाऽष्टौ ॥१॥
पृथङ्मलाः स्वैः कुपिता निदानैः सर्वेऽथवा कोपमुपेत्य बस्तौ ।
मूत्रस्य मार्गं परिपीडयन्ति यदा तदा मूत्रयतीह कृच्छ्रात् ॥ २ ॥

सप्तोत्तरे मर्मशते त्रीणि मर्माणि शिरोहृदयबस्तयः प्रधानानि । तत्र हृदयगतविकारानभिधाय बस्तिगतविकारानाह—व्यायामेत्यादि । मूत्रकृच्छ्राणीति मूत्रस्य कृच्छ्रेण महता दुःखेन प्रवृत्तिः । अष्टाविति दोषैः पृथक् त्रीणि, सन्निपातेनैकं, शल्यजपुरीषजशुक्रजाश्मरीजानीत्येकैकानि । ननु, शर्कराजं मूत्रकृच्छ्रं सुश्रुतेन पठितं; तथात्र संग्रहेऽपि पठितं, 'अश्मरी शर्करा चैव तुल्यसंभवलक्षणे'-इत्यादिना तत् कथमष्टौ ? नव प्राप्नुवन्ति । उच्यते, शर्करा अश्मरीभेद एव । यदाह दृढबलः,—"एषाऽश्मरी मारुतभिन्नमूर्तिः स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती" ( च. चि. स्था. अ. २६ )-इति । अतोऽश्मरीजेनैव शर्कराजग्रहणमिति मन्यमानो दृढबलोऽप्यविलपठत् ॥ १ ॥ २ ॥

†तीव्रार्तिरुग्वङ्क्षणबस्तिमेढ्रे स्वल्पं मुहुर्मूत्रयतीह वातात् ।
पीतं सरक्तं सरुजं सदाहं कृच्छ्रं मुहुर्मूत्रयतीह पित्तात् ॥ ३ ॥
बस्तेः सलिङ्गस्य गुरुत्वशोथौ मूत्रं सपिच्छं कफमूत्रकृच्छ्रे ।
सर्वाणि रूपाणि तु सन्निपाताद्भवन्ति तत्कृच्छ्रतमं हि कृच्छ्रम् ॥४॥
मूत्रवाहिषु शल्येन क्षतेष्वभिहतेषु वा ।
मूत्रकृच्छ्रं तदाघाताज्जायते भृशदारुणम् ॥ ५ ॥
वातकृच्छ्रेण तुल्यानि तस्य लिङ्गानि निर्दिशेत् ।
[illegible]प्रतीघाताद्वायुर्विगुणतां गतः ॥ ६ ॥
शकृतस्तु [illegible] करोति च ।
आध्मानं वातशूलं च मूत्र[illegible] ॥ ७ ॥
अश्मरीहेतु तत्पूर्वं मूत्रकृच्छ्रमुदाहरेत् ॥

* 'सप्तोत्तरे मर्मशते त्रीणि मर्माणि शिरोहृदयबस्तयः प्रधानानि, हृदयस्य प्रधानमर्मत्वात्प्राग् हृद्रोगानभिधाय बस्तेरपि मर्मत्वाद्धृद्रोगानन्तरं बस्तिव्याधित्वान्मूत्रकृच्छ्रारम्भः । तस्य हेतुमाह—व्यायामेत्यादि । तीक्ष्णौषधं राजिकादियुक्तं, मद्यप्रसङ्गोऽतिमद्यसेवा । नित्यं द्रुतेत्यादि पृष्ठयानात्, अश्वादिपृष्ठयानात् अन्ये—नित्यद्रुतपृष्ठयानादिति पठन्ति । नित्यं द्रुतं तुरगादिगमनात् । आनूपाः सजलप्रदेशचारिणो मत्स्यादयः, अध्यशनं भुक्तस्योपरि भोजनम् । तस्य संप्राप्तिपूर्वकं लक्षणमाह—पृथगिति । पृथक् भिन्नाः, अथ सर्वैः स्वैस्तुभिः कुपितास्ततो बस्तौ मूत्राशये कोपं प्राप्य यदा मूत्रमार्गं मेढ्रं परिपीडयन्ति, तदा नरः कष्टेन मूत्रयतीत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ १ ॥ २ ॥

† 'तीव्रा मारणात्मिका, वङ्क्षणे ऊरुवङ्क्षणमेढ्राणामन्तरालसन्धौ, स्वल्पं स्तोकं, मुहुर्वारं वारं, वातात् कृच्छ्रम् । पैत्तिकमाह—पीतमित्यादि । इह पित्तात् कृच्छ्रे पीतादिलिङ्गं मूत्रं

१ पतत्र—'नृत्यद्रुतपृष्ठयानात्' इति पाठाभिप्रायेण ।

शुक्रे दोषैरुपहते मूत्रमार्गे विधाविते।
सशुक्रं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्बस्तिमेहनशूलवान् ॥ ८ ॥

मूत्रकृच्छ्रस्य वातजादिभेदेन लक्षणान्याह—तीव्रेत्यादि। सलिङ्गस्य समेढ्रस्य। सपिच्छ पिच्छिलम्। कृच्छ्रतम कष्टसाध्यम्। कृच्छ्र मूत्रकृच्छ्रम्। मूत्रवाहिष्विति मूत्रवहस्रोतःसु। अश्मरीहेतु तत्पूर्वमिति अश्मरीहेत्विति लक्ष्यपद, तत्पूर्वमिति लक्षणपद, तत्पूर्वमश्मरीपूर्वकम् ॥ ३–८ ॥

*अश्मरी शर्करा चैव तुल्यसंभवलक्षणे।
विशेषणं शर्करायाः शृणु कीर्तयतो मम ॥ ९ ॥
पच्यमानाऽश्मरी पित्ताच्छोष्यमाणा च वायुना।
विमुक्तकफसन्धाना क्षरन्ती शर्करा मता ॥ १० ॥
हृत्पीडा वेपथुः शूलं कुक्षावग्निश्च दुर्बलः।
तया भवति मूर्च्छा च मूत्रकृच्छ्रं च दारुणम् ॥ ११ ॥
मूत्रवेगनिरस्ताभिः प्रशमं याति वेदना।
यावदस्याः पुनर्नैति गुडिका स्रोतसो मुखम् ॥ १२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूत्रकृच्छ्रनिदान समाप्तम् ॥ ३० ॥

मूत्रकृच्छ्रहेतुत्वेनोक्तयोरश्मरीशर्करयो समानतामवान्तरभेद चाह—अश्मरीत्यादि अश्मरी शर्करा चैवेत्यनन्तरं 'एते' इत्यध्याहार्य तुल्यसभवलक्षणे इत्यनेन द्विवचना-

---

सुखमूत्रयति, 'नर' इति शेष । पीत सरक्त चेति वर्णद्वय न्यूनाधिकपित्तप्रकोपात्। श्लैष्मिकमाह–बस्तेरित्यादि। बस्ति सलिङ्गस्य मेहनयुक्तस्य बस्तेर्गुरुत्वशोथौ भवत। त्रिदोषजमाह–सर्वाणीत्यादि। सर्वाणि सर्वदोषलिङ्गानि, तत् कृच्छ्र त्रिदोषेण कृच्छ्रतम कष्टसाध्यम्। शल्यजमाह–मूत्रेत्यादि। मूत्रवहस्रोत सु शल्येन क्षतेषु सत्स्वथवाऽभिह तेषु पीडितेषु सदाघाताकृच्छ्र दारुण, तीव्र मारणात्मकम्। पुरीषजमाह–शकृत इत्यादि। पुरीषस्य प्रतीघातादवरोधाद्विगुणीभूतो दूषितो वायुराध्मान वातशूल मूत्र-नाश च कुर्यात्, ततो मूत्रकृच्छ्र जायते। अश्मरीजमाह–अश्मरीहेतु मूत्रकृच्छ्रमिति तस्य कृच्छ्रस्याश्मर्येव कारणम्। शुक्रजमाह–शुक्र इत्यादि। सवणव्यथायुक्त 'पुरुष' इति शेष' (आ० द०) ॥ ३–८ ॥

* 'अश्मरी च शर्करा चेते उभे तुल्यसभवलक्षणे तुल्य सभव उत्पत्तिलक्षण च ययोस्ते तथा, समाननिदानलिङ्गे इत्यर्थे। कीर्तयत कथयतो मम शर्कराया विशेषण शृणु। पित्तेन पच्यते, वायुना शोष्यते, एतेन पाचनादिशोषणाच्च पित्तवातौ संधान रूपस्य कफस्य शोषणत्वेन शर्कराया हेतुत्वेनोक्तौ, पित्तेन पाचिता, वायुना शोषिता, श्लेष्मणा सश्रिताऽश्मरी, ताभ्या विमुक्तसंधाना शर्करारूपा क्षरन्ती सती शर्करा मता, क्षरन्तीति वक्षित। एतावता हेतुलक्षणत्वेनैक एव रोग, संधानाभावभावात् क्रिया-भेद, अतो मूत्रकृच्छ्रे द्वे अपि कारणे। तस्योपद्रवानाह–हृदित्यादि' (आ० द०) ॥ ९–१२ ॥

न्वेन सम्बन्धनीयं, यथा-"तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी"-इत्यादिवत्। तुल्य सभव उत्पत्तिकारणं लक्षणं च ययोस्ते तथा, 'तुल्ये संभवलक्षणे' इति पाठान्तरे तुल्ये सदृशे, कैरित्यत उक्तं-सभवलक्षणैरिति, 'तुल्या सभवलक्षणे' इति पाठान्तरे स एवार्थ । विशेषणं विशेष । तमेव विवृणोति—पच्यमानेत्यादि । कफ-सधान कफेनावयवसश्लेष , कफ एव वा सधान कफसधान, सधीयतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या । तेन पित्तपाकवातशोषौ सधानविमोक्षहेतुत्वेनोक्तौ । क्षरन्तीति बस्तित । चरके हि,-"स्याच्छर्करा मूत्रपथात् क्षरन्ती" (च. चि स्था. अ. २६)-इत्येवं पठितम् । रुक्षौ शूलमिति सबन्ध । तथा शर्करयेति ॥ ९-१२ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूत्रकृच्छ्रनिदानं समाप्तम् ॥ ३० ॥

---

## अथ मूत्राघातनिदानम् ।

जायन्ते कुपितैर्दोषैर्मूत्राघातास्त्रयोदश ।
प्रायो मूत्रविघाताद्यैर्वातकुण्डलिकादयः ॥ १ ॥

मूत्रविकारसाधर्म्यान्मूत्राघातानाह—जायन्त इत्यादि । मूत्रकृच्छ्रमूत्राघातयो-श्चाय विशेष ,-मूत्रकृच्छ्रे कृच्छ्रत्वमतिशयित, ईषद्विबन्ध , मूत्राघाते तु विबन्धो बलवान्, कृच्छ्रत्वमल्पमिति । मूत्रविघाताद्यैर्मूत्रवेगविधारणादिभि , आद्यशब्देन पुरीषशुक्रवेगविघातादीनां रूक्षाशनादीनां च ग्रहणम् । वातकुण्डलिकादयस्त्रयोदशेति सबन्ध ॥ १ ॥

*रौक्ष्याद्वेगविघाताद्वा वायुर्बस्तौ सवेदन. ।
मूत्रमाविश्य चरति विगुणः कुण्डलीकृतः ॥ २ ॥
मूत्रमल्पाल्पमथवा सरुजं संप्रवर्तते ।
वातकुण्डलिकां तां तु व्याधिं विद्यात्सुदारुणम् ॥ ३ ॥

वातकुण्डलिकामाह—रौक्ष्यादित्यादि । आविश्येत्याकुल, 'आविध्य' इति पाठान्तरे स एवार्थ । चरति गच्छति । विगुण कुपित । कुण्डलीकृत इति वात्यावद्भ्रमत्वेव भ्रमन्तिष्ठतीति ॥ २ ॥ ३ ॥

†आध्मापयन्बस्तिगुदं रुद्ध्वा वायुश्चलोन्नताम् ।
कुर्यात्तीव्रार्तिमष्ठीलां मूत्रविण्मार्गरोधिनीम् ॥ ४ ॥

---

* 'तेषां मध्ये वातकुण्डलिकालक्षणमाह-रौक्ष्येत्यादि । रौक्ष्यादिभिर्वेगविघातादिभिश्च विगुणो दुष्ट , कुण्डलीभूतो वायु , बस्तौ मूत्राशये, चरति प्रधावति, आवद्धत्वाद्वात्याव-द्भ्रमन्स्तिष्ठतीत्यर्थ । आविश्य आकुल मूत्रमिति । तस्मान्मूत्रमल्पमल्प सब्यथ प्रवर्तते, त व्याधिं वातकुण्डलिकामाहु । सुदारुण मारणात्मकत्वात्' (आ० द०) ॥ २ ॥ ३ ॥

† 'आध्मापयन् पूरयन् बस्तिगुद, तथा बस्तिगुदमेव रुद्ध्वा वायुरष्ठीलां कुर्यात् अष्ठीला उत्तरापथे नदीषु पाषाणपिण्डी । चलोन्नता चला चलनशीला, उन्नतामूर्ध्व-स्थिताम् । तीव्रार्तिमतिव्यथाम् । मूत्रमार्गो मेढ्र, विण्मार्गं पायु, तयो रोधिनीम्' (आ० द०) ॥ ४ ॥

अष्ठीलामाह—आध्मापयन्नित्यादि। स्तब्धेति बस्तिगुदमेव। अष्ठीलातुल्यत्वादष्ठीला, सा च वातव्याधावुक्ता ॥ ४ ॥

*वेगं विधारयेद्यस्तु मूत्रस्याकुशलो नरः।
निरुणद्धि मुखं तस्य बस्तेर्बस्तिगतोऽनिलः ॥ ५ ॥
मूत्रसङ्गो भवेत्तेन बस्तिकुक्षिनिपीडितः।
वातबस्तिः स विज्ञेयो व्याधिः कृच्छ्रप्रसाधनः ॥ ६ ॥

वातबस्तिमाह—वेगमित्यादि। बस्तिकुक्षिनिपीडित इति बस्तौ कुक्षौ च निपीडितः संपिण्डितो वायुरिति सम्बन्ध, 'बस्तिकुक्षी निपीडयन्' इति पाठान्तरे बस्तिकुक्ष्यो रुजाकर इति ॥ ५ ॥ ६ ॥

†चिरं धारयतो मूत्रं त्वरया न प्रवर्तते।
मेहमानस्य मन्दं वा मूत्रातीतः स उच्यते ॥ ७ ॥

मूत्रातीतमाह—चिरमित्यादि। त्वरया न प्रवर्तत इति मूत्रमित्यर्थः। मेहमानस्य मूत्रं त्यजतः। 'वहमानस्य' इति पाठान्तरं सुगमम् ॥ ७ ॥

‡मूत्रस्य वेगेऽभिहते तदुदावर्तहेतुकः।
अपानः कुपितो वायुरुदरं पूरयेद्भृशम् ॥ ८ ॥
नाभेरधस्तादाध्मानं जनयेत्तीव्रवेदनम्।
तन्मूत्रजठरं विद्यादधोबस्तिनिरोधनम् ॥ ९ ॥

मूत्रजठरमाह—मूत्रस्य वेग इत्यादि। तदुदावर्तहेतुक इति मूत्रवेगधारणजनितोदावर्तनिमित्त। अधोबस्तिनिरोधनमिति बस्तेरधोभागे विबन्धकारकम् ॥ ८ ॥ ९ ॥

§बस्तौ वाऽप्यथवा नाले मणौ वा यस्य देहिनः।
मूत्रं प्रवृत्तं सज्जेत सरक्तं वा प्रवाहतः ॥ १० ॥
स्रवेच्छनैरल्पमल्पं सरुजं वाऽथ नीरुजम्।
विगुणानिलजो व्याधिः स मूत्रोत्सङ्गसंज्ञितः ॥ ११ ॥

मूत्रोत्सङ्गमाह—बस्तावित्यादि। नाले मेढ्रे मणौ मेढ्राग्रे। प्रवृत्त सज्जेतेति ससक्तं सत् प्रवर्तते। सरक्तं वा प्रवाहत इति प्रवाहणकुपितवायुना बस्त्यादिभेदजनितरक्तयुक्तं मूत्रं प्रवर्तते ॥ १० ॥ ११ ॥

---

* 'अकुशलो मूर्खे, तस्य पुरुषस्य बस्तेर्मुखं निरुणद्धि बस्तिगतो वायुः, तेन वायुना मूत्रसङ्ग स्यात्। 'बस्तिकुक्षी निपीडयन्' इति पाठे तत्र बस्तिकुक्षी चरन्' (आ० द०) ॥ ५ ॥ ६ ॥

† 'चिरं चिरकाल मूत्र धारयतः पुंसस्त्वरया वेगेन न प्रवर्तते, मेहमानस्य प्रवर्तते चेत्तदा मन्दं शनैः' (आ० द०) ॥ ७ ॥

‡ 'अपानोऽपानसंज्ञको वात. कुपितोऽतिशयेनोदरं पूरयति। ततो नाभेरधस्तात्तीव्रवेदनमाध्मानं कुर्यात्' (आ० द०) ॥ ८ ॥ ९ ॥

§ 'बस्तौ मूत्राशये, मूत्रं सज्जते न प्रवर्तते सरक्त वा प्रवर्तते, प्रवाहत इति; शनैर्मन्दं, अल्पमल्पं स्तोकं सम्यक् वा रुजारहितं वा प्रवर्तते मूत्रमिति संबन्धः' (आ० द०) ॥१०॥११॥

*रूक्षस्य क्लान्तदेहस्य वस्तिस्थौ पित्तमारुतौ ।
मूत्रक्षयं सरुग्दाहं जनयेतां तदाह्वयम् ॥ १२ ॥

तदाह्वयमिति मूत्रक्षयाख्यं, कारणे कार्योपचारात् ॥ १२ ॥

†अन्तर्वस्तिमुखे वृत्तः स्थिरोऽल्पः सहसा भवेत् ।
अश्मरीतुल्यरुग्ग्रन्थिर्मूत्रग्रन्थिः स उच्यते ॥ १३ ॥

मूत्रग्रन्थिमाह—अन्तरित्यादि । अन्तर्वस्तिमुखे वस्तिमुखस्याभ्यन्तरे । ग्रन्थिर्गुडकाकार । ननु, स्थानवेदनाकारणानामभिन्नत्वादश्मर्या सह को भेद ? उच्यते, अश्मर्यां पित्तादिक सहन्यते, अत्र तु रक्तमेव । उक्त हि तन्त्रान्तरे,—"रक्त वातकफाद्दुष्टं वस्तिद्वारे सुदारुणम् । ग्रन्थिं कुर्यात् स कृच्छ्रेण सृजेन्मूत्र तदावृतम् ॥ अश्मरीसमशूल स रक्तग्रन्थिं प्रचक्षते"–इति । विशेषज्ञानं तु कुत इति चेत् ? अश्मरीपूर्वरूपोक्तस्य मूत्रे बस्तगन्धत्वादेर्भावाभावाभ्याम् ॥ १३ ॥

‡मूत्रितस्य स्त्रियं यातो वायुना शुक्रमुद्धतम् ।
स्थानाच्च्युतं मूत्रयतः प्राक् पश्चाद्वा प्रवर्तते ॥ १४ ॥
भस्मोदकप्रतीकाशं मूत्रशुक्रं तदुच्यते ।

मूत्रशुक्रमाह—मूत्रितस्येत्यादि । मूत्रितस्य मूत्रवेगितस्य । स्थानाच्च्युत स्वस्थानाकृष्ट शुक्रम् ॥ १४ ॥—

§व्यायामाध्वातपैः पित्तं वस्तिं प्राप्यानिलान्वितम् ॥ १५ ॥
वस्तिं मेढ्रं गुदं चैव प्रदहेत्स्रावयेदधः ।
मूत्रं हारिद्रमथवा सरक्तं रक्तमेव वा ॥ १६ ॥
कृच्छ्रात्पुनः पुनर्जन्तोरुष्णवातं वदन्ति तम् ।

उष्णवातमाह—व्यायामेत्यादि ।—व्यायामाद्विरोधिसौम्यधातुक्षयात्तेजोरूपा पित्तवृद्धि । अनिलान्वितमनिलसंयुतम् । 'अनिलावृत' इति पाठान्तर सुगमम् । सरक्त मीषल्लोहितम् ॥ ॥ १५ ॥ १६ ॥—

$पित्तं कफो द्वावपि वा संहन्येतेऽनिलेन चेत् ॥ १७ ॥
कृच्छ्रान्मूत्रं तदा पीतं श्वेतं रक्तं घनं सृजेत् ।
सदाहं रोचनाशङ्खचूर्णवर्णं भवेत्तु तत् ॥ १८ ॥
शुष्कं समस्तवर्णं वा मूत्रसादं वदन्ति तम् ।

---

* क्लान्तदेहस्य श्रान्तशरीरस्य, वस्तिस्थौ मूत्राशयस्थौ, पित्तमारुतौ मूत्रनाश कुरुतो व्ययादाहयुक्तम्' ( आ० द० ) ॥ १२ ॥

† 'स्थिरोऽचल , अल्पो लघुरामलककाकार । अथवा अत्र सहसा भवेद्, अश्मरी तु सचयेन । अन्यच्च-अश्मरी पित्तेन पच्यते, वायुना शोष्यते, कफेन बध्यते, अत्र तु रक्तमेवेत्यश्मर्या सह भेद ' ( आ० द० ) ॥ १३ ॥

‡ 'मूत्रयतो मूत्र कुर्वत पुरुषस्य प्राक् प्रथम प्रवर्तते, अथवा पश्चात् ; भस्मलिप्तोदक सदृशम्' ( आ० द० ) ॥ १४ ॥

§ 'वस्तिं प्राप्य वस्त्यादिक प्रदहन् मूत्रमध स्रावयेत् । कीदृश ? हारिद्र, अथवा सरक्तमीषद्रक्त, अथवा केवल रक्तमेव' ( आ० द० ) ॥ १५ ॥ १६ ॥

$ 'वातेन संहन्येते स्त्यानीक्रियेते, पित्तेन पीतरक्त, कफेन श्वेत घनं, त्रिदोषेण समस्तवर्णम्' ( आ० द० ) ॥ १७ ॥ १८ ॥

मूत्रसादमाह—पित्तमित्यादि। संहन्येते स्त्यानीक्रियेते। शुष्कमस्थं, तन्मूत्रं पित्तेन रोचनाभं, कफेन शङ्खचूर्णाभं, समस्तवर्णमुक्तसकलवर्णं सन्निपातात् ॥ १७॥ १८॥—

*रूक्षदुर्बलयोर्वातेनोदावृत्तं शकृद्यदा ॥ १९ ॥
मूत्रस्रोतोऽनुपद्येत विट्संसृष्टं तदा नरः ।
विड्गन्धं मूत्रयेत्कृच्छ्राद्विड्विघातं विनिर्दिशेत् ॥ २० ॥

विड्विघातमाह—रूक्षेत्यादि। अनुपद्येत प्राप्नुयात्। विड्गन्धमित्यत्र वाशब्दो द्रष्टव्यः ॥ १९ ॥ २० ॥

†द्रुताध्वलङ्घनायासैरभिघातात्प्रपीडनात् ।
स्वस्थानाद्वस्तिरुद्वृत्तः स्थूलस्तिष्ठति गर्भवत् ॥ २१ ॥
शूलस्पन्दनदाहार्तो बिन्दुं बिन्दुं स्रवत्यपि ।
पीडितस्तु सृजेद्धारां संस्तम्भोद्वेष्टनार्तिमान् ॥ २२ ॥
बस्तिकुण्डलमाहुस्तं घोरं शस्त्रविषोपमम् ।
पवनप्रबलं प्रायो दुर्निवारमबुद्धिभिः ।

बस्तिकुण्डलमाह—द्रुतेत्यादि। लङ्घनमुत्पतनम्। उद्वृत्तः स्वस्थानादूर्ध्वं गतः। गर्भवदिति गर्भिण्या उदरान्तर्गतापत्यवत्; एतेन बस्तिपुटस्य पार्श्वगमनं दर्शितम्। पीडित इति नाभेरधः। उद्वेष्टनार्तिरुद्वेष्टनरूपाऽऽर्तिः। शस्त्रविषोपमं शस्त्रविषसदृशमिति विभिन्नार्थसूचनार्थं प्रसिद्धानुभवोपदर्शनार्थम् ॥ २१ ॥ २२ ॥

तस्मिन्पित्तान्विते दाहः शूलं मूत्रविवर्णता ॥ २३ ॥
श्लेष्मणा गौरवं शोथः स्निग्धं मूत्रं घनं सितम् ।

वातस्यैव दोषान्तरानुबन्धिनो लक्षणमाह—तस्मिन्नित्यादि। श्लेष्मणा अन्विते तस्मिन्निति बोद्धव्यम् ॥ २३ ॥—

‡श्लेष्मरुद्धबिलो बस्तिः पित्तोदीर्णो न सिध्यति ॥ २४ ॥
अविभ्रान्तबिलः साध्यो न तु यः कुण्डलीकृतः ।

तस्यैव साध्यत्वासाध्यत्वमाह—श्लेष्मरुद्धबिल इत्यादि। बिलं बस्तिमुखशुषिरम्। पित्तोदीर्णं उपचितपित्तः, स एवाविभ्रान्तबिलोऽनावृतबिलः। कफेन कुण्डलीकृतोऽसाध्य इति बोध्यम्। अकुण्डलीकृतस्तु साध्यत्वेनोक्तः ॥ २४ ॥

* 'द्वयोस्तयोर्वातेनाधोवृत्त मूत्राशयात्स्रोतासनुपद्येत आप्नुयात्, तदा विट्संसृष्ट पुरीषमिश्र विड्गन्धं मूत्रं कृच्छ्रान्मूत्रयेत्। 'उदावर्तं' इति पाठान्तर, तत्रापि स एवार्थः.' (आ० द० ) ॥ १९ ॥ २० ॥

† 'द्रुताध्वरुङ्घन द्रुतेनाध्वगमन, लङ्घनमुत्पतनं वा, अभिघातलगुडादिभिः प्रपीडनाद्वा निष्पीडनात्, एतैर्हेतुभिस्तथा संस्तम्भादियुक्तः, उद्वेष्टनरूपाऽर्तिरुद्वेष्टनरूपपीडादियुक्तम्। शस्त्रोपम शीघ्रेण मारणात्मक, विषोपममिति कालान्तरेण। विषमत्र गरः प्रायेण वातबहुलम्' (आ० द० ) ॥ २१ ॥ २२ ॥

‡ 'अविभ्रान्तबिलः कफेनारुद्धमुखः, घनकफेन कुण्डलीकृतो न भवति स साध्यः, कुण्डलीकृतस्त्वसाध्यः' (आ० द० ) ॥ २४ ॥

*स्याद्वस्तौ कुण्डलीभूते तृण्मोहः श्वास एव च ॥ २५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूत्राघातनिदानं समाप्तम् ।

कुण्डलीभूतस्यैव लिङ्गमाह—स्यादित्यादि । एतौ विड्विघातवस्तिकुण्डलौ सुश्रुतेन न पठितौ, तेन हि मूत्रोदकसादमेव द्विधा पठित्वा द्वादश मूत्राघाता इत्युक्तं, सर्वानभिधानं तु पराधिकारत्वेनेति मन्तव्यम् ॥ २५ ॥

इति श्रीविजयरक्षितकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूत्राघातनिदानं समाप्तम् ।

---

## अथाश्मरीनिदानम् ।

†वातपित्तकफैस्तिस्रश्चतुर्थी शुक्रजाऽपरा ।
प्रायः श्लेष्माश्रयाः सर्वा अश्मर्यः स्युर्यमोपमाः ॥ १ ॥
विशोषयेद्वस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं पवनः कफं वा ।
यदा तदाऽश्मर्युपजायते तु क्रमेण पित्तेष्विव रोचना गोः ॥ २ ॥
नैकदोषाश्रयाः सर्वाः,

मूत्ररोधित्वसाधर्म्यादश्मरीमाह—वातेत्यादि । श्लेष्माश्रया इति श्लेष्मसमवायिकारणाः, शुक्रजां विना; तत्र शुक्रस्यैव समवायिकारणत्वात् । तथा च दृढबलः,—"विशोषयेद्वस्तिगतं सशुक्रम्" (च. चि. स्था. अ. २६ )—इत्यादि, एतच्च सामान्योक्तमपि विशेषेण संबध्यते । यथा—इत्यष्टयादिसूत्रे 'दीर्घात्' इति विशेषणं व्याभ्यां संबध्यते, नतु इला । अत एवात्र प्रायोग्रहणं कृतवान् । अन्ये तु शुक्राश्मर्यामपि कफकारणत्वमिच्छन्त्येव, विरोधाभावात् । प्राय-शब्दश्चात्र विशेषार्थः । यमोपमा इति अप्रति चिकित्सितेऽवश्यमेव मारकत्वात् । पित्तेष्विवेति वातशोषितेषु । नैकदोषाश्रया इति त्रिदोषजाः, उद्भूतदोषेण व्यपदेशः ॥ १ ॥ २ ॥

‡अथासां पूर्वलक्षणम् ।

बस्त्याध्मानं तदासन्नदेशेषु परितोऽतिरुक् ॥ ३ ॥
मूत्रे बस्तसगन्धत्वं मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिः ।

---

* 'श्लेष्मणा रुद्धनिलो बस्तिः कुण्डलाकारतेन तिष्ठति । "वातकुण्डलिकाऽष्ठीला वातबस्तिस्तथैव च । मूत्रातीतः सजठरो मूत्रोत्सङ्गः क्षयस्तथा ॥ मूत्रग्रन्थिर्मूत्रशुक्रमुष्णवातस्तथैव च । मूत्रसादो विड्विघातो बस्तिकुण्डलिका तथा ॥" एते मूत्राघातास्त्रयोदश ज्ञेयाः' ( आ० द० ) ॥ २५ ॥

† 'तस्याः संप्राप्तिमाह—विशोषयेदित्यादि । पवनो बस्तिगतं सशुक्रं मूत्रं सपित्तं कफं वा शोषमुपनयेद्यदा तदाऽश्मरी भवति, क्रमेण शनैर्वर्धमाना यथा गोः पित्तेषु रोचना भवति' ( आ० द० ) ॥ १ ॥ २ ॥

‡ 'बस्त्याध्मानमित्यादि ।—बस्त्याध्मानं बस्तेरापूरः, तदासन्नदेशेषु बस्तिशिरोमुष्कमेढ्रादिषु, परितः समन्तात्, अतिरुगतिवेदना । मूत्रे बस्तसगन्धत्वं छुद्रपशुबस्तसमानगन्धत्वं, तथा मूत्रकृच्छ्रं ज्वरोऽरुचिश्च भवति' ( आ० द० ) ॥ ३ ॥

पूर्वरूपमाह—अथेत्यादि । बस्तसगन्धत्वं बस्तसमानगन्धत्वम् ॥ ३ ॥

***सामान्यलिङ्गं रुङ्नाभिसेवनीबस्तिमूर्धसु ॥ ४ ॥**
**विशीर्णधारं मूत्रं स्यात्तया मार्गे निरोधिते[1] ।**
**तद्व्यपायात्सुखं मेहेदच्छं गोमेदकोपमम् ॥ ५ ॥**
**तत्संक्षोभात्क्षते सास्रमायासाच्चातिरुग्भवेत् ।**

तासां सामान्यलक्षणमाह—सामान्येत्यादि । रुक् शूलं, बस्तिमूर्धा नाभेरधोदेशः । विशीर्णधारं सविच्छेदधारम् । तया अश्मर्या । मार्गो मूत्रवाहि स्रोतः । तद्व्यपायाद्वायुना कदाचिदश्मरीकृतमार्गरोधव्यपगमात् । मेहेत् मूत्रयेत् । अच्छमनाविलम् । गोमेदकोपममिति गोमेदको लोहितमणिस्तद्वर्णम् । तत्संक्षोभान्निरुद्धमार्गमूत्रेण पीडनादश्मरीसंघट्टनाद्वा क्षते जाते मूत्रवहादौ, सास्रं सरक्तं मूत्रं प्रवर्तते । आयासात् प्रवाहणादिजनितक्रमात् ॥ ४ ॥ ५ ॥

**†तत्र वाताद्भृशं चार्तो दन्तान् खादति वेपते ॥ ६ ॥**
**गृह्णाति[2] मेहनं नाभिं पीडयत्यनिशं क्वणन् ।**
**सानिलं मुञ्चति शकृन्मुहुर्मेहति बिन्दुशः ॥ ७ ॥**
**श्यावारुणाऽश्मरी चास्य स्याच्चिता कण्टकैरिव ।**

वातजामाह—तत्रेत्यादि । क्वणन् आर्तनादं सानिलं कुर्वन् । सशब्दं, मूत्रप्रवृत्त्यर्थं क्षुवातिकुन्थनात् । मेहति बिन्दुश इति बिन्दुं बिन्दुं मूत्रयति, "बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्"-इति अल्पार्थे शस्प्रत्ययः । श्यावेत्यादि ।—अश्मर्या आकारकथनं; एतच्चाकृष्टानां प्रत्यक्षसंवादेन शास्त्रप्रामाण्यख्यापनार्थमित्याहुः, आकृष्टाश्च दोषोचितचिकित्सार्थमित्यन्ये ॥ ६ ॥ ७ ॥

**‡पित्तेन दह्यते बस्तिः पच्यमान इवोष्मवान् ॥ ८ ॥**
**भल्लातकास्थिसंस्थाना रक्तपीताऽसिताऽश्मरी ।**

पित्तजामाह—पित्तेनेत्यादि । पच्यमानः क्षारेणेव । ऊष्मवान् उष्णस्पर्शः । असिता कृष्णा ॥ ८ ॥

---

* 'मार्गनिरोधने मूत्रवाहिस्रोतस आवरणे सति बस्तिन् रुद्धे सति । गोमेदकोपममिति गोमेदक आलोहितपीतमणिस्तद्वर्णम् । आयासात् प्रवाहणादिकजनितात्, प्रवाहण कण्ठबलेन शब्दकरणं, मूत्रस्याजनन निकुन्थनमिति लोके' (आ० द०) ॥ ४ ॥ ५ ॥

† 'भृशमत्यर्थमार्तः पुमान् दन्तैर्दन्तान् खादति कटकटायते, वेपते कम्पते, मेहनं लिङ्गं, मृद्नाति मथ्नाति, अनिशं क्वणन् क्रन्दन् नाभिदेशं पीडयति । शकृत्पुरीषं, सानिलं सशब्द मुञ्चति, मुहुर्वारंवारं, श्यावारुणा किंचिच्छ्यामा किंचिद्रक्ता, कण्टकैरन्वितेव' (आ० द०) ॥ ६ ॥ ७ ॥

‡ 'पित्तेन याऽश्मरी तया बस्तिर्मूत्रकोशो दह्यते; भल्लातकास्थिसंस्थाना भल्लातकमज्जाकारा' (आ० द०) ॥ ८ ॥

---

१ 'मार्गे निरोधिते' इत्यत्र 'मार्गनिरोधने' इति पाठाभिप्रायेण । २ 'गृह्णाति' इत्यत्र 'मृद्नाति' इति पाठाभिप्रायेण ।

चन्द्रोदयप्रणयपीवरदुग्धसिन्धुपूरभ्रमं वहति यद्गुणकीर्तिगुच्छः ॥
तेन व्यधायि गुरुणा विजयेन शिष्यप्रेम्णाऽश्मरीहगवधेमधुकोषबन्धः ॥ १ ॥
श्रीकण्ठदत्तभिषजा गुरुभक्तिक्लेशादारभ्यते प्रकृति संप्रति मेहरोगात् ॥
सूक्ष्मीविचिन्त्य मधुसीकरमुद्गिरन्तीष्टीकाकृतः कतिपयस्य तदीयशेषः ॥ २ ॥

अश्मरीरोगानन्तरं बस्तिविकृतिसाम्यात्प्रमेहनिदानमुच्यते—आस्यासुखमित्यादि । आस्या उपविष्टस्य चेष्टोपरमः, तेन कृतं सुखमास्यासुखं, एवं स्वप्नसुखमिति द्रष्टव्यम् । तेनासनादिदोषादास्यासुखं स्वप्नसुखं वा न प्रमेहहेतुः । गुडवैकृतमिति गुडविकाराः शर्करादयस्तथा गुडकृताश्च भक्ष्याः । प्रमेहहेतुः कफकृच्च सर्वमित्यनुक्तहेतुसंग्रहार्थमुक्तम् । एष साधारणो हेतुः प्रमेहस्य; विशेषहेतुस्तु चरके निदानस्थाने,-"हायनकोद्दालक"–इत्यादिना कफजस्य, 'उष्णाम्ललवण'–इत्यादिना पित्तजस्य, 'कटुतिक्तकषाय' ( च. नि. स्था. अ. ४ )–इत्यादिना वातजस्याभिहितः । एतेन सामान्यहेतुसहितो विशिष्टहेतुः कफजादिप्रमेहस्य । किंच कफजनिदानमध्ये तदास्यासुखादि बोद्धव्यम् ॥ १ ॥

*मेदश्च मांसं च शरीरजं च क्लेदं कफो बस्तिगतः प्रदूष्य ।
करोति मेहान् समुदीर्णमुष्णैस्तानेव पित्तं परिदूष्य चापि ॥ २ ॥

---

रस्यन्त इति रसाः, रसशब्देनाहार उच्यते, कार्ये कारणोपचारात् । कानि ग्राम्योदकानि ? मांसानि, तत्र ग्राम्याश्छागोरभ्रमेदःपुच्छप्रभृतयः, औदका मत्स्यकूर्मादयः, आनूपा जलसंनिधिचारिणो हंसचक्रवाकादयः, एषां मांसानि; पयांसि क्षीराणि, अत्रापि बहुवचनं दधिवत् । पानं नवान्नकृतमद्यपानम् । एतत्सर्वं प्रमेहहेतुः । कफकृच्च सर्वमिति आहाराचारादिकं कफकारि' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

* शरीरजं क्लेदं बस्तिगतं बस्तिप्राप्तं प्रदूष्य श्लैष्मिकान् मेहान् करोति । यदुक्तं–"मूत्राघाताः प्रमेहाश्च शुक्रदोषास्तथैव च । मूत्रदोषाश्च ये चापि बस्तौ ते संभवन्ति हि"–इति । समुदीर्णमेवं पित्तं तानेव मेदोमांसशरीरक्लेदान् बस्तिगतान् प्रदूष्य पैत्तिकान् मेहान् करोति । पित्तप्रमेहसंप्राप्तिमुक्त्वा वातप्रमेहसंप्राप्तिमाह–क्षीणेष्वित्यादि । अनिलो दोषेषु क्षीणेषु बस्तौ धातूनवकृष्य मेहान् वातजान् कुरुते । मेहानिति बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया बहुत्वात् । क्रमेण कफपित्तवातजाना साध्यासाध्यत्वमाह–साध्या इत्यादि । दोषदूष्याणां समक्रियत्वादिति, अत्र दोषः श्लेष्मा, दूष्याणि रसमांसमेदोमज्जाशुक्रलसीकौजांसि; दोषस्य श्लेष्मणः, एषां दूष्यवर्गाणां च कटुतिक्तकषायादिभिः समैव क्रिया, अत एव कफजाः प्रमेहाः दश साध्याः प्रमेहं विनाऽन्येषां रोगाणामतुल्यदूष्यत्वमेव साध्यत्वहेतुः । दोषदूष्याणां विषमक्रियत्वादिति; अत्र दोषः पित्तं, दूष्याणि रसमांसादीनि; शीतमधुरादिका क्रिया पित्तघ्नी, सा रसमांसमेदोजननी; एतेन विषमक्रियत्वात् षट् पित्तजा याप्याः । महात्ययत्वादिनाशकारित्वात्' ( आ० द० ) ॥ २–३ ॥

क्षीणेषु दोषेष्ववकृष्य धातून्
संदूष्य मेहान् कुरुतेऽनिलश्च ।
साध्याः कफोत्था दश, पित्तजाः षड्
याप्या, न साध्यः पवनाच्चतुष्कः ॥ ३ ॥
समक्रियत्वाद्विषमक्रियत्वा-
न्महात्ययत्वाच्च यथाक्रमं ते ॥

कफपित्तवातजमेहानां क्रमेण सम्प्राप्तिमाह—मेद इत्यादिना । अत्र कफजा एव मेहा भूयस्त्वेन साध्यत्वेन चादावुच्यन्ते । तानेवेति मेदोमांसशरीरजक्लेदान् । उष्णैरिति उष्णवीर्यस्पर्शैर्द्रव्यैः । क्षीणेषु दोषेष्विति प्रवृद्धत्वेनैव क्षीणेषु, न तु समानापेक्षया क्षीणेषु, अनेन वृद्धे कफे पित्ते वा यो वायुर्लङ्घनादिना क्रमेण वृद्धो भवति, स नेहासाध्यमेहचतुष्टयप्रकरणे विवक्षित इति सूच्यते । तत्र हि चिकित्साविधानात् साध्यत्वमस्ति । यदुक्तं,—"या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्वणानां विहिता क्रिया सा । वायुर्हि धातुष्वतिकर्षितेषुं कुप्यत्यसाध्यान् प्रति नास्ति चिन्ता" ( च नि स्था अ ६ )—इति । दोषेष्विति कफपित्तेषु, द्वयोश्च बहुवचनं व्यक्त्यपेक्षया बहुत्वात् । अवकृष्येति बस्तिमुखं नीत्वा । धातूनिति वसामज्जौजोलसीकाख्यान् । समक्रियत्वादिति कफस्य दोषस्य दूष्यस्य च मेदःप्रभृतेः समानत्वात् कटुतिक्तादिक्रियायाः । अत्र व्याधिमहिम्ना तुल्यदूष्यता साध्यतायां हेतुः । तेन "न च तुल्यगुणो दूष्यो न दोषः प्रकृतिर्भवेत्" ( च सू स्था अ १० ) इति चरकवचनं कष्टसाध्यतार्थं नोद्भावनीयम् । यदुक्तं,—"ज्वरे तुल्यर्तुदोषत्वं प्रमेहे तुल्यदूष्यता । रक्तगुल्मे पुराणत्वं सुखसाध्यस्य लक्षणम्"—इति । विषमक्रियत्वादिति पित्तस्य प्रमेहप्रधानदूष्यस्य च मेदःप्रभृतेश्चान्योन्यविपरीतक्रियत्वात्, पित्तहरं हि मधुरादि मेदस्करं, मेदोहरं च कटुकादि पित्तकरमिति क्रियावैषम्यं, अत्र व्याधिस्वभावो हेतुः, तेनान्येषु व्याधिषु परस्परविरुद्धदोषदूष्यसंसर्गेऽप्युभयप्रशमनीयं भेषजविधिरविरोधीति । महात्ययत्वादिति मज्जादिगम्भीरधात्वपकर्षकत्वेन बहुव्यापत्तिकरत्वात्, आशुकारित्वादितीशानः । चकाराद्विषमक्रियत्वं च वातजानां समुच्चीयते ॥ २ ॥ ३ ॥

*कफः सपित्तः पवनश्च दोषा, मेदोऽस्रशुक्राम्बुवसालसीकाः ।
मज्जा रसौजः पिशितं च दूष्याः, प्रमेहिणां विंशतिरेव मेहाः ॥४॥

सर्वमेहानां दोषदूष्यसंग्रहमाह—कफ इत्यादिना । वसा मांसस्नेहः, सर्वदेहस्नेह इत्यन्ये । लसीकोदकविशेषः । यथाह चरकः,—"यत्तु मांसत्वगन्तरे उदकं तल्लसीका-

* 'सर्वमेहानामयं दोषदूष्यसंग्रहः—त्रयो दोषाः, अस्रं रक्तं, अम्बु शरीरक्लेदः, "तेजोभूतं परं सूक्ष्मं स रक्तरस उच्यते । लसीका नाम लमते समपशिरस्त्वगाश्रित"—इति । तथा तन्त्रान्तरेऽपि दूष्यसंग्रह उक्तः—"वसा मांसं शरीरस्य क्लेदः शुक्रं सशोणितम् । मेदो मज्जा लसीकौजः प्रमेहे दूष्यसंग्रहः"—इति' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

१ 'मेदेष्वतिकर्षितानां' इति पाठान्तरम् ।

शब्दं लभते" ( च. शा. स्था. अ. ७ )-इति । रसौज इति रसश्च ओजश्च इति द्वन्द्वः । ओजश्चात्रार्धाञ्जलिपरिमितं श्लेष्मरूपम्, यदुक्तं,-"श्लेष्मलस्यौजसोऽर्धाञ्जलि. परिमाणम्" ( च. शा. स्था. अ. ७ )-इति, नत्वष्टबिन्द्वात्मकं, तस्य भ्रंशेन मरणाभिधानात् । ननु, रस एवौजो रसौज इति कुतो न कल्प्यते ? रसोऽप्योज शब्देनोच्यते, यदुक्तं,-"तस्मिन् काले पचत्यग्निर्यदन्नं कोष्ठमागतम् । मलीभवति तत् प्राय कल्प्यते किंचिदोजसे" ( च चि. स्था. अ. ८ )-इति; ओजसे इति रसायेत्यर्थ । नैवं, ओजसो हि मधुमेहे दूष्यत्वेनोक्तत्वात्, ओज शब्दोपादानवैफल्याच्च । यद्यप्यत्र बहूनि मेद प्रभृतीनि दूष्यत्वेनोच्यन्ते, तथाऽपिपूर्वं मेदोमासशरीरजक्लेदाना सर्वमेहेष्ववश्यम्भाविदूष्यत्वेन पृथगभिधानम् । मज्जादयस्तु मेहविशेषे दूष्या । तद्यथा—लसीकावसामज्जौजासि वातिके, न पैत्तिके, न श्लैष्मिके । ईशान पुनराह,-रसरक्तशुक्राणि सर्वमेहेषु कदाचिद्दुष्यन्ते न त्ववश्यमिति । किंच सर्वमेहानामेव दोषत्रयजन्यत्वं सकलदूष्याश्रयित्व च 'कफ सपित्त'-इत्यादिनोपदर्श्यते । मेदोमासादीनि त्वत्यन्तदूष्योपदर्शनार्थं पृथगुक्तानि । यतश्चरकेऽपि कियन्त शिरसीयाध्याये सकलमेहवाच्यकमधुमेहकथने दोषत्रयप्रकोपोऽभिहित । तथाहि,-"समाहतस्य, पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहु । दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याय्यते पुन " ( च. सू स्था. अ. १७ )-इति । तथा सुश्रुतोऽप्याह,-"वातपित्तमेदोभिरन्वित. श्लेष्मा मेहान् जनयति" ( सु. नि. स्था. अ. ६. )-इत्यादि । कफादीना मुल्बणादिससर्गस्यानन्त्येन सर्वमेहावस्थाविशेषेण मधुमेहेन च सङ्ख्याधिक्यप्रसङ्गनिरासायावधारणार्थमाह—विंशतिरेव मेहा इति ॥ ४ ॥

*दन्तादीनां मलाढ्यत्वं प्राग्रूपं पाणिपादयोः ।
दाहश्चिक्कणता देहे तृट् स्वाद्वास्यं च जायते ॥ ५ ॥

पूर्वरूपमाह—दन्तादीनामित्यादि । आदिशब्देन नयनताल्वकर्णादीना ग्रहणम् । यदुक्तं सुश्रुते,-"तालुगलजिह्वादन्तेषु मलोत्पत्ति " ( सु नि स्था. अ. ६ )-इति । अत्र च मलभूयस्त्वं मेदोदोषात् । चिक्कणता देहे मेद कफदुष्टे । अत्र चकारात् सुश्रुतोक्तकेशजटिलीभावनखातिवृद्धी बोध्ये । एतच्च व्याधिविशेषनियतमेव, येनान्यत्र विद्यमानाऽपि कफमेदोदुष्टिर्नैवं कर्तुं क्षमा ॥ ५ ॥

†सामान्यं लक्षणं तेषां प्रभूताविलमूत्रता ।
दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषतः ॥ ६ ॥
मूत्रवर्णादिभेदेन भेदो मेहेषु कल्प्यते ।

सामान्यलक्षणमाह—सामान्यमित्यादि । प्रभूतेत्यादि प्रभूतमूत्रत्वं दूष्यद्रवधातुसंबन्धात्, आविलत्वं दोषदूष्यससर्गात् । ननु, कथं कफेन दश, पित्तेन षडिला-

* 'हस्तपादयोः संताप , स्वाद्वास्य मधुरास्यता' ( आ० द० ) ॥ ५ ॥

† 'दोषा वातादय , दूष्या मेदोमज्जादिका , मूत्रवर्णादिभेद इत्र कारणाना समानाना भेद. कल्पनीय , यथा मृत्पात्राणा मृदादिकारणत्वापसामेदेऽपि कुम्भकारादिसंयोगादृटस्थाल्यादिप्रपञ्चभेद.' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥

दिव्यवस्था ? यतः कारणभेदात् कार्यभेद इत्याशङ्क्याह,—दोषदूष्याविशेषेऽपि तत्संयोगविशेषत इति । तेषां दोषदूष्याणामुत्कर्षापकर्षकृतात् संयोगभेदाद्भेदो मेहेषु भवति । यथा—पञ्चानां वर्णानां श्वेतकृष्णपीतलोहितश्यावानां संयोगभेदादनेकपिङ्गलपाटलादिभेदाः । सुश्रुतेऽप्युक्तं—"यथा पञ्चानां वर्णानामुत्कर्षापकर्षकृतेन संयोगविशेषेण कपिलादिनानावर्णोत्पत्तिरेवं दोषादिसंसर्गान्मेहानां नानात्वम्" ( सु. नि. स्था. अ. ६ )—इति । संयोगभेदप्रतीतिः कुत इत्यत आह—मूत्रेत्यादि । मूत्रवर्णादिभेदं दृष्ट्वा कारणानां समानानां भेदः कल्पनीयः, यथा—मृदादिकारणकलापस्याभेदेऽपि कुम्भकारादिसंयोगभेदादुदञ्चनादिप्रपञ्चभेदः । ननु, उदञ्चनादौ कुम्भकारादिप्रयत्नभेदात् संयोगभेदः, अत्र तु कः संयोगभेदहेतुः ? उच्यते, तत्राहारादिकमदृष्टं च भवतीत्यदोषः ॥ ६ ॥—

*अच्छं बहु सितं शीतं निर्गन्धमुदकोपमम् ॥ ७ ॥
मेहत्युदकमेहेन किंचिदाविलपिच्छिलम् ।
इक्षो रसमिवात्यर्थं मधुरं चेक्षुमेहतः ॥ ८ ॥
सान्द्रीभवेत् पर्युषितं सान्द्रमेहेन मेहति ।
सुरामेही सुरातुल्यमुपर्यच्छमधो घनम् ॥ ९ ॥
संहृष्टरोमा पिष्टेन पिष्टवद्बहुलं सितम् ।
शुक्राभं शुक्रमिश्रं वा शुक्रमेही प्रमेहति ॥ १० ॥
मूर्ताणून् सिकतामेही सिकतारूपिणो मलान् ।
शीतमेही सुबहुशो मधुरं भृशशीतलम् ॥ ११ ॥
शनैः शनैः शनैर्मेही मन्दं मन्दं प्रमेहति ।
लालातन्तुयुतं मूत्रं लालामेहेन पिच्छिलम् ॥ १२ ॥

अत्र कफस्य श्वेतशीतमूर्तपिच्छिलाच्छस्निग्धगुरुमधुरसान्द्रप्रसादमन्देषु गुणेषु मध्ये कुत्रचित् किंचिद्गुणप्रकर्षादुदकमेहादयो दश दृश्यन्त इत्याह—अच्छमित्यादि । सान्द्रप्रसादस्त्वेक एव गुणो गणनीयः, सान्द्रमेहव्यपदेशस्त्वेकदेशेन

---

* 'आविलं घनम् । पर्युषित रात्रौ पात्रे स्थापितम् । पिष्टमेहमाह—संहृष्टेत्यादि । तण्डुलादिकृतालेपनपिष्टवत् । संहृष्टरोमा रोमाञ्चितशरीरः । पिष्टमित्यनेन श्वेतत्वं, श्लेष्मणः श्वेतत्वात् । सिकता वालुका । मन्दशब्देन श्लेष्मैवोच्यते, मधुरत्वान्मूत्रं मन्देन वेगेन शनैः प्रमेहति । एव दश श्लेष्मणः । एते दोषदूष्यसंयोगगुणादिव्यतिसंख्यां लभन्ते । उक्तं च तन्त्रान्तरे—"शीताच्छदीर्घशुद्धकप्रमेहः स्यादिक्षुवाली मधुराच्छशीतात् । पिष्टोत्कटः स्वच्छगुणात्सुरास्यो मूत्रेण युक्तः सिकताप्रमेहः ॥ मन्देन मूत्रेण शनैः प्रमेहो गुरोर्विदग्धाच्छलप्रमेहः । पिष्टप्रमेहः खलु शुक्लभागात्समस्तसान्द्रेण तु सान्द्रमेहः ॥ स्निग्धेन शुक्रेण च शुक्रमेहः स्यात्सैनमेहो गुरुशुक्लयोगात् । इत्येभिरेभिः कफदोषजातैर्दशो प्रमेहा दश संभवन्ति । औत्कट्यतोऽस्य व्यपदेश एषु संसर्गभावो गुणदोषदूष्यात् । पित्ताश्रीसहरिद्राम्लक्षाररमाञ्जिष्ठशोणितैः । सर्पिर्मेह मरत्कुर्यात्पुत्कश्च छवनेन हि ॥ मेदोयुक्तो वसायुक्तो वसामेहवरस्तु सः । क्षौद्रमेहे रौक्ष्यगुणादिभ्यो हस्तिमेहतः"—इति ( भा० ३० ) ॥ ७—१२ ॥

भविष्यतीति। एतैश्च श्वेतादिभिर्गुणैर्व्यस्तैः समस्तैश्च योगाद्दश मेहा न तु यथाक्रमं, "येन गुणेनैकेनानेकेन वा भूयस्तरमुपसृज्यते तत्समाख्यं गौणं नामविशेषं प्राप्नोति" ( च. नि. स्था. अ. ४ )—इति चरकवचनात्। नच यथा दशभिर्गुणैर्दश मेहान् करोति तथा संसर्गविकल्पान्तरेणापरानपि कुतो न करोतीत्याशङ्कनीयं, भावस्वभावस्यापर्यनुयोज्यत्वात्, अदृष्टकल्पनायाश्चानर्हत्वात्। तत्र श्वेताच्छशीतैर्गुणैरुदकमेहः; मधुरशीताभ्यामिक्षुमेहः; सान्द्रपिच्छिलाभ्यां सान्द्रमेहः; अच्छेन पित्तानुरागिणा सुरामेहः; शुक्लेन पिष्टमेहः, अत्र पिष्टवदित्यालेपनपिष्टवत्; श्वेतस्निग्धाभ्यां शुक्रमेहः; अत्र शुक्राभमिति सर्वमेव मूत्रं शुक्रतुल्यं, शुक्रमिश्रं वेति शुक्राभशुक्रमिश्रं; वास्तवशुक्रमिश्रत्वे तु कफजस्याप्यसाध्यत्वं स्यादिति, वाप्यचन्द्रस्तु शुक्रस्य मूत्रेण गुणकृतं सादृश्यं, शुक्रमिश्रं वेति च शुक्रगुणानां संयुक्तसमवायान्मूत्रे दर्शनमित्याह; सान्द्रमूर्ताभ्यां सिकतामेहः, अत्र मूर्ताणूनिति मूर्तान् कठिनान्, अणून् अल्पान्; मलानिति बहुवचनं दोषाणामवयवबहुत्वात्, जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमिति वाप्यचन्द्रः; मलोऽत्र प्रकरणात् कफः; गुरुमधुरशीतैः शीतमेहः; मन्दमूर्ताभ्यां शनैर्मेहः; पिच्छिलेन लालामेहः। चरके सुरामेहस्थाने सान्द्रप्रसादमेहः पठितः, तथा पिष्टमेहः शुक्लमेहशब्देन, तेनैव शीतमेहलालामेहौ पठितौ, पित्तजश्च कालमेहः; सुश्रुतस्तु चरकोक्तशीतमेहलालामेहयोः स्थाने फेनमेहलवणमेहौ, कालमेहस्थाने चाम्लमेहं पठितवान्। सामञ्जस्यं चात्र नास्त्येव, परस्परलक्षणसंवादाभावात्, स्मृतिद्वैध्यवत् सर्वं प्रमाणम् ॥ ७–१२ ॥

*गन्धवर्णरसस्पर्शैः क्षारेण क्षारतोयवत्।
नीलमेहेन नीलाभं कालमेही मसीनिभम् ॥ १३ ॥
हारिद्रमेही कटुकं हरिद्रासंनिभं दहत्।
विस्रं माञ्जिष्ठमेहेन मञ्जिष्ठासलिलोपमम् ॥ १४ ॥
विस्रमुष्णं सलवणं रक्ताभं रक्तमेहतः।

पित्तात्तु षड्भिः पित्तगुणैः क्षारनीलकालपीतलोहितविस्रैर्यथाक्रमं क्षारमेहादयः षट्, तान् गन्धवर्णरसस्पर्शैरित्यादिना दर्शयति—गन्धेत्यादि। नीलाभमिति चासपक्षप्रभं, चासः 'स्वर्णचूड' इति लोके ख्यातः, क्वचित् 'टाकुयना चासः' इति गदाधरः, तत्पक्षश्च स्निग्धनीलो भवति। दहदिति मूत्रविशेषणम्। दहन्निति पाठान्तरे दाहमनुभवन् पुरुषः ॥ १३ ॥ १४ ॥—

†वसामेही वसामिश्रं वसाभं मूत्रयेन्मुहुः ॥ १५ ॥

* 'गन्धादिभिः क्षारतोयवत् क्षारमेहेन। विस्रं निस्रगन्धि। एवं षट् पैत्तिकाः। सर्वत्र मूत्रमिति योज्यम्' ( आ० द० ) ॥ १३ ॥ १४ ॥

† 'वसा मांसस्नेहः, वसामिश्रं वसामिलितं, वसाभं वसातुल्यं, मुहुर्मूत्रयेत्। मज्जमेहमाह—मज्जाभमित्यादि। सुश्रुतेऽयं सर्पिर्मेहनाम्ना पठितः, शेषं पूर्ववद्व्याख्येयम्। हस्तिमेहमाह—हस्तीत्यादि। अजस्रमनवरतं, वेगविवर्जितं वेगरहितं, सलसीकं लसीकया सह, विबद्ध पिण्डीभूतमिव' ( आ० द० ) ॥ १५–१७ ॥

१ 'अथान्तरशुक्रमिश्रत्वे' ख.।

मज्जाभं मज्जमिश्रं वा मज्जमेही मुहुर्मुहुः ।
कषायं मधुरं रूक्षं क्षौद्रमेहं वदेद्बुधः ॥ १६ ॥
हस्ती मत्त इवाजस्रं मूत्रं वेगविवर्जितम् ।
सलसीकं विबद्धं च हस्तिमेही प्रमेहति ॥ १७ ॥

वातेन यथाक्रमं वसामज्जौजोलसीकाभिर्यथाक्रमं वसामेहादयः, तानाह—वसेत्यादि । अत्र वसामेहः सुश्रुते सर्पिर्मेहनाम्ना, क्षौद्रमेहश्चरके मधुमेहनाम्ना पठितः ॥ १५-१७ ॥—

*अविपाकोऽरुचिश्छर्दिर्निद्रा कासः सपीनसः ।
उपद्रवाः प्रजायन्ते मेहानां कफजन्मनाम् ॥ १८ ॥
बस्तिमेहनयोस्तोदो मुष्कावदरणं ज्वरः ।
दाहस्तृष्णाऽम्लिका मूर्च्छा विड्भेदः पित्तजन्मनाम् ॥१९॥
वातजानामुदावर्तः कम्पहृद्ग्रहलोलताः ।
शूलमुन्निद्रता शोषः कासः श्वासश्च जायते ॥ २० ॥

इदानीं कफादिमेहानां कृच्छ्रसाध्यत्वमसाध्यत्वं च ज्ञापयितुं भेदेनोपद्रवानाह—अविपाकोऽरुचिरित्यादि । कफजे कास आर्द्रः, वातजे शुष्कः । तोदः संसर्गिवातजन्यः, मेहानां त्रिदोषजन्यत्वात् । मुष्कावदरणं पाकेन । अम्लिका अम्लोद्गारः । लोलता सर्वरसभक्षणेच्छा, इयं तु प्रभावाद्धातुक्षयाद्वा भवति, यथा वातमहेण्या 'गृद्धिः सर्वरसानां' इत्युक्तम् ॥ १८-२० ॥

यथोक्तोपद्रवाविष्टमतिप्रस्रुतमेव च ।
पिडकापीडितं गाढं प्रमेहो हन्ति मानवम् ॥ २१ ॥

असाध्यतामाह—यथोक्तोपद्रवाविष्टमित्यादि । उक्तैरविपाकादिभिरन्यैश्च सुश्रुतायुक्तैरुपद्रवैः, तद्यथा—कफजे आलस्यास्योपदेहशैथिल्यकफप्रसेकमक्षिकोपसर्पणादिकं, पित्तजे पाण्डुरोगादिकम् । अतिप्रस्रुतमिति अतिशयं धातुमूत्रस्रावयुक्तम् । पिडकापीडितमिति शराविकादिपिडकापीडितम् । गाढं कालप्रकर्षात् । यद्यपि पिडका अप्युपद्रवत्वेनाभिमता, यदुक्तं चरके,—"उपद्रवास्तु खलु प्रमेहिणां तृष्णातीसारज्वरदाहदौर्बल्यारोचकाविपाकाः पूतिमांसपिडकालजीविद्रध्यादयः" ( च नि स्था अ. ४ )-इति, तथाऽपि पिडकानां पृथगुत्पादसूचनार्थं पृथक्करणम् । उक्तं च चरके,—"विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः" ( च सू स्था अ १७ )-इति । अन्यदप्यसाध्यलक्षणं बोद्धव्यम् । यदाह चरकः,—"सपूर्वरूपाः कफपित्तमेहाः क्रमेण ये वातकृताश्च मेहाः । साध्या न ते पित्तकृतास्तु याप्याः साध्यास्तु मेदो यदि न प्रदुष्टम्" ( च चि स्था अ ६ )-इति । अस्यार्थः,—ये कफजाः साध्यास्ते सपूर्वरूपाः सन्तोऽसाध्याः, पित्तकृतास्तु याप्या ये ते सपूर्वरूपा एवासाध्याः । सर्वरोगाणामेव यद्यपि पूर्वरूपानुवृत्तावसाध्यत्वमुक्तं, तथाप्यत्राधिकपूर्वरूपान्वयेऽसाध्यत्वं, अन्यत्र

* 'सपीनसः प्रतिश्याययुक्तः, बस्तिर्मूत्राशयः, मेहनं मेढ्रं, विड्भेदो भिन्नपुरीषता । शूलं बस्तिमेहनयोरेव, कासोऽत्र शुष्कः' ( आ० द० ) ॥ १८—२० ॥

तु सकलपूर्वरूपान्वये सतीति विशेषः। क्रमेणेति स्वनिदानक्रमेण। तेन निजहेत्वादिकृता ये वातजाश्चत्वारो मेहास्ते पूर्वरूपरहिता अपि नहि साध्याः, ये तु पश्चाद्धात्वपकर्षणाद्वातानुबन्धेन वातजास्ते साध्या याप्या वा। अत एवोक्तं,–"या वातमेहान् प्रति पूर्वमुक्ता वातोल्वणानां विहिता क्रिया सा" (च. चि. स्था. अ. ६)–इत्यादि॥ २१॥

जातः प्रमेही मधुमेहिनो वा
न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्।
ये चापि केचित्कुलजा विकारा
भवन्ति तांस्तान् प्रवदन्त्यसाध्यान्॥ २२॥

असाध्यतायाः प्रकारान्तरमाह—जात इत्यादि। श्लेष्ममेदसोरतिदुष्ट्या मूत्रमेदःश्लेष्मणामतिमाधुर्यान्मधुमेहिना जातो यः प्रमेही स चाप्यसाध्यो भवतीति। बीजदोषादिति प्रमेहारम्भकदोषदुष्टबीजजातप्रमेहित्वात्। मधुमेहशब्देन चात्र मेहमात्रमुच्यते, यदि तु वातिक उपेक्षितो वा मेहो मधुमेह उच्यते, तदा चेतरप्रमेहयुक्तमातृपितृजनितप्रमेहिणो नासाध्यत्वमुक्तं स्यात्, किंच मधुमेहिना जनितस्य मधुमेहित्वमेव कारणानुरूपतया युक्तं, ततश्च मधुमेही मधुमेहिना (वा) जातो न साध्य इति वक्तुमुचितं, तस्यासाध्यत्वमपि न वक्तव्यं, मधुमेहस्यासाध्यत्वादेव। अन्यत्रापि मधुमेहशब्देन मेहमात्रमुक्तम्। यथा,–"गुल्मी च मधुमेही च राजयक्ष्मी च यो नरः। अचिकित्स्या भवन्त्येते बलमांसपरिक्षयात्" (च. इं. स्था. अ. ९)–इति। यदि त्वत्र मधुमेहोऽभीष्टः स्यात्तदा बलमांसपरिक्षयादिति न कृतं स्यात्, तस्य स्वरूपत एवासाध्यत्वात्। यथा कियन्त शिरसीयाध्याये–"उपेक्षयाऽस्य जायन्ते पिडका माधुमेहिकाः" (च. सू. स्था. अ. १७)–इत्यादिना या मधुमेहसंबन्धित्वेनोक्तास्ता एव "प्रमेहिणां या पिडका मयोक्ताः" (च. चि. स्था. अ. ६)–इत्यनेन च चिकित्सास्थाने प्रमेहिमात्रसंबन्धितयाऽनूद्य चिकित्सायां संयोजिताः। तस्माद्भाविनीं मधुमेहतामाश्रित्य सर्वे एव मेहा मधुमेहशब्दवाच्याः। उक्तं हि वाग्भटे,–"मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति। सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः" (वा. नि. स्था. अ. १०)–इति। गदाधरेण तु पिडकासंबन्धेनैव मधुमेहत्वमुक्तं, यतश्चरके कियन्त शिरसीयाध्याये (च. सू. स्था. अ. १७) मधुमेहमभिधाय पिडका उक्ता इति। तन्न मनोहरं, तत्र मधुमेहशब्देन प्रमेहमात्राभिधानात्। यदि तु मधुमेह एवाभीष्टः स्यात्, तदा 'उपेक्षयाऽस्य जायन्ते'–इत्युपेक्षणाभिधानमनुपपन्नं स्यात्, पिडकानां च मधुमेहभवानां चिकित्सोपदेशो व्यर्थः स्यादिति। कुलजमेहस्यासाध्यताप्रसङ्गेनापरेषामपि कुलजानामसाध्यत्वमाह—ये चापीत्यादि। केचिदिति कुष्ठादयः। कुलजा इति पितृपितामहादिसंभूताः। एतेन प्रमेहिपितृपितामहमातामहस्यापि प्रमेहमसाध्यं दर्शयति। ननु, यस्य पितामहः प्रमेही तस्य पिताऽपि प्रमेही, प्रमेहिजातत्वात्, तथाच सति 'जात

१ कुष्ठीति पाठान्तरम्।

प्रमेही मधुमेहिनो वा न साध्य उक्तः स हि बीजदोषात्'-इत्यनेनैव गतार्थम्। नैवं न हि प्रमेहिना जात इत्येतावता उत्पन्नमात्र एव प्रमेही भवति, किं तर्हि कालवशेन दुष्टेरभिव्यक्तया; यथा-कुष्ठिजातस्य कुष्ठं; एतेन यदाऽनतिदुष्टबीजेन प्रमेहिजातेन पित्रा जन्यते पुरुषः प्रमेही सोऽप्यसाध्य इति। कुलजा इत्यनेनैव मेहस्याप्यसाध्यतायां लब्धतायां पुनस्तद्वचनं प्रमेहाणां प्रायेण सन्तानानुबन्धित्वप्रदर्शनार्थम्। उक्तं च,-'प्रमेहोऽनुषङ्गिणाम्' (च. सू. स्था. अ. २५)-इति ॥ २२ ॥

*सर्व एव प्रमेहास्तु कालेनाप्रतिकारिणः।
मधुमेहत्वमायान्ति तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥ २३ ॥
मधुमेहे मधुसमं जायते स किल द्विधा।
क्रुद्धे धातुक्षयाद्वायौ दोषावृतपथेऽथवा ॥ २४ ॥
आवृतो दोषलिङ्गानि सोऽनिमित्तं प्रदर्शयन्।
क्षणात्क्षीणः क्षणात्पूर्णो भजते कृच्छ्रसाध्यताम् ॥ २५ ॥
मधुरं यच्च मेहेषु प्रायो मध्विव मेहति।
सर्वेऽपि मधुमेहाख्या माधुर्याच्च तनोरतः ॥ २६ ॥

उपेक्षया हि पित्तकफजानामपि मधुमेहत्वं प्रदर्शयितुमाह—सर्व एवेत्यादि। धातुक्षयावरणाभ्यां कुपितवातेन मधुमेहसंभवमाह—मधुमेह इत्यादि। मधुसममिति 'मूत्रं' इति शेषः। स इति मधुमेहः। सावरणलिङ्गमाह—आवृत इत्यादि। आवृत इति आवृतवातकृत.। दोषलिङ्गानीति येन पित्तादिना आवृतस्तस्य वातस्य च लिङ्गानि प्रदर्शयति। अनिमित्तमकस्मात्। क्षीणः क्षणात् क्षणात्पूर्ण इति आवरणेन पुनः पूर्णो भवन् कृच्छ्रसाध्यो भवति। तथाच चरकः,-"प्रमाद्यतस्य पित्तस्य कफस्य च मुहुर्मुहुः। दर्शयत्याकृतिं गत्वा क्षयमाप्याय्यते पुनः" (च. सू. स्था. अ. १७)-इति। धातुक्षयकुपितवातजस्य तु केवलवातजमेव लिङ्गम्। गदाधरस्त्वाह,-मधुमेहः सावरणवायुनैव क्रियते। यदाह चरकः,—"तैरावृतगतिर्वायुरोज आदाय गच्छति। यदा बस्तिं तदा कृच्छ्रो मधुमेहः प्रवर्तते" (च. सू. स्था. अ. १७)-इति। केवलवातजेषु तु कषायादिवमनादियोगादिष्टेषु धातुक्षयजेषु वायोरावरणं नास्तीति भेदः। मधुमेहशब्दप्रवृत्तौ निमित्तमाह—मधुरं यच्च मेहेष्वित्यादि ॥ २३-२६ ॥

---

* 'सर्व एव प्रमेहा अप्रतिकारिणः प्रतिकारमकुर्वतः पुंसः कालेन मधुमेहत्वमायान्ति, तदाऽसाध्या भवन्ति। स च द्विधा भवति, एको धातुक्षयात् कुपितवायोः, धातुक्षयकुपितवातजस्य तु मधुमेहस्य केवलवातमेहत्वं; यदुक्तम्-"हस्तं ग्रीवां निष्पीड्य मेहेत्स्थसाद्गुरु.। अतः मधुमेहो धातुक्षयेनासाध्यस्तु वातजः."-इति; अपरस्तु दोषैरावृतपथः, येन पित्तादिना दोषेणावृतस्य मरुतो तस्य लिङ्गं स्फुटं दर्शयति। तनोः शरीरस्य माधुर्यात्; अतः सर्व एव प्रमेहा मधुमेहाख्या उच्यन्ते' (आ० ८०) ॥ २३-२६ ॥

*शराविका कच्छपिका जालिनी विनताऽलजी ।
मसूरिका सर्षपिका पुत्रिणी सविदारिका ॥ २७ ॥
विद्रधिश्चेति पिडकाः प्रमेहोपेक्षया दश ।
सन्धिमर्मसु जायन्ते मांसलेषु च धामसु ॥ २८ ॥

प्रमेहोपेक्षया पिडकासम्भवं दर्शयितुमाह—शराविकेत्यादि । इह दशपिडकासु विनतायाः पाठो भोजविरुद्धः, भोजे हि नव पिडकाः, तद्यथा,—"शराविका सर्षपिका कूर्मिका जालिनी तथा । कुलत्थिकाऽलजी पुत्री विदारी विद्रधी तथा ॥ नवैता पिडका ज्ञेया "—इत्यादि । कुलत्थिका भोजे मसूरिका ज्ञेया, किंतु भोज एव विनता न्यूनेति वक्तु शुक्रं, सुश्रुते चरके च विनताया दर्शनात् । चरके तु सप्त पिडकाः । तद्यथा,—"शराविका कच्छपिका जालिनी सर्षपी तथा । अलजी विनताख्या च विद्रधी चेति सप्तमी" ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इति । तत्र प्रायोभावात् सप्तानामभिधानम् । यतस्तत्रैव कियन्त शिरसीये "तथाऽन्या पिडका सन्ति" इत्यादिनाऽधिकपिडकासम्भवं सूचितं । प्रमेहोपेक्षयेत्यभिधानं मधुमेहेन प्रमेहमानेण च पिडकासम्भवं दर्शयति । अत एव "विना प्रमेहमप्येता" ( च. सू. स्था. अ. १७ )—इत्यत्र प्रमेहमानग्रहणं कृतम् । धामस्विति स्थानेषु ॥ २७ ॥ २८ ॥

†अन्तोन्नता तु तद्रूपा निम्नमध्या शराविका ।
गौरसर्षपसंस्थाना तत्प्रमाणा च सर्षपी ॥ २९ ॥
सदाहा कूर्मसंस्थाना ज्ञेया कच्छपिका बुधैः ।
जालिनी तीव्रदाहा तु मांसजालसमावृता ॥ ३० ॥
अवगाढरुजाक्लेदा पृष्ठे वाऽप्युदरेऽपि या ।
महती पिडका नीला विनता नाम सा स्मृता ॥ ३१ ॥
महत्यल्पाचिता ज्ञेया पिडका चापि पुत्रिणी ।
मसूराकृतिसंस्थाना विज्ञेया तु मसूरिका ॥ ३२ ॥
रक्ता सिता स्फोटचिता दारुणा त्वलजी भवेद् ।
विदारीकन्दवद्वृत्ता कठिना च विदारिका ॥ ३३ ॥
विद्रधेर्लक्षणैर्युक्ता ज्ञेया विद्रधिका तु सा ।

सर्वासामाकृतिमाह—अन्तोन्नतेत्यादि । तद्रूपेति शरावरूपा । अल्पाचिता अल्पपिडकान्तराचिता । विद्रधेर्लक्षणैर्युक्तेत्यभिधानेन विद्रधेरस्या भेदो बोध्य ॥२९–३३॥—

* 'प्रमेहोपेक्षयाऽप्रतिक्रियमाणेषु कालप्रकर्षादित्यर्थः । सन्धिमर्मसु संध्याश्रितेषु मर्मसु, अन्ये सन्धौ मर्मसु चेति व्याख्यानयन्ति' ( आ० द० ) ॥ २७ ॥ २८ ॥

† 'अन्ते उन्नता मध्ये निम्ना, तद्रूपा शरावरूपा । कच्छपिकामाह—सदाहेत्यादि । दाहयुक्ता कूर्माऽऽकारा । जालिनीमाह—जालिनीत्यादि । अतिशयदाहयुक्ता मांसजालैर्व्याप्तेव, अस्या लक्षणं तन्त्रान्तरे—"परस्पराभिसम्बन्धात्पिडका चैकदेशजा । पित्तोत्कटा दाहवती सूक्ष्मरन्ध्रा च जालिनी मता"—इति । विनतामाह—अवगाढेत्यादि । अवगाढरुजाक्लेदा अन्तर्निविष्टवेदनाक्लेदा पृष्ठे वा जठरे वा जायते । महती स्थूला, नीला नीलवर्णा । विदारिका पिडका विदारीकन्दवद्वृत्ता परिवर्तुला, कठिना अश्मवत्' ( आ० द० ) ॥ २९–३३ ॥

*ये यन्मयाः स्मृता मेहास्तेषामेतास्तु तन्मयाः ॥ ३४ ॥
विना प्रमेहमप्येता जायन्ते दुष्टमेदसः ।
तावच्चैता न लक्ष्यन्ते यावद्वास्तुपरिग्रहः ॥ ३५ ॥

पिडकानामारम्भककारणमाह—ये यन्मया इत्यादि । तन्मया इति निर्देशः क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशत इति ङीपं बाधित्वा टापा साधनीयः । तद्दोषं मत्वा केचित् 'तत्कृता' इति पाठान्तरं कृतम् । अयमत्र पिण्डार्थः—यो यद्दोषोल्बणो मेहस्तद्दोषोल्बणेनैव पिडका भवन्ति । ननु, जालिन्या तीव्रदाह पठितः, स च पित्तकृतः, भोजेऽपि जालिनी पित्तकृतैव पठिता,—यथा,—"परस्पराभिसंयुक्ता पिडका चैकदेशजा । पित्तोत्कटा दाहवती सूक्ष्माग्रा जालिनी मता"—इति । तत्कथं जालिन्याः पित्तजत्वनियमाच्चे यन्मयेत्यादिग्रन्थार्थसंगतिः ? नैव, प्रचुरपिडकानां तन्मयत्वेन बाहुल्येनाभिधानं, यथा—छत्रिणो गच्छन्तीति गदाधरः, किंवा प्रमेहिणां जालिनी पित्तप्रधाना भवति, श्लेष्मवातप्रमेहभवत्वेन श्लेष्मवातप्रधाना च तेन दोषत्रयप्रधानत्वात् सर्वदा सा भवति । अन्यस्त्वाह,—तीव्रदाहत्वं पित्तोत्कटत्वं च पैत्तिकमेहनायां जालिन्यामवगन्तव्यं, अन्यमेहजा त्वन्यदोषोत्कटा निर्दाहा च । अत एव चरके जालिनी कफोल्बणा निर्दाहा एव पठिता । तद्यथा,—"शराविका कच्छपिका जालिनी चेति दुःसहा । जायन्ते ता अतिबलाः प्रभूतश्लेष्ममेदसाम् ॥ स्तब्धा सिराजालवती स्निग्धस्रावा महाशया । रुजानिस्तोदबहुला सूक्ष्मच्छिद्रा च जालिनी" (च सू स्था अ १७)—इति । न चातिप्रसक्तिः, उक्तं हि चरके समर्थ्यते, अस्मिंश्च समाधाने ये यन्मया इत्यादि न व्याहन्यते । चरकभोजवचनयोर्व्याविरोधार्थं पक्षान्तरं मृग्यम् । कार्त्तिकस्त्वाह,—पाककाले पित्तोत्कटत्वं, "तस्माद्धि सर्वान् परिपाककाले पचन्ति शोथांस्त्रय एव दोषाः" (सु सू स्था अ १७)—इति वचनात्, एतत्तु सर्वत्राविशेषान्नाद्रियते ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

†गुदे हृदि शिरस्यंसे पृष्ठे मर्मसु चोत्थिताः ।
सोपद्रवा दुर्बलाग्नेः पिडकाः परिवर्जयेत् ॥ ३६ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने प्रमेहप्रमेहपिडकानिदानं
समाप्तम् ॥ ३३ ॥

असाध्यपिडकालक्षणमाह—गुदे इत्यादि । सोपद्रवा इति उपद्रवाश्च तृष्णादयः । यथाह चरकः—"तृट्कासमांससंकोचमोहहिक्कामदज्वराः । विसर्पमर्मसंरोधाः पिडकानामुपद्रवाः" (च सू स्था अ १७)—इति । पिडकास्तु प्रायेणाच्च मर्म

* ये यस्य यन्मया मेहास्तेषां प्रमेहानामेता पिडकास्तन्मयास्तद्दोषजा भवन्ति । श्लेष्मजास्तु कफजाः, पित्तजास्तु पित्तजाः, वातजास्तु वातजाः । [illegible] दुष्टमेदसः पुरुषस्य जायन्ते, [illegible] न भवति (आ० द०) ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

† 'अंसे स्कन्धे, मर्मसु [illegible] (आ० द०) ॥ ३६ ॥

एव, दोपदूष्याणामध प्रसरणात्, "रसायनीना च दौर्बल्यात्रोर्ध्वमुत्तिष्ठन्ति प्रमेहिणा दोपा"—( सु चि. स्था अ १२) इति वचनाच । केचिदाहु–स्त्रीणा प्रमेहो न भवतीति। तथाच तन्त्रान्तरे,—"रज प्रसेकान्नारीणा मासि मासि विशुध्यति। सर्वं शरीर दोषाश्च न प्रमेहन्त्यत स्त्रिय"—इति। किंतु स्त्रीषु प्रमेहदर्शनात्, एतद्धेतुबलादन्यरोगासम्भवत्वाच्चैतत् प्रायोवादमाश्रित्योक्तम्। मेहनिवृत्तिलक्षण च सुश्रुते पठितम्। तद्यथा,—"प्रमेहिणो यदा मूत्रमनाविलमपिच्छिलम्। विशद तिक्तकटुक तदाऽऽरोग्य प्रचक्षते" (सु. चि स्था अ १२)–इति॥ ३६॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृताया मधुकोशव्याख्याया प्रमेहप्रमेहपिडकानिदान समाप्तम्॥३३॥

---

## अथ मेदोरोगनिदानम्।

*अव्यायामदिवास्वप्नश्लेष्मलाहारसेविनः।
मधुरोऽन्नरसः प्राय· स्नेहान्मेद· प्रवर्धयेत्॥ १॥
मेदसाऽऽवृतमार्गत्वात् पुष्यन्त्यन्ये न धातवः।
मेदस्तु चीयते तस्मादशक्त· सर्वकर्मसु॥ २॥
क्षुद्रश्वासतृषामोहस्वप्नक्रथनसादनैः।
युक्तः क्षुत्स्वेददौर्गन्ध्यैरल्पप्राणोऽल्पमैथुनः॥ ३॥
मेदस्तु सर्वभूतानामुदरेष्वस्थिषु स्थितम्।
अत एवोदरे वृद्धिः प्रायो मेदस्विनो भवेत्॥ ४॥
मेदसाऽऽवृतमार्गत्वाद्वायुः कोष्ठे विशेषतः।
चरन् सन्धुक्षयत्यग्निमाहारं शोषयत्यपि॥ ५॥
तस्मात् स शीघ्र जरयत्याहारमभिकाङ्क्षति।
विकारांश्चाप्नुते घोरान् कांश्चित् कालव्यतिक्रमात्॥ ६॥
एतावुपद्रवकरौ विशेषादग्निमारुतौ।
एतौ तु दहत· स्थूलं वनदावो वनं यथा॥ ७॥
मेदस्यतीव संवृद्धे सहसैवानिलादयः।
विकारान् दारुणान् कृत्वा नाशयन्त्याशु जीवितम्॥ ८॥

"विशेषतः"—इति । यद्यपि मन्दाग्नित्वमलिनाशनत्वयोः प्रत्येकमपि दोषत्रयजनकत्वमस्ति तथाऽप्यनयोरुभयहेतुजनकत्वेन दोषदुष्टिप्रकर्षः ख्याप्यते, अत एव दुष्टिप्रकर्षख्यापनार्थं मलसंचयादिरत्र संपूर्णं कृतवान् ॥ १ ॥

*रुद्ध्वा स्वेदाम्बुवाहीनि दोषाः स्रोतांसि संचिताः ।
प्राणाग्न्यपानान् संदूष्य जनयन्त्युदरं नृणाम् ॥ २ ॥

संप्राप्तिमाह—रुद्ध्वेत्यादि । स्वेदाम्बुवाहीनीति स्वेदवहान्यम्बुवहानि च । अत्र-चोक्तो भेदः, "उदकवहानां स्रोतसां तालु मूलं क्लोम च; स्वेदवहानां स्रोतसां मेदो मूलं, लोमकूपाश्च" ( च. वि. स्था. अ. ५ )—इत्यनेनोक्तो ज्ञेयः । स्रोतोरोधश्चात्र बहिरेव न पुनरन्तः । यदुक्तं चरके,—"स्वेदस्तु बाह्येषु स्रोतःसु प्रतिहतगतिस्तिर्यगवतिष्ठमानस्त एवोदकमाप्याययति"—( च. चि. स्था. अ. १३ ) इति । अत एवोदरपूर्णताऽन्तरसेन । प्राणाग्नीति पुनरग्निदूषणाभिधानेन मन्दस्याप्यग्नेः पुनर्दोषहृतं सुतरां मान्द्यं बोधयति । दोषसंचयगतेनापि वायुना प्राणापानयोर्दूषणं न विरुद्धं, यतो वायुना वाय्वन्तरदुष्टिः क्रियत एव । सुश्रुते तु पूर्वरूपमप्युक्तं, तद्यथा,—"तत्पूर्वरूपं बलवर्णकाङ्क्षावलीविनाशो जठरे हि राज्यः । जीर्णापरिज्ञानविदाहवत्यो बस्तौ रुजः पादगतश्च शोथः" ( सु. नि. स्था. अ. ७ )—इति ॥ २ ॥

†आध्मानं गमनेऽशक्तिर्दौर्बल्यं दुर्बलाग्निता ।
शोथः सदनमङ्गानां सङ्गो वातपुरीषयोः ॥ ३ ॥
दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि ।
पृथग्दोषैः समस्तैश्च प्लीहबद्धक्षतोदकैः ॥ ४ ॥
संभवन्त्युदराण्यष्टौ तेषां लिङ्गं पृथक् शृणु ।

उदराणां सामान्यरूपमाह—आध्मानमित्यादि । दुर्बलाग्नितेति मन्दोऽग्निर्यद्यप्यत्र हेतुस्तथाऽप्यग्नेरतिशयदौर्बल्यं लिङ्गत्वेन ज्ञेयम् । उदराण्यष्टाविति यकृद्दाल्युदरस्य प्लीहोदरेण सार्धं समानचिकित्सतया तयोरुत्पत्तिविशिष्टदर्शनात् क्रमेण भूतदकोदरस्यापि समानलिङ्गचिकित्सितत्वेनाभिन्नत्वादष्टावेवोदराणि भवन्ति । प्लीहोदरादीनि च यद्यपि चत्वारि दोषजानि, तथाऽपि हेतुलिङ्गचिकित्साभेदात् पृथगुक्तानि ॥३॥४॥—

‡तत्र वातोदरे शोथः पाणिपान्नाभिकुक्षिषु ॥ ५ ॥
कुक्षिपार्श्वोदरकटीपृष्ठरुक् पर्वभेदनम् ।

---

* 'दोषाः स्वेदाम्बुवाहीनि स्रोतांसि रुद्ध्वा प्राणाग्न्यपानान् संदूष्योदरमुत्पादयन्ति । प्राणेत्यादि प्राणो वायुरग्निश्च, अपानो वायुः, एतान्; दुष्टेन वायुनाऽदुष्टस्यान्यवायोर्दुष्टिः क्रियत एव' ( आ० द० ) ॥ २ ॥

† 'सदनं सादः । वातपुरीषयोः सङ्ग इति अप्रवृत्तिः । तेषां संख्यामाह—पृथगित्यादि । वातपित्तकफैस्त्रयः, त्रिभिरेकः, प्लीहा बद्धेन क्षतेनोदकेन चैकैकः, एवमष्टावेवोदराणि' ( आ० द० ) ॥ ३ ॥ ४ ॥—

‡ 'हस्तपादादिषु श्वयथुः, कुक्ष्यादिषु च पीडा, उदरस्य वामदक्षिणपार्श्वे कुक्षिः, पर्वभेदनं ग्रन्थिस्फुटनं, अधो नाभेरधः पक्वाशये गुरुता, मलसंग्रहः पुरीषस्याप्रवृत्तिः ।

शुष्ककासोऽङ्गमर्दोऽधोगुरुता मलसंग्रहः ॥ ६ ॥
श्यावारुणत्वगादित्वमकस्माद्वृद्धिह्रासवत् ।
सतोदभेदमुदरं तनुकृष्णसिराततम् ॥ ७ ॥
आध्मातदृतिवच्छब्दमाहतं प्रकरोति च ।
वायुश्चात्र सरुक्शब्दो विचरेत्सर्वतो गतिः ॥ ८ ॥

वातोदरलक्षणमाह—तत्रेत्यादि । अकस्माद्वृद्धिह्रासवदिति अनियतवृद्धिह्रासयुक्तमुदरम् । आध्मातदृतिवदिति वातपूर्णचर्मपुटवदिति ॥ ५—८ ॥

*पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृट् कटुकास्यता ।
भ्रमोऽतिसारः पीतत्वं त्वगादावुदरं हरित् ॥ ९ ॥
पीतताम्रसिरानद्धं सस्वेदं सोष्म दह्यते ।
धूमायते मृदुस्पर्शं क्षिप्रपाकं प्रदूयते ॥ १० ॥

पैत्तिकमाह—पित्तेत्यादि । दह्यत इति उदरमात्रं दह्यते । दाहस्तु सकलदेहस्यैव बोद्धव्यः । धूमायते धूम इवोर्ध्वमेति । क्षिप्रपाकमिति क्षिप्रपाकाज्जलोदरतां यातीत्यर्थः । प्रदूयते व्यथते ॥ ९ ॥ १० ॥

†श्लेष्मोदरेऽङ्गसदनं स्वापः श्वयथुगौरवम् ।
निद्रोत्क्लेशोऽरुचिः श्वासः कासः शुक्लत्वगादिता ॥ ११ ॥
उदरं स्तिमितं स्निग्धं शुक्लराजीततं महत् ।
चिराभिवृद्धं कठिनं शीतस्पर्शं गुरु स्थिरम् ॥ १२ ॥
स्त्रियोऽन्नपानं नखलोममूत्रविडार्तवैर्युक्तमसाधुवृत्ताः ।
यस्मै प्रयच्छन्त्यरयो गरांश्च दुष्टाम्बुदूषीविषसेवनाद्वा ॥ १३ ॥
तेनाशु रक्तं कुपिताश्च दोषाः कुर्युः सुघोरं जठरं त्रिलिङ्गम् ।
तच्छीतवाते भृशदुर्दिने च विशेषतः कुप्यति दह्यते च ॥ १४ ॥
स चातुरो मुह्यति हि प्रसक्तं पाण्डुः कृशः शुष्यति तृष्णया च ।
दूष्योदरं कीर्तितमेतदेव,

---

त्वगादिषु श्यावारुणत्वं, आदिशब्देन नखनेत्रग्रहणम् । अकस्माद्वृद्धिह्रासवदिति वृद्धिधर्मिणी, ह्रस्वाहतवातपूर्णदृतिवच्छब्दं करोति, उदरमिति शेषः । सर्वतोगतिः सर्वकोष्ठगतो वायुः सरुक्शब्दो धावति' ( आ० द० ) ॥ ५–८ ॥

* 'तिक्तास्यता तिक्तमुखत्वं, 'कटुकास्यता' इति पाठान्तरम् । भ्रमोऽत्र चक्रादौ पीतज्ञानमिति, हरित् शाकवर्णम्' ( आ० द० ) ॥ ९ ॥ १० ॥

†'अङ्गसदनमङ्गसादः । स्वापोऽङ्गानामेव, अन्ये आसीनप्रचलायितम् । गौरवमङ्गानाम् । निद्रा निद्राबाहुल्यम् । उत्क्लेशो हृल्लासः । स्तिमितं निश्चलम् । शुक्लसिरानद्धम्'। चिराभिवृद्धिरिति चिरपाकमित्यर्थः । गुरु गौरवयुक्तम् । स्थिरं गुडगुडाशब्दरहितम्' (आ० द०)

'स्त्रियो नखरोमादिभिर्युक्तं यस्मै अन्नपानं प्रयच्छन्ति, असाधुवृत्ताः सौभाग्यमिच्छन्त्यः

---

१ अदमेवमेव पाठमूरीकरोति । २ एतच्च—"चिराभिवृद्धिः कठिनम्" इतिपाठाभिप्रायेण ।

सन्निपातोदरमाह—स्त्रिय इत्यादि । स्त्रीग्रहणमविवेकिसंनिहितजनोपलक्षणम् । गरं संयोगजं विषम् । दुष्टमम्बु सगरप्राणितृणपर्णादिकोथयुतं, विषमेवाम्ब्वाद्युपहतं मन्दप्रभावं वा दूषीविषमुच्यते । यदुक्तं,—"जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा । स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति" ( सु. क. स्था. अ. २ )—इति । तेनात्र रक्तमिति विषस्याग्नेयत्वेन रक्तदुष्टिः । कुपिताश्च दोषा इति स्वभावाद्दोषत्रयप्रकोपकं विषं भवति । तच्छीतवातादिषु कुप्यतीति । दूष्योदरं कीर्तितमेतदेवेति एतदेव सन्निपातोदरं दूष्योदरं कीर्तितं, न पुनरधिकमित्यर्थः । रक्तं दूष्यं दूषयित्वा भवतीति दूष्योदरं; किंवा परस्परं दूषयन्तीति दोषा एव दूष्यास्तैः कृतमुदरमिति ॥ ११—१४ ॥—

*प्लीहोदरं कीर्तयतो निबोध ॥ १५ ॥

विदाह्यभिष्यन्दिरतस्य जन्तोः प्रदुष्टमत्यर्थमसृक् कफश्च ।
प्लीहाभिवृद्धिं कुरुतः प्रवृद्धौ प्लीहोत्थमेतज्जठरं वदन्ति ॥ १६ ॥
तद्वामपार्श्वे परिवृद्धिमेति विशेषतः सीदति चातुरोऽत्र ।
मन्दज्वराग्निः कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः क्षीणबलोऽतिपाण्डुः ।
सव्यान्यपार्श्वे यकृति प्रवृद्धे ज्ञेयं यकृद्दाल्युदरं तदेव ॥ १७ ॥

प्लीहोदरमाह—प्लीहेत्यादि । असृक्कफश्चेत्यसृग्दुष्ट्यैव तत्तुल्यकारणतया पित्तदुष्टिरप्युच्यते, विदाहिना रक्तं पित्तं च दूष्यते; अत एव पश्चाद्वक्ष्यति,—'कफपित्तलिङ्गैरुपद्रुतः'—इति । अत्र पित्तस्य लिङ्गं मन्दज्वरः, कफस्य लिङ्गं मन्दाग्नित्वमिति गदाधरः । प्लीहोदर एव यकृद्दाल्युदरस्यावरोधं दर्शयन्नाह—सव्यान्यपार्श्वे इत्यादि । सव्यान्यपार्श्वे दक्षिणपार्श्वे । तदेवेति तादृशमेव, प्लीहोदरसममेव न विलक्षणमित्यर्थः । यकृद्दालयति दोषैर्भेदयतीति यकृद्दाल्युदरम् ॥ १५—१७ ॥

†उदावर्तरुजानाहैर्मोहतृड्दहनज्वरैः ।
गौरवारुचिकाठिन्यैर्विद्यात्तत्र मलान् क्रमात् ॥ १८ ॥

तत्र दोषसंबन्धमाह—उदावर्तेत्यादि । उदावर्तरुजानाहैर्वातं, मोहतृड्दहनज्वरैः पित्तं, गौरवारुचिकाठिन्यैः कफं जानीयात् ॥ १८ ॥

---

नखरोमादिभिर्भावरनिगुणः, आर्तवं रजः । दूषितो वा द्रव्ये गरं संयोगजं विषम् । दूषीविषं विषमेव मन्दवीर्यादुपहतं मन्दप्रभावं, विपरीतम् वा विषमूलं, तद्दूषीविषमुच्यते; दुष्टाम्बुदूषीविषयोः सेवनात् । तेनात्र रक्तं दुष्टं भवति । कुपितं कुप्यति । जठराग्निमुदरविकारम् । तच्छीतवातादिषु कुप्यति घोरं गच्छति, दूषीविषस्य तथैव कोपात् । तदुक्तं संज्ञायते । मूर्च्छन्ति विषदोषात् । प्रयान्ति विनाशम्' ( आ० द० ) ॥ ११ ॥ १४ ॥

* 'अभिष्यन्दीनि दोषधातुमलस्रोतसां क्लेदकानि गुरूणि । असृक्कफश्चेति असृक्कफेन तुल्यकारणतया पित्तदुष्टिरप्युच्यते' ( आ० द० ) ॥ १५–१७ ॥

† 'अत्र प्लीहोदरयकृद्दाल्युदरयोः दोषभेदमनभिधाय मलान् वातादीन् क्रमेणोदावर्तादिभिर्लिङ्गैर्विद्यात्' ( आ० द० ) ॥ १८ ॥

---

१ "कुप्यति" इत्यत्र "मूर्च्छति" इति पाठान्तरादेव ।

*यस्यान्त्रमन्नैरुपलेपिभिर्वा बालाश्मभिर्वा पिहितं यथावत् ।
संचीयते तस्य मलः सदोषः शनैः शनैः संकरवच्च नाड्याम् ॥१९॥
निरुध्यते तस्य गुदे पुरीषं निरेति कृच्छ्रादपि चाल्पमल्पम् ।
हृन्नाभिमध्ये परिवृद्धिमेति तस्योदरं बद्धगुदं वदन्ति ॥ २० ॥

बद्धगुदमाह—यस्यान्त्रमन्नैरित्यादि । उपलेपिभिः पिच्छिलैरन्नैः शाकशालुकादिभिः । पिहितं विबद्धम् । यथावदिति यथार्हम् । मलः पुरीषम् । सदोष इति दोषत्रयसहितः । नाड्यामित्यन्त्रनाड्याम् । संकरवदिति समार्जनीक्षिप्यमाणतृणाद्यवकरो यथा चीयते क्रमेण तथेत्यर्थः । बद्धगुदमिति गुदोपर्यन्त्रस्य बद्धत्वाद्बद्धगुदम् । यदुक्तं चरके,–"पक्ष्मवालैः सहान्नेन भुक्तैर्बद्धायने गुदे" ( च चि स्था अ १३ )—इति । पुरीषायतनस्य रुद्धत्वात् हृन्नाभिमध्येऽन्नपाकस्थाने हृदि, गुदमान्त्रनिरोधे [illegible] मलदोषैर्गुदादूर्ध्वमेवोदरवृद्धिः स्यात् ॥ १९ ॥ २० ॥

†शल्यं तथाऽन्नोपहितं यदन्त्रं भुक्तं भिनत्त्यागतमन्यथा वा ।
तस्मात्स्रुतोऽन्त्रात्सलिलप्रकाशः स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः २१
नाभेरधश्चोदरमेति वृद्धिं निस्तुद्यते दाल्यति चातिमात्रम् ।
एतत्परिस्राव्युदरं प्रदिष्टं,

क्षतोदरमाह—शल्यमित्यादि । शल्यं कण्टकशर्करादि । अन्नोपहितमन्नयुक्तम् । भुक्तमागतमिति अधर्वं पाकाशयात्, विलोमेनागतमन्त्रं भिनत्ति, ऋज्वागतं हि शल्यमपि नान्त्रभेदकम् । अन्यथा वेति जृम्भणात्यशनाभ्यामन्त्रं भिद्यते । यदुक्तं चरके,–"शर्करातृणलोष्टास्थिकण्टकैरन्नसंयुतैः । भिद्येतान्त्रं यदा भुक्तैर्जृम्भयाऽत्यशनेन वा" ( च चि स्था अ १३ )–इति । स्रुत इति गलितः । स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूय इति यद्यपि यथा भवति तथाऽन्त्रात् स्रुतः, दोषजेषु पुनरुपप्रोहन्यायेनाल्प एव स्रावो भूयः पुनःपुनर्गुदतश्च स्रवेत् । तुशब्दश्चार्थे, भूयःशब्दोऽत्रावर्तनीयः; तेनोक्ता व्याख्या साध्वी भवति । ननु, भिन्नान्त्राद्‌तिर्यगप्र स्रावनिर्गमः, तत्कथं 'स्रावः स्रवेद्वै गुदतस्तु भूयः' इत्युपपद्यते ? नैव, सच्छिद्रान्त्रमार्गेण बहिर्गतस्यापि द्रवस्य पुनरागमनादुपप्रोहन्यायाद्वा गुदतः स्राव उपपन्न एव । चरकेऽप्युक्तं,–"पूरयन् गुदमन्त्रं च जनयत्युदरं नृणाम्" ( च चि. स्था अ १३ )–इति । स्रावेण द्रवस्य शीघ्रगत्वान्नाभेरधो जठरं वृद्धिमेति, एतच्छिद्रोदरं जलोदरमिति भण्यते इति गदाधरः । यत्तु चरकेणोक्तं,–"तदधो नाभेः स्रावोऽभिनिर्वर्तमानः जलोदरं स्यात्" ( च चि. स्था अ १३ ) इति । तदन्ये नानुमन्यन्ते, यतश्छिद्रोदरं शीघ्रं जलोदरतां यातीत्यभिप्रायेण चरकेणोक्तं, अन्यथा दकोदरं पृथङ् स्यात् ॥ २१ ॥—

‡दकोदरं कीर्तयतो निबोध ॥ २२ ॥
यः स्नेहपीतोऽप्यनुवासितो वा वान्तो विरिक्तोऽप्यथवा निरूढः ।

---

* 'तस्य गुदे पुरीषं निरुध्यते कृच्छ्राच्चाल्पमल्पं निरेति निःसरति' ( मा० टी० ) ॥ १९ ॥ २० ॥

† 'निस्तुद्यते शूलेन दाल्यते इव । एतद् परिस्राव्युदरमन्ये छिद्रोदरमाहुः' ( मा० टी० ) ॥ २१ ॥

‡ 'तस्य तदवानि स्रोतांसि दूष्यन्तीति स्वकर्मण्यसमर्थानि भवन्ति । तदुदरं स्निग्धं

पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दूष्यन्ति हि तद्वहानि ॥ २३ ॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथवाऽपि तेषु दकोदरं पूर्ववदभ्युपैति ।
स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि समाततं पूर्णमिवाम्बुना च ।
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चापि दकोदरं तत् २४

उत्पत्तिविशिष्टं दकोदरमाह—यः स्नेहपीत इत्यादि । स्नेहपीत इति कर्तरि क्तः, तेन स्नेहं पीतवानित्यर्थः । दूष्यन्तीति स्वकर्मसु दुष्टानि भवन्ति । तद्वहानि उदकवहानि । तेष्विति उदकवहस्रोतःसु । पूर्ववदिति यथा पूर्वमुक्तम् । अत्ररव उपस्नेहन्यायेन वह्निर्नि स्वस्योदरं जनयतीत्यर्थं इति जेज्जटः । गदाधरस्त्वाह—क्षतान्त्रोदरे यथा अधोनाभेरुदराभिवृद्धिर्गुदस्रावश्च तथा जलोदरेऽपि भवतीति । ननु, सर्वेषामेवोपस्नेहन्यायेन वह्निर्नि स्वतान्नरसमूलत्वात् कथमनुदकत्वम् ? नैवं, तेषु हि प्रथमतो नातिमन्दत्वादग्नेरन्नरसस्याल्पत्वाच्चानुदकत्वं, अल्पत्वेन तद्व्यपदेशात्; अत्र तु प्रागेव भूरिजलोत्पत्तिरिति विशेषः । समाततं वेदनया विस्तार्यमाणमिवोदरं भवति । यथा दृतिः क्षुभ्यतीति दृतिरिव जलपूर्णा क्षुभ्यतीति, अन्तर्जलचलमिव घटो । शब्दायते गुडगुडायते ॥ २२—२४ ॥

*जन्मनैवोदरं सर्वं प्रायः कृच्छ्रतमं मतम् ।
बलिनस्तदजाताम्बु यत्नसाध्यं नवोत्थितम् ॥ २५ ॥
पक्षाद्बद्धगुदं तूर्ध्वं सर्वं जातोदकं तथा ।
प्रायो भवत्यभावाय छिद्रान्त्रं चोदरं नृणाम् ॥ २६ ॥

उदररोगस्य साध्यत्वादिलक्षणमाह—जन्मनैवेत्यादि । जन्मनैवोदरमिति उत्पत्तिमात्रेणैव । अजातोदकस्योदरस्य लक्षणं चरकेऽवगन्तव्यं, तद्यथा,—"अशोथमरुणाभासं सशब्दं नातिभारिकम् । सदा गुडगुडायन्तं सिराजालगवाक्षितम् ॥ नाभिं विष्टभ्य पायौ तु वेगं कृत्वा प्रणश्यति । हृद्वङ्क्षणकटीनाभिगुदप्रत्येकशूलिनः ॥ कर्कशं सृजतो वातं नातिमन्दे च पावके । लोलस्य विरसे चास्ये मूत्रेऽल्पे संहते विशि ॥ अजातोदकमित्येतैर्युक्तं विद्याय लक्षणैः"—( च. चि. स्था. अ. १३ ) इति । अत्र कर्कशमिति वेगवन्तम् । जातोदकलक्षणं च चरके यथा,—"कुक्षेरतिमात्रं वृद्धिः सिरान्तर्धानगमनं उदकपूर्णदृतिसमानक्षोभस्पर्शनं च भवति"—( च. चि. स्था. अ. १३ ) इति । पक्षादित्यादि बद्धगुदमुदरं पक्षादूर्ध्वं विनाशाय भवतीति । जातोदकं पश्चात् । प्रायोग्रहणेन कदाचित् पक्षादूर्ध्वमपि न विनाशाय, तथा शल्यशास्त्राभिमतया चिकित्सया कदाचिज्जातोदकं छिद्रान्त्रं बद्धगुदं च सिध्यतीति दर्शयति । जातोदकं छिद्रान्त्रं च विनाशाय पक्षादूर्ध्वमिति संबन्ध इति केचित् ॥ २५ ॥ २६ ॥

---

भवति, तथा महत्, तथा परिवृत्तनाभि उच्छूननाभि, समाततं वेदनया विस्तीर्णमिवोदरं भवति' ( भा० द० ) ॥ २२ ॥ २४ ॥

* 'उत्पत्तिमात्रेणैव कष्टसाध्यं तदुदरं बलिनः पुरुषस्य अजाताम्बु अजातोदकं नवं चत्वतः साध्यं दृष्टमस्तीति' ( भा० द० ) ॥ २५ ॥ २६ ॥

*शूनाक्षं कुटिलोपस्थमुपक्लिन्नतनुत्वचम् ।
बलशोणितमांसाग्निपरिक्षीणं च वर्जयेत् ॥ २७ ॥
पार्श्वभङ्गान्नविद्वेषशोथातीसारपीडितम् ।
विरिक्तं चाप्युदरिणं पूर्यमाणं विवर्जयेत् ॥ २८ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उदरनिदानं समाप्तम् ॥ ३५ ॥

साध्यतयाऽभिहितानामप्यवस्थाविशेषेणासाध्यतामाह—शूनाक्षमित्यादि ।—"उदरिणं" इति शेषः । कुटिलोपस्थमिति वक्रमेहनम् । उपक्लिन्नतनुत्वचमिति उपक्लिन्ना तन्वी त्वक् यस्य तम् । अग्निपरिक्षीणमिति अग्निक्षयश्च यद्यप्युदरे पूर्वमेव भवति, तथाऽप्यत्र विशेषेणाग्निक्षयो लक्षणान्तरयुक्तश्चासाध्यतालिङ्गं संभवतीति ज्ञेयम् ॥ २७ ॥ २८ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायामुदरनिदानं समाप्तम् ॥ ३५ ॥

---

## अथ शोथनिदानम् ।

†रक्तपित्तकफान् वायुर्दुष्टो दुष्टान् बहिःसिराः ।
नीत्वा रुद्धगतिस्तैर्हि कुर्यात्त्वङ्मांससंश्रयम् ॥ १ ॥
उत्सेधं संहतं शोथं तमाहुर्निचयादतः ।
सर्वं हेतुविशेषैस्तु रूपभेदात्नवात्मकम् ॥ २ ॥
दोषैः पृथग्द्वयैः सर्वैरभिघाताद्विषादपि ।

उदरे शोथस्योपद्रवत्वेनोक्तत्वात्तदनन्तरं शोथनिदानम् । तस्य संप्राप्तिमाह—रक्तपित्तकफानित्यादि । रक्तपित्तकफान् स्वहेतुभिः स्वातन्त्र्येण दुष्टान् प्रकुपितान्, दुष्टः स्वहेतुप्रकुपितो वायुर्बहिःसिरा बाह्या अगम्भीराः सिरा नीत्वा गमयित्वा, तै रक्तपित्तकफै रुद्धगतिरावृतमार्गो वायुरुत्सेधमुच्छ्रायं कुर्यादिति योजना । बहिःसिराशब्देनात्रागम्भीरत्वयोक्तानां स्रोतसामपि ग्रहणम् । त्वङ्मांससंश्रयमित्यनेन व्रणशोथादेव दर्शयति, अष्टसु व्रणवास्तुषु व्रणशोथस्य संभवात् । यदुक्तं सुश्रुतेन,—"त्वङ्मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिकोष्ठमर्माणीत्यष्टौ व्रणवास्तूनि भवन्ति"—( सु. सू. स्था. अ. २२ ) इति । संहतं संहतात्मकम् । कुतः संहतात्मकमित्यत आह—निचयादत इति ।—अतोऽस्मात् पूर्वोक्ताद् रक्तसहितदोषत्रयसमुदायात्; एतेन रक्तसहितत्रिदोषजन्यत्वमस्योक्तं भवति । सर्वमित्यादि ।—सर्वमिति पूर्वेण संबध्यते, सर्वमुत्सेधं शोथमाहुरित्यर्थः । हेतुविशेष-

---

* 'अत्रोदरेणेति शेषः । भङ्गं पार्श्वे । विरिक्तमपि पूर्यमाणोदरमित्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ २७ ॥ २८ ॥

† 'दध्यतो मनस्य बाह्यत्वचो, शोथस्य लक्षणे, इति भेदः; 'सर्वहेतुविशेषैः' इति पाठान्तरे सर्वेषां शोथानां हेतुविशेषैरित्यर्थः । दोषैरिति पृथक् त्रिभिर्दोषैस्त्रयः, त्रिभिर्द्वन्द्वैस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, विषेण चैकः' ( आ० द० ) ॥ १ ॥ २ ॥

रिति दोषत्रयाभिघातप्रभृतिभिः कारणभेदैर्या रूपभेदस्तस्मात् सर्वं नवात्मकमाहुरिति पूर्वक्रियया सम्बन्धः । 'सर्वहेतुविशेषै' इति पाठान्तरे सर्वेषां हेतुविशेषैरित्यर्थः । द्वयैरिति द्वन्द्वे, सर्वत्रिभिः ॥ १ ॥ २ ॥—

*तत्पूर्वरूपं दवथुः सिरायामोऽङ्गगौरवम् ॥ ३ ॥

पूर्वरूपमाह—तदित्यादि। दवथुरुपतापः । सिरायामः सिराप्रसरणवत् पीडा ॥३॥

शुद्ध्यामयाभुक्तकृशाबलानां क्षाराम्लतीक्ष्णोष्णगुरूपसेवा ।
दध्याममृच्छाकविरोधिदुष्टगरोपसृष्टान्ननिषेवणं च ॥ ४ ॥
अर्शांस्यचेष्टा न च देहशुद्धिर्मर्मोपघातो विषमा प्रसूतिः ।
मिथ्योपचारः प्रतिकर्मणां च निजस्य हेतुः श्वयथोः प्रदिष्टः ॥ ५ ॥

पूर्वरूपानन्तरं कामचारान्निदानमाह—शुद्ध्यामयेत्यादि। शुद्धिर्वमनविरेचनादिः, आमया ज्वरादयः, अभुक्तमभोजनं विगुणं च भोजनं, तैः कृशानामबलानां च क्षारादिसेवा निजस्य श्वयथोर्हेतुः । दध्यादयः स्वतन्त्रा एव हेतवः, आममपक्वं, दुष्टं दोषजनकं मन्दकनवोदकादि, गरः संयोगजं विषम्। अचेष्टा निष्क्रियत्वम्। न च देहशुद्धिरिति शोधनार्हेऽपि दोषे देहाशुद्धिः । मर्मोपघातः इह दोषकृत एव ज्ञेयः, बाह्यहेतुजस्तु मर्मोपघात आगन्तुशोथहेतुरेव । विषमा प्रसूतिरामगर्भपतनादिका। मिथ्योपचारोऽसम्यक्करणमसम्यगुपचारः । प्रतिकर्मणां वमनादीनाम् ॥ ४ ॥ ५ ॥

†सगौरवं स्यादनवस्थितत्वं सोत्सेधमूष्माऽथ सिरातनुत्वम् ।
सलोमहर्षश्च विवर्णता च सामान्यलिङ्गं श्वयथोः प्रदिष्टम् ॥ ६ ॥

सामान्यलिङ्गमाह—सेत्यादि। सगौरवमिति अनवस्थितत्वविशेषणं, तथा सोत्सेधमिति च ॥ ६ ॥

‡चलस्तनुत्वक् परुषोऽरुणोऽसितः
सुषुप्तिहर्षार्तियुतोऽनिमित्ततः ।
प्रशाम्यति प्रोन्नमति प्रपीडितो
दिवाबली च श्वयथुः समीरणात् ॥ ७ ॥

वातशोथलिङ्गमाह—चल इत्यादि। तनुत्वक् अबहलत्वक् । असितः कृष्णः । सुषुप्तिः स्पर्शाज्ञता, हर्षो झिमिझिमायितवेदना, किंवा रोमहर्षः । अनिमित्ततः प्रशाम्यतीति वायोश्चलत्वेन कदाचिन्निमित्तं विनाऽपि शान्तो भवति, निमित्ततः इति पाठे स्नेहोष्णमर्दनादेर्निमित्तात् प्रशाम्यति उपशमं प्राप्नोतीति, उपशयार्थमेतदुक्तम् । प्रोन्नमति प्रपीडित इति प्रपीडितः सन्नन्तरमुन्नमतीत्यर्थः । दिवाबलीति दिवा बलवान्, नक्तबली। स्नेहोष्णमर्दनाद्यैश्च प्रशाम्येत्, स च वातिकः, "यथाप्यदन्त्यबलाश्च शोथो नक्तं प्रणश्यति"—( च सू स्था. अ १८ ) इति चरकवचनात् ॥ ७ ॥

* 'दवथुर्ज्वरो'ऽत्र पाठान्तरम् , मधुके पठ्यते—"दवथुज्वरदाहव्यथास्तीव्रा प्रदृश्यन्ते" ( आ० द० ) ॥ १ ॥

† 'ऊष्मोत्सेधयुक्तः सिरा...त्वम्' ( आ० द० ) ॥ ३ ॥

‡ 'चल स्थानात् स्थानान्तरगामी, परुष कर्कश, अरुणो रक्तवर्णः.' ( आ० द० )॥१०।

१ अ टी० पाठान्तरम् ।

*मृदुः सगन्धोऽसितपीतरागवान्
भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वितः ।
य उष्यते स्पर्शरुगक्षिरागकृत्
स पित्तशोथो भृशदाहपाकवान् ॥ ८ ॥

पैत्तिकमाह—मृदुरित्यादि । उष्यत इति दह्यते ॥ ८ ॥

†गुरुः स्थिरः पाण्डुररोचकान्वितः
प्रसेकनिद्रावमिवह्निमान्द्यकृत् ।
स कृच्छ्रजन्मप्रशमो निपीडितो
न चोन्नमेद्रात्रिबली कफात्मकः ॥ ९ ॥

कफजमाह—गुरुरित्यादि । अरोचकान्वित इति अरोचकव्याधिसहचारी । कृच्छ्रजन्मप्रशम इति चिरोत्पत्तिविनाशः । रात्रिबलीति रात्रौ स्रोतोऽवरोधजेन देहक्लेदेनाचेष्टया च कफस्य वृद्धत्वात्तत्र शोथो बलवान् भवति, दिवा तु स्फुटस्रोतसि शरीरे सचेष्टे च न कफो बली भवति, किं तर्हि वायुः, तेन तत्र शोथो दिवाबली भवति ॥ ९ ॥

‡निदानाकृतिसंसर्गाच्छ्वयथुः स्याद्द्विदोषजः ।
सर्वाकृतिः सन्निपाताच्छोथो व्यामिश्रलक्षणः ॥ १० ॥

व्यामिश्रौषधविधानार्थं क्वापि क्वापि प्रकृतिसमसमवेता अपि शिष्यहितैषितया द्वन्द्वसन्निपाता अतिदेशेन पठ्यन्ते, ये तु विकृतिविषमसमवेतास्तान् कण्ठरवेण पठति, अतोऽतिदेशेन द्वन्द्वत्रयसन्निपातानाह—निदानाकृतिसंसर्गादित्यादि । व्यामिश्रलक्षण इति मिश्रितवातादिस्वलिङ्गः । अनेनैव सर्वाकृतिरित्यस्यार्थे सिद्धे तदभिधानं वातादिप्रत्येकस्वलिङ्गनियमार्थम् ॥ १० ॥

§अभिघातेन शस्त्रादिच्छेदभेदक्षतादिभिः ।
हिमानिलोदध्यनिलैर्भल्लातकपिकच्छुजैः ॥ ११ ॥
रसैः शूकैश्च संस्पर्शाच्छ्वयथुः स्याद्विसर्पवान् ।
भृशोष्मा लोहिताभासः प्रायशः पित्तलक्षणः ॥ १२ ॥

अभिघातजं श्वयथुमाह—अभिघातेनेत्यादि । अभिघातेन च शोफः शस्त्रादिभिर्भवति । हिमानिलोदध्यनिलैरिति हिमानिलैरुदध्यनिलैश्च, उदधिः समुद्रः । भल्लातकपिकच्छुजैः रसैः शूकैरिति भल्लातकरसैः कपिकच्छुशूकैश्च । कपिकच्छुः शूकशिम्बी ॥ ११ ॥ १२ ॥

---

* 'मृदुस्पर्शः, गन्धयुक्तः, असितो रागकृत्, अतिशयदाहपाकवान्' (आ० द० ) ॥ ८ ॥

† 'स्थिरः अचलः, प्रसेके लालास्रावः' ॥ ९ ॥

‡ द्विदोषयोर्निदानरूपसंसर्गे द्विदोषजा ज्ञेया । सन्निपातात् सर्वाकृतिः, व्यामिश्रलक्षणो मिश्रितवातादित्रयलिङ्गः' (आ० द० ) ॥ १० ॥

§ 'हिमानिलः शीतवायुः, उदध्यनिलः समुद्रवातः, एतेषां स्पर्शात्, प्रसरणशीलः, भृशोष्मा अतिशयसंतापकृत्, पित्तसदृशलक्षणः' (आ० द० ) ॥ ११ ॥ १२ ॥

*विषजः सविषप्राणिपरिसर्पणमूत्रणात् ।
दंष्ट्रादन्तनखाघातादविषप्राणिनामपि ॥ १३ ॥
विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसंकरात् ।
विषवृक्षानिलस्पर्शाद्गरयोगावचूर्णनात् ॥ १४ ॥
मृदुश्चलोऽवलम्बी च शीघ्रो दाहरुजाकरः ।

विषजमाह—विषज इत्यादि । सविषप्राणिनः सर्पादयस्तेषां परिसर्पणं भ्रमणं तस्मात्, सविषप्राणिनां मूत्रणाच । दंष्ट्रादन्तेति दंष्ट्रा कुटिला 'दाढ' इति ख्याता; तद्विपरीतश्च दन्तो गोबलीवर्दन्यायात् । विण्मूत्रशुक्रोपहतमलवद्वस्त्रसंकरादिति सविषप्राणिनां विण्मूत्राद्युपहतं मलवच्च वस्त्रं यत्तस्य संस्पर्शात् । अवलम्बी अधोगमनशीलः । शीघ्रः शीघ्रोत्पत्तिः । अयं चागन्तुरपि विशिष्टलिङ्गचिकित्सोपयोगात् पृथक् पठितः ॥ १३ ॥ १४ ॥—

†दोषाः श्वयथुमूर्ध्वं हि कुर्वन्त्यामाशयस्थिताः ॥ १५ ॥
पक्वाशयस्था मध्ये तु वर्चःस्थानगतास्त्वधः ।
कृत्स्नदेहमनुप्राप्ताः कुर्युः सर्वसरं तथा ॥ १६ ॥

यत्रस्था दोषा यत्र देशे शोथं कुर्वन्ति तमाह—दोषा इत्यादि । ऊर्ध्वमिति उरःप्रभृत्यूर्ध्वदेहे । मध्य इति उरःपक्वाशयमध्ये । अध इति पक्वाशयादधः । सर्वसरं सर्वशरीरसरणशीलम् ॥ १५ ॥ १६ ॥

‡यो मध्यदेशे श्वयथुः स कष्टः सर्वगश्च यः ।
अर्धाङ्गे रिष्टभूतः स्याद्यश्चोर्ध्वं परिसर्पति ॥ १७ ॥
श्वासः पिपासा छर्दिश्च दौर्बल्यं ज्वर एव च ।
यस्य चान्ने रुचिर्नास्ति श्वयथुं तं विवर्जयेत् ॥ १८ ॥
अनन्योपद्रवकृतः शोथः पादसमुत्थितः ।
पुरुषं हन्ति नारीं च मुखजो गुह्यजो द्वयम् ।
नवोऽनुपद्रवः शोथः साध्योऽसाध्यः पुरेरितः ॥ १९ ॥
विवर्जयेत्कुक्ष्युदराश्रितं च तथा गले मर्मणि संश्रितं च ।
स्थूलः खरश्चापि भवेद्विवर्ज्यो यश्चापि बालस्थविराबलानाम् ॥ २० ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शोथनिदानं समाप्तम् ॥ ३६ ॥

---

* 'सविषप्राणिनः सविषा ये जन्तवः उच्चटीङ्गादयः, तेषां शरीरोपरि सर्पणं मूत्रणं च द्वयमपि श्वयथोर्हेतुः; अन्ये दंष्ट्रिदन्तनखेति पठन्ति तत्र दंष्ट्रिणो व्याघ्रादयः । नखाः प्रसिद्धाः । अविषप्राणिनां मनुष्यादीनामप्यभिघातः शोथहेतुः । विण्मूत्रेत्यादि सविषप्राणिनां विण्मूत्राद्युपहतमलवद्वस्त्रस्य संस्पर्शात्; अन्ये 'मलवद्वस्तु' इति पठन्ति, तत्र सविषप्राणिनां विण्मूत्रशुक्रोपहतेनैव मलवद्वस्तु तस्य संस्पर्शादित्यर्थः । सविषा ये वृक्षास्तेषां योऽनिलः, तस्य स्पर्शादपि । गरः कृत्रिमविषं तस्यावचूर्णनात्, तस्य शरीरस्पर्शादित्यर्थः । मृदुः मृदुस्पर्शः, चलः स्थानान्तरगामी' (आ० द० ) ॥ १३ ॥ १४ ॥

† 'वर्चःस्थानं पुरीषाशयः.' ( आ० द० ) ॥ १५ ॥ १६ ॥

‡ पादसमुत्थितः पुरुषं हन्ति, नारीं तु मुखजो हन्ति, गुह्यजो पक्षिणीगतः, द्वयमिति

अतःपरं कृच्छ्रादिभेदमाह—यो मध्यदेश इत्यादि । मध्यदेहगस्य कष्टत्वं तद्देशग-शोथप्रभावात् । सर्वग इति सर्वदेहगामी । सर्वज इति पाठान्तरे सर्वजः सान्निपातिकः । रिष्टभूत इति रिष्टतुल्यः, भूतशब्द उपमाने; यथा—मातृभूतः पितृभूत इति । व्याधेरेवात्र रिष्टभूतत्वं तस्य [illegible] निमित्तकृतत्वाद्भूतशब्द उपात्त इति कार्तिकः । अन्ये तु भूतशब्दं स्वरूपवचनमाहुः । यश्चोर्ध्वं परिसर्पतीति पुरुषविषयकमेतत्; चकारात् स्त्रियाश्चोपरिजो योऽधो याति स गृह्यते, तथा गुह्यजो यः सर्वगः । वचनं हि—"यस्तु पादाभिनिर्वृत्तः शोथः सर्वाङ्गगो भवेत् । पुरुषं हन्ति, नारीं च मुखजो, गुह्यजो द्वयम्"—( च. सु. स्था. अ. १८ ) इति । अनन्योपद्रवकृत इति अन्यस्य उपद्रवा अन्योपद्रवास्तद्विपरीता अनन्योपद्रवाः, एतेनायमर्थः—शोथस्यैव ये उपद्रवास्तैः कृतः । ते च—"श्वासः पिपासा दौर्बल्यं ज्वरश्छर्दिररोचकः । हिक्कातीसारकासाश्च शोथिनं क्षपयन्ति हि"—( सु. चि. स्था. अ. २३ ) इति सुश्रुतोक्ताः । चरकेऽप्युक्तं,—"छर्दिस्तृष्णाऽरुचिः श्वासो ज्वरोऽतीसार एव च । सप्तकोऽयं सदौर्बल्यः शोथोपद्रवसंग्रहः"—( च. चि. स्था. अ. १८ ) इति । अथवा अन्यमुपद्रवं करोतीति अन्योपद्रवकृन्निदानं, नान्योपद्रवकृदनन्योपद्रवकृत्, ततः स्वनिदानात्, 'जातः' इति शेषः; तेन शोथजनकनिदानादेवोत्पन्न इत्यर्थः । पाण्डुरोगादौ तु यः शोथः पादसमुत्थितः सोऽन्योपद्रवकृतो निदानान्तराज्जातः, साध्य एव । 'आननोपद्रवगत' इति पाठान्तरेऽयमर्थः—पादयोरुत्थितः पूर्वं पश्चादाननमुपद्रवेण प्रसारेणोपद्रवत्वेन वा गतः । तथाच तन्त्रान्तरे,—"पादप्रवृत्तः श्वयथुर्नृणां यः प्राप्नुयान्मुखम् । स्त्रीणां वक्त्राद्यो याति बस्तिजश्च न सिध्यति"—इति । क्षारपाणिनाऽप्युक्तम्,—"ऊर्ध्वगामी नरे पत्तामधोगामी मुखात् स्त्रियम् । उभयं बस्तिसंजातः शोथो हन्ति न संशयः"—इति । गुह्यज इति बस्तिजातः । द्वयमिति नरं नारीं च । असाध्यः पुरेरित इति 'अर्धाङ्गे रिष्टभूत' इत्यादिना ॥ १७-२० ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शोथनिदानं समाप्तम् ॥ ३६ ॥

---

# अथो वृद्धिनिदानम् ।

*कुद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायुः शोथशूलकरश्चरन् ।
मुष्कौ वङ्क्षणतः प्राप्य फलकोषाभिवाहिनीः ॥ १ ॥
प्रपीड्य धमनीर्वृद्धिं करोति फलकोषयोः ।
दोषास्रमेदोमूत्रान्त्रैः स वृद्धिः सप्तधा गदः ॥ २ ॥
मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलम् ।

---

नरं नारीं च, साध्यासाध्यत्वमाह—नव इत्यादि । नवो नवोत्थानः, उपद्रवरहितः, उपद्रवाः पूर्वोक्ताः श्वासादयः, तैर्मुक्तः स साध्यः' ( मा० ८० ) ॥ १७-२० ॥

* 'वृद्धेः संप्राप्तिमाह—दोषेत्यादि । दोषत्रयेण त्रयः, रक्तेनैकः, मेदसा चैकः, मूत्रेणैकः, एवं सप्त' ( मा० ८० ) ॥ १ ॥ २ ॥

शोथत्वसामान्याच्छोथानन्तरं वृद्धिरभिधीयते। वृद्धेः संप्राप्तिमाह—क्रुद्धोऽनूर्ध्वगतिर्वायुरित्यादि। अनूर्ध्वगतिरधोगतिर्वायुर्मुष्कौ प्राप्य चरन् गच्छन्, वङ्क्षणतो मेढ्रजेह्वासन्धेः सकाशात्; फलकोषाभिवाहिनीरिति फलं च कोषश्च फलकोषौ, अथवा फलयोः कोषौ, तद्वहा धमनीश्च प्रपीड्य संदूष्य, वृद्धिं करोति। फलकोषयोरिति द्विवचनमुपलक्षणं, तेनैककोषेऽपि दृश्यमाना वृद्धिः संगता। स वृद्धिरिति "क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्"-इत्यनेन क्तिजन्तो वृद्धिशब्दः पुंलिङ्गः, क्तिन्नन्तस्तु स्त्रीलिङ्गः, वृद्धिः कुरण्डोऽभिधीयते। संख्येयनिर्देशादेव संख्यायां लब्धायां सप्तधेति वचनं न्यूनाधिकसंख्यानिरासार्थं, तेन द्वन्द्वजादिवृद्धेरधिकाया निरासः, असंभवस्तु तस्या व्याधिस्वभावात्; मूत्रान्त्रवृद्ध्योर्वातवृद्ध्यन्तर्भावात् न्यूनसंख्यानिरासार्थमनयोर्वातजत्वेऽपि निमित्तचिकित्साभेदात् पृथगभिधानं, निमित्तभेदनिबन्धन एव व्याधिभेदः। यदुक्तं;—"दोषदूष्यसंसर्गायतनविशेषान्निमित्ततश्चैषां व्याधीनां भेदः" (सु. सू. स्था. अ. २४)-इति। अत आह-मूत्रान्त्रजावप्यनिलाद्धेतुभेदस्तु केवलमिति ॥ १ ॥ २ ॥—

*वातपूर्णदृतिस्पर्शो रूक्षो वातादहेतुरुक् ॥ ३ ॥
पक्वोदुम्बरसंकाशः पित्ताद्दाहोष्मपाकवान् ।
कफाच्छीतो गुरुः स्निग्धः कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक् ॥ ४ ॥
कृष्णस्फोटावृतः पित्तवृद्धिलिङ्गश्च रक्तजः ।
कफवन्मेदसा वृद्धिर्मृदुस्तालफलोपमः ॥ ५ ॥
मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजः स तु गच्छतः ।
अम्भोभिः पूर्णदृतिवत् क्षोभं याति सरुङ्मृदुः ॥ ६ ॥
मूत्रकृच्छ्रमधः स्याच्च चालयन् फलकोषयोः ।

वातजादीनां मूत्रजान्तानां वृद्धीनां क्रमेण लक्षणान्याह—वातेत्यादि। अहेतुरुगिति अनिमित्ततो दाहादिरुक्। रक्तजे 'कृष्णस्फोटावृत इति' पित्तवृद्धिलिङ्गादधिकं; तेन हेतुलिङ्गचिकित्साभेदाद्रक्तवृद्धिः पृथगुच्यते। मेदोजे तालफलोपम इति पक्वतालफलमिव नीलवर्तुलः। मूत्रजे मूत्रकृच्छ्रमिति मूत्रकृच्छ्रवद्वेदना। चालयन् फलकोषयोरिति फलकोषयोश्चालयन् यथा भवति तथा गच्छन् योऽधः स्यात्। चालयन्निति ण्यर्थो निष् ॥ १-६ ॥—

* 'दृतिर्भस्त्रा, अनिमित्तो भेदशोषादिरुक्। पक्वोदुम्बरसंकाशः पक्वोदुम्बरसमानः, तथा दाहादियुक्तः। कफाद्वृद्धिः शीतः शीतस्पर्शः, तथा गुरुः स्निग्धः कण्डूमान् कठिनोऽल्परुक्, अल्परुक् मन्दवेदनः। रक्तजो वृद्धिः कृष्णस्फोटैर्युतः पित्तवृद्धिचिह्नैश्च पक्वोदुम्बरसंकाशादिभिर्युक्तो भवेत्। कफवन्मेदसा वृद्धिस्तद्वत्। मूत्रधारणशीलस्य मूत्रजो भवति, गच्छतः पुंसो अम्भःपूर्णदृतिवत् क्षोभं याति पूरितो भवति, सरुक् सव्यथः, मृदुः मृदुस्पर्शः। 'कफवं फलकोषयोः' इति पाठे फलकोषयोरधस्तात् कठिनं स्यात्' (आ. द.) ॥ १-६ ॥—

१ देहेस्यन्देरैरित्यर्थः।

*वातकोपिभिराहारैः शीततोयावगाहनैः ॥ ७ ॥
धारणेरणभाराध्वविषमाङ्गप्रवर्तनैः ।
क्षोभणैः क्षोभितोऽन्यैश्च क्षुद्रान्त्रावयवं यदा ॥ ८ ॥
पवनो विगुणीकृत्य स्वनिवेशादधो नयेत् ।
कुर्याद्वङ्क्षणसन्धिस्थो ग्रन्थ्याभं श्वयथुं तदा ॥ ९ ॥
उपेक्ष्यमाणस्य च मुष्कवृद्धिमाध्मानरुक्स्तम्भवतीं स वायुः ।
प्रपीडितोऽन्तः स्वनवान् प्रयाति प्रध्मापयन्नेति पुनश्च मुक्तः ॥ १० ॥
अन्त्रवृद्धिरसाध्योऽयं वातवृद्धिसमाकृतिः ।

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने वृद्धिनिदानं समाप्तम् ॥ ३७ ॥

अन्त्रवृद्धिमाह—वातकोपिभिरित्यादि । धारणं वेगस्योपस्थितस्य, ईरणमप्राप्तस्य । क्षोभणैः क्षुभितोऽन्यैरिति बलवद्विग्रहधनुराकर्षणादिभिः । क्षुद्रान्त्रावयवमिति वृहदन्त्रव्युदासार्थम् । विगुणीकृत्येति सङ्कुचीकृत्य । द्विगुणीकृत्येति पाठान्तरे सङ्कोचेन द्विगुणीकृत्य । स्वनिवेशात् स्वस्थानात् । तदा वङ्क्षणसन्धिस्थः सन् वङ्क्षणसन्धौ ग्रन्थिरूपमसाध्यं श्वयथुं करोति, तत्र ग्रन्थिरूपेण स्थित्वा कालान्तरेण फलकोषं गच्छतीति । तां मुष्कवृद्धिमाध्मानरुक्स्तम्भवतीमुपेक्ष्यमाणस्य अचिकित्सत पुरुषस्य । अत्र भोजः; "अन्त्रं द्विगुणमादाय जन्तोर्नयति वङ्क्षणम् । वङ्क्षणात्सहजायुक्तं फलकोषं प्रपद्यते"—इति । प्रध्मापयन्निति उच्छूनयन् । असाध्योऽयमिति कथं? यतोऽस्य चिकित्साऽभिहिता; नैवं, अप्राप्तफलकोषायामयं चिकित्साविधिः, प्राप्तफलकोषा त्वसाध्या, याप्याया वा तस्यां चिकित्साविधिः । यदुक्तं भोजे,—"याप्यां तामन्त्रजां विदुः"—इति । ब्रध्ननिदानं तु तन्त्रान्तरे पठ्यते । तद्यथा,—"अत्यभिष्यन्दिगुर्वन्नसेवनान्निचयं गतः । करोति ग्रन्थिवच्छोफं दोषो वङ्क्षणसन्धिषु ॥ ज्वरशूलाङ्गसादाढ्यं तं ब्रध्नमिति निर्दिशेत्"—इति ॥ ७ ॥ १० ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां वृद्धिनिदानं समाप्तम् ॥ ३७ ॥

---

* 'वातकोपिभिराहारैः रूक्षशीतकषायादिभिराहारैर्विहारैर्वा शीततोयावगाहनैस्तथा धारणेरणभारादिभिरन्यैश्च क्षोभणैः क्षोभितः कुपितः पवनो वायुर्यदा यस्मिन् काले क्षुद्रान्त्रावयवं स्वनिवेशात् स्वस्थानात्, द्विगुणीकृत्याधो नयेदिति पिण्डार्थः । अन्ये विगुणीकृत्येति पठन्ति । विषमाङ्गप्रवर्तनैर्विषमतया शरीरचेष्टनैः, पवनो वङ्क्षणसन्धिस्थः सन्, स च श्वयथुः करेण पीडितः सशब्दं प्रयाति, मुक्तः सन्नाध्मापयन् पूरयन् पुनरायाति । आक्षेपात् संक्षोभात्, वातसंचयात् मुष्कयोरन्त्रवृद्धिर्भवति' ( मा० द० ) ॥ ७-१० ॥

## अथ गलगण्डगण्डमालापचीग्रन्थ्यर्बुदनिदानम् ।

निबद्धः श्वयथुर्यस्य मुष्कवल्लम्बते गले ।
महान् वा यदि वा ह्रस्वो गलगण्डं तमादिशेत् ॥ १ ॥

वृद्धियुक्तमुष्कसमानलिङ्गत्वात्तदनन्तरं गलगण्डनिदानम् । तस्य सामान्यलिङ्गमाह—निबद्धः श्वयथुरित्यादि । निबद्धोऽनुबन्धवान् । मुष्कवदण्डवत् । भोजेऽप्युक्तं,—"महान्तं शोथमल्पं वा हनुमन्यागलाश्रयम् । लम्बन्तं मुष्कवद्दृष्ट्वा गलगण्डं विनिर्दिशेत्–" इति ॥ १ ॥

*वातः कफश्चापि गले प्रदुष्टो मन्ये च संश्रित्य तथैव मेदः ।
कुर्वन्ति गण्डं क्रमशः स्वलिङ्गैः समन्वितं तं गलगण्डमाहुः ॥ २ ॥

तस्य संप्राप्तिमाह—वात इत्यादि । वातकफमेदांसि पृथक् गलगण्डकारणानि, तेन त्रय एव गलगण्डाः, पैत्तिकस्तु न भवत्येव, व्याधिस्वभावात्; चातुर्थकज्वरवत् । चातुर्थके हि वचनं,—"चतुर्थको दर्शयति प्रभावं द्विविधं ज्वरः । जङ्घाभ्यां श्लैष्मिकः पूर्वं शिरस्तोऽनिलसंभवः"–( च. चि. स्था. अ. ३ ) इति । क्रमश इत्यनेन शनैरेव वर्धनं दर्शयति । स्वलिङ्गैः समन्वितमिति 'निबद्धः श्वयथुः' इत्यादिनोक्तगलगण्डलिङ्गैरन्वितम् ॥ २ ॥

†तोदान्वितः कृष्णसिरावनद्धः श्यावोऽरुणो वा पवनात्मकस्तु ।
पारुष्ययुक्तश्चिरवृद्ध्यपाको यदृच्छया पाकमियात्कदाचित् ॥ ३ ॥
वैरस्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रशोषः ।

वातजमाह—तोदान्वित इत्यादि । चिरवृद्धिरिति विकारप्रभावात् वातजोऽपि चिरेण वर्धते । यदृच्छया पाकमियादिति कारणाप्रतिनियमेन कदाचित् पाकं याति, कारणाप्रतिनियमश्च वाय्वोऽभिप्रेतः, आभ्यन्तरं तु पाककारणं पित्तं रक्तं च नियतमेव । कदाचिदिति न सर्वकालम् । "यदृच्छया नैव भवेद् कदाचित्–" इति पाठान्तरे 'पाक' इति शेषः ॥ ३ ॥

‡स्थिरः सवर्णो गुरुरुग्रकण्डूः शीतो महांश्चापि कफात्मकस्तु ॥ ४ ॥
चिराभिवृद्धिं भजते चिराद्वा प्रपच्यते मन्दरुजः कदाचित् ।
माधुर्यमास्यस्य च तस्य जन्तोर्भवेत्तथा तालुगलप्रलेपः ॥ ५ ॥

श्लेष्मजमाह—स्थिर इत्यादि । सवर्ण इति प्रकृतिसमवर्णः ॥ ४ ॥ ५ ॥

---

* 'मन्ये उभे कण्ठधमन्यौ । स्वलिङ्गैर्वातकफमेदोसम्बन्धिभिः समन्वितमिति' ( मा० द० ) ॥ २ ॥

† 'तोदः पीडाविशेषः, कृष्णसिरावृतः, पारुष्ययुक्तः स्पर्शनकर्कशः' ( मा० द० ) ॥ ३ ॥—

‡ 'स्थिरो निश्चलः, महान् स्थूलः । मन्दरुज इत्यादि कदाचिद्यदा प्रपच्यते तदा मन्दरुज एव प्रपच्यते, पाककालेऽपि पीडा न भवतीत्यर्थः । प्रलेप इति श्लेष्मणा लिप्त इव' ( मा० द० ) ॥ ४ ॥ ५ ॥

*स्निग्धो गुरुः पाण्डुरनिष्टगन्धो मेदोभवः कण्डुयुतोऽल्परुक् च ।
प्रलम्बतेऽलाबुवदल्पमूलो देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्तः ॥ ६ ॥
स्निग्धास्यता तस्य भवेच्च जन्तोर्गलेऽनुशब्दं कुरुते च नित्यम् ।

मेदोजमाह—स्निग्ध इत्यादि । देहानुरूपक्षयवृद्धियुक्त इति देहक्षये क्षय, देहवृद्धौ च वृद्धिं यातीत्यर्थः । गलेऽनुशब्दमिति अनुनादं करोति । "गले तु शब्दम्"—इति पाठान्तर सुगमम् ॥ ६ ॥—

†कृच्छ्राच्छ्वसन्तं मृदुसर्वगात्रं संवत्सरातीतमरोचकार्तम् ॥ ७ ॥
क्षीणं च वैद्यो गलगण्डयुक्तं भिन्नस्वरं चापि विवर्जयेच्च ।

असाध्यतामाह—कृच्छ्राच्छ्वसन्तमित्यादि । कृच्छ्राच्छ्वसन्त दुःखेन श्वासविमोक्षकारिणम् । भिन्नस्वरं स्वरभेदवन्तम् ॥ ७ ॥—

‡कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैः कक्षांसमन्यागलवङ्क्षणेषु ॥ ८ ॥
मेदःकफाभ्यां चिरमन्दपाकैः स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डैः ।

स्थानतुल्यतया गण्डमालामिहैवाह,—कर्कन्धुकोलामलकप्रमाणैरित्यादि । कर्कन्धु शृगालकोलि, कोल बृहद्बदरम् । मेद कफाभ्यामिति मेदो दूष्य, कफो दोषोऽत्रारम्भक,, मेद कफौ प्राधान्येनोक्तौ, तेन वातपित्तसम्बन्धोऽप्यत्र द्रष्टव्य । यदाह भोज ,—"वातपित्तकफा वृद्धा मेदश्चापि समाचितम् । जङ्घयो कण्डरा प्राप्य मत्स्याण्डसदृशान् बहून् ॥ कुर्वन्ति ग्रथितास्तेभ्य पुन प्रकुपितोऽनिल । तान् दोषानूर्ध्वगो यश्च कक्षमन्यागलाश्रित ॥ नानाप्रकारान् कुरुते ग्रन्थीन् सा लपची स्मृता । तां तु मालाकृतिं विद्यात्कण्ठहृद्वङ्क्षणसन्धिषु ॥ गण्डमाला विजानीयादपचीतुल्यलक्षणाम्"—इति । स्याद्गण्डमालेति मालातुल्यगण्डयोगाद्गण्डमाला । गलमात्र एव गण्डमाला चरके पठिता । यथा,—"मेद कफाच्छोणितसञ्चयो यो गलस्य मध्ये गलगण्ड एक । स्याद्गण्डमाला बहुभिश्च गण्डै"—( च चि. स्था. अ. १२ ) इति ॥ ८ ॥—

§ते ग्रन्थयः केचिदवाप्तपाकाः स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये ॥९॥
कालानुबन्धं चिरमादधाति सैवापचीति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।
साध्याः स्मृताः पीनसपार्श्वशूलकासज्वरच्छर्दियुतास्त्वसाध्याः॥

---

* 'अलाबुवत्तुम्बीफलवत्, अल्पमूलस्तनुमूल । 'गलेन शब्दम्' इति पाठान्तर सुगमम् (आ० द०) ॥ ६ ॥

† 'मृदुसर्वगात्रं शिथिलसर्वगात्र, अतिक्रान्तवत्सरम्' (आ० द० ) ॥ ७ ॥—

‡ 'कर्कन्धुर्लघुबदर, अंसौ बाहुमूले, मन्या शिरोध , वङ्क्षण जघनोरुसन्धि । "व्यामिश्रदोषसंजाता कृच्छ्रसाध्या प्रकीर्तिता ॥ तासा वातोत्तरा रूक्षा वाततवेदनयाऽन्विता । क्षिप्रपाकसमुत्थाना दाहयुक्ता च पैत्तिकी ॥ गूढपाका च कठिना कफात् स्निग्धाऽल्परुक्करा । मेदोभवा श्लैष्मिकी च विशेषादतिमार्दवा ॥ अपची कण्ठमन्यासु कक्षवङ्क्षणसन्धिषु । ता तु मालाकृतिसमा कण्ठहृद्वङ्क्षणसन्धिषु" ॥ कण्ठमालां विजानीयादपचीतुल्यलक्षणाम्'—इति (आ० द०) ॥ ८ ॥—

§ 'अवाप्तपाका लब्धपाका, साध्या स्मृता इति पूर्वग्रन्थेन संबन्ध, 'स्रवन्ति नश्यन्ति भवन्ति चान्ये', इत्यादिना' (आ० द० ) ॥ ९–१० ॥

गण्डमालातुल्यतयाऽपचीमाह—ते ग्रन्थय इत्यादि । ते इति गण्डमालारम्भक दोषदूष्यकृता ये ग्रन्थयस्त एवेत्यर्थः । कालानुबन्ध चिरमिनि चिरकालानुबन्धम् । सैवापचीति तादृशी अमालारूपा अपची भण्यते । सैवापचीति इतिशब्देनाभिहितत्वात् प्रवदन्तीति क्रियायोगेऽपि न द्वितीया । अपचीनिरुक्तिश्चापरापरोपचीयमानतया । अत एव "चयप्रकर्षादपचीं वदन्ति"—( सु॰ नि स्था अ ११ ) इति सुश्रुत । चयप्रकर्षश्चापरापरभवनेनैव, साधुत्व च नैरुक्तेन विधिना । यदुक्तम्—"वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ । धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदुच्यते पञ्चविध निरुक्तम्"—इति । अत एवोक्त-नश्यन्ति भवन्ति चान्य इति । साध्या स्मृता इति छेद । पीनसादिभिरुपद्रवैरसाध्या । अय तु ग्रन्थिप्रकरणे गण्डमालायामस्ति, सग्रहकारेण तु गण्डमालया सह तुल्यत्वादपच्या अपच्यामेव पठित ॥ ९ ॥ १० ॥

*वातादयो मांसमसृक् प्रदुष्टाः संदूष्य मेदश्च तथा सिराश्च ।
वृत्तोन्नत विग्रथित च शोथं कुर्वन्त्यतो ग्रन्थिरिति प्रदिष्टः ॥ ११ ॥

अनन्तरमपचीगण्डकतुल्यतया ग्रन्थिमाह—वातादय इत्यादि । वातपित्तकफा प्रत्येक दुष्टा, दुष्टिश्चात्र वृद्धिरेव न क्षय, क्षीणानां विकारकरणाक्षमत्वात् । यद्येव तर्हि कथ वातादिक्षये मन्दचष्टादय ? उच्यते, तत्क्षये विरोधिदोषकोपात्, यथा-मधुरस्निग्धादिभिर्वाते क्षीणे तत्समानत्वाच्छ्लेष्मा प्रकुप्यति । वचन हि,—"वृद्धिश्चापि विरोधिनाम्"—इति । सदूष्य मेदश्च मांसमसृक् सिराश्चेत्यनेन मेदोज कफजश्च ग्रन्थयो भवति तथा सिराजोऽपि वायुना सिरादुष्ट्या यो जन्यते स उच्यते । एव पञ्च ग्रन्थय । तथेति सदूष्य । मांसमसृगिति अनासज कमोल्लङ्घनेन पाठोऽप्राधान्यप्रतिपादनार्थ, विसर्पे तु शोणितमेव प्रधानम् । अत एव क्वचित् चकारमप्राधान्यसूचक निवेश्य 'असृक् च' इति पाठ । चरके तु ग्रन्थिग्रथितकफ एव ग्रन्थिविसर्पशब्देनोक्त । वृत्तोन्नतमिति वृत्त वर्तुल, उन्नतमुच्छूनम् । विग्रथित कठिन, कर्कश वा, विग्रथितत्वादेव ग्रन्थिरिति सज्ञा ॥ ११ ॥

†आयम्यते वृश्च्यति तुद्यते च प्रत्यस्यते मथ्यति भिद्यते च ।
कृष्णो मृदुर्वस्तिरिवाततश्च भिन्न' स्रवेच्चानिलजोऽस्रमच्छम् ॥ १२ ॥

अनिलग्रन्थिमाह—आयम्यत इत्यादि । आयम्यते आकृष्य दीर्घीक्रियते । वृश्चतीति छिनत्तीव, अत्र दिवादेराकृतिगणत्वात् श्यन्प्रत्यय । प्रत्यस्यते क्षिप्यते, मथ्यति आलोडयतीव, अत्रापि पूर्ववत् समाधानम् । भिद्यते विदीर्यत इव । अस्र रक्तम् ॥ १२ ॥

---

* 'मांसमसृक् संदूष्य दोषा कुर्वन्तीति संबन्ध । एतेन त्रयो मथय उक्ता, संदूष्य मेदश्च तथा सिराश्चेत्यनेन मेदोज सिराजश्चैव द्वौ, विग्रथितं निविडम् ग्रथित' ( आ॰ द॰ ) ॥ ११ ॥

† 'तुद्यते सूच्येनेव' ( आ॰ द॰ ) ॥ १२ ॥

*दन्दह्यते धूप्यति चूष्यते च पापच्यते प्रज्वलतीव चापि ।
रक्तः सपीतोऽप्यथवाऽपि पित्ताद्भिन्नः स्रवेदुष्णमतीव चास्रम् ॥

पित्तग्रन्थिमाह—दन्दह्यत इत्यादि । दन्दह्यते अत्यर्थं दह्यते अग्निनेव । पापच्यते भृशं पच्यत इव क्षारेण, किंवा उत्क्वथ्यत इव । प्रज्वलतीव ज्वलन् भस्मीभवतीव ॥ १३ ॥

†शीतोऽविवर्णोऽल्परुजोऽतिकण्डुः पाषाणवत् संहननोपपन्नः ।
चिराभिवृद्धश्च कफप्रकोपाद्भिन्नः स्रवेच्छुक्लघनं च पूयम् ॥ १४ ॥

कफग्रन्थिमाह—शीत इत्यादि । अविवर्णः प्रकृतिवर्णः, ईषद्विवर्ण इति कश्चित् । पाषाणवत् संहननोपपन्न इति पाषाणवत् कठिन इत्यर्थः, किंवा पाषाणवद्भवति । संहननोपपन्न इति संघातान्वितो महानित्यर्थः ॥ १४ ॥

शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिः स्निग्धो महान् कण्डुयुतोऽरुजश्च ।
मेदःकृतो गच्छति चात्र भिन्ने पिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु मेदः ॥१५॥

मेदोजग्रन्थिमाह—शरीरेत्यादि । शरीरवृद्धिक्षयवृद्धिहानिरिति शरीरवृद्धिक्षयाभ्यां यथाक्रमं वृद्धिहानी यस्य स तथा । मेदोजेष्वेव युक्तिर्धातुस्वभावात् चिरस्थायित्वाद्वा । गच्छति चात्र भिन्ने पिण्याकसर्पिःप्रतिमं तु मेद इति भिन्ने सति पिण्याकस्तिलकल्कः, सर्पिरत्र स्त्यानं, तत्सदृशं मेदः स्रवति । भोजेन तु मेदोग्रन्थेः संप्राप्तिः पठ्यते । यथा,—'मेदोवायुर्यदा मांसे निक्षिपेदथवा त्वचि । तत्र मेदोभवो ग्रन्थिः श्यावो भवति पाण्डुरः ॥ कृशः कृशो महान् स्थूले ग्रन्थिर्भिन्नश्च पीडितः । तिलकल्कनिभं स्रावो घृतवच्चास्य जायते"—इति ॥ १५ ॥

‡व्यायामजातैरबलस्य तैस्तैराक्षिप्य वायुस्तु सिराप्रतानम् ।
संकुच्य संपीड्य विशोष्य चापि ग्रन्थिं करोत्युन्नतमाशु वृत्तम् १६
ग्रन्थिः सिराजः स कृच्छ्रसाध्यो भवेद्यदि स्यात् सरुजश्चलश्च ।
स चारुजश्चाप्यचलो महांश्च मर्मोत्थितश्चापि विवर्जनीयः ॥१७॥

सिराजग्रन्थेः संप्राप्तिमाह—व्यायामजातैरित्यादि । संकुच्येत्यन्तर्भावितोऽत्र ण्यर्थः, तेन संकोच्येत्यर्थः । संपिण्ड्येति संहतीकृत्य । उन्नतमाशु वृत्तमिति अस्य सामान्यलक्षणेनैव सिद्धे पुनरुक्तिरतिशयार्थम् । स च सिराजो ग्रन्थिर्यदि सरुजश्चलश्च स्यात्तदा कृच्छ्रसाध्यः । स चारुजश्चापीत्यादिना न साध्यः । चेति चकारेणा-

* 'धूप्यति धूमायत इव, चूष्यते शङ्केनेव, वर्णेन रक्तोऽथवा पीतः, भिन्नः सन् अतीवातिशयेन दुष्टं रक्तं स्रवति' ( आ० द० ) ॥ १३ ॥

† 'पाषाणवत् संघातान्वितो महानित्यर्थः । भिन्नः सन् शुक्लं घनं पूयं स्रवेत्' ( आ० द० ) ॥ १४ ॥

‡ 'तैस्तैरिति बलवद्विग्रहादिभिः सिराप्रतानं सिराभ्यो निर्गतं सूक्ष्मसिराजालम् । उन्नतमुच्चं, वृत्तं वर्तुलम्' ( आ० द० ) ॥ १६–१७ ॥

१ 'कृश्यते' इत्यत्र 'चूष्यते' इति पाठाभिप्रायेण ।

२ एतच्च—"भिन्नः स्रवेद्दुष्टमतीव चास्रम्" इति पाठाभिप्रायेण ।

*मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गे मांसं प्रदुष्टं जनयेद्धि शोथम् ॥ २२ ॥
अवेदनं स्निग्धमनन्यवर्णमपाकमश्मोपममप्रचाल्यम्।
प्रदुष्टमांसस्य नरस्य गाढमेतद्भवेन्मांसपरायणस्य ॥ २३ ॥
मांसार्बुदं त्वेतदसाध्यमुक्तं,

मांसजन्यसंप्राप्तिमाह—मुष्टिप्रहारादिभिरित्यादि। अश्मोपमं पाषाणवत् कठिनम्। अप्रचाल्यं स्थिरम्। यद्यपि रक्तमांसार्बुदयो रक्तमांसयोर्हेतुत्वेनोक्तिस्तथाऽपि रक्तजे पित्तं, मांसजे वायुरारम्भकः, एवमपि ताभ्यां घृतदुग्धन्यायेन व्यपदेशः। मांसपरायणस्य मांसाशनशीलस्य। तस्य चातिमात्रं मांसवृद्धिः, "मांसं मांसेन वर्धते" इत्यभिधानात् ॥ २२ ॥ २३ ॥—

साध्येष्वपीमानि तु वर्जयेच्च।
†संप्रस्रुतं मर्मणि यच्च जातं स्रोतःसु वा यच्च भवेदचाल्यम् ॥२४॥

साध्येष्वप्यसाध्यप्रकारानाह—साध्येष्वपीत्यादि। संप्रस्रुतं स्रावयुक्तं, स्रावश्चाप्राप्तिरत्वेऽपि त्वगवदरणान्मनागवगन्तव्यः। स्रोतःसु नासादिषु। अचाल्यं स्थिरम् ॥ २४ ॥

यज्जायतेऽन्यत् खलु पूर्वजाते ज्ञेयं तदध्यर्बुदमर्बुदज्ञैः।
यद्द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वा द्विरर्बुदं तच्च भवेदसाध्यम् ॥ २५ ॥

अध्यर्बुदमाह—यज्जायत इत्यादिना। अधिकमर्बुदमध्यर्बुदं, एतद्द्विरर्बुदमेव। यद्द्वन्द्वजातं युगपत् क्रमाद्वेति द्वन्द्वजातं युग्मेन जातं, युगपदेकदा क्रमेण वा, तद्द्विरर्बुदं न साध्यम्। तथाच भोजः—"अर्बुदे त्वर्बुदं जातं द्वन्द्वजं चानुजं च यत्। द्विरर्बुदमिति ज्ञेयं तच्चासाध्यं विनिर्दिशेत्"—इति ॥ २५ ॥

न पाकमायान्ति कफाधिकत्वान्मेदोबहुत्वाच्च विशेषतस्तु।
दोषस्थिरत्वाद्ग्रथनाच्च तेषां सर्वार्बुदान्येव निसर्गतस्तु ॥ २६ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने गलगण्डगण्डमालापची-
ग्रन्थ्यर्बुदनिदानं समाप्तम् ॥ ३८ ॥

अर्बुदानां पाकाभावे हेतुमाह—न पाकमायान्तीत्यादि। सर्वार्बुदानि पित्तरक्तजान्यपि न पाकमायान्ति, कुत इत्यत आह—कफाधिकत्वान्मेदोबहुत्वाच्च। ननु, अपच्यामपि विशेषतः कफमेदसी अधिके, अथ च तस्याः पाकोऽस्त्येव, इत्यत आह—दोषस्थिरत्वादिति।—अपच्यां कालान्तरेण हि रक्तपित्तमधिकं पाकमारभते, तच्चेह दोषस्थिरत्वात् सदा सदसदोषत्वाद्ग्रथितत्वाच्च न पाकारम्भकम्। अन्ये तु दोषस्थिरत्वादिति दोषोच्छ्रायरूपशोथकाठिन्यादित्याहुः; तदप्रयोजकं, अन्यत्र दोषोच्छ्रायशोथकाठिन्येऽपि पाकदर्शनात्। अथ कुतोऽत्रोक्तहेतुसंपदित्याह—निसर्गत-

* 'मुष्टिप्रहारादिभिरर्दितेऽङ्गप्रदेशे, अनन्यवर्णं, अपाकं पाकरहितम्' (आ० द०) ॥ २२ ॥ २३ ॥
† 'स्रोतस्सु सिरादिषु' (आ० द०) ॥ २४ ॥

स्त्रवति ।-निसर्गतो व्याधिस्वभावात् । भोजेऽप्युक्तं,-"न पच्यते स्थिरत्वाच ग्रथितत्वात् स्वभावतः"-इति ॥ २६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायां गलगण्डगण्डमालापची-ग्रन्थ्यर्बुदनिदानं समाप्तम् ॥ ३८ ॥

## अथ श्लीपदनिदानम्।

*यः सज्वरो वङ्क्षणजो भृशार्तिः शोथो नृणां पादगतः क्रमेण।
तच्छ्लीपदं स्यात् करकर्णनेत्रशिश्नौष्ठनासास्वपि केचिदाहुः ॥ १ ॥
वातजं कृष्णरूक्षं च स्फुटितं तीव्रवेदनम्।
अनिमित्तरुजं तस्य बहुशो ज्वर एव च ॥ २ ॥
पित्तजं पीतसंकाशं दाहज्वरयुतं मृदु।
श्लैष्मिकं स्निग्धवर्णं च श्वेतं पाण्डु गुरु स्थिरम् ॥ ३ ॥

उत्सेधसाधर्म्यादर्बुदेन सह कफसंबन्धाव्यभिचारसाम्याच्चाथ श्लीपदनिदानम्। तस्य सम्प्राप्तिमाह—य इत्यादि वङ्क्षणावस्थानमेवास्य पूर्वरूपम्। क्रमेणेति शनैः-शनैः। तच्छ्लीपदं स्यादित्यनेन निरुपाधिरेवेयं संज्ञेति दर्शयति, अन्ये शिलावत् पदं श्लीपदमिति वदन्ति, नैरुक्तेन च विधिना साधुत्वम्। करकर्णादिगतश्लीपदाना यथोक्तसम्भाव्यभावात् केचिदाहुरिति परमतेनोक्तिः ॥ १-३ ॥

†वल्मीकमिव संजातं कण्टकैरुपचीयते।
अब्दात्मकं महत्तच्च वर्जनीयं विशेषतः ॥ ४ ॥

एषामसाध्यतामाह—वल्मीकमिवेत्यादि। संजातं प्रवृद्धं सत् वल्मीकवद्बहुशिखराकारं ग्रन्थिभिरुपचितं यद्भवति तदसाध्यम्। अन्ये तु पुनरसुं ग्रन्थिं कफजलस्रावत्वेन वर्णयन्ति; तन्न मनो धिनोति, सुश्रुते वल्मीकवज्जातस्यासाध्यत्वेनाभिधानात्। तद्यथा,-"तत्र संवत्सरातीतमतिमहद्वल्मीकमिव संजातं संप्रस्रुतमिति वर्जनीयानि भवन्ति" ( सु. नि. स्था. अ. १२ )—इति। अब्दात्मकमित्यादि।—अब्दात्मकं संवत्सरातीतं, अब्दमेकमिति पाठे तु 'अतिक्रान्तं' इति शेषः। महदिति अत्यन्तमुच्छूनम्। वर्जनीयं विशेषत इति प्रत्याख्येयम् ॥ ४ ॥

‡त्रीण्यप्येतानि जानीयाच्छ्लीपदानि कफोच्छ्रयात्।
गुरुत्वं च महत्त्वं च यस्मान्नास्ति कफं विना ॥ ५ ॥

---

* 'वङ्क्षणानूरमेदूरुधि., वङ्क्षणस्थ. भयमुष्कार्तिसहितश्च चरणं गच्छतीत्यर्थः, क्रमारम्भेणैव पादं। बहुशो वारंवारं ज्वर. —पीतसंकाशः पीतावभासः, मृदु मृदुस्पर्शम्। स्निग्धवद्वर्णो यस्य, चिक्कणमित्यर्थः। पाण्डु पीतश्वेतम्' ( आ० द० ) ॥ १-३ ॥

† 'सर्वात्मकं त्रिदोषजम्। अन्ये अब्दात्मकमिति पठन्ति, तत्रातिक्रान्तसंवत्सरमित्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

‡ 'त्रीणि वातजादीनि, यतो गुरुत्वं च श्लेष्मणा विना न स्यात्,' अतः श्लीपदं कफाधिकम् ( आ० द० ) ॥ ५ ॥

श्लीपदेषु कफस्याव्यभिचारेण प्राधान्यमाह—त्रीण्यप्येतानीत्यादि । ननु, यद्यव्यभिचारी सर्वत्र कफः कथं तर्ह्येकदोषजत्वव्यपदेशः, सर्वस्य द्विदोषजत्वप्रसङ्गात् ? उच्यते, अनुबन्ध्योऽत्र कफः, न त्वनुबन्ध्यः, एतेनात्र न द्विदोषजप्रसङ्ग इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

*पुराणोदकभूयिष्ठाः सर्वर्तुषु च शीतलाः ।
ये देशास्तेषु जायन्ते श्लीपदानि विशेषतः ॥ ६ ॥

श्लीपदसम्भवहेतु देशमाह—पुराणोदकेत्यादि । अनूपदेशे हि सलिलं पतितं बहूदकं निम्नतया न शोषमुपयाति, जाङ्गले त्वाग्नेयोन्नतभूभागत्वान्न पुराणोदकभूयिष्ठता । स्तिमितत्वान्नूपस्य मन्दातपत्वेनोष्णर्तावपि शीतत्वेनात उक्तं—सर्वर्तुषु च शीतला इति । करकर्णादिगतश्लीपदस्वदेहे कोपद्वारेण ज्वरेण च श्लीपदावधारणं करणीयम् ॥ ६ ॥

†यच्छ्लेष्मलाहारविहारजातं पुंसः प्रकृत्याऽपि कफात्मकस्य ।
साम्रावमत्युन्नतसर्वलिङ्गं सकण्डुरं श्लेष्मयुतं विवर्ज्यम् ॥ ७ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने श्लीपदनिदानं समाप्तम् ॥ ३९ ॥

असाध्यलक्षणमाह—यदित्यादि । अत्युन्नतसर्वलिङ्गमिति येन दोषेणारब्धं श्लीपदं तस्यात्युन्नतानि अतिप्रवृद्धानि सर्वाणि लिङ्गानि यत्र तत्तथा । सकण्डुरमिति अत्यन्तकण्डुमत् । श्लेष्मयुतमिति श्लेष्मानुगम् ॥ ७ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायां श्लीपदनिदानं समाप्तम् ॥ ३९ ॥

---

## अथ विद्रधिनिदानम् ।

‡त्वग्रक्तमांसमेदांसि संदूष्यास्थिसमाश्रिताः ।
दोषाः शोथं शनैर्घोरं जनयन्त्युच्छ्रिता भृशम् ॥ १ ॥
महामूलं रुजावन्तं वृत्तं वाऽप्यथवाऽऽयतम् ।
स विद्रधिरिति ख्यातो विज्ञेयः षड्विधश्च सः ॥ २ ॥
पृथग्दोषैः समस्तैश्च क्षतेनाप्यसृजा तथा ।
षण्णामपि हि तेषां तु लक्षणं संप्रवक्ष्यते ॥ ३ ॥

* 'पुराणोदकभूयिष्ठा इति अनूपदेशे सलिलं पतितं बहूदकं निम्नभूभागतया न शोषमुपयाति, अतोऽनूपदेशस्य पुराणोदकभूयिष्ठता, जाङ्गले त्वाग्नेयोन्नतभूभागतया सलिलं पतितं न तिष्ठति, स्थितमपि रूक्षोष्णशुष्कदेशस्य शोषमुपयाति, इति जाङ्गलदेशस्य न पुराणोदकभूयिष्ठता । सर्वेष्वपि ऋतुषु शीतला ये देशा इति हिमवद्देशाः' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥

† 'श्लेष्मलाहारो मधुरादि, विहारो दिवास्वप्नादि, कफप्रकृतिकस्य । सास्रावमास्रावयुतम् । अत्युन्नतसर्वलिङ्गं येन दोषेणारब्धं श्लीपदं, तस्यात्युन्नतान्यतिप्रवृद्धानि, सर्वाणि त्रिदोषलिङ्गानि च यत्र तत्' ( आ० द० ) ॥ ७ ॥

‡ 'स षट्प्रकारः—त्रिभिर्दोषैस्त्रय, सन्निपातेनैकः, क्षतेनैकः, असृजाऽप्येक इति षट् । षण्णामपि लक्षणं कथ्यते' ( आ० द० ) ॥ १–३ ॥

शोथत्वसामान्याद्विद्रधिनिदानम्। तस्य सम्प्राप्तिमाह—त्वग्रक्तमांसमेदांसीत्यादि। घोरमित्यन्येभ्योऽपि शोथसमुत्थानेभ्यो ग्रन्थ्यादिभ्य आशुकारित्वाद्दारुणम्। उच्छ्रिता भृशमिति अत्यर्थं वृद्धा। अस्थिसमाश्रिता इत्यनेन स्थानचयोऽभिहितः। उच्छ्रिता भृशमित्यनेन प्रकोप आविष्कृतः, एतेनैवान्तरीयकतया चयप्रसरावप्याक्षिप्तौ मन्तव्यौ। महामूलमस्थ्यादिसमाश्रयणाद्गम्भीरमूलम्। रुजावन्तमिति उत्पत्तावेव रुजाप्रकर्षवन्तं, अतिशायने मतुप्। वृत्तमित्यादि।—वृत्तं वर्तुलम्। आयतं दीर्घम्। वृत्तायतताभ्यां ग्रन्थ्यादिविलक्षणता। विद्रधिरिति स्यात इति इतिशब्देन निरुपाधिसङ्केतमात्रा विद्रधिसंज्ञेति दर्शयति। चरके तु विदाहप्रकर्षाद्विद्रधिसंज्ञा। यदुक्तं,—"स वै शीघ्रविदाहित्वाद्विद्रधिरित्यभिधीयते" (च सू स्था अ १७)—इति ॥ १–३ ॥

कृष्णोऽरुणो वा विषमो भृशमत्यर्थवेदनः।
चित्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिर्वातसंभवः ॥ ४ ॥

वातिकमाह—कृष्ण इत्यादि। विषमो भृशमिति कदाचिदल्पः कदाचिन्महान्। चित्रोत्थानप्रपाक इति चित्रौ नानाविधौ वायोर्विषमक्रियत्वादुद्गमप्रपाकौ यस्य स तथा ॥ ४ ॥

*पक्वोदुम्बरसंकाशः श्यावो वा ज्वरदाहवान्।
क्षिप्रोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः पित्तसंभवः ॥ ५ ॥

पैत्तिकमाह—पक्वेत्यादि। ज्वरदाहावुत्थानकाल एव, पाककाले तु प्रकर्षवन्तौ ताविति विशेषः ॥ ५ ॥

†शरावसदृशः पाण्डुः शीतः स्निग्धोऽल्पवेदनः।
चिरोत्थानप्रपाकश्च विद्रधिः कफसंभवः ॥ ६ ॥

कफजमाह—शरावेत्यादि। शरावसदृश इति महत्त्वस्तनपरम् ॥ ६ ॥

तनुपीतसिताश्चैषामास्रावाः क्रमशः स्मृताः।

पाकानन्तरं सम्भूतास्रावलिङ्गमाह—तनुपीतसिताश्चैषामित्यादि। क्रमश इति यथाक्रमं, तेन वातेन तनुः, पित्तेन पीतः, कफेन सितः, तनुस्रावे वातानुरूपो वर्णो ज्ञेयः ॥—

नानावर्णरुजास्रावो घाटालो विषमो महान् ॥ ७ ॥
विषमं पच्यते चापि विद्रधिः सान्निपातिकः।

सान्निपातिकमाह—नानेत्यादि। नानावर्णरुजास्राव इति नानाशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, नाना बहुविधा वर्णाः कृष्णपीतशुक्लवर्णाः, रुजस्तोददाहकण्ड्वादिकाः, तनुपीतसिता आस्रावाश्च यस्य स तथा। अन्यत्र शोथे पाककाले नानारुजा, अत्र तु सर्वदा। घाटाल इति घाटा अस्यास्तीति स घाटालः इति मत्वर्थीयो लच्, अत्युच्च-

---

* 'पक्वोदुम्बरसदृशः, श्यावः श्यामवर्णः, क्षिप्रोत्थानप्रपाकौ यस्य स तथा' (म० द०) ॥ ५ ॥

† 'चिरोत्थानप्रपाकौ यस्य स तथा' (म० द०) ॥ ६ ॥

---

१ क्वचन 'शिरोत्थानप्रपाकश्च' इति पाठमिच्छन्ति।

ताम्रत्वेन घाटाल इव । विषमोऽसाध्यत्वात् । विषमं पच्यत इति चिराच्चिरगम्भीरोत्तानोर्ध्वानूर्ध्वभेदेन विषमं यथा भवति तथा पच्यत इति विषमसमम् । ननु, विषमपाकित्व वातिके विद्रधावुक्त, तथाऽनुपक्रान्ते च शोथे, यथा,-"योऽभ्युत्थितोऽल्पो यदि वा महान् स्यात् क्रिया विना पाकमुपैति शोथ । विशालमूलो विषमो विदग्ध स कृच्छ्रतो यात्यवगाढदोष" (सु सू स्था. अ. १७)-इति, अत उभयो कथ मिथो भेदप्रतीति ? उच्यते, वातिकेऽप्रतीकारेणैव विषमपाकित्वं, इह पुन प्रतीकारेऽपि वैषम्य, वातिके तु पाकमात्रवैषम्यं, न तु गाम्भीर्यादिना, अतो वातिक साध्य ॥ ७ ॥—

*तैस्तैर्भावैरभिहते क्षते वाऽपथ्यकारिणः ॥ ८ ॥
क्षतोष्मा वायुविसृतः सरक्तं पित्तमीरयेत् ।
ज्वरस्तृष्णा च दाहश्च जायते तस्य देहिनः ॥ ९ ॥
आगन्तुर्विद्रधिर्ह्येष पित्तविद्रधिलक्षणः ।

अभिघातजस्यागन्तो सम्प्राप्तिमाह—तैस्तैरित्यादि । तैस्तैरिति काष्ठलोष्टपाषाणादिभि, अभिहत इति अक्षतरक्तस्य मथितपिच्चितादेरुपलक्षण, क्षत इति स्रुतरक्तस्य छिन्नभिन्नादे, द्वयोरभिहतक्षतयोरपथ्यकारिण इति विशेषणम् । क्षतोष्मेति क्षतशब्दस्य हिंसामानपरिमहात् क्षताभिहतयोरप्यूष्मा क्षतोष्मशब्देनोच्यते । वायुविसृत इति क्षते रक्तक्षयादभिहतेऽभिघातादेव वातकोप, कुपितेन वातेन हेतुभूतेन विसृत प्रसृतो वायुविसृत । यद्यप्यय वातपित्तरक्तजस्तथाऽपि प्रागभिघातसम्भवत्वेनागन्तु, वातपित्तरक्तजाना जनकत्वेनैव विलक्षणाऽस्य सम्प्राप्ति । पित्तविद्रधिलक्षण इति अत्रोक्तज्वरादिव्यतिरिक्तसस्थानवर्णवेदनादिपित्तविद्रधिलिङ्गयुक्त इत्यर्थ ॥ ८ ॥ ९ ॥—

†कृष्णस्फोटावृत. श्यावस्तीव्रदाहरुजाकरः ॥ १० ॥
पित्तविद्रधिलिङ्गस्तु रक्तविद्रधिरुच्यते ।

रक्तजमाह—कृष्णेत्यादि । पित्तविद्रधिलिङ्गातिदेशेन लब्धावपि दाहज्वरौ तीव्रताविशेषार्थमुक्तौ । श्याव इति पित्तविद्रधिलिङ्गातिदेशेन प्रसक्तस्य पक्वोदुम्बरसंकाशस्यापवाद । भोजप्रभृतयस्तु धातुरक्तज विद्रधिं परित्यज्य मक्कल्लसज्ञयाऽऽर्तवलक्षणरक्तज पठन्ति । तेषा मते आर्तवजेन सह षड्विद्रधय, सुश्रुते तु धातुरक्तजोऽपि तथा मक्कल्लरक्तजोऽपि विद्रधि सामान्येन रक्तज एवेति षड्विद्रधय इति बोद्धव्यम् ॥ १० ॥—

---

* 'वातेन विसृतिरव, क्षतेन रक्तक्षयात्, रक्त पित्त चेरयेत् कोपयेत्' (आ० द० ) ॥ ८ ॥ ९ ॥

† 'कृष्ण. कृष्णवर्णे, स्फोटावृत पिडकायुक्त, श्याव श्यामवर्ण, अन्ये 'कृष्णस्फोटावृत ' इति पठन्ति, तत्र कृष्णै स्फोटैरावृत ' (आ० द० ) ॥ १० ॥

---

१ मतश्च-"कृष्ण. स्फोटवृत." इति पाठाभिप्रायेण ।

*पृथक् संभूय वा दोषाः कुपिता गुल्मरूपिणम् ॥ ११ ॥
वल्मीकवत् समुन्नद्धमन्तः कुर्वन्ति विद्रधिम् ।
गुदे बस्तिमुखे नाभ्यां कुक्षौ वङ्क्षणयोस्तथा ॥ १२ ॥
वृक्कयोः प्लीह्नि यकृति हृदि वा क्लोम्नि वाऽप्यथ ।
तेषामुक्तानि लिङ्गानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥ १३ ॥
अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गं शृणु विशेषतः ।
गुदे वातनिरोधश्च बस्तौ कृच्छ्राल्पमूत्रता ॥ १४ ॥
नाभ्यां हिक्का तथाऽऽटोपः कुक्षौ मारुतकोपनम् ।
कटीपृष्ठग्रहस्तीव्रो वङ्क्षणोत्थे च विद्रधौ ॥ १५ ॥
वृक्कयोः पार्श्वसंकोचः प्लीह्न्युच्छ्वासावरोधनम् ।
सर्वाङ्गप्रग्रहस्तीव्रो हृदि कासश्च जायते ॥
श्वासो यकृति हिक्का च क्लोम्नि पेपीयते पयः ॥ १६ ॥

अधिष्ठानविशेषेण लिङ्गविशेषं साध्यतामसाध्यतां च प्रतिपादयितुमाभ्यन्तरविद्रधिमाह—पृथगित्यादि । इयमधिकविधानार्थमुक्ताऽपि संप्राप्तिर्विद्रधेः पुनरुच्यते । आभ्यन्तरस्य रक्तजस्य तथाऽऽगन्तोश्च विद्रधेर्दोषेण व्यपदेशादियमेव तत्रापि संप्राप्तिर्ज्ञेयेति कश्चित् । बाह्यागन्तुवदाभ्यन्तरागन्तुसंप्राप्तिरित्यर्थः । क्षतजस्याभ्यन्तराभावाच्च निर्दिष्टः क्षतज इति तु जेज्जटः । गुल्मरूपिणमिति गुल्मवत् संहतम् । एतदाभ्यन्तरविद्रधीनां सामान्यरूपं, विशेषलक्षणं तु बाह्यविद्रधिलक्षणैरेव ज्ञेयम् । वल्मीकवत् समुन्नद्धं समन्तादुन्नतः; एतदपि पच्यमानावस्थायां सर्वेषां समानम् । बस्तिमुख इति बस्तिमुख एव, विद्रध्याधारभूतमांसादिसंभवात्; न बस्तौ, तस्य

* 'दोषा वातादयः, पृथग् भिन्नाः, संभूय मिलित्वा वा, अन्तर्मध्ये, गुल्मरूपिणं गुल्मवत्संहतं, वल्मीकवत्समुन्नतं, वल्मीकं भूमौ कृमिविशेषैः कृतं, तद्वत्समन्तादुन्नतम् । स्थानसंश्रयमाह—गुद इत्यादि । बस्तिमुख इति बस्तिमुखाश्रितमांसादौ; न च बस्तौ, तनुत्वात् । कुक्षौ पार्श्वयोरधोभागे, वङ्क्षणयोरूरुमेढ्रसन्ध्योः । वृक्कौ मांसपिण्डद्वयं, एको वामपार्श्वे स्थितः, द्वितीयो दक्षिणपार्श्वे स्थितः, प्लीहा उदरस्य वामपार्श्वे स्थितः, यकृत् कालखण्डं दक्षिणपार्श्वस्थं, हृदयं कमलमुकुलाकारमधोमुखं, क्लोम कालखण्डाधस्तात् स्थितं दक्षिणपार्श्वस्थं तिलकं प्रसिद्धम् । तेषामाभ्यन्तराणां विद्रधीनां लिङ्गानि बाह्यविद्रधिलक्षणैरुक्तानि । प्रत्येकं स्थानसंश्रयत्वेन रूपमाह—गुद इत्यादि । गुदे जाते विद्रधौ वातनिरोधो भवति, तथा बस्तौ कृच्छ्रमूत्रताऽल्पमूत्रता च । नाभ्यां हिक्का, तथा आटोपो रुजापूर्वकः क्षोभः । वङ्क्षणोत्थे विद्रधौ तीव्रः कटीपृष्ठग्रहो भवति । वृक्कयोरित्यादि । पार्श्वसंकोचः पार्श्वोत्पाटनमिव, प्लीह्नि उच्छ्वासावरोधनं भवति । तथा हृदीति हृदयोत्थे विद्रधौ सर्वाङ्गप्रग्रहादय उपद्रवा भवन्तीत्यर्थः । तीव्रो दुःसहः, सर्वेषामङ्गानां प्रकर्षेण ग्रहणमिव सर्वाङ्गप्रग्रहः प्रत्यङ्गव्यथा, सर्वाधिष्ठानत्वाद्धृदयस्य, यकृति जाते विद्रधौ श्वासस्तथा हिक्का च भवति' ( आ० द० ) ॥ ११—१६ ॥

'क्षतस्यान्तरभावाच्च' इति पाठः.

तनुत्वात् । आटोपो रुजापूर्वकक्षोभः । मारुतकोपनमिति मार्गावरोधाद्वायोः कोपः । वृक्कयोरिति वृक्कमग्रमांसम् । सर्वाङ्गप्रग्रहः प्रत्यङ्गव्यथा, सर्वसिराधिष्ठानत्वाद्धृदयस्य । क्लोमीति क्लोम वृक्कादूर्ध्वं पिपासास्थानम् । पेपीयते पय इति पुनः पुनर्जलं पातुमिच्छतीत्यर्थः ॥ ११-१६ ॥

**नाभेरुपरिजाः पक्वा यान्त्यूर्ध्वमितरे त्वधः ।**

स्रावनिर्गममार्गमाह—नाभेरित्यादि । उपरिजा वृक्कप्लीहादिजाः । यान्ति स्रवन्ति । नाभिजस्तूभयमार्गस्रावी, ऊर्ध्वाधःस्रावश्च तथागतित्वाद्धातस्य । यदाह हारीतः,—"ऊर्ध्वं प्रभिन्नेषु मुखान्तराणां प्रवर्ततेऽसृक्सहितोऽपि पूयः । अधःप्रभिन्नेषु च पायुमार्गात्, द्वाभ्यां प्रवृत्तिस्त्विह नाभिजेषु"—इति । इतर इति नाभिबस्तिवङ्क्षणजाः ॥—

***अधःस्रुतेषु जीवेत्तु स्रुतेपूर्ध्वं न जीवति ॥ १७ ॥**
**हृन्नाभिबस्तिवर्ज्या ये तेषु भिन्नेषु बाह्यतः ।**
**जीवेत् कदाचित् पुरुषो नेतरेषु कदाचन ॥ १८ ॥**
**साध्या विद्रधयः पञ्च विवर्ज्यः सान्निपातिकः ।**
**आमपक्वविदग्धत्वं तेषां शोथवदादिशेत् ॥ १९ ॥**
**आध्मातं बद्धनिष्यन्दं छर्दिहिक्कातृषान्वितम् ।**
**रुजाश्वाससमायुक्तं विद्रधिर्नाशयेन्नरम् ॥ २० ॥**

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विद्रधिनिदानं समाप्तम् ॥ ४० ॥

साध्यत्वादिकमाह—अध इत्यादि । अधःस्रुतेष्विति स्वयमेव यदा नाभ्यादिजा भिन्ना अधः स्रवन्ति तदा जीवति । स्रुतेपूर्ध्वं न जीवतीति ऊर्ध्वं पूयस्रावस्य क्लिन्नमांस जीवनम् । हृन्नाभिबस्तिवर्ज्या इति प्लीहक्लोमादिजाः । भिन्नेषु बाह्यत इति वैद्यव्यापारेण भिन्नेषु; अन्ये मर्माधाशयजेषु स्वयमेव भिन्नेष्विति व्याचक्षते, अन्तर्भिन्नेष्वप्यध स्राविषु जीवनोक्तेः । नेतरेष्विति हृन्नाभिबस्तिजेषु भिन्नेषु तेषां मर्मत्वात् बाह्या आभ्यन्तरा वा वर्ज्याः । कदाचनेति पाके अपाके वा । तथाच भोजः—"असाध्यो मर्मजो ज्ञेयः पक्वोऽपक्वश्च विद्रधिः । सन्निपातोत्थितोऽप्येवं पक्व एव तु बस्तिजः ॥ स्वरजो नाभेरधो यश्च साध्यो मर्मसमीपजः । अपक्वश्चैव पक्वश्च साध्यो नोपरिनाभिजः"—इति । अत्र मर्मजशब्देन हृदयनाभिजावुच्येते । बद्धनिष्यन्दमिति बद्धमूत्रम् । एतद्बस्तिजे प्रायः ॥ १७-२० ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विद्रधिनिदानं समाप्तम् ॥ ४० ॥

---

* (साध्यासाध्यत्वमाह-अध इत्यादि । वातिकपैत्तिकश्लैष्मिकागन्तुरक्तजा इति, अयं बाह्येषु विषयः, त्रिदोषजस्त्वसाध्यः । तेषां विद्रधीनामाभ्यन्तरेष्वसाध्यत्वमाह-आध्मातमित्यादि । अत्र केचित्तन्त्रान्तरोक्तं स्तनविद्रधिलक्षणं पठन्ति, तद्यथा-"एवमेव स्तनसिरा विवृताः प्राप्य योषिताम् । सूतानां गर्भिणीनां च संभवेच्छ्वयथुर्घनः ॥ स्तने सदुग्धे चाप्यसदुग्धे विद्रधिलक्षणः । नाडीनां सूक्ष्मवक्त्रत्वात्तु कन्यानां न जायते" इति" (भा० द०) ॥ १७-२० ॥

## अथ व्रणशोथनिदानम् ।

*एकदेशोत्थितः शोथो व्रणानां पूर्वलक्षणम् ।
षड्विधः स्यात् पृथक्सर्वैरक्तागन्तुनिमित्तजः ॥ १ ॥
शोथाः षडेते विज्ञेयाः प्रागुक्तैः शोथलक्षणैः ।
विशेषः कथ्यते चैषां पक्वापक्वादिनिश्चये ॥ २ ॥

प्रायेण चिकित्सासाधर्म्यात् भाविव्रणत्वसंबन्धतुल्यत्वाच्च व्रणशोथनिदानमाह—एकदेशोत्थित इत्यादि । षड्विध इति संख्याकथनं द्वन्द्वजनिषेधार्थम् । प्रागुक्तैरिति आमपक्वैषणीयोक्तैः, तत्र हि "वातश्वयथुररुणः कृष्णो वा परुषो मृदुरनवस्थितः" ( सु. सू. अ. १७ )-इत्यादिना षट्शोथलक्षणान्युक्तानि । विशेषः कथ्यते चैषामिति तत्रानुक्तो विशेषः कथ्यत इत्यर्थः । पक्वापक्वादिनिश्चय इति अत्रादिशब्देन पच्यमानस्य परिग्रहः ॥ १ ॥ २ ॥

†विषमं पच्यते वातात् पित्तोत्थश्चाचिराच्चिरम् ।
कफजः पित्तवच्छोथो रक्तागन्तुसमुद्भवः ॥ ३ ॥

वातादिभेदेन विशेषलक्षणमाह—विषममित्यादि । पित्तवदिति पित्तशोथवदचिरं पच्यते ॥ ३ ॥

‡मन्दोष्मताऽल्पशोथत्वं काठिन्यं त्वक्सवर्णता ।
मन्दवेदनता चैतच्छोथानामामलक्षणम् ॥ ४ ॥
§दह्यते दहनेनेव क्षारेणेव च पच्यते ।
पिपीलिकागणेनेव दश्यते छिद्यते तथा ॥ ५ ॥
भिद्यते चैव शस्त्रेण दण्डेनेव च ताड्यते ।
पीड्यते पाणिनेवान्तः सूचीभिरिव तुद्यते ॥ ६ ॥
सोषाचोषो विवर्णः स्यादङ्गुल्येवावघट्यते ।
आसने शयने स्थाने शान्तिं वृश्चिकविद्धवत् ॥ ७ ॥
न गच्छेदाततः शोथो भवेदाध्मातबस्तिवत् ।
ज्वरस्तृष्णाऽरुचिश्चैव पच्यमानस्य लक्षणम् ॥ ८ ॥

---

* 'एकदेशे जातः शोथः, एतद्व्रणपूर्वरूपं; स च षड्विधः—त्रिभिर्दोषैस्त्रयः, सन्निपातेनैकः, रक्तेनैकः, अन्य आगन्तुकोऽभिघातजः, एवं षट् । तेषां लक्षणनिर्देशं दर्शयन्नाह—प्रागुक्तैरिति; । शोथनिदानोक्तैश्च, 'रूक्षतनुत्वकपरुषारुणादिकैः' इत्यादि' ( आ० द० ) ॥ १ ॥ २ ॥

† 'विषमं अवयवैरेकदेशे अर्धे वा, पित्तोत्थोऽचिरं शीघ्रं, कफजश्चिरं चिरकालं पच्यते' ( आ० द० ) ॥ ३ ॥

‡ 'आमशोथलक्षणमाह—मन्देत्यादि । मन्दोष्मता ईषदुष्णता, त्वक्सवर्णता, त्वक्सदृश एव वर्णः' ॥ ४ ॥

§ 'अग्निना दह्यत इव, क्षारेण पच्यत इव, पिपीलिकाभिर्दंश्यत इव, भिद्यत इव दण्डेन ताड्यत इव, अन्तर्मध्ये, हस्तेन पीड्यत इव, सूचीभिर्विध्यत इव । ओषा एकदेशिको दाहः, ताभ्यां सह वर्तते यः स तथा । विवर्णो म्लानः, अङ्गुल्या

पच्यमानलक्षणमाह—दह्यत इत्यादि । पच्यमानशोथे पित्तलिङ्गान्येव भूयसा भवन्ति, विदाहस्य पित्तप्रकोपजत्वात्, विदाहश्चात्र दोषादीनामेव । तेन ज्वरतृष्णारुच्यादयोऽत्र पित्तलिङ्गानि । छिद्यत इति द्विधा क्रियत इव । भिद्यत इति विदार्यते । सोषश्चोष इति उषा दाह, चोष पार्श्वस्थाग्निसतापवद्व्यथा, ताभ्या सह वर्तते य स तथा ॥ ५—८ ॥

*वेदनोपशमः शोथोऽलोहितोऽल्पो न चोन्नतः ।
प्रादुर्भावो वलीनां च तोदः कण्डूर्मुहुर्मुहुः ॥ ९ ॥
उपद्रवाणां प्रशमो निम्नता स्फुटनं त्वचाम् ।
बस्ताविवाम्बुसंचारः स्याच्छोथेऽङ्गुलिपीडिते ॥ १० ॥
पूयस्य पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडिते ।
भक्ताकाङ्क्षा भवेच्चैतच्छोथानां पक्वलक्षणम् ॥ ११ ॥

पक्वलक्षणमाह—वेदनोपशम इत्यादि । दाहादिवेदनोपशान्ति, विदाहोपशमेन पित्तस्याबल्वत्वात् । तोद कण्डूश्चात्र वातकफलिङ्गम् । प्रादुर्भावो वलीनामिति मास-शैथिल्याद्वलीसभव । उपद्रवाणां प्रशम इति पित्तकोपजनिता उषाचोषतृष्णारुच्यादयो रोगा एव उपद्रवास्तेषां प्रशम । निम्नता खल्पता, अङ्गुलिपीडनाद्वा । स्फुटनं त्वचामिति किंचित्त्वगवदरणम् । बस्ताविवेत्यादि ।—बस्तिश्चर्मपुटक, पूयस्येत्यत्र 'सचार' इति शेष । अयमर्थ –बस्तौ यथाऽम्बुसचारस्तथा शोथेऽङ्गुलिपीडिते सति पूयस्य सचार । पीडयत्येकमन्तमन्ते च पीडित इति एकमन्त देश, अन्ते अवयवे पीडिते पीडयत्यवगाहते, 'पूय' इति शेष ॥ ९–११ ॥

†नर्तेऽनिलाद्रुङ्न विना च पित्तं पाक कफं चापि विना न पूयः ।
तस्माद्धि सर्वान् परिपाककाले पचन्ति शोथांस्त्रय एव दोषा ॥१२॥

---

इवावधस्यते चाल्यते । आसने तथा शयने तथा स्थाने ऊर्ध्वभवने वृश्चिकविद्ध वच्छान्ति न गच्छेत् । आध्मातबस्तिवद्वायुपूर्णबस्त्यास्यमूत्रकोषवत्, श्वयथुराततो भवति, त्वङ्सकोचरहित इत्यर्थ । ज्वरतृष्णादयश्चोपद्रवा भवन्ति पच्यमानव्रणशोफे' ( आ० द० ) ॥ ५–८ ॥

* 'अलोहित पाण्डु धूसरो वा, यदुक्त सुश्रुते—' पाण्डुताऽल्पशोफता'' इति । भक्ताकाङ्क्षेते वेदनापगमादेव' ( आ० द० ) ॥ ९–११ ॥

† 'अनिलाद्वाताद्ऋते रुद् [redacted] भवति, पित्त विना पाको न भवति, कफ विना पूयो न भवति, तस्माद्धेतो सर्वे शोफा परिपाककाले त्रिभिरेव दोषै पाकं गच्छन्ति । प्रकोपप्रसरस्थानसंश्रयकालावधिना अभि समन्ततो भावेनाभ्युदित कुपित पित्त, पित्तमत्र दोषो ज्ञेय, शोणित दूष्य, तु-शब्दोऽत्र पुनरर्थे, वातकफौ वशे कृत्वा आत्मसात् कृत्वा, पाकक्रियाया पित्तस्य प्राधान्यात् । पूर्वमते कफात् पूय, अत्र तु शोणितादिभिरिति तात्पर्यार्थ ' ( आ० द० ) ॥ १२ ॥

---

१ 'सर्वे परिपाककाले पचन्ति शोथांस्त्रिभिरेव दोषै ' इति वा पाठ ।

एकदोषारब्धेऽपि शोथे पाककाले सर्वदोषसम्बन्धमाह—नर्तेऽनिलादृगित्यादि । रुग्रुजा तोदादिरूपा । सुश्रुते,—"त्रिभिरेतैः शोणितचतुर्थैश्च शरीरमिदं धार्यते" ( सु सू स्था अ २१ ) इति द्वितीयदर्शने शोणितप्राधान्याख्यापकमाभिसोक्तम्,—"कालान्तरेणाभ्युदितं तु पित्तं कृत्वा वशे वातकफौ प्रसह्य । पचत्यतः शोणितमेष पाको मतः परेषां विदुषां द्वितीयः" ( सु सू स्था अ १७ )-इति । अत्र दर्शने पित्तं विदाहकुपितं शोणितं दूष्यं कर्मभूतं पचति, वातकफौ वशे कृत्वा क्रोडीकृत्य, हीनार्थो वा वशेशब्दः, वातकफौ हीनौ कृत्वेत्यर्थः, शोणितं कर्तृभूतं वा, तेन पक्त्यनुकूलत्वाद्विवक्षितं, पूर्वदर्शने कफात् पूयः, अत्र दर्शने शोणितात् पूय इति विशेषः । गम्भीरपाके शोथे सकलामपच्यमानलक्षणानुदयादज्ञायमाने लक्षणान्तरमुक्तं सुश्रुतेन । तद्यथा,—"कफजेषु खलु शोथेषु गम्भीरगतित्वादभिघातजेषु वा केषुचित् समस्तं पक्वलक्षणं दृष्ट्वा पक्वमपक्वमिति भिषङ्मोहमुपैति, यत्र हि त्वक्सवर्णता शीतशोथता ऽल्परुजता ऽश्मवद्घनता च, न तत्र मोहमुपेयात्" (सु सू स्था अ १७)—इति । अस्यार्थः—तदा रागदाहादिवेदनासमुदयानन्तरं त्वक्सवर्णतादीनि भवन्ति तदा न मोहमज्ञानतामुपेयात् पक्वमेवेति निश्चिनुयात् । गदाधरेण तु त्वक्सवर्णतादीनि संशयहेतूमुक्तानि, यतस्तेन "गम्भीरपाकित्वादन्तः पाको यदि पुनस्त्वक्सावर्ण्यं, गम्भीरपाकित्वादेव बहिः शीतता, कफारब्धत्वान्मन्दरुजता ऽश्मवच्च घनता"—इत्यभिधाय "शेषं पक्वलक्षणं जानीयात्"—इत्युक्तम् ॥ १२ ॥

*कक्षं समासाद्य यथैव वह्निर्वाय्वीरितः संदहति प्रसह्य ।
तथैव पूयो ह्यविनिःसृतो हि मांसं सिराः स्नायु च खादतीह ॥ १३ ॥

अविनिःसृतस्य पूयस्य दोषमाह—कक्षमित्यादि । कक्षं समासाद्येति कक्षं तृणादिगहनम् ॥ १३ ॥

†आमं विदह्यमानं च सम्यक् पक्वं च यो भिषक् ।
जानीयात् स भवेद्वैद्यः शेषास्तस्करवृत्तयः ॥ १४ ॥
यश्छिनत्त्याममज्ञानाद्यो वा पक्वमुपेक्षते ।
श्वपचाविव मन्तव्यौ तावनिश्चितकारिणौ ॥ १५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने व्रणशोथनिदानं समाप्तम् ॥ ४१ ॥

श्वपचाविव चण्डालाविव, मन्तव्यौ ज्ञातव्यौ । शेषास्तस्करवृत्तय इति लोभमानप्रयुक्तत्वात्तस्करा इव शेषाः ॥ १४ ॥ १५ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तविरचितायां मधुकोशव्याख्यायां व्रणशोथनिदानं समाप्तम् ॥ ४१ ॥

---

* 'कक्षं तृणादीनां समूहः, स्नायुमूला सिरा (?), वाय्वीरितो वायुप्रेरितः (आ० द०) ॥ १३ ॥

† 'आममपक्वं, विदह्यमानं, पच्यमानं सम्यक् पक्वं च, यो भिषक् जानीयात्, स वैद्यो भवेदायुर्वेदविद् स्यात् शेषा अन्ये आमादिज्ञानवर्जिता लोभमात्रप्रयुक्तत्वात्तस्करा एव । अपक्वपक्वयोश्छेदनाच्छेदनेन वैद्यदोषमाह—य इत्यादि । श्वपचश्चाण्डालः, स हि सर्वभक्षित्वात् श्वानमपि पचति' (आ० द०) ॥ १४ ॥ १५ ॥

# अथ शारीरव्रणनिदानम् ।

*द्विधा व्रणः स विज्ञेयः शारीरागन्तुभेदतः ।
दोषैराद्यस्तयोरन्यः शस्त्रादिक्षतसंभवः ॥ १ ॥
स्तब्धः कठिनसंस्पर्शो मन्दस्रावो महारुजः ।
तुद्यते स्फुरति श्यावो व्रणो मारुतसंभवः ॥ २ ॥
तृष्णामोहज्वरक्लेददाहदुष्ट्यवदारणैः ।
व्रणं पित्तकृतं विद्याद्गन्धैः स्रावैश्च पूतिकैः ॥ ३ ॥
बहुपिच्छो गुरुः स्निग्धः स्तिमितो मन्दवेदनः ।
पाण्डुवर्णोऽल्पसंक्लेदश्चिरपाकी कफव्रणः ॥ ४ ॥
रक्तो रक्तस्रुती रक्तात्

शोथानामनुपक्रान्तानां व्रणभावापत्तेर्व्रणनिदानमाह—द्विधेत्यादि । 'व्रण गात्रविचूर्णने'—इत्यस्माद्धातोर्व्रणस्य साधुत्वमुक्तम् । व्रणनिरुक्तिश्च सुश्रुतेन कृता । यथा,—"वृणोति यस्माद्रूढेऽपि व्रणवास्तु न नश्यति । आदेहधारणात्तस्माद् व्रण इत्युच्यते बुधैः" ( सु सू स्था अ २१ )–इति । अन्य इत्यागन्तु । आगन्तुव्रणे यद्यपि दोषस्तत्काल तदारम्भे न सञ्चयकोपप्रसरणशाली विकारकरणसमर्थं कल्पयितुं शक्यते, तथाऽपि सत्वरान् क्षतोष्मनिर्वापणाय मधुसर्पिष्प्रयोगात् शीतक्रियाविधानाच्च निजव्रणविलक्षणचिकित्सार्थं व्यपदिश्यते ॥ १–४ ॥—

†द्वित्रिजः स्यात्तदन्वयैः ।

रक्तस्यैकैकस्मिन् दोषे द्वन्द्वे च प्रसरमाह—द्वित्रिज स्यात्तदन्वयैरिति । रक्तान्वयैरेकैकदोषैर्द्वन्द्वैश्च, रक्तान्वितैरेकैकदोषैर्द्विजो व्रण, रक्तान्वितैर्द्वन्द्वत्रयैस्त्रिज, एव दोषत्रयेऽपि रक्तसम्बन्ध ऊहनीय, एव पञ्चदशधा प्रसरो दोषाणामुपगृहीतो भवति । अथवाऽयमर्थः –तदन्वयैर्दोषद्वन्द्वत्रयान्वयै, तेन दोषद्वयान्वयेन द्विजो द्वन्द्वजो व्रण, दोषत्रयान्वयेन त्रिज सन्निपातज ॥—

* 'शारीरागन्तुभेदतो व्रणो द्विधा ज्ञेय, तयोर्द्वयोर्मध्ये आद्य शारीर स च दोषैः पवनकफपित्तशोणितसन्निपातै स्यात्, अन्य इत्यागन्तु शस्त्रादिक्षतसम्भवो भवति । वातिकमाह–स्तब्ध इत्यादि । स्तब्धोऽचल, तुद्यते शूलेनेव श्याव श्याववर्ण । पैत्तिकमाह–तृष्णेत्यादि । एतैर्लिङ्गै पित्तकृत जानीयात् । क्लेद आर्द्रता, दाहदुष्टि दाहवान्, अवदारण त्वक्स्फोटन, पूतिकैर्दुर्गन्धै । कफजमाह–बहित्यादि । बहुपिच्छ भूय पिच्छिल, स्तिमितो निश्चल, अल्पसङ्क्लेद इषदार्द्र ' ( आ० द० ) ॥ १–४ ॥—

† 'रक्तवर्णो भवति, रक्तस्रावो वा । द्वित्रिज स्यात्तदन्वयैरिति पृथग्दोषै रक्तानुगैर्द्वन्द्वैश्च, तेन पृथग्दोषै सरक्तैर्द्विज, द्वन्द्वजे, सरक्तैस्त्रिज, एव त्रिदोषजेऽपि रक्तसम्बन्धनीय । तद्यथा–वातज, पित्तज, श्लेष्मज, सघातज, रक्तज, वातपित्तज, वातश्लेष्मज, पित्तश्लेष्मज, एवमष्टौ, शोणितसंबन्धात् सप्त, वातशोणितसंबन्धाच्चत्व', पित्तशोणितज, श्लेष्मशोणितज, वातपित्तशोणितज, वातश्लेष्मशोणितज, पित्तश्लेष्मशोणितज, सन्निपातशोणितज इति, एव दोषाणा भेदेन पञ्चदशधा प्रसर उक्त ' ( आ० द० ) ॥—

*त्वङ्मांसजः सुखे देशे तरुणस्यानुपद्रवः ॥ ५ ॥
धीमतोऽभिनवः काले सुखे साध्यः सुखं व्रणः ।
गुणैरन्यतमैर्हीनस्ततः कृच्छ्रो व्रणः स्मृतः ॥ ६ ॥
सर्वैर्विहीनो विज्ञेयस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ।

साध्यत्वादिकमाह—त्वगित्यादि । सुखे देश इति मर्मरहिते देहावयवे । अनुपद्रव इति ज्वरतृष्णाद्युपद्रवरहितः । धीमत इति हिताहितज्ञस्य । काले सुखे इति हेमन्ते शिशिरे च । अन्यतमैरिति उक्तानां गुणानां मध्ये एकतमैर्गुणैः ॥ ५ ॥ ६ ॥—

पूतिः पूयातिदुष्टासृक्स्राव्युत्सङ्गी चिरस्थितिः ॥ ७ ॥
दुष्टो व्रणोऽतिगन्धादिः शुद्धलिङ्गविपर्ययः ।

दुष्टव्रणलिङ्गमाह—पूतिरित्यादि । पूयातिदुष्टासृक्स्रावीति पूयमुक्तमतिदुष्टं रक्तं सततं स्रवतीत्यर्थः । उत्सङ्गी कोटरवान् । चिरस्थितिरित्यनेन बहुलदोषसंबन्धं दर्शयति । तथाचोक्तम्, "अनात्मवतामसैद्योपक्रान्ता व्रणाः प्रदुष्यन्ति, प्रवृद्धत्वाद्दोषाणाम्" ( सु. सू. स्था. अ. २२ )-इति । दुष्टव्रण इत्यत्र 'परिभावित' इति शेषः । अतिगन्धादिरिति आदिशब्देन वर्णस्राववेदनाकृतयो गृहीताः, अतिशब्देन च विशिष्यन्ते । शुद्धलिङ्गविपर्यय इति वक्ष्यमाणशुद्धलिङ्गविपरीतः पूतित्वादियोगादेव । 'पूतिपूयातिदुष्टासृक्स्रावी'-इति क्वचित् पाठे पूतिशब्दः पूयदुष्टास्रविशेषणम् ॥ ७ ॥

†जिह्वातलाभोऽतिमृदुः श्लक्ष्णः स्निग्धोऽल्पवेदनः ॥ ८ ॥
सुव्यवस्थो निरास्रावः शुद्धो व्रण इति स्मृतः ।

शुद्धव्रणलक्षणमाह—जिह्वेत्यादि । जिह्वातलाभ इति जिह्वातलवदाभा प्रभा यस्य स तथा, तलशब्दः स्वरूपवचन. । जिह्वातलाभशब्दश्चात्र मृदुश्लक्ष्णस्निग्धशब्दैः प्रत्येकमभिसंबध्यते; तेन जिह्वातलाभो मृदुः श्लक्ष्णः स्निग्धश्चेत्याहुः । सुव्यवस्थ इति उत्सन्नोत्सन्नित्वरहितः । निरास्राव इति दोषकृतस्रावरहितः । चरके [redacted] पठ्यते,—"नातिरक्तो नातिपाण्डुर्नातिस्रावो न चातिरुक् । न चोत्सन्नो न चोत्सङ्गी शुद्धो रोप्यः परं व्रणः" ( च. चि. स्था. अ. २५)-इति, तद्दर्शनादत्र निरास्रावत्वं दोषकृतस्रावहीनत्वं, विगतवेदनत्वं च वातानुकूलवेदनारहितत्वम् । अपास्रावकृतवेदनानुकूलत्वं पुनरस्त्येव, अत एव शुद्धलिङ्गे अल्परुगित्युक्तम् ॥ ८ ॥—

---

* 'धीमतोऽतरलबुद्धेः । व्रणस्य कष्टसाध्यत्वमाह—गुणैरित्यादि । प्रागुक्तानां गुणानां मध्येऽन्यतमैर्गुणैर्हीनो रहितः, त्वङ्मांसजादीनामित्यर्थः । स व्रणः कष्टसाध्यः । असाध्यमाह—सर्वैरित्यादि । सर्वैस्त्वङ्मांसजादिकैर्गुणै रहितः, निरुपक्रमोऽनुपक्रान्तः' ( आ० द० ) ॥ ५ ॥ ६ ॥

† 'सुव्यवस्थ इति शोभनाकृतिः, येनोत्सन्नोत्सङ्गित्वरहितः, किंतु सम इत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ ८ ॥—

---

१ "भूर्युपद्रवः" इत्यत्र "निरुपक्रमः" इति पाठाभिप्रायेण । "सर्वैर्विहीनोऽसाध्यस्तु चर्यैवोपद्रवान्वितः" इत्यपि पाठान्तरम् ।

*कपोतवर्णप्रतिमा यस्यान्ताः क्लेदवर्जिताः ॥ ९ ॥
स्थिराश्च पिडकावन्तो रोहतीति तमादिशेत् ।

रुह्यमाणलक्षणमाह—कपोतेत्यादि । कपोतवर्णप्रतिमा इति पाण्डुधूसरा स्थिरा अदरपा । 'चिपिटिकावर्णा' इति पाठान्तरे चिपिटिका मासचेली, तद्वर्णा ॥ ९ ॥—

†रूढवर्त्मानमग्रन्थिमशूनमरुजं व्रणम् ॥ १० ॥
त्वक्सवर्णं समतलं सम्यग्रूढं विनिर्दिशेत् ।

सम्यग्रूढलक्षणमाह—रूढवर्त्मानमित्यादि । रूढवर्त्मानमिति वर्त्म व्रणमार्गः व्रणवाह्यस्तु रूढो यस्य तम् । अन्त पूयाभावादशूनमरुज च । त्वक्सवर्णं त्वचा समानवर्णम् । समतलमिति सम तलेन जिह्वातलेन करतलेन वा, अग्रन्थिमित्यनेनोपर्युच्छूनताया निषेध , समतलेन स्वयोनिम्नताया निषेध ॥ १० ॥—

‡कुष्ठिनां विषजुष्टानां शोषिणां मधुमेहिनाम् ॥ ११ ॥
व्रणाः कृच्छ्रेण सिध्यन्ति येषां चापि व्रणे व्रणाः ।
वसां मेदोऽथ मज्जानं मस्तुलुङ्गं च यः स्रवेत् ॥ १२ ॥
आगन्तुजो व्रणः सिद्ध्येन्न सिद्ध्येद्दोपसंभवः ।

व्याधिविशेषेण व्रणस्य कृच्छ्रसाध्यत्वमाह—कुष्ठिनामित्यादि कुष्ठे विशेषेणात्यन्तदोषदूषितरक्तादिदूष्यत्वेन सर्वदा दुष्टिरधिकेति कृच्छ्रसाध्यत्वम् । विषजुष्टानामिति दूषीविषार्तानाम् । शोषे मधुमेहे च धातुक्षयात्, व्रणे च रक्तस्रावादाहारसंयमनादधिका दुष्टि । वसा मेदोऽथ मज्जान मस्तुलुङ्ग च य स्रवेदिति मज्जा अस्थिस्नेह, मस्तुलुङ्ग घृतिका । न सिध्येद्दोपसभव इति दोषैरतिदूषितानां वसादीना स्रावस्य बहुव्यापत्तिकरत्वात् ॥ ११ ॥ १२ ॥—

§मद्यागुर्वाज्यसुमनःपद्मचन्दनचम्पकैः ॥ १३ ॥
सगन्धा दिव्यगन्धाश्च मुमूर्षूणां व्रणाः स्मृताः ।

रिष्टरूपा गन्धविकृतिमाह—मद्यागुर्वाज्येत्यादि । सुमना जाती, सगन्धा समानगन्धा, दिव्यगन्धा अपरिकल्पिताद्भुतपारिजातादिगन्धा ॥ १३ ॥—

---

* 'यस्य व्रणस्यान्ता प्रान्ता क्लेदेन वर्जिता । स्थिरा अचला कठिना इत्यर्थ । "चिपिटिकावन्त " इति पाठे चिपिटिका मासचेली चर्मवलीति यावत्, 'करोचडी' इति लोके, ता विद्यन्ते येषा ते चिपिटिकावन्त ' ( आ० द० ) ॥ ९ ॥—

† 'अशून श्वयथुरहित, अरुज पीडारहितं,' ( आ० द० ) ॥ १० ॥—

‡ 'वसा मासस्नेह , मस्तुलुङ्गो मस्तकाभ्यन्तरस्नेह , वसादीना स्रावादागन्तुजे व्रणे कृच्छ्रसाध्यत्व, किंतु दोषजे व्रणेऽसाध्यत्व,' ( आ० द० ) ॥ ११ ॥ १२ ॥—

§ 'मद्य प्रसिद्ध, अगुरु गन्धद्रव्यं, आज्य घृत, पद्म कमल, मद्यादिभि. समानगन्धा ' ( आ० द० ) ॥ १३ ॥—

*ये च मर्मस्वसंभूता भवन्त्यत्यर्थवेदनाः ॥ १४ ॥
दह्यन्ते चान्तरत्यर्थं बहिः शीताश्च ये व्रणाः ।
दह्यन्ते बहिरत्यर्थं भवन्त्यन्तश्च शीतलाः ॥ १५ ॥
प्राणमांसक्षयश्वासकासारोचकपीडिताः ।
प्रवृद्धपूयरुधिरा व्रणा येषां च मर्मसु ॥ १६ ॥
क्रियाभिः सम्यगारब्धा न सिध्यन्ति च ये व्रणाः ।
वर्जयेदपि तान् वैद्यः संरक्षन्नात्मनो यशः ॥ १७ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शारीरव्रणनिदानं समाप्तम् ॥ ४२ ॥

ये च मर्मस्वसंभूता इति मर्मसु न जाता अपि भृशवेदनाः, मर्मजातत्वेन हि भृशवेदनावत्त्वं युक्तम् । प्राणमांसक्षय इति प्राणक्षयेण शक्तिक्षयः, मांसक्षयेण चोपचयक्षयः । अनुक्तमप्यशेषं रिष्टं संग्रहन्नाह—क्रियाभिरित्यादि ॥ १४–१७ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शारीरव्रणनिदानं समाप्तम् ॥ ४२ ॥

---

## अथ सद्योव्रणनिदानम् ।

†नानाधारमुखैः शस्त्रैर्नानास्थाननिपातितैः ।
भवन्ति नानाकृतयो व्रणास्तांस्तान्निबोध मे ॥ १ ॥
छिन्नं भिन्नं तथा विद्धं क्षतं पिच्चितमेव च ।
घृष्टमाहुस्तथा षष्ठं तेषां वक्ष्यामि लक्षणम् ॥ २ ॥

शारीरव्रणमभिधायागन्तुव्रणमाह—नानाधारमुखैरित्यादि । नाना धारा मुखानि च येषां तानि तथा । स्थानविशेषोऽपि शस्त्रनिपाततुल्यत्वेनाकृतिविशेषे हेतुरित्यत उक्तं—नानास्थाननिपातितैरिति ॥ १ ॥ २ ॥

‡तिर्यक् छिन्न ऋजुर्वाऽपि यो व्रणस्त्वायतो भवेत् ।
गात्रस्य पातनं तच्च छिन्नमित्यभिधीयते ॥ ३ ॥

छिन्नलक्षणमाह—तिर्यगित्यादि । तिर्यगिति तिर्यग्व्यवस्थित. । छिन्नश्छेदसंपन्नः । ऋजुरवक्रः । गात्रस्य पातनमिति गात्रावयवस्य तदेकदेशरूपस्य वा गात्रस्य पातनम् ॥ ३ ॥

---

* 'ये बहिः शीतलाः, अन्तर्मध्ये अत्यर्थं दह्यन्ते ; मर्मसु पायुनाभिहृदयादिषु । पुनश्चासाध्यत्वमाह—क्रियाभिरित्यादि पादचतुष्टयान्विताभिः' ( आ० द० ) ॥ १४–१७ ॥

† 'नानाधारामुखैः शस्त्रैः, नानास्थाननिपातितैः, एभिर्नानाकृतयो व्रणा भवन्ति, मे मत्सकाशात्तान् व्रणान् निबोध जानीहि । तत्षाड्विध्यमाह—छिन्नमित्यादि । एवं छिन्नादिभेदेनागन्तवः षड्विधा भवन्ति' ( आ० द० ) ॥ १ ॥ २ ॥

‡ 'यो व्रणस्तिर्यक्छिन्नोऽथवा ऋजुश्छिन्नः स चायतो भवेत्, 'तिरश्चीनः' इति पाठान्तरे स एवार्थः, ऋजुरवक्रः, अनयोर्द्वयोरप्यायत इति विशेषणम् । डल्हणस्तु व्याचष्टे—शस्त्रादिप्रहारेण गात्रस्य हस्तादेः पातनं, चकारादपातनं च' ( आ० द० ) ॥ ३ ॥

*शक्त्यादिदन्तेपुखड्गाग्रविषाणैराशयो हतः ।
यत्किंचित् प्रस्रवेत्तद्धि भिन्नलक्षणमुच्यते ॥ ४ ॥

भिन्नलक्षणमाह—शक्तीत्यादि । विषाण दन्त शृङ्गं च । एतद्भिन्नलक्षणं पारिभाषिक,तेन व्यध एवाशयदेशे भेद उच्यते, आशयदेशरहिते तु व्यध । यत्किंचिदित्यादि । यस्य मूत्ररुधिरादेर्य आशयो भिन्न स तत् प्रस्रवेत्, तेन बस्तिर्भिन्नो मूत्र, रुधिराशयो रुधिरमिति ॥ ४ ॥

†स्थानान्यामाग्निपक्वानां मूत्रस्य रुधिरस्य च ।
हृदुण्डुकः फुप्फुसश्च कोष्ठ इत्यभिधीयते ॥ ५ ॥
तस्मिन् भिन्ने रक्तपूर्णे ज्वरो दाहश्च जायते ।
मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्तं घ्राणाच्च गच्छति ॥ ६ ॥
मूर्च्छा श्वासस्तृषाऽऽध्मानमभक्तच्छन्द एव च ।
विण्मूत्रवातसङ्गश्च स्वेदास्रावोऽक्षिरक्तता ॥ ७ ॥
लोहगन्धित्वमास्यस्य गात्रदौर्गन्ध्यमेव च ।
हृच्छूलं पार्श्वयोश्चापि विशेषं चात्र मे शृणु ॥ ८ ॥
आमाशयस्थे रुधिरे रुधिरं छर्दयत्यपि ।
आध्मानमतिमात्रं च शूलं च भृशदारुणम् ॥ ९ ॥
पक्वाशयगते चापि रुजा गौरवमेव च ।
अधःकाये विशेषेण शीतता च भवेदिह ॥ १० ॥

यत्र भूयसामाशयाना स्थाने भेदव्यपदेशस्तमाह—स्थानानीत्यादि । आमस्य स्थानमामाशय , अग्नेः पच्यमानाशय , मलस्य पक्वाशय , मूत्रस्य बस्ति , रुधिरस्य यकृत्प्लीहानौ, हृत् हृदय, उण्डुक इक्षुरसपाकमलवच्च शोणितमलस्तज्ज उण्डुक , स चान्त्रदेशे व्यवस्थित पुरीषाधानमिति, फुप्फुस इति हृदयस्य वामपार्श्वे ( रक्ताधार ) 'फुप्फुस' इति ख्यात । मूत्रमार्गगुदास्येभ्यो रक्त घ्राणाच्च गच्छतीति बस्त्यादौ भिन्ने मेहनगुदाभ्या रक्त नि सरति, आमाशयादिभेदे तु मुखघ्राणाभ्या रक्तनिर्गम । स्वेदास्राव इति स्वेदस्यात्यन्तस्रुति । पार्श्वयोश्चापीति शूलमिति सबन्ध । मे इत्यव्यय

* 'शक्त्यादिभिराशयो हत सन् यत्किंचित् प्रस्रवेत्, तद्भिन्नलक्षणमुच्यते । कुतो भग्न , यत्किंचित् प्रस्रवेदिति किमपि निर्देष्टव्यमित्यर्थ , उदक मेद , पुरीषाशय पुरीष,' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

† 'स्थानशब्द आमादिभि प्रत्येक सबध्यते, आमादीना स्थानानि कोष्ठ इत्यभिधीयते । ज्वरमूर्च्छादय उपद्रवा भवन्ति, विण्मूत्रवातानां सङ्गोऽप्रवृत्ति , मुखस्य लोहगन्धता, हृत्पार्श्वयो शूलमिति सबन्ध । अतिमात्रमाध्मान आध्मातबस्तिरिवोदरपूर्णता, दारुण मारणात्मकम् । पक्वाशयस्थितस्य रक्तस्य लक्षणमाह—पक्वेत्यादि । रुजा शूलम् । गौरवमिति नाभेरधो बोद्धव्यम्' ( आ० द० ) ॥ ५–१० ॥

मत इत्यर्थः । आमाशयस्थ इत्यादि आध्मानं रक्तावृतत्वाद्वायोः । रुजा शूलम् । गौरव रक्तबहुत्वात् । अथ काये विशेषेण शीततेति व्याधिप्रभावात् ॥ ५-१० ॥

*सूक्ष्मास्यशल्याभिहतं यदङ्गं त्वाशयं विना ।
उत्तुण्डितं निर्गतं वा तद्विद्धमिति निर्दिशेत् ॥ ११ ॥

विद्धलक्षणमाह—सूक्ष्मास्यशल्येत्यादि । आशयं विनेति उक्तामाशयं विना । उत्तुण्डितमनिर्गतशल्योपलक्षणं, तेनानुत्तुण्डितमुत्तुण्डितं च विद्धं गृह्यते, निर्गतेन च निर्गतमुखं विद्धं सर्वथा निर्गतं च गृह्यते, तेन तन्त्रान्तरे "विद्धमुत्तुण्डितमनुत्तुण्डित मिश्रं निर्भिन्नम्"—इति यच्चतुष्प्रकारमभिहितं तत् सर्वं संगृहीतम् ॥ ११ ॥

†नातिच्छिन्नं नातिभिन्नमुभयोर्लक्षणान्वितम् ।
विषमं व्रणमङ्गे यत्तत् क्षतं त्वभिधीयते ॥ १२ ॥

क्षतमाह—नातिच्छिन्नमित्यादि । नातिच्छिन्नमिति नावगाढच्छेदम् । नातिभिन्नमिति नातिविदीर्णाशयम् । उभयोर्लक्षणान्वितमिति स्तोकच्छेदस्तोकावदरणयोगादुभयलक्षणयुक्तम् । विषमं व्रणमङ्गे यदिति अङ्गवैषम्यकरं व्रणं यत्तत् क्षतम् ॥ १२ ॥

‡प्रहारपीडनाभ्यां तु यदङ्गं पृथुतां गतम् ।
सास्थि तत् पिच्चितं विद्यान्मज्जरक्तपरिप्लुतम् ॥ १३ ॥

पिच्चितलक्षणमाह—प्रहारेत्यादिना । प्रहारो मुद्गरादिना, पीडनं कपाटादिना । पृथुतामिति चिप्पिटताम् । मज्जरक्तपरिप्लुतमित्यनेन व्रणभावात् मज्जरक्तागमं दर्शयति । तेन यत् व्रणं पिच्चितं, तद्व्रणस्य तथा सद्योव्रणस्य च चिकित्साविषयम् ॥ १३ ॥

§घर्षणादभिघाताद्वा यदङ्गं विगतत्वचम् ।
उषास्रावान्वितं तच्च घृष्टमित्यभिधीयते ॥ १४ ॥

घृष्टलक्षणमाह—घर्षणादित्यादि । घर्षणात् कर्कशवस्त्रादिना । विगतत्वचमिति पाठं त्यक्त्वा विगतत्वचेति पाठः साधुः, विगतत्वचोपलक्षितमङ्गम् । उषा ऊष्मनिर्गमव्यथा ॥ १४ ॥

$श्यावं सशोथं पिडकाचितं च मुहुर्मुहुः शोणितवाहिनं च ।
मृदूद्गतं बुद्बुदतुल्यमांसं व्रणं सशल्यं सरुजं वदन्ति ॥ १५ ॥

त्वचोऽतीत्य सिरादीनि भित्त्वा वा परिहृत्य वा ।
कोष्ठे प्रतिष्ठितं शल्यं कुर्यादुक्तानुपद्रवान् ॥ १६ ॥

---

* 'आशयं विना सूक्ष्मास्येन शल्येन यदङ्गमभिहतमुत्तुण्डितमुन्नमितत्वचांसमीपदृष्टमुखं वा, निर्गतं निर्गतशल्यं, तेनानुत्तुण्डितं च विद्धं गृह्यते' ( आ० द० ) ॥ ११ ॥

† 'उभयोरिति छिन्नभिन्नयोरित्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ १२ ॥

‡ 'पीडनं करादिना, पृथुतां विपुलतां, सास्थि अस्थिखण्डान्वितम्' ( आ० द० ) ॥ १३ ॥

§ 'यदङ्गं घर्षणात् कर्षणात् कर्कशवस्त्रादिना अभिघाताद्वा विगतत्वचं भवति, अन्ये 'विगतत्वचा' इति पाठं पठन्ति, विगतत्वचा लक्षितमङ्गम्' ( आ० द० ) ॥ १४ ॥

$ 'श्यावं श्याववर्णम् । मुहुर्मुहुर्वारं वारं, शोणितस्रावयुक्तं, मृदु कोमलं, उद्गतं उन्म्या-

कोष्ठभेदमाह—त्वच इत्यादि । त्वच इति सप्त त्वचः । सिरादीनीति मांसस्नाय्वस्थिसन्धीनि । परिहृत्य चेति परिहारपक्षेऽपि कोष्ठभेदस्य सगतत्वात्, सिराव्यधलिङ्गं चात्रैव "सुरेन्द्रगोपप्रतिम"—इत्यादिना व्यक्तीभविष्यति । उक्तानिति प्रनष्टशल्यविज्ञानीये । तत्र ह्युक्तं,—"कोष्ठगते त्वाटोपानाहौ मूत्रपुरीषाहारदर्शनं च व्रणमुखाद्भवति" (सु सू स्था अ २६)—इति ॥ १५ ॥ १६ ॥

*तत्रान्तर्लोहितं पाण्डुशीतपादकराननम् ।
शीतोच्छ्वासं रक्तनेत्रमानद्धं च विवर्जयेत् ॥ १७ ॥

असाध्यकोष्ठभेदलिङ्गमाह—तत्रेत्यादि । तत्र कोष्ठे । अन्तर्लोहितमिति अभ्यन्तरस्थितरक्तं, अनिःसृतरक्तमिति यावत् । आनद्धमित्यानाहवन्तम् ॥ १७ ॥

†भ्रमः प्रलापः पतनं प्रमोहो विचेष्टनं ग्लानिरथोष्णता च ।
स्रस्ताङ्गता मूर्च्छनमूर्ध्ववातस्तीव्रा रुजो वातकृताश्च तास्ताः ॥१८॥
मांसोदकाभं रुधिरं च गच्छेत् सर्वेन्द्रियार्थोपरमस्तथैव ।
दशार्धसंख्येष्वथ विक्षतेषु सामान्यतो मर्मसु लिङ्गमुक्तम् ॥ १९ ॥

मांससिरास्नाय्वस्थिसन्धिमर्मसु पञ्चसु क्षतेषु सामान्यलिङ्गमाह—भ्रम इत्यादि । विचेष्टनं विरुद्धचेष्टनं करचरणादिक्षेपादिकम् । ग्लानिर्बलक्षयः । स्रस्ताङ्गता अङ्गसन्धिविस्रंसव्यथा । मूर्च्छनमिन्द्रियमोहः । इन्द्रियार्थोपरम इन्द्रियाणां स्वविषयेषु रूपादिषु उपरमो ग्रहणाशक्तिः । दशार्धसंख्येषु पञ्चसु ॥ १८ ॥ १९ ॥

‡सुरेन्द्रगोपप्रतिमं प्रभूतं रक्तं स्रवेत्तत्क्षतजश्च वायुः ।
करोति रोगान् विविधान् यथोक्तान् सिरासु विद्धास्वथ वा क्षतासु ॥ २० ॥
कौब्ज्यं शरीरावयवावसादः क्रियास्वशक्तिस्तुमुला रुजश्च ।
चिराद्व्रणो रोहति यस्य चापि तं स्नायुविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् ॥ २१ ॥
शोफाभिवृद्धिस्तुमुला रुजश्च बलक्षयः सर्वत एव शोफः ।
क्षतेषु सन्धिष्वचलाचलेषु स्यात् सर्वकर्मोपरमश्च लिङ्गम् ॥ २२ ॥
घोरा रुजो यस्य निशादिनेषु सर्वास्ववस्थासु च नैति शान्तिम् ।
भिषग्विपश्चिद्विदितार्थसूत्रस्तमस्थिविद्धं पुरुषं व्यवस्येत् ॥ २३ ॥

---

क्षारावसित बुद्बुदेन सदृशं मांसं यस्य तं, सरुजं पीडायुक्तम् । कोष्ठभेदमाह-त्वच इत्यादि । परिहृत्य वेति संत्यज्य वा' (आ० द०) ॥ १५ १६ ॥

* 'पाण्डूनि शीतानि पादकराननानि यस्य तं, तथा आनद्धं आनाहयुक्तम्' (आ० द०) ॥ १७ ॥

† 'भ्रमश्चक्रारूढस्येव, पतनं भूमौ, प्रमोहः मनोमोहः, शरीरशैथिल्यं वा, प्रमोहस्तु मनोमोहः, ऊर्ध्ववातः इति उद्गारबाहुल्यं, वातकृता रुजस्तास्ताः दण्डापतानकाक्षेपकाद्याः' (आ० द०) ॥ १८ ॥ १९ ॥

‡ 'इन्द्रगोपो वार्षिकः कीटः, तत्सदृशं तस्य रुधिरस्य क्षयाज्जातो वायुः, यस्य कौब्ज्यादिचिह्नं भवति, तं पुरुषं स्नायुविद्धं व्यवस्येत् जानीयात् । तच्च अन्तर्बहिरायामञ्

सिरादयो मर्मरूपा अमर्मरूपाश्च सन्ति, तत्र पूर्वं मर्मरहितानां सिरादीनां विद्धलिङ्गमाह—सुरेन्द्रगोपेत्यादि । यथोक्तानिति शोणितवर्णनीयोक्तान् । तथा चोक्तं,—"तद्विप्रहतं सिरोऽभितापमान्ध्यमाक्षेपादींश्च करोति" (सु. सू. स्था. अ. १४)—इति । विद्धासु बाणादिना । क्षतासु खड्गादिना । कौब्ज्यं कुब्जता । तुमुला गहनाः । सन्धिष्वचलाचलेष्विति अचलेषु, स्थिरेषु, चलेषु चेष्टावत्सु, सन्धयश्चलाचलभेदेन द्विविधाः । तथाच सुश्रुतः,—"शाखासु हन्वोः कट्यां च चेष्टावन्तश्च सन्धयः । शेषास्तु सन्धयः सर्वे विज्ञातव्याः स्थिरा बुधैः" (सु. शा. स्था. अ. ५)—इति ॥ २०—२३ ॥

मर्मरहितानां सिरादीनां विद्धलक्षणमभिधाय सिरादिमर्मविद्धलिङ्गमतिदेशयन्नाह—

*यथास्वमेतानि विभावयेच्च लिङ्गानि मर्मस्वभिताडितेषु ।

यथास्वमेतानीत्यादि । विभावयेच्चेति चकारो भिन्नक्रमे; तेन एतानि लिङ्गानि तथा सामान्यलिङ्गानि च जानीयादित्यर्थः ॥—

पाण्डुर्विवर्णः स्पृशितं न वेत्ति यो मांसमर्मण्यभिपीडितः स्यात् २४

अनुक्रमांसमर्मणो विद्धस्य लिङ्गमाह—पाण्डुर्विवर्ण इत्यादि । ननु, सिरादिविद्धलिङ्गवत् मांसविद्धलिङ्गमपि पूर्वं कुतो नोपदिष्टं ? उच्यते, केवलमांसविद्धस्याबहुव्यापकत्वात् पूर्वमनुपादानम् ॥ २४ ॥

†विसर्पः पक्षघातश्च सिरास्तम्भोऽपतानकः ।
मोहोन्मादव्रणरुजो ज्वरस्तृष्णा हनुग्रहः ॥ २५ ॥
कासश्छर्दिरतीसारो हिक्का श्वासः सवेपथुः ।
षोडशोपद्रवाः प्रोक्ता व्रणानां व्रणचिन्तकैः ॥ २६ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने सद्योव्रणनिदानं समाप्तम् ॥ ४३ ॥

सर्वव्रणानामुपद्रवानाह—विसर्प इत्यादि ॥ २५ ॥ २६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां सद्योव्रणनिदानं समाप्तम् ॥ ४३ ॥

---

द्विधा, अवयवावसादोऽवयवानां स्वकर्मण्यसामर्थ्यं, क्रियास्वशक्तिः सर्वशरीरस्योत्क्षेपणापक्षेपणप्रसारणाकुञ्चनक्रियाणामशक्तिः । अन्ये तु वातविलक्षणजनिता यत्र व्याकुलीभूतवेदनासुमुला उच्यन्त इति वदन्ति । अचलाचलेषु सन्धिषु क्षतेषु सत्सु शोफादिवृद्ध्यादिलिङ्गं स्यादिति । कर्मोपरमः कर्मोपरतिः । अस्थिविद्धमाह—घोरा इत्यादि । तमस्थिविद्धं जानीयात्, सर्वावस्थासु शयनासनादिकासु, निर्दिष्टार्थसञ्ज्ञोऽस्थिगतशल्यतत्रः' (आ० द०) ॥ २०–२३ ॥

* 'तैस्तैश्च मर्मविद्धसिरादिलिङ्गैः तथा सामान्यलिङ्गानि भ्रमप्रलापादीनि च' (आ० द०) ॥—

† 'व्रणरुजो व्रणपीडाः, वेपथुः कम्पः' (आ० द०) ॥ २५ ॥ २६ ॥

# अथ भग्ननिदानम् ।

*भग्नं समासाद्द्विविधं हुताश काण्डे च सन्धौ च हि तत्र सन्धौ ।
उत्पिष्टविश्लिष्टविवर्तितं च तिर्यग्गतं क्षिप्तमधश्च षट् च ॥ १ ॥

आगन्तुसामान्याद्भग्ननिदानम् । द्विविधं हि भग्नं सव्रणमव्रणं च, तत्र सव्रणमभिधायाव्रणमाह—भग्नं समासादित्यादि । हुताश इति अग्निवेशसम्बोधनं, चरके हुताशशब्देनाग्निवेशोऽभिधीयते, एकदेशेनापि समुदायप्रतीतेः । काण्डे च सन्धौ चेति सन्धिविच्छिन्नमेकं, द्वितीयं काण्डभग्नं, काण्डमस्थिकाण्डः, काण्डेन च नलककपालवलयतरुणरुचकानां ग्रहः, तत्र भग्नं काण्डेभग्नं, द्वयोरस्थ्नोः सन्धानं सन्धिः, तद्विश्लेषः सन्धिमुक्तम् । तत्र सन्धाविति सन्धौ मुक्तं 'लिङ्गमभिधीयते' इति शेषः । ननु कथं सन्धिमुक्तं भग्नमुच्यते ? अस्थ्नां हि भङ्गो युक्तः । उच्यते, अस्थिविश्लेषोऽत्र भङ्गोऽभिप्रेतः, स च काण्डभग्ने सन्धिमुक्ते चास्तीति न दोषः ॥ १ ॥

†प्रसारणाकुञ्चनवर्तनोग्रा रुक् स्पर्शविद्वेषणमेतदुक्तम् ।
सामान्यतः सन्धिगतस्य लिङ्गं

सन्धिभग्नस्य सामान्यलिङ्गमाह—प्रसारणेत्यादि । प्रसारणाकुञ्चनवर्तनोग्रा रुगिति प्रसारणादिषु उग्रा रुक् । वर्तनं निष्क्रियस्यावस्थानम् ॥—

‡उत्पिष्टसन्धेः श्वयथुः समन्तात् ॥ २ ॥

विशेषतो रात्रिभवा रुजा च विश्लिष्टजे तौ च रुजा च नित्यम् ।
विवर्तिते पार्श्वरुजश्च तीव्रास्तिर्यग्गते तीव्ररुजो भवन्ति ॥ ३ ॥
क्षिप्तेऽति शूलं विषमत्वमस्थ्नोः क्षिप्ते त्वधो लम्बनमेव सन्धेः ।

उत्पिष्टादिलिङ्गमाह—उत्पिष्टसन्धेरित्यादि । उत्पिष्टं द्वाभ्यामस्थिभ्यां सन्धौ घर्षणम् । श्वयथु समन्तादिति उभयभागे शोथः, उभयतः सन्ध्यस्थ्नोर्घर्षितत्वात् । विशेषतो रात्रिभवा रुजा चेति अभिघातकुपित एव रात्रौ श्लेष्मणाऽत्यन्तं वृद्धो वायुः रुजां करोति । यत्र चूर्णितत्वेन मार्गावरणाद्वातकोप इत्यर्थः । विश्लिष्टज इति विश्लिष्टजाते सन्धिमुक्ते, विश्लिष्टं मनाक् सन्धिविश्लेषः शिथिलतामात्रं, विश्लिष्टमिति भावे क्तः । तौ चेति विश्लिष्टे रात्रिरुजासमन्ताच्छोथौ, समन्ताच्छोथोऽप्यनाल्पो

* 'स चागन्तुव्रण समासाद्द्विविधमाह', कथमित्याह—काण्डे भग्न तथा सन्धौ चेति; सन्धिमुक्तस्य षाड्विध्यमाह—उत्पिष्टेत्यादि । तत्र सन्धाविति तत्र तयोः काण्डभग्नसन्धिभग्नयोर्मध्ये, उत्पिष्टादिभेदेन षोढा भवति' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

† 'प्रसारणादिषु उग्रा रुक् व्यथा, एतत्सामान्यलिङ्गम्' ( आ० द० ) ॥—

‡ पार्श्वरुजश्चेति चकारात् सन्धिसंश्रययोरस्थ्नोर्न्यांवर्तनेन पार्श्वापगमनादिषमाद्भवेति डल्हणः । शूल विषममिति कदाचिद्धीन कदाचिद्विवृद्धम्' ( आ० द० ) ॥ २ ॥ ३ ॥

१ 'षोढा' इति पा० । २ 'विषमा रुगस्थ्नो ' इति पा० । ३ 'रात्रिघूर्णितत्वेन' इति क० ।

दोषः, सन्धेरनभि(ति)घातात् । सन्धिविक्रियया अस्थ्नोरसम्बद्धत्वान्मध्यनिम्नत्वं, "उत्पिष्टस्य विश्लिष्टं सन्धिं वैद्यो न घट्टयेत्"—( सु. चि. स्था. अ. २ ) इति वचनात्; मनागविक्रियया वा । रुजा च नित्यमिति सर्वदा रुजा बलवती भवतीत्युत्पिष्टाद्विशेषः । विवर्तिते इति 'सन्धौ' इति शेषः, विवर्तिते विपरीतं वर्तिते, विवर्तनं सन्धौ द्वयोरस्थ्नोर्विपरीतविभ्रमणनार्जवता । पार्श्वरुजश्च तीव्रा इति चाभ्यन्तरसन्धिस्थानयोः पार्श्वसन्ध्यस्थ्नोः पार्श्वगमनत्वात्तीव्राः पार्श्वरुजः । तिर्यग्गत इति तिर्यक्क्षिप्ते । अत्रैकं सन्ध्यस्थि सन्धिस्थानं त्यक्त्वा तिर्यग्याति । क्षिप्तेऽतीति अतिक्षिप्ते; 'ऊर्ध्वं' इति शेषः । अत्र चैकास्थिविक्रियया उभयास्थिविक्रियया वा द्वयोरप्यस्थ्नोः परस्परातिक्रमणं दूरगमनं वा; विश्लिष्टे तु मनाक् शिथिलतामात्रं; अधःक्षिप्ते तु किंचिदधोगमनमिति विशेषः । 'विषमाच्च सक्थ्नोः' इति पाठे तु 'रुज-' इति शेषः । क्षिप्ते त्वधोगविघटश्च सन्धेरिति अधःक्षिप्ते रुक् रुजा सन्धेर्विघटश्च विघटनम् । 'विरुद्धचेष्टा विघटस्य' इति पाठान्तरे विघटितस्य सन्धेरित्यर्थः । अत्र अधोऽस्थिगमनम् । अधः क्षिप्तवदूर्ध्वं क्षिप्तस्याप्यभिधाने प्राप्ते, अनुक्तिरतिक्षिप्तेऽवरोधात् ॥ २ ॥ ३ ॥—

*काण्डे त्वतः कर्कटकाश्वकर्णविचूर्णितं पिच्चितमस्थिछल्लिका ॥४॥
काण्डेषु भग्नं ह्यतिपातितं च मज्जागतं च स्फुटितं च वक्रम् ।
छिन्नं द्विधा द्वादशधाऽपि काण्डे स्रस्ताङ्गता शोथरुजातिवृद्धिः ॥५॥
संपीड्यमाने भवतीह शब्दः स्पर्शासहं स्पन्दनतोदशूलाः ।
सर्वास्ववस्थासु न शर्मलाभो भग्नस्य काण्डे खलु चिह्नमेतत् ॥ ६ ॥

अतःपरं काण्डभग्नमभिधीयते—काण्डे त्वत इत्यादि । काण्डे इत्यत्र भग्नमिति शेषः । अत इति अतः परम् । कर्कटकेति उभयोः पार्श्वयोर्निपीडनेनाहतावनतं, अत एव मध्ये ग्रन्थिरिवोन्नत, कर्कटतुल्यत्वात् कर्कटकम् । अश्वकर्णेति अश्वकर्णवत् विपुलास्थिनिर्गमादश्वकर्णम् । विचूर्णितमिति क्षुण्णमस्थि, तच्च शब्दस्पर्शाभ्यामवगन्तव्यम् । पिच्चितमिति पिच्चितं बहुचोयम् । अस्थिछल्लिकेति छल्लं वल्कलं तदत्रास्तीत्यस्थिछल्लिका, अत्र मत्वर्थीयष्ठिकन् । अत्र तु भा न भवति, छल्लेरनित्यत्वात् । एषा पार्श्वगतस्तोकास्थिविश्लेषाद्भवति । 'अस्थिछल्लितम्' इति वा पाठः, छल्लमस्य संजातमिति छल्लितम् । काण्डेषु भग्नमित्यनेन काण्डभग्नमभिधीयते, प्रसारणे कम्पमानं काण्डभग्नम् । यद्यपि काण्डभग्नं सर्वमेव कर्कटादि, तथाऽपि विशिष्टे काण्डभग्ने काण्डभग्नसंज्ञेयं बोद्धव्या । यथा—जाङ्गलशब्दो जङ्गलादष्टविधमांसवर्गे सामान्ये, विशेषे पुनरेणादावेव च वर्तते अतिपातितमिति अस्थि निःशेषतश्छिन्नमतिपातितम् । मज्जागतमिति अस्थ्यवयवोऽस्थिमध्यमनुप्रविश्य मज्जानं निःसारयतीति मज्जागतम् । स्फुटितं स्तोकं बहुधा विदीर्णं

---

* 'छिन्नं द्विधेति कश्चिदेकतरपार्श्वस्थमनपरत्र निर्दीर्णमित्याह, सामान्येन काण्डभग्नलक्षणमाह-स्रस्ताङ्गतेत्यादि । काण्डभग्नस्येतच्चिह्नं स्रस्ताङ्गता शोफरुजयोरतिवृद्धिः । संपीड्यमाने हस्तादिना मृदिते सति शब्दः, स्पर्शासहत्वं, तथा स्पन्दनतोदशूला भवन्ति । सर्वासु शयनासनादिकास्ववस्थासु शर्मलाभो न भवति' ( आ० द० ) ॥ ४–६ ॥

शूकपूर्णमिव वेदनावत् । वक्रमिति अविमुक्तास्थि कुब्जीभूतं वक्रम् । वक्रताऽपि भग्नस्य ज्ञेयम् । छिन्नं द्विधेति एकमणुविदीर्णं, बहुविदीर्णमन्यद्, एकं विदीर्णं सलग्नं अपरं विदीर्णं द्विधाभूतं, अन्यस्तु विपुलैकविदरणमित्याह, सुश्रुते एतत् पाटितसंज्ञम् । काण्डेभग्नस्य द्वादशविधत्वं नियमयति—काण्ड इति । अत्र भग्नमिति शेषः । अपिशब्दोऽत्र भिन्नक्रमः, स चावधारणार्थं, तेन छिन्नमित्यत्र सबध्यते । छिन्नमेव द्विधा, न कर्कटादि ॥ ४–६ ॥

*भग्नं तु काण्डे बहुधा प्रयाति समासतो नामभिरेव तुल्यम् ॥ ७ ॥

काण्डेभग्नस्य द्वादशप्रकारादप्यधिकत्वमाह—भग्नमित्यादि । समासतो नामभिरेव तुल्यमिति सक्षेपतो नामानुरूपमेतदवगन्तव्यमित्यर्थः ॥ ७ ॥

†अल्पाशिनोऽनात्मवतो जन्तोर्वातात्मकस्य च ।
उपद्रवैर्वा जुष्टस्य भग्नं कृच्छ्रेण सिध्यति ॥ ८ ॥

कष्टसाध्यतामाह—अल्पेत्यादि । वातात्मकस्येति वातप्रकृतेः । उपद्रवैरिति उपद्रवा ज्वराध्मानमूत्रपुरीषसङ्गादयः ॥ ८ ॥

भिन्नं कपालं कट्यां तु सन्धिमुक्तं तथा च्युतम् ।
जघनं प्रतिपिष्टं च वर्जयेद्धि विचक्षणः ॥ ९ ॥
असंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यत् ।
भग्नं स्तनान्तरे पृष्ठे शङ्खे मूर्ध्नि च वर्जयेत् ॥ १० ॥

असाध्यतामाह—भिन्नं कपालमित्यादि । भग्नमिति वाच्ये भिन्नमिति यत् कृतं तत् कपालानां प्रायशो भेदात् । अत एवोक्तं,—"कपालानि विभज्यन्ते" (सु शा स्था अ ५) इति । ननु, कट्यास्थ्नः कपालसंज्ञाया अभावात् कथमुच्यते भिन्नं कपालं कट्यामिति ? तदुक्तं सुश्रुते,—'जानुनितम्बांसगण्डतालुशङ्खवङ्क्षणशिरःसु कपालानि' (सु शा स्था अ ५)—इति, उच्यते,नितम्बग्रहणेन तत्र कटीग्रहणाददोषः, अथवा सर्वं कपालसंज्ञितमस्थिभिन्नं, तथा कट्यां चास्थिभिन्नं वर्जयेत् । असंश्लिष्टकपालं चेति तु नियमार्थं, तेन ललाटे कपालस्यासंश्लिष्टस्यासाध्यत्वं, नान्यथा भिन्नस्येति । भिन्नं कपालमिति काण्डभग्नमेतत् । सन्धिमुक्तमिति नानाविधमपि सन्धिमुक्तं कट्यां न सिध्यतीति । च्युतमिति अधः क्षिप्तं, अन्यस्तु विश्लिष्टमाह, अथवा कट्यां सन्धिमुक्तं च्युतलक्षणं न सर्वम् । जघनं प्रतिपिष्टं चेति जघनस्थाने पिष्टमुत्पिष्टमेतत्तथा च्युतमिति च । सन्धिमुक्तं पुनर्विशेषार्थमुक्तं, विशेषाभिधानादन्यस्य कटीसन्धिमुक्तस्य कदाचित् साध्यता सूच्यते, अत एव चिकित्सिते "तत्स्थानस्थिते सन्धौ" (सु चि स्था अ ३)—इति वक्ष्यति । असंश्लिष्टकपालं च ललाटे चूर्णितं च यदिति यथा अविद्यमानसंश्लेषं यत् कपालं, तथा ललाटे चूर्णितं च यत् विघटितसन्धि तदसाध्यम् । भग्नमिति सामान्येन सन्धिमुक्तं काण्डभग्नं गृह्यते । अन्ये तु भग्नमित्यनेन काण्डभग्नविशेषं 'प्रसारणे कम्पमानं' इत्यनेनोक्तं

---

* 'यस्येदृशास्थि भग्नं तस्यैव नामेत्यर्थः' (अ० द०) ॥ ७ ॥

† 'अल्पाशिन आहाररहितस्य, अनात्मवतोऽपथ्याशिनः' (अ० द०) ॥ ८ ॥

वदन्ति । उक्तं च भालुकिना—"शङ्खे मूर्ध्नि स्तनान्तरे वा काण्डेभग्नं मरणाय"—इति । स्तनान्तरे उरसि, मूर्ध्नि चूडास्थाने ॥ ९ ॥ १० ॥

सम्यक् सन्धितमप्यस्थि दुर्निक्षेपनिबन्धनात् ।
संक्षोभाद्वाऽपि यद्गच्छेद्विक्रियां तच्च वर्जयेत् ॥ ११ ॥

सर्वेषामनवधानतोऽसाध्यत्वमाह—सम्यगित्यादि । सन्धितं संयमितम् । दुर्निक्षेपनिबन्धनादिति दुःस्थापनात्तथा दुष्टबन्धनात् । संक्षोभाद्वेति अभिघातमपादिसंक्षोभात् । अयमर्थः—सम्यक् संयमितमपि दुःस्थापनात्, सुन्यस्तमपि दुष्टबन्धनात्, सुन्यस्तं सुबद्धमपि संक्षोभाद्विकृतमसाध्यम् ॥ ११ ॥

*तरुणास्थीनि नम्यन्ते भिद्यन्ते नलकानि च ।
कपालानि विभज्यन्ते स्फुटन्ति रुचकानि च ॥ १२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने भग्ननिदानं समाप्तम् ॥ ४४ ॥

अस्थिविशेषे भग्नविशेषमाह—तरुणास्थीनीत्यादि । नम्यन्ते वक्रीभवन्ति, तेनात्र वक्रलक्षणं भग्नम् । घ्राणकर्णाक्षिपुटेषु तरुणं कोमलमस्थि । भिद्यन्ते नलकानि चेति अस्थ्यन्तराद्यप्रवेशाद्भिद्यन्ते, अतिपातितलक्षणेन च भग्नेन नलकानि युज्यन्ते; अन्ये तु द्वादशविधमपि भग्नमेच्छन्ति । कपालानि विभज्यन्त इति कपालेषु विदरणलक्षणो भङ्गः । 'विभिद्यन्ते' इति पाठान्तरं, अर्थस्तु स एव । रुचकानि दन्ताः, तेषु स्फुटितलक्षणो भङ्गः । अस्थीनि पञ्चविधानि तरुणनलककपालवलयरुचकभेदात् । रुचकानि चेति चकाराद्वलयान्यपि स्फुटितानि भवन्तीति । एतद् सुश्रुते स्फुटितं भग्नम् ॥ १२ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां भग्ननिदानं समाप्तम् ॥ ४४ ॥

---

## अथ नाडीव्रणनिदानम् ।

†यः शोथमाममतिपक्वमुपेक्षतेऽज्ञो
यो वा व्रणं प्रचुरपूयमसाधुवृत्तः ।
अभ्यन्तरं प्रविशति प्रविदार्य तस्य
स्थानानि पूर्वविहितानि ततः स पूयः ॥ १ ॥

भग्नस्यापि व्रणस्योपेक्षया नाडी भवति, अतोऽनन्तरं नाडीमाह—यः शोथमित्यादि । उपेक्षत इति पीडनशोधनादिकं न करोति । प्रचुरपूयमेलनेन गम्भीरपाकित्वमुक्तम् । असाधुवृत्तोऽहिताहाराचारः । स्थानानि पूर्वविहितानीति व्रणास्रावविज्ञानीयोक्तानि त्वङ्मांससिरास्नायुसन्ध्यस्थिकोष्ठमर्माणि ॥ १ ॥

* 'घ्राणकर्णाक्षिकूटेषु तरुणास्थीनि कोमलास्थीनि' ( आ० द० ) ॥ १२ ॥

† 'योऽपक्वं शोफमाममित्युपेक्षते अथवा—यः पुरुषः प्रचुरपूयं व्रणमुपेक्षत इति संबन्धः । स पूयस्तस्य पूर्वोक्तानि स्थानानि विदार्यान्तः प्रविशति' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

*तस्यातिमात्रगमनाद्गतिरिष्यते तु
नाडीव यद्वहति तेन मता तु नाडी ।

तस्येति पूयस्य । नाडीवेति अन्तःशुषिरलतादिनाडीवत् ।

दोषैस्त्रिभिर्भवति सा पृथगेकशश्च
संमूर्च्छितैरपि च शल्यनिमित्ततोऽन्या ॥ २ ॥

तासां कालान्तरसंभवेन दोषानुबन्धेन संख्यामाह—दोषैस्त्रिभिरित्यादि । दोषैः पृथक् तिस्रः । एकशश्च संमूर्च्छितैरिति प्रत्येकं युग्मा मिथोभूतैस्त्रिभिश्चतुर्थी; कार्तिकस्तु सन्निपतितैरित्यध्याहार्य एकशश्च सन्निपतितैरन्या । संमूर्च्छितैः संश्लिष्टैरपरास्तिस्रः । अत एवोक्तं सुश्रुते,—"दोषद्वयाभिहितलक्षणदर्शनेन तिस्रो गतीर्व्यतिकरप्रभवास्तु विद्यात्" ( सु. चि. स्था. अ. ५ )—इति । व्यतिकरप्रभवा द्वन्द्वप्रभवाः; अपिचकारौ सार्थकावित्याहुः । न चोक्तपञ्चसंख्याहानिः, अस्मिन् पक्षेऽतिदेशेनोक्तयोर्द्वन्द्वसन्निपातयोः सर्वत्रागणनात् । शल्यनिमित्ततोऽन्येति आगन्तुरपरेत्यर्थः । इति पञ्च नाड्यः ॥ २ ॥

† तत्रानिलात् परुषसूक्ष्ममुखी सशूला
फेनानुविद्धमधिकं स्रवति क्षपासु ।

वातजामाह—तत्रेत्यादि । अधिकं स्रवति क्षपास्विति शैत्ये वातवृद्धे रात्रावधिकं स्रवणम् ॥—

‡ पित्तात्तृषाज्वरकरी परिदाहयुक्ता
पीतं स्रवत्यधिकमुष्णमहःसु चापि ॥ ३ ॥

पित्तजामाह—पित्तादित्यादि । अधिकमुष्णमहःसु चेति दिवा औष्ण्येन पित्तकोपात् ॥ ३ ॥

§ ज्ञेया कफाद्बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रा
स्तब्धा सकण्डुररुजा रजनीप्रवृद्धा ।

कफजामाह—ज्ञेयेत्यादि । बहुघनार्जुनपिच्छिलास्रेति । अत्रार्जुनः श्वेतः, घनः सान्द्रः, आस्रशब्द आस्रावशब्दैकदेशपाठः, पदेऽपि पदैकदेशप्रयोगात् । यथा "जे प्रोष्ठपदानाम्"—इत्यत्र जे इत्यनेनैव जात इत्युच्यते । पिच्छिलास्रुरिति पाठेऽप्ययमेवार्थः । आस्रुशब्दः संपदादिषु पाठात् क्विबन्तः; गुणभावस्त्वागमानित्यत्वात् ॥—

---

* 'पूयस्यातिमात्रगमनाद्गतिरिष्यते, इष्यते चेति चशब्दो नाडीनिरुक्तिपक्षान्तरसमुच्चये, तामेव नाडीनिरुक्तिमाह—नाडीत्यादि । येन हेतुना नाडीव प्रणालीव यद्वहति, तेन हेतुना नाडी मतेत्यर्थः । अन्तःशुषिरनाला नाडी' ( आ० द० )—

† 'परुषं कर्कशं सूक्ष्मं मुखं यस्याः सा तथा' ( आ० द० )—

‡ 'परिदाहः समन्ताद्दाहः' ( आ० द० ) ॥ ३ ॥

§ 'बहुरधिकः, घनः सान्द्रः, अर्जुनः श्वेतः, पिच्छिल आस्र आस्रावो यस्यां सा तथा । रजनीप्रवृद्धेति शैत्येन श्लेष्मणः प्रकोपात्' ( आ० द० )—

*बहुवर्णरुजास्रावा पिडका गोस्तनोपमा ।
शम्बूकावर्तवन्नाडी शम्बूकावर्तको मत. ॥ ६ ॥

सन्निपातजं शम्बूकावर्तमाह—बहुवर्णरुजास्रावेत्यादि । प्रत्येकदोषजभगन्दरपठित-वर्णवेदना स्रावश्च । शम्बूकावर्तवत् पूर्णनद्या शम्बूकावर्तवदावर्तन वेदना दोषगति-विशेषाद्भवतीति शम्बूकावर्त । तथाच भोज ,—“नदीना परिपूर्णाना शम्बूकावर्तका यथा । समुत्तिष्ठन्ति वेगेन तोयवेगसमीरिता ”– इति ॥ ६ ॥

क्षताद्गतिः पायुगता विवर्धते
ह्युपेक्षणात् स्यु क्रिमयो विदार्य ते ।
प्रकुर्वते मार्गमनेकधा मुखै-
र्व्रणैस्तदुन्मार्गि भगन्दरं वदेत् ॥ ७ ॥

उन्मार्गिभगन्दरमागन्तुमाह—क्षताद्गतिरित्यादि । क्षतादिति कण्टकादिघातात् । विदार्य त इति ते क्रिमयो विदार्य मार्गं प्रकुर्वत इति योजना । अनेकधा मुखैरनेक मुखै । अनोन्मार्गेण क्रिमिकृतविमार्गेण पुरीषादिगमनादुन्मार्गिसंज्ञा ज्ञेया । तन्त्रान्तरे त्वर्शोभगन्दर पठित । तथा,—“कफपित्ते तु पूर्वोत्थे दुर्नामाश्रित्य कुप्यत । अर्शोमूले तत शोथ कण्डूदाहार्तिमान् भवेत् ॥ स शीघ्र पक्वभिन्नोऽस्य क्लेदयन् मूलमर्शस । स्रवत्यजस्र गतिभिरयमर्शोभगन्दर ”–इति । अयमन्यतमस्मिन् शत-पोनकादीना दोषलक्षणदर्शनादन्तर्भाव्य ॥ ७ ॥

घोरा· साधयितुं दु खाः सर्व एव भगन्दराः ।
तेष्वसाध्यस्त्रिदोषोत्थ· क्षतजश्च विशेषत· ॥ ८ ॥

प्रतीकारप्रयत्नार्थमाह—घोरा इत्यादि । दु खा इति दु खप्रदा । क्षतजश्च विशेषत इति क्षतजोऽपि विशेषमनेकव्रणयोग क्रिमिसंभवादिकं च वीक्ष्यासाध्य , अत एव चिकित्सितेऽसाध्यता प्रतिज्ञाय क्रिया वक्ष्यति । विशेषत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी विशेषतोऽतिशयादसाध्य इत्यर्थ , यापनार्थं क्रियाविधिरिति । क्वचित् ‘क्षतजश्च भग-न्दर ’–इति पाठ । क्षतजो विशेषत साधयितु घोरोऽसाध्य एव, शल्यरूपविशेषस्य दुष्करत्वादिति गदाधर ॥ ८ ॥

†वातमूत्रपुरीषाणि क्रिमयः शुक्रमेव च ।
भगन्दरात् स्रवन्तस्तु नाशयन्ति तमातुरम् ॥ ९ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने भगन्दरनिदान समाप्तम् ॥ ४६ ॥

अवस्थायामसाध्यतामाह—वातमूत्रपुरीषाणीत्यादि । भगन्दरात्स्रवन्त इत्यत्र ‘अमी विशेषा’ इति शेष ॥ ९ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृताया मधुकोशव्याख्याया भगन्दरनिदान समाप्तम् ॥ ४६ ॥

---

* ‘शम्बूकावर्तवत् स्रुतनाडीवदावत ’ ( आ० द० ) ॥ ६ ॥

† ‘अमी वाताद्या निरोधा भगन्दरात्स्रव तत्क्षमातुर विनाशयन्ति’ ( आ० द० ) ॥ ९ ॥

---

१ व्रणयोगात् ।

# अथोपदंशनिदानम् ।

*हस्ताभिघातान्नखदन्तपातादधावनादत्युपसेवनाद्वा ।
योनिप्रदोषाच्च भवन्ति शिश्ने पञ्चोपदंशा विविधोपचारैः ॥ १ ॥

स्थानप्रत्यासत्तेरुपदंशनिदानमाह—हस्तेत्यादि । नखदन्तपातादिति बलवदनुरागो-द्रयात्मखदन्तच्छेदस्थानत्वेनानुक्तेऽपि मेहने नखदन्तपातः, यदुक्तं कामशास्त्रे,—"शास्त्राणां विषयस्तावद्यावन्मन्दरसा नराः । प्रवृत्ते रतिचक्रे तु नैव शास्त्रं नापि च क्रमः" ( का. सू. सां. अ. अ. २ )—इति । कलहादिवशाद्वा मेहने नखदन्तपातः । अधावनादप्रक्षालनात् । रत्यतिसेवनादिति व्यवायस्यात्यर्थसेवनात् । योनिप्रदोषादिति दीर्घकर्कशरोमादियोगाद्योनिदुष्टेः । शिश्ने मेहने । विविधोपचारैरिति अशुद्धसलिलप्रक्षालनब्रह्मचारिणीगमनादिभिः । उपदंशशब्दश्च दशनोपाधिमन्तरेणापि रूढ्या बोद्धव्यः । यद्यप्यभिघातजश्च मेहने उपदंश आगन्तुः षष्ठः सम्भाव्यते, तथाऽपि तस्य दोषलिङ्गयुक्ततया दोषज एवान्तर्भावः ॥ १ ॥

†सतोदभेदैः स्फुरणैः सकृष्णैः स्फोटैर्व्यवस्येत् पवनोपदंशम् ।
पीतैर्बहुक्लेदयुतैः सदाहैः पित्तेन

पैत्तिकमाह—पीतैरित्यादि । स्फोटैरित्यनुषञ्जनीयम् । एवमुत्तरत्रापि ॥—

‡रक्तात् पिशितावभासैः ॥ २ ॥

स्फोटैः सकृष्णैः रुधिरं स्रवन्तं रक्तात्मकं पित्तसमानलिङ्गम् ।
सकण्डुरैः शोथयुतैर्महद्भिः शुक्लैर्घनैः स्रावयुतैः कफेन ॥ ३ ॥

रक्तजमाह—रक्तादित्यादि । रक्तात् पिशितावभासैरिति मांसवत्ताम्रैः स्फोटैः रक्ताच्छोणितादुपदंशं व्यवस्येत् । 'रक्तैः' इति पाठान्तरे रक्तैः शोणितैः ॥ २ ॥ ३ ॥

नानाविधस्रावरुजोपपन्नमसाध्यमाहुस्त्रिमलोपदंशम् ।

सन्निपातजमाह—नानाविधेत्यादि । नानाविधस्रावरुजोपपन्नमिति प्रत्येकदोषोक्तस्राववेदनायुक्तम् । त्रिमलोपदंशमिति त्रिदोषोपदंशम् ॥—

§विशीर्णमांसं क्रिमिभिः प्रजग्धं मुष्कावशेषं परिवर्जयेच्च ॥ ४ ॥

---

* 'नखदन्तपातादिति बलवदनुरागोदयात्प्रबलकामरागवशात् कामिना मेहने दन्तनखपातो भवति, योनिप्रदोषात् अल्पमहाद्वारदीर्घकर्कशरोमसंकीर्णदेशत्वादियोनिदोषात्, रोगप्रसूतेर्वा योनिदुष्टेः । विविधोपचारैरिति क्षारोष्णमलिनाम्भःप्रक्षालनब्रह्मचारिणीगमनादिभिः । पञ्चोपदंशा इति वातेन, पित्तेन, शोणितेन, कफेन, सन्निपातेन—एव पञ्च' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

† 'भेदो द्विधा क्रियत इव । व्यवस्येत् जानीयात् । पित्तजमाह—पीतैरित्यादि । पीतै रक्तैर्वेति विकल्पः, पित्तेन बहुक्लेदयुतैरार्द्रताबहुले, स्फोटैरिति शेषः' ( आ० द० )

‡ 'कफजमाह—सकण्डुरैः कण्डूयुते, महद्भिः महत्परिग्रहे, घनैर्निबिडे, स्फोटैरिति शेषः' ( आ० द० ) ॥ २ ॥ ३ ॥

§ 'विशीर्णमांसं शटितमांसं, कृमिभिः प्रजग्धं भक्षितं' ॥ ४ ॥

असाध्यतामाह—विशीर्णेत्यादि । मुष्कावशेषमिति विशीर्णसमस्तमेहनमासत्वेनावशिष्टफलकोषमात्रम् ॥ ४ ॥

*संजातमात्रे न करोति मूढः क्रियां नरो यो विषये प्रसक्तः ।
कालेन शोथक्रिमिदाहपाकैर्विशीर्णशिश्नो म्रियते स तेन ॥ ५ ॥

उपक्रमे चिकित्साकरणार्थमाह—संजातेत्यादि । विषये प्रसक्त इति अतिव्यवायरत, कालेन चिरकालेन ॥ ५ ॥

अङ्कुरैरिव संघातैरुपर्युपरि संस्थितैः ।
क्रमेण जायते वर्तिस्ताम्रचूडशिखोपमा ॥ ६ ॥
कोषस्याभ्यन्तरे सन्धौ सर्वसन्धिगताऽपि वा ।
( सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषजा । )
लिङ्गवर्तिरभिख्याता लिङ्गार्श इति चापरे ॥ ७ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने उपदंशनिदानं समाप्तम् ॥ ४७ ॥

एकस्थानत्वेनात्र लिङ्गार्श आह—अङ्कुरैरित्यादि । अङ्कुरैरङ्कुरसदृशैरीषद्दीर्घैः, संघातैर्मांसप्रताने, 'संजाते' इति पाठे 'मांसे' इति शेष । ताम्रचूडशिखोपमेति ताम्रचूड कुक्कुट, तच्चूडातुल्या । सन्धाविति मेढ्रस्य प्रसन्धौ, सर्वसन्धिगतेत्यनेन सर्वसन्धेरुक्तत्वात् । एषा त्रिदोषजा, अत एव 'सवेदना पिच्छिला च दुश्चिकित्स्या त्रिदोषजा'–इति क्वचित् पाठ । सुश्रुते क्वचित् स्त्रीणामप्युपदंश पठ्यते । यथा, 'मेढ्रसन्धौ व्रणा केचित् केचित् सर्वाश्रयास्तथा । कुलत्थाकृतय केचित् केचित् पद्मदलोपमा ॥ दनादाहादिसङ्कुला कृष्णास्फोटसमन्विता । शीघ्रं केचिद्विसर्पन्ति शनैः केचित्तथाऽपरे । स्त्रीणां पुंसां च जायन्ते उपदंशा सुदारुणा "–इति । किंतु समानतन्त्रेष्वदर्शनादेतदनादृतमाहु ॥ ६ ॥ ७ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायामुपदंशनिदानं समाप्तम् ॥ ४७ ॥

---

# अथ शूकदोषनिदानम् ।

†अक्रमाच्छेफसो वृद्धिं योऽभिवाञ्छति मूढधीः ।
व्याधयस्तस्य जायन्ते दश चाष्टौ च शूकजाः ॥ १ ॥

समानस्थानत्वाच्छूकदोषनिदानमाह—अक्रमादित्यादि । शूको जलशूक, स तु विषजन्तुर्जलमलोद्भव सशूक, तथा शूकप्रधानो लिङ्गवृद्धिकरो वात्स्यायनाद्युक्तो योग शूक उच्यते, तस्य दोषो वैकृतमसम्यक्करणात्, ततो वा दोषो वातादि, तत्कृतो वा विकार, "दोषा अपि व्याध्याख्यां लभन्ते"–इत्यागमात्, अत एव

* 'यो मूढो विषयप्रसक्तो व्यवायादितत्पर, स तेनोपदंशेन कालेन कालान्तरेण म्रियते, शोथादिभिरुपद्रवै प्रक्षीणशिश्नो गलितमेहन ' ( आ० द० ) ॥ ५ ॥

† 'तन्मुख्यत्वाल्लिङ्गवृद्ध्यावन्येऽपि योगा शूका कथ्यन्ते, शूकस्य दोषो विकार, शूकस्य कारणत्वादत्र शूकजा इति शूकदोषजा व्याधय ' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

शूकदोषविवरणे शूकदोषनिमित्ता व्याधय एव बोद्धव्या । एवं च यदत्र 'कुम्भिका रक्तपित्तोत्था' इत्यादिकारणान्तरोपवर्णनं तत् शूकस्कृतरक्तपित्तादिरूपं ज्ञेयम् । अन्ये त्वादिशब्दलोपात् शूकादिदोषनिदानमाहुः । आदिशब्देन दुष्टयोनिगूढान्तर्लोमदुर्भगा-गमनादि गृह्यते, तन्न मनोहरं, 'वृद्धिं योऽभिवाञ्छति' इत्यनेन विशेषणेन दुष्टयोन्या-देरयोग्यस्य ग्रहीतुमनर्हत्वात् । अन्ये तु दुष्टयोन्यादीन्युपदंशहेतुत्वेनोक्तत्वाच्चानुम-न्यन्ते, तदनैकान्तिकं, एकजातीयहेतूनामनेकरोगकरणदर्शनात् । अक्रमादित्यनुचित-वृद्धिक्रमात्, अनुचिता च वृद्धिर्भूरिविकारकरजलशूकयोगानामवचारणात्, जलशू-कयोगाश्च वात्स्यायनादौ विस्तरः । यथा,—भल्लातकास्थिजलजशूकमथाब्जपत्रमन्तर्विदग्ध मतिमान् सह सैन्धवेन । एतद्विरूढबृहतीफलतोयपिष्टमालेपनं महिषविड्विमलीकृते-ऽङ्गे ॥ स्थूलं महत्तरतुरङ्गमतुल्यमाशु शेफं करोत्यभिमतं न हि संशयोऽस्ति''—इत्यादि । यच्च जलशूकरहितमश्वगन्धादितैलं तदुचितमेव लिङ्गवर्धनम् । यदुक्तं,—'अश्वगन्धाव-रीकुष्ठमांसीसिंहीफलान्वितम् । चतुर्गुणेन दुग्धेन तिलतैलं विपाचयेत् ॥ स्तनलिङ्गक-र्णपालिवर्धनं म्रक्षणादिदम्''—इति । गदाधरस्त्वाह लिङ्गवृद्धिरेव कामपरायणनिन्दि-तपुरुषैः क्रियमाणा अक्रमः । दश चाष्टौ चेत्यष्टादश, सङ्ख्येयनिर्देशादेव लब्धायां सङ्ख्यायां पुनस्तदुक्तिः समूढपिडकादौ द्वित्वशङ्कानिरासार्थम् ॥ १ ॥

*गौरसर्षपसंस्थाना शूकदुर्भग्नहेतुका ।
पिडका श्लेष्मवाताभ्यां ज्ञेया सर्षपिका तु सा ॥ २ ॥

सर्षपिकामाह—गौरेत्यादि । शूकदुर्भग्नहेतुकेति दुर्भग्नशूकहेतुकेत्यर्थः । पिडकादिषु उभयवचनमिति (?) परनिपातः । दुर्भग्नो दुरवचारितः । 'शूकदुर्भगहेतुका' इति पाठान्तरे शूकनिमित्ता दुष्टयोनिनिमित्ता चेत्यर्थः ॥ २ ॥

†कठिना विषमैर्भुग्नैर्वायुनाऽष्ठीलिका भवेत् ।

अष्ठीलिकामाह—कठिनेत्यादि । विषमैर्भुग्नैरिति वक्ष्यमाणशूकैरित्यनेन सम्बध्यते । विषमैरित्यप्रशस्तैः । अष्ठीलिका लोहकारस्य भाण्डीविशेषः, तत्तुल्यत्वादष्ठीलिका ॥—

‡शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्ग्रथितं नाम तत् कफात् ॥ ३ ॥

ग्रथितमाह—शूकैरित्यादि । शूकैर्यत् पूरितं शश्वद्ग्रथितमिति शूकैः सर्वदा पूरितं लिङ्गं यत् ग्रन्थिलं तत् ग्रथितमित्यर्थः, ग्रन्थितुल्यत्वात् ग्रथितसंज्ञा ॥ ३ ॥

§कुम्भिका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा ।

---

* 'गौरसर्षपतुल्या' ( आ० द० ) ॥ २ ॥

† 'भुग्नैर्वक्रैः' ( आ० द० ) ॥—

‡ 'ग्रथितत्वाद् ग्रथितसंज्ञा । शश्वदिति अहरहः । शूकपूरणं शेफसि, एतेनैकदिनान्त-रपूरणं प्रशस्तमिच्छन्ति कामतन्त्राचार्याः । नित्यपूरणाद्ग्रथितनाम्नो रोगस्योत्पत्तिः.' ( आ० द० ) ॥ ३ ॥

§ 'कुम्भिका कुम्भिकाकारा, तथा जाम्बवास्थिरूपा जम्बूफलास्थिसदृशी, सा च रक्तपित्तजनिता' ( आ० द० )

कुम्भिकामाह—कुम्भिकेत्यादि । कुम्भी कुम्भीकलता, तस्याः फलं कुम्भी, तद्वितस्य लुक्, इवे प्रतिकृतौ इति कन्, कुम्भीफलवत् कुम्भिका । अशुमेति शुमं शुक्लं तद्विरोधे नञ्, कृष्णेत्यर्थः । 'आशुजा' इति पाठान्तरम् ॥—

*तुल्यजां त्वलजीं विद्याद्यथाप्रोक्तां विचक्षणः ॥ ४ ॥

अलजीमाह—तुल्यजामित्यादि । तुल्यजामिति प्रमेहपिडका अलजी तत्तुल्यसम्भवा, सा च रक्ताऽसिता स्फोटचिता । तुल्यत्वमेव विवृणोति—यथाप्रोक्तामिति, अलजी यथा प्रोक्ता यादृग्लक्षणा तथेयमपीत्यर्थः । एषा च कारणचिकित्साभेदात् प्रमेहं विना लिङ्ग एव सम्भवाच्च तत पृथग्भूता ज्ञेया ॥ ४ ॥

मृदितं पीडितं यच्च संरब्धं वातकोपतः ।

मृदितमाह—मृदितमित्यादि । पीडितमिति अधिकृतत्वात् शूकपातानन्तरं पीडितमिति ज्ञेयं, पीडितं 'लिङ्ग' इति शेषः, संरब्धं सशोथम् ॥—

पाणिभ्यां भृशसंमूढे संमूढपिडका भवेत् ॥ ५ ॥

संमूढपिडकामाह—पाणिभ्यामित्यादि । पाणिभ्यां भृशसंमूढे इत्यधिकारात् पातितशूके लिङ्गे पाणिभ्यां भृशसंमूढे पिच्चिताघनते, अत्रापि 'वातकोपात्' इत्यनुवर्तते ॥ ५ ॥

†दीर्घा बह्वश्च पिडका दीर्यन्ते मध्यतस्तु याः ।
सोऽधिमन्थः कफासृग्भ्यां वेदनारोमहर्षकृत् ॥ ६ ॥

अधिमन्थमाह—दीर्घा इत्यादि । कफासृग्भ्यामिति शूकपातकृताभ्याम् । एवमन्यत्रापि सामान्येन शूकदोषाभिहिते शूकपातोऽनुक्तोऽपि ज्ञेयः । वेदनारोमहर्षकृदिति वेदनया रोमहर्षं करोति ॥ ६ ॥

‡पिडका पिडकाव्याप्ता पित्तशोणितसंभवा ।
पद्मकर्णिकसंस्थाना ज्ञेया पुष्करिका तु सा ॥ ७ ॥

पुष्करिकामाह—पिडकेत्यादि ॥ ७ ॥

§स्पर्शहानिं तु जनयेच्छोणितं शूकदूषितम् ।

स्पर्शहानिमाह—स्पर्शहानिं त्वित्यादि ॥—

---

* 'विचक्षणोऽलजीपिडिकां विद्यात् । किंभूतां ? तुल्यजामिति । इयमपि दुष्टशूकावचारणाज्ज्ञेया' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

† 'दीर्घा विस्तीर्णा , बह्वो बहुलाः' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥

‡ 'या पिडकैव पिडकाभिश्चिता व्याप्ता । पद्मकर्णिकसंस्थानेति कमलकोशतुल्या, पुष्करिकेति सा पित्तशोणिताद्विज्ञेया' ( आ० द० ) ॥ ७ ॥

§ 'स्पर्शहानिनामानं व्याधिविशेषं, शूकदूषितं शूकेन दुष्टिं नीतं रक्तं जनयेत्' ( आ० द० ) ॥—

*मुद्गमाषोपमा रक्ता रक्तपित्तोद्भवा तु या ॥ ८ ॥
व्याधिरेषोत्तमा नाम शूकाजीर्णनिमित्तजा ।

उत्तमामाह—मुद्गमाषेत्यादिना । एषोत्तमा व्याधि शूकाजीर्णनिमित्तजा भवति, शूकाजीर्णं पुन पुनर्दुरवचारितशूकविकृतिरूपमेव । व्याधिरेषोत्तमो नामेति पाठान्तरे एषोत्तम इति निर्देश पूर्वत्रासिद्धविधेरनित्यत्वात् साधु ॥ ८ ॥

†छिद्रैरणुमुखैर्लिङ्गं चितं यस्य समन्ततः ॥ ९ ॥
वातशोणितजो व्याधिः स ज्ञेयः शतपोनकः ।

शतपोनकमाह—छिद्रैरणुमुखैरित्यादिना । छिद्रैरिति दुरवचारितशूकदोषजनितवातशोणितैः चितमुपचितम्, अत एव चिकित्सायां लेखनोपदेश । शतपोनक चालनिका, तत्तुल्यत्वात् शतपोनक ॥ ९ ॥—

‡वातपित्तकृतो ज्ञेयस्त्वक्पाको ज्वरदाहकृत् ॥ १० ॥

त्वक्पाकमाह—वातपित्तकृत इत्यादि । शूकदोषेषु क्वचित् कस्यचिद्दोषस्याभिधानं शूकविशेषादाहाराचारभेदाच्च समर्थनीयम् ॥ १० ॥

कृष्णैः स्फोटैः सरक्ताभिः पिडकाभिर्निपीडितम् ।
यस्य वास्तुरुजश्चोग्रा ज्ञेयं तच्छोणितार्बुदम् ॥ ११ ॥

शोणितार्बुदमाह—कृष्णैः स्फोटैरित्यादिना । पिडकाभिरिति स्वरूपाभिर्निपीडितं लिङ्गमिति बोद्धव्यम् । यस्य वास्तुरुज इति वास्तु व्रणाधिष्ठानं, तत्र रुज, अगाधोच्छ्रितमांसशोथत्वात् । 'क्षतिरुजश्चोग्रा' इति पाठान्तरम् । अर्बुद दुरवचारितशूकजनितशोणितकृतम् ॥ ११ ॥

§मांसदोषेण जानीयादर्बुदं मांससंभवम् ।

मांसार्बुदमाह—मांसदोषेणेत्यादि । मांसदोषेणेति शूकपातानन्तरं प्रहारादिना कृतेन मांसदोषेण ॥—

शीर्यन्ते यस्य मांसानि यस्य सर्वाश्च वेदनाः ॥ १२ ॥
विद्यात्तं मांसपाकं तु सर्वदोषकृतं भिषक् ।

मांसपाकमाह—शीर्यन्ते यस्येत्यादि । शीर्यन्ते गलन्ति, सर्वाश्च वेदना इति वातपित्तकफजा ॥ १२ ॥—

* 'एष उत्तमो नाम व्याधि शूकाजीर्णनिमित्तजो भवति, शूकाजीर्णं पुन पुनर्दुरवचारितशूकविकृतिरूपमेव, तदेव निमित्त, ततो जायत इति । 'व्याधिरेषोत्तम' इति निर्देश पूर्वत्रासिद्धविधेरनित्यत्वात्साधु ' (आ० द०) ॥ ८ ॥

† 'यस्य लिङ्ग छिद्रै सूक्ष्ममुखै समन्तत सर्वतश्चित व्याप्त, स व्याधि शतपोनको ज्ञेय ' (आ० द० ) ॥ ९ ॥

‡ 'वातपित्तकृत त्वक्पाकनामा व्याधिर्ज्ञेय । स च ज्वरदाहौ करोति । अयं च दुरवचारितशूकदूषितवातपित्तज इत्यर्थ ' ( आ० द० ) ॥ १० ॥

§ 'अत्रापि शोणित हेतु , मांसार्बुदसंज्ञा' (आ० द० ) ॥—

१ अयमिममेव मुख्य पाठ मनुते ।

विद्रधिं सन्निपातेन यथोक्तमिति निर्दिशेत् ॥ १३ ॥

विद्रधिमाह—विद्रधिमित्यादि । सन्निपातेन यथोक्तमिति 'नानावर्णरुजास्राव' इत्यादिना सन्निपातजविद्रधिलक्षणं विद्रधिमिह जानीयादित्यर्थः ॥ १३ ॥

†कृष्णानि चित्राण्यथवा शूकानि सविषाणि वा ।
पातितानि पचन्त्याशु मेढ्रं निरवशेषतः ॥ १४ ॥
कालानि भूत्वा मांसानि शीर्यन्ते यस्य देहिनः ।
सन्निपातसमुत्थांस्तु तान् विद्यात्तिलकालकान् ॥ १५ ॥

तिलकालकमाह—कृष्णानीत्यादि । चित्राणीति नानावर्णानि । सविषाणीति शूकानां सविषत्वेऽपि विशेषार्थमुक्तम् । कालानीति कृष्णानि, कृष्णतिलतुल्यत्वात्तिलकालक संज्ञा । शीर्यन्ते गलन्ति ॥ १४ ॥ १५ ॥

†तत्र मांसार्बुदं यच्च मांसपाकश्च यः स्मृतः ।
विद्रधिश्च न सिद्ध्यन्ति ये च स्युस्तिलकालकाः ॥ १६ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शूकदोषनिदानं समाप्तम् ॥ ४८ ॥

शूकदोषेष्वसाध्यानाह—तत्र मांसार्बुदमित्यादि । यच्चेति चकारोऽयं भिन्नक्रम , स च न सिद्ध्यतीत्यनन्तरं द्रष्टव्य , तेन साध्यताऽप्येषामचिरत्वादिना भवति, अत एव प्रत्याख्याय चिकित्साविधानमुपपन्नमिति गदाधर । दुर्ज्ञानात् साध्ये एवासाध्यतारोपात्सम्पूर्णावस्थायामसाध्येऽपि क्रियासिद्धेश्च मा निवर्ततां भिषगिति प्रत्याख्याय चिकित्सा कारुणिकतया आचार्य उपदिशतीति मन्तव्यम् ॥ १६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृताया मधुकोशव्याख्याया शूकदोषनिदानं समाप्तम् ॥ ४८ ॥

---

## अथ कुष्ठनिदानम् ।

‡विरोधीन्यन्नपानानि द्रवस्निग्धगुरूणि च ।
भजतामागतां छर्दिं वेगांश्चान्यान् प्रतिघ्नताम् ॥ १ ॥
व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वा निषेविणाम् ।
घर्मश्रमभयार्तानां द्रुतं शीताम्बुसेविनाम् ॥ २ ॥

---

* 'यस्य पुंस. शूकानि कृष्णानि, अथवा चित्राणि, अथवा सविषाणि, तानि सहसाशु शीघ्र निरवशेषत समग्र मेढ् पचन्ति, तथा कालानीति कृष्णानि परिगलितत्वकानि भूत्वा, शीर्यन्ते गलन्ति, तान् सन्निपातजान् तिलकालकान् विद्यात्' (आ० द०) ॥ १४ ॥ १५ ॥

† 'तत्र तेषु शूकदोषेषु मध्ये यन्मांसार्बुद, तथा विद्रधि , तथा ये च तिलकालकाः स्यु , एते न सिध्यन्ति' (आ० द० ) ॥ १६ ॥

‡ 'पञ्चदाषरता घृणा कुष्ठानि जायन्त इति सबन्ध । प्रतिघ्नतां प्रतिघात कुर्वताम् । अजीर्णमनतिपक्वमन्न, पञ्चकर्मापचारिणामिति पञ्चकर्माणि वमनविरेकादीनि,

अजीर्णाध्यशिनां चैव पञ्चकर्मापचारिणाम् ।
नवान्नदधिमत्स्यातिलवणाम्लनिषेविणाम् ॥ ३ ॥
माषमूलकपिष्टान्नतिलक्षीरगुडाशिनाम् ।
व्यवायं चाप्यजीर्णेऽन्ने निद्रां च भजतां दिवा ॥ ४ ॥
विप्रान् गुरून् धर्षयतां पापं कर्म च कुर्वताम् ।
वातादयस्त्रयो दुष्टास्त्वग्रक्तं मांसमम्बु च ॥ ५ ॥
दूषयन्ति स कुष्ठानां सप्तको द्रव्यसंग्रहः ।
अतः कुष्ठानि जायन्ते सप्त चैकादशैव च ॥ ६ ॥

अष्टादशसंख्यारूपेण तुल्यत्वात् कुष्ठनिदानमुच्यते । विशेषेण कुष्ठजनकं निदानमाह—विरोधीनीत्यादि । विरोधीनि "न मत्स्यान् पयसाऽभ्यवहरेत्" ( च. सू. स्था. अ. २६ ) इत्यादिनोक्तानि । भजतामिति पूर्वेण संबध्यते । आगतामिति उपस्थितवेगाम् । वेगोऽत्रान्यतानिति मूत्रपुरीषादिवेगान् । व्यायाममतिसन्तापमतिभुक्त्वेति भुक्त्वा व्यायाममतियुज्य सन्तापमतियुज्य निषेविणामिति एतयोरेव सेवनशीलानां, निषेविणामित्यनेन सह प्रथमतः संबन्धे कृद्योगलक्षणा षष्ठी स्यात्, ततश्च व्यायामस्यातिसन्तापस्यातिनिषेविणामिति प्रयोगः प्रसज्येत । 'शीतोष्णलङ्घनाहारान् क्रमं मुक्त्वा निषेविणां' इति पाठान्तरे शीतोष्णादीनां यदा येन क्रमेण सेव्यत्वमुक्तं, तद्वैपरीत्येन तान् सेव्यमानानां; शीतोष्णलङ्घनाहारानित्यनन्तरं प्रतीति द्रष्टव्यं, तेन शीतोष्णादीन् प्रति यः क्रमस्तं मुक्त्वा एतेषामेव निषेविणाम् । घर्मश्रमभयार्तानामिति घर्मादिभिरार्तत्वे सति द्रुतमविश्रम्य शीताम्बुसेविनाम् । घर्म आतप. । अजीर्णाध्यशिनामिति अजीर्णमाममन्नं, अपक्वमिति यावत्, तद्भुञ्जानानां, अध्यशिनामाहारे एवापरिणते भुञ्जानानाम् । अशिनामिति अजीर्णाधिशब्दाभ्यां सह संबध्यते । पञ्चकर्मापचारिणामिति पञ्चकर्मणि क्रियमाणेऽपचारिणाम् । नवान्नदधिमत्स्यानीति अतिशब्दो नवान्नादिभिः सर्वैः संबध्यते । व्यवायं चाप्यजीर्ण इति विदग्धादिरूपे अजीर्णे । धर्षयतामिति अभिभवताम् । पापं कर्म च कुर्वतामित्यनेनैव विप्रादिधर्षणे लब्धे पुनस्तद्वचनं विशेषार्थम् । दोषदूष्यसंग्रहमाह—वातादय इत्यादिना । वातादीनां नित्ये प्रतीतेऽपि त्रय इति वचनं सर्वकुष्ठेषु मिलितानामेव त्रयाणां दुष्टिप्रदर्शनार्थम् । द्रव्यसंग्रह इति द्रव्यमारम्भकं कारणमुच्यते, यथा,—"रसनार्थो रसस्तस्य द्रव्यमापः क्षितिस्तथा"—( च. सू. स्था. अ. १ )—इति । अर्थलब्धमपि सप्तकमिति पदं सर्वत्र सप्तकनियमार्थं पुनरुक्तम् । ननु, विसर्पाणां समुत्पादे एतावत्येव सामग्री, यदुक्तं,—"रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मला. । विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेयाः सप्त धातवः"—(च. चि. स्था. अ. २१) इति । इति लसीकया च तत्रोदकमुच्यते, तत् किंनिबन्धनः कुष्ठविसर्पयोर्भेदः ? उच्यते, कुष्ठं चिरक्रियै. स्थिरैरप्रबलरक्तपित्तैर्दोषैर्जन्यते, विसर्पस्त्वचिरविसर्पणशीलैः प्रबलरक्तपित्तैः ; कुष्ठे गुरुप्रधर्षणपरद्रव्यापहारादयो निमित्तं न विसर्पे ।

---

देषामपचारिणा ..व्यापत्त्वयोगिनाम् । व्यवाय मैथुन, दिवा च निद्रा भजताम्' ( आ० द० ) ॥ १–६ ॥

अन्ये त्वाहुः–विसर्पा वातादिभिरेकैकशोऽपि भवन्ति, यदुक्तं,–"पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः" (च. चि. स्था. अ. २१)–इति, कुष्ठं तु त्रिदोषजमेवेति। किं त्वेतत्समाधानं त्रिदोषत्वेऽपि विसर्पाणामेकदोषजकुष्ठवदेकदोषजत्वकीर्तनं सङ्गतमिति न मनोहरम्। अतः कुष्ठानीति अत इत्यस्मात् दोषदूष्यसमुदायात्। सप्त चैकादशैव चेति विच्छेदपाठेन सप्तानां महाकुष्ठत्वमेकादशानां क्षुद्रत्वमिति बोधयति ॥१–६॥

*कुष्ठानि सप्तधा दोषैः पृथग्द्वन्द्वैः समागतैः।
सर्वेष्वपि त्रिदोषेषु व्यपदेशोऽधिकत्वतः ॥ ७ ॥

कुष्ठानां त्रिदोषजत्वेऽप्युत्बणदोषेण सप्तप्रकारतामाह—कुष्ठानीत्यादि। दोषैः पृथक् त्रयः, द्वन्द्वैस्त्रयः, समागतैः सन्निपातैरेक इति सप्तत्वम्। व्यपदेशोऽधिकत्वत इति यथा–वातेन कुष्ठं कापालमित्यादि ॥ ७ ॥

†अतिश्लक्ष्णखरस्पर्शस्वेदास्वेदविवर्णताः।
दाहः कण्डूस्त्वचि स्वापस्तोदः कोठोन्नतिर्भ्रमः ॥ ८ ॥
व्रणानामधिकं शूलं शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिः।
रूढानामपि रूक्षत्वं निमित्तेऽल्पेऽतिकोपनम् ॥ ९ ॥
रोमहर्षोऽसृजः कार्ष्ण्यं कुष्ठलक्षणमग्रजम्।

पूर्वरूपमाह—अतिश्लक्ष्णेत्यादिना। अतिश्लक्ष्णोऽतिमसृणः। खरो रूक्षः (खरः कर्कशः), अतिश्लक्ष्णो वा खरो वा स्पर्शः। स्वेदास्वेदौ स्वेदवहस्रोतोऽवरोधानवरोधकृतौ। स्वापः स्पर्शाज्ञानम्। कोठोन्नतिः वरटीदष्टसंकाशः शोथः कोठः, तस्योन्नतिः। शीघ्रोत्पत्तिश्चिरस्थितिश्च व्रणानामेव। निमित्तेऽल्पेऽतिकोपनमिति अन्यथाऽपि दुष्टशोणितत्वाद्व्रणानां देहगतानामल्पेऽपि हेतौ कोपः। कुष्ठलक्षणमग्रजमिति कुष्ठानां पूर्वरूपमित्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥

‡कृष्णारुणकपालाभं यद्रूक्षं परुषं तनु ॥ १० ॥
कापालं तोदबहुलं तत्कुष्ठं विषमं स्मृतम्।
रुग्दाहरागकण्डूभिः परीतं रोमपिञ्जरम् ॥ ११ ॥

* 'कुष्ठानि सप्तधा सप्तप्रकाराणि, कथमित्याह–पृथग्दोषैः वातेन, पित्तेन, श्लेष्मणा, त्रीणि, तथा तैरेव दोषैर्द्वन्द्वैर्वातपित्ताभ्यां, वातकफाभ्यां, कफपित्ताभ्यां, त्रीणि, तथा तैरेव दोषैः समागतैः सन्निपातैरेकं, इति सप्तत्वम्। नन्वेवं सत्येकदोषजं द्विदोषजं कुष्ठं तत्सर्वं त्रिदोषजं स्यादित्याह–सर्वेष्वित्यादि। सर्वेष्वपि कुष्ठेषु त्रिदोषजेषु सत्स्वधिकत्वेनोऽधिकत्वाद्व्यपदेशो निर्देशः कार्यः, सन्निपातस्य समविषमत्वात्' (आ० द० ) ॥ ७ ॥

† 'विवर्णता वैवर्ण्यं, दाहः सर्वाङ्गीणः, कण्डूस्त्वचि, श्रमोऽनायासजः। अल्पेऽपि ... कोपो व्रणानाम् (आ० द० ) ॥ ८ ॥ ९ ॥—

। ये स्फुटितपर्वाः कपालवर्णं, अन्ये कृष्णारुणकपालं शर्करावर्णमाहुः।
तोदाढ्यं, रुग्दाहरागकण्डूभिर्युक्तं, उदुम्बरफलाभासं पक्वोदुम्ब-

"भ्रम." इति पाठान्तरभावेन।

उदुम्बरफलाभासं कुष्ठमौदुम्बरं वदेत् ।
श्वेतं रक्तं स्थिरं स्त्यानं स्निग्धमुत्सन्नमण्डलम् ॥ १२ ॥
कृच्छ्रमन्योन्यसंयुक्तं कुष्ठं मण्डलमुच्यते ।
कर्कशं रक्तपर्यन्तमन्तःश्यावं सवेदनम् ॥ १३ ॥
यदृष्यजिह्वसंस्थानमृष्यजिह्वं तदुच्यते ।
सश्वेतं रक्तपर्यन्तं पुण्डरीकदलोपमम् ॥ १४ ॥
सोत्सेधं च सरागं च पुण्डरीकं तदुच्यते ।
श्वेतं ताम्रं तनु च यद्रजो घृष्टं विमुञ्चति ॥ १५ ॥
प्रायश्चोरसि तत् सिध्ममलाबुकुसुमोपमम् ।
यत्काकणन्तिकावर्णं सपाकं तीव्रवेदनम् ॥ १६ ॥
त्रिदोषलिङ्गं तत्कुष्ठं काकणं नैव सिध्यति ।

सप्तमहाकुष्ठानां लक्षणमाह—कृष्णारुणकपालाभमित्यादि । कृष्णारुणकपालाभं कृष्णारुणकपालवर्णं, कपालं खर्परशकलम् । परुषं खरस्पर्शम् । तनु तनुत्वक्, विषमं युधिकिरस्थम् । रोमभिश्चरमिति रोमभि पिञ्जरं कपिलरोममित्यर्थः । स्थिरं कठिनम् । स्त्यानमार्द्रं सजलं वा । उत्सन्नमण्डलमुद्गतमण्डलम् । कृच्छ्रं कृच्छ्रसाध्यम् । अन्योन्यसंयुक्तमिति अपरापरैर्मिलितम् । ऋष्यजिह्वासंस्थानमिति ऋष्यो नीलाण्डो हरिणः, तस्य जिह्वाकारम् । पुण्डरीकदलोपममिति पुण्डरीकं रक्तपद्मं तत्पत्रोपमं, तेन सश्वेतं रक्तपर्यन्तम् । सरागमिति सलोहितं, मध्ये श्वेतलोहितमित्यर्थः । श्वेतं ताम्रमिति श्वेतलोहितात्मकम् । प्रायश्चोरसीत्युरसि तद्बाहुल्येन भवति, कफप्रधानत्वात् । प्रायोग्रहणादन्यत्रापि भवति । यत् काकणन्तिकावर्णमिति काकणन्तिका गुञ्जा, गुञ्जासवर्णत्वेन च मध्ये कृष्णमन्ते रक्तं अथवा मध्ये रक्तमन्ते कृष्णम् । कुष्ठत्वेनैव त्रिदोषलक्षणत्वे सिद्धे त्रिदोषलिङ्गमिति पुनरुक्तं प्रबलदोषत्रयलिङ्गत्वोपदर्शनार्थम् । इति सप्तमहाकुष्ठानि । महत्त्वं चैषां शीघ्रमुत्तरोत्तरधात्ववगाहनबहुदोषजत्वक्रियाभूयस्त्वयोगात् ॥ १०—१६ ॥—

रवर्णम् । मण्डलकुष्ठमाह—एवंविधं कुष्ठं मण्डलं मण्डलसंज्ञयोच्यते, श्वेतं रक्तं तदाभासं, स्त्यानं सार्द्रं सदलं वा, अन्योन्यसंसक्तमिति, परस्परैर्मिश्रितम् । ऋक्षजिह्वमाह—कर्कशमित्यादि । कर्कशं खरस्पर्शम् । ऋक्षो नीलाण्डो हरिण इति, अन्ये ऋक्षः 'रीछ' इत्याहुः, तज्जिह्वाकारम् । पुण्डरीकं श्वेतकमलं, सोत्सेधमुन्नतम् । सरागमिति प्रान्तेऽधिकरागप्रतिपादनं, सरागमित्यत्र 'सदाहम्' इति क्वचित्पाठः । तनु अघनं, यद्घृष्टं रजश्चूर्णं मुञ्चतीति । तथा सपाकं, तथा तीव्रवेदनं, तथा त्रिदोषलिङ्गं, तत् काकणाख्यं कुष्ठं नैव सिध्यति' ( आ० द० ) ॥ १०—१६ ॥

१ अयमेवमेव पाठमूरीकरोति । २ 'यदृश्यजिह्वसंस्थानमृश्यजिह्वम्' इति पाठोऽभिप्रायेणैतत् ।

*अस्वेदनं महावास्तु यन्मत्स्यशकलोपमम् ॥ १७ ॥
तदेककुष्ठं, चर्माख्यं बहलं हस्तिचर्मवत्।
श्यावं किणखरस्पर्शं परुषं किटिभं स्मृतम् ॥ १८ ॥
वैपादिकं पाणिपादस्फुटनं तीव्रवेदनम्।
कण्डूमद्भिः सरागैश्च गण्डैरलसकं चितम् ॥ १९ ॥
सकण्डूरागपिडकं दद्रुमण्डलमुद्गतम्।
रक्तं सशूलं कण्डूमत् सस्फोटं यद्दलत्यपि।
तच्चर्मदलमाख्यातं संस्पर्शासहमुच्यते ॥ २० ॥
सूक्ष्मा बह्व्यः पिडकाः स्राववत्यः
पामेत्युक्ताः कण्डूमत्यः सदाहाः।
सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरुपेता
ज्ञेया पाण्योः कच्छुरुग्रा स्फिचोश्च ॥ २१ ॥
स्फोटाः श्यावारुणाभासा विस्फोटाः स्युस्तनुत्वचः।
रक्तं श्यावं सदाहार्ति शतारुः स्याद्बहुव्रणम् ॥ २२ ॥
सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिका।

अतः परमेकादश क्षुद्रकुष्ठान्युच्यन्ते—अस्वेदनमित्यादि। महावास्तु महास्थानम्। मत्स्यशकलोपममिति मत्स्यस्य त्वक्सदृशम्। चर्माख्यं चर्मकुष्ठम्। बहलमपतलम्। किणखरस्पर्शमिति किणो व्रणस्थानम्। परुषं रूक्षम्। वैपादिकमिति विपादिकायाः स्वार्थेऽण्। गण्डैरिति स्फोटैः। दद्रुमण्डलमिति मण्डलरूपतयोत्पादाद्दद्रुमण्डलमिति कीर्तनम्। ननु, कथमस्य चरके क्षुद्रत्वेनाभिधानं, सुश्रुते महाकुष्ठे दद्रोरुक्तत्वात्; तथा सिध्म चरके महाकुष्ठे, सुश्रुते क्षुद्रकुष्ठे दर्शितम्। उच्यते,—असिता दद्रुरवगाढमूला सुश्रुते महाकुष्ठं, असितेतरदद्रुश्चरकेऽनवगाढमूला क्षुद्रकुष्ठं, सुश्रुते असितेतरदद्रुर्विसर्पकुष्ठेऽन्तर्भाव[1], विसर्पणयोगात्; तथाऽवगाढं सिध्म चरके महाकुष्ठं, सिध्मपुष्पिका तु त्वक्स्थानगता सुश्रुते क्षुद्रकुष्ठं; असितदद्रौ असितसिध्मनोऽवरोध इति गदा-

*'तदेककुष्ठं नाम, अस्वेदनं स्वेदरहितम्। श्यावं श्याववर्णम्। पाणिपादयोः स्फुटनं विदारणं, वैपादिकं कुष्ठम्। अलसकुष्ठमाह—कण्डूमद्भिरित्यादि। चितं युक्तं, अलसकाख्यं कुष्ठम्। दद्रुमण्डलमाह—सकण्डूरागाः कण्डूरागसंयुक्ताः पिडका यत्र तत् सकण्डूरागपिडकं, तथा उन्नतमुत्सन्नं एवंविधं मण्डलं यत्र, तद् दद्रुनाम कुष्ठम्। चर्मदलमाह—रक्तमित्यादि। दलयति विदारयति, असंस्पर्शसहं च वस्त्रादिस्पर्शनाक्षमं, तच्चर्मदलनाम। पामामाह—सूक्ष्मा इत्यादि। एवंविधाः पिडकाः पामा इत्युक्ता वैद्यैरित्यर्थः। बह्व्यः प्रभूताः, स्राववत्यः स्रावयुक्ताः, कण्डूमत्यः कण्डूयुक्ताः। कच्छुमाह—सैवेत्यादि। सैव पामा पाण्योः हस्तयोः, स्फिचोः कटिप्रोथयोश्च कच्छुः कथ्यते। तीव्रदाहैस्तीव्रसंतापैः, स्फोटैरित्यर्थः। विचर्चिकामाह—सकण्डूरित्यादि। सकण्डूः पिडका भवेत्। श्यावा वर्णतः, बहुस्रावा भूरिप्रस्रावा' (आ० द०)

१ प्रमादरूपपाठाभिप्रायेण।

धरः । जेज्जटस्त्वाह—चरकोक्तं सिध्मैव सुश्रुते दद्रुशब्दाभिहितं, नामभेदः केवलं परं न वस्तुभेदः, सन्ति ह्यर्थान्तराणि समानशब्दाभिहितानीत्यविरोधः । किन्त्वियमसाध्वी व्याख्या, लक्षणवैलक्षण्यात्; किंच चरकसुश्रुतयोः कुष्ठं प्रति बहुप्रकारो विरोधः, तथाहि—सुश्रुतोक्तमरुणं न चरके पठ्यते, मण्डलं चरकोक्तं न सुश्रुते, क्षुद्रकुष्ठे चरकोक्तचर्माख्यालसकशतारुप्रभृतीनि न सुश्रुते, सुश्रुतोक्तक्षुद्रकुष्ठा रकसादयश्च न चरके, तस्मादयं समाधिरुचितः—कुष्ठानामसंख्येयत्वमिति केचित् चरके केचित् सुश्रुते कुष्ठप्रकारा उच्यन्ते । उक्तं हि चरके,—"कुष्ठं सप्तविधं, अष्टादशविधं, असंख्येयं वा" ( च. नि. स्था. अ. ५ )—इति । यद्वलस्यपीति गलति विशीर्यते । शतारुरिति बहुव्रणयोगान्वितं नाम । "सकण्डूः पिडका श्यावा बहुस्रावा विचर्चिके"ति अत्र कफकार्यं कण्डूः, बहुस्रावत्वं पित्तात्, श्यावत्वं वातात्, एवं सर्वत्र दोषत्रयलिङ्गमूह्यम् । ननु, एककुष्ठमारभ्य विचर्चिकापर्यन्तेन द्वादशक्षुद्रकुष्ठानि भवन्ति, तत्कथमेकादश इति ? उच्यते, विचर्चिकैव पादयोर्भवन्ती विदारणयोगाद्विपादिका भवति, तेन न संख्यातिरेकः । तथा च भोजः,—"दोषा प्रदूष्य त्वङ्मांसं पाणिपादसमाश्रिता । पिडका जनयन्त्याशु दाहकण्डूसमन्विताम् ॥ दाल्यते त्वक् खरा रूक्षा पाण्योर्ज्ञेया विचर्चिका । पादे विपादिका ज्ञेया स्थानान्यत्वाद्विचर्चिका"—इति गदाधरः । अन्ये त्वाहुः—सैव स्फोटैस्तीव्रदाहैरित्यभिधानेन पामैव तीव्रदाहबहुस्फोटयुक्ता कच्छूर्न ततो भिन्नेति ॥ १७–२२ ॥—

"खरं श्यावारुणं रूक्षं वातकुष्ठं सवेदनम् ॥ २३ ॥
पित्तात्प्रकथितं दाहरागस्रावान्वितं मतम् ।
कफात्क्लेदि घनं स्निग्धं सकण्डूशैत्यगौरवम् ॥ २४ ॥
द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं कुष्ठं त्रिलिङ्गं सान्निपातिकम् ।

दोषत्रयनियतं कुष्ठलिङ्गमाह—खरं श्यावारुणमित्यादि । श्यावारुणमिति श्यावं वा अरुणं वा भवति । चरके कुष्ठमधिकृत्य दोषविशेषकुष्ठजनकहेतूनां परस्परं ज्ञाप्यज्ञापकत्वमुक्तं, यथा—"कुष्ठविशेषैर्दोषा दोषविशेषैः पुनश्च कुष्ठानि । ज्ञायन्ते ते हेतुं हेतुश्चाथ प्रकाशयति" ( च. चि. स्था. अ. ७ ) इति ॥ २३ ॥ २४ ॥—

†त्वक्स्थे वैवर्ण्यमङ्गेषु कुष्ठे रौक्ष्यं च जायते ॥ २५ ॥
त्वक्स्वापो रोमहर्षश्च स्वेदस्यातिप्रवर्तनम् ।
कण्डूर्विपूयकश्चैव कुष्ठे शोणितसंश्रिते ॥ २६ ॥
बाहुल्यं वक्त्रशोषश्च कार्कश्यं पिडकोद्गमः ।
तोदः स्फोटः स्थिरत्वं च कुष्ठे मांससमाश्रिते ॥ २७ ॥

---

* 'सवेदनं वेदनायुक्तं, एतद्वातकुष्ठं जानीयात् । पित्ताच्च प्रकथितं दाहादिमत् । क्लेदि छिन्नतायुक्तं, घनं निबिडम् । द्वन्द्वजे कुष्ठे द्विदोषलिङ्गं, सान्निपातिके त्रिदोषलिङ्गम्' ( आ० द० ) ॥ २३ ॥ २४ ॥

† 'वैवर्ण्यमङ्गानां विवर्णता । बाहुल्यं स्थूलमण्डलता, स्फोटस्त्वचः स्फुटनं, स्थिरत्वमचलत्वम् । गतिक्षयो गमनाशक्तिः, क्षतप्रसरणम् । नासायाः भङ्गोऽवदरणं, अक्षिरागो नेत्रलौ-

त्वग्दुष्टितुल्यत्वादत्रैव किलासमाह—कुष्ठैकसमवमित्यादि । कुष्ठेन सह एक समानं विरुद्धाशनपापकर्मादि सभवो निदान यस्य तत्तथा, कुष्ठेन सह समानचिकित्सितत्वं च बोद्धव्यं, "कुर्याच्चास्मे कुष्ठोक्त विधानम्" इति वचनात् । चरके त्वस्य हेतुविशेषोऽपि पठ्यते, यथा,—"वचास्यतथ्यानि कृतघ्नभावो निन्दा गुरूणा गुरुधर्षण च । पापक्रिया पूर्वकृतं च कर्म हेतु किलासस्य विरोधि चान्नम्" (च चि स्था अ.७)—इति । किलासमेव मासमेद समाश्रयणयोगत्वादरुणं श्वित्र च भण्यते, त्वग्गतमेव किलास, तस्य लक्षण निर्दिष्टमपरिस्रावीति । स्रावो हि रक्तादिदुष्ट्या भवति, तेनास्य त्वग्गतत्वेन स्रावाभाव. । उक्तं च,—"त्वग्गतं च यदस्रावि तत् किलास प्रकीर्तितम्"—इति । त्रिधातूद्भवसश्रयमिति त्रिधातुस्त्रयो दोषास्तथा रक्तमांसमेदांसि सश्रयोऽधिष्ठानं यस्य तत्तथा, अथवा त्रिधातु रक्तमासमेदांसि उद्भवाय सश्रयो यस्य तत्तथा, दोषास्तु सर्वसाधारणत्वाल्लभ्यन्त एव । ननु, यदि धातुत्रयाश्रित किलास, तत्कथ "यदा त्वचमतिक्रम्य तदा धातूनवगाहते । हित्वा किलाससंज्ञा च कुष्ठसंज्ञा लभेत्तदा"—इति विश्वामित्रवचन किलाससंज्ञाप्रतिषेधक न विरुध्यते ? तथा "त्वग्गतमेव किलास" ( सु नि. स्था अ ५ )—इति सुश्रुतेऽवधारण विरुद्ध ? उच्यते, विश्वामित्रवचनस्य तावदयमर्थ प्रत्येतव्य —यदोक्तरक्तादिगतसमस्तकुष्ठलक्षणजनकतया धातूनवगाहते तदा न तत् किलास, किं तर्हि कुष्ठजनकहेतन्तरवृहितदोषोपप्लवात् धातून् दूषयेद्, तथा हेतुलक्ष्यलक्षणमरणादिघुष्टं तत्, अन्यदितररक्तादिगतकुष्ठलिङ्गव्यतिरिक्तमुत्पाद-समकालभाविरक्तताम्रादिवर्णतामात्रकारक रक्तादिगतदोषजन्य किलासमेव, अन्यथा रक्तादिगतकिलासलक्षणेन चरकोक्तेन विरोध स्यात् । स यदाह—"दोषे रक्ताश्रिते रक्त ताम्र मांससमाश्रिते । श्वेत मेद स्थिते श्वित्र गुरु तच्चोत्तरोत्तरम् ( च. चि. अ. ७ )"—इति । चरके हि किलासस्यैव धातुत्रयसम्बन्धकृतवर्णेन दारुणादिसंज्ञान्तरमात्र कृत, सुश्रुतेऽपि त्वग्गतमेवेत्यनेन रक्तादिदुष्ट्या विशिष्टरक्तादिगतमहाकुष्ठलिङ्गरहितत्वं, तथा क्षुद्रकुष्ठचतुष्पदस्पर्शालक्ष्यासद्भूपकल्पविरह ख्याप्यते, अथवा एवकारोऽयोगव्यवच्छेदे, यथा—नील सरोज भवत्येवेति । उक्तप्रकारेण धातुत्रयमात्रगतत्वेनैकदोषत्वेन चास्य कुष्ठाद्भेद , 'श्वित्रसंज्ञा लभेत्तदा' इति जेजटपाठे तु श्वित्रसंज्ञामात्रव्यवहार किलासस्य, न पुनरयभेद कश्चिदिति । मालुविना तु धातुभेदेन किलासस्य संज्ञान्तरं दर्शित,—"दारुण तत्तु विज्ञेय मांसधातुसमाश्रयम् । मेद श्रित भवेच्छ्वित्रं दारुण रक्त-सश्रयम्"—इति । तथा चरकेऽपि,—"दारुण वारुण श्वित्र किलास नामभिस्त्रिभि " ( च चि स्था अ. ७ )—इति । तेनेहापि तथा बोद्धव्यम् । क्रमाद्रक्तमासमेद सु चादिशेद्वर्णेनैवेद्गुमयमिति ईदृशमेव वर्णेनारुण ताम्र श्वेत च किलास रक्तमासमेद सु

---

श्रया रक्तमांसमेदांसि सश्रयोऽधिष्ठानं यस्य तत्तथा । वातादिना धातुसश्रयभेदेन वर्णभेद-माह—वातादित्यादि । वाताद् श्वित्र रूक्ष स्पर्शेन , अरुण रक्त वर्णेन । पित्तादित्यादि । पित्ताद् श्वित्र नमलपत्रवत् पद्मदलमिव ताम्र वर्णेन भवेद् । तथा सदाह दाहयुक्तम् । रोम-विध्वसि रोमघाति । कफादिति कफाद् श्वित्र श्वेत शुक्ल, घन सान्द्र तथा गुरु अङ्गेनानु-भूयते, तथा सह कण्ड्वा वर्तत इति सकण्डु, कण्डुयुक्तम्' (आ० ८० ) ॥ ३७ ॥ ३९ ॥

यथाक्रमेणादिशेत् । उभयमिति व्रणजं दोषजं च तच्छ्वित्रं भवति, तथाच भोज — "श्वित्रं तु द्विविधं विद्याद्दोषजं व्रणजं तथा । तत्र मिथ्योपचाराद्धि व्रणस्य व्रणजं स्मृतम् ॥ दोषजं च द्विधा प्रोक्तमात्मजं परजं तथा । परसंस्कारसंस्पर्शाद्यत्तत् परजमुच्यते । तदात्मजं विजानीयाद्यद्देहेष्वनिलादिजम्"—इति । रक्तादिधातुत्रयगतस्य च किलासस्य दूष्यप्रभावादस्य कस्यापि दोषस्य सम्बन्धनियता एवारुणादयो वर्णा बोद्धव्याः, यदि तु तत्र दोषनियतो वर्णः कल्प्यते तदा वर्णातिदेशो व्यर्थः स्यात्, वाताद्रूक्षारुणमित्यादिनैव सिद्धत्वात् । यद्येवं दोषेणात्र वर्णाभिधानं निष्फलं ? निर्विषयत्वात्, नैवं, त्वङ्मात्रगते किलासे दोषवर्णस्य चरितार्थत्वात् । हन्त तर्हि कथं रक्तादिगतत्वमस्य निश्चेतव्यं ? त्वग्गते स्वभावेनारुणादिवर्णस्य सद्भावेन सन्दिग्धत्वात् । उच्यते, क्रमेणारुणादिवर्णोत्पादाद्रक्तादिगतत्वं निश्चेतव्यं, उत्पत्तिमात्रे त्वरुणादियोगात्त्वग्गतत्वमिति ॥ ३७-३९ ॥

*अशुक्लरोमाऽबहुलमसंश्लिष्टमथो नवम् ।
अनग्निदग्धजं साध्यं श्वित्रं वर्ज्यमतोऽन्यथा ॥ ४० ॥
गुह्यपाणितलौष्ठेषु जातमप्यचिरन्तनम्
वर्जनीयं विशेषेण किलासं सिद्धिमिच्छता ॥ ४१ ॥

तस्य साध्यत्वमसाध्यत्वं चाह—अशुक्लेत्यादि । अशुक्लरोम कृष्णरोम, अबहुलं तनु, असंश्लिष्टं परस्परमसंयुक्तम् । अनग्निदग्धजं अग्निदग्धजं यन्न भवति, एतत् साध्यम् । अतोऽन्यथा अतोऽन्यथोक्तसर्वप्रकारमसाध्यं, चरकेऽप्येवंविधस्यासाध्यत्वमुक्तम् । यथा,—"यच्छुक्लरोम बहुलं यत् खलु मं परस्परम्[1] । यच्च वर्षगणोपेतं तच्छ्वित्रं नैव सिध्यति' ( च. चि स्था अ ७ )-इति । गुह्यपाणितलौष्ठेष्विति तलमत्र पादतलं सुश्रुते "अन्ते जातं" इति सामान्येन निर्देशात् ॥ ४० ॥ ४१ ॥

प्रसङ्गाद्गात्रसंस्पर्शान्निःश्वासात् सहभोजनात् ।
एकशय्यासनाच्चैव वस्त्रमाल्यानुलेपनात् ॥ ४२ ॥
कुष्ठं ज्वरश्च शोषश्च नेत्राभिष्यन्द एव च ।
औपसर्गिकरोगाश्च[2] संक्रामन्ति नरान्नरम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने कुष्ठनिदानं समाप्तम् ॥ ४९ ॥

कुष्ठस्य संसर्गजप्रसङ्गेन सर्वानेव संसर्गजान् रोगानाह—प्रसङ्गादित्यादि । प्रसङ्गो मैथुनं, अथवा प्रसङ्ग सातत्य, तेन कृतात् गात्रसंस्पर्शादेः । औपसर्गिकरोगा इति औपसर्गिकाः पामरोगादयो भूतोपसर्गजाश्च । संक्रामन्ति आविशन्ति । रोगसंक्रान्तिश्च कुष्ठिनश्चातिपापिजनसंसर्गेण पापसंक्रान्तेर्विकारप्रभावाद्वा बोद्धव्या ॥ ४२ ॥ ४२ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां कुष्ठनिदानं समाप्तम् ॥ ४९ ॥

---

* 'अशुक्लरोम यावन्न रोमाणि शुक्लानि भवन्ति, असाध्यमाह—गुह्येत्यादि । एषु स्थानेष्वनवमपि त्याज्यम् । गुह्यं लिङ्गम्' ( आ० द० ) ॥ ४० ॥ ४१ ॥

---

१ 'यत्परस्परतोऽभिन्नं बहु यद्रक्तलोमवत्' इति वर्तमानचरकप्रतिषु पाठः ।
२ 'औपसर्गिकरोगाः शीतल्यादयः' इति डल्हणः ।

# अथ शीतपित्तोदर्दकोठनिदानम् ।

शीतमारुतसंस्पर्शात्प्रदुष्टौ कफमारुतौ ।
पित्तेन सह संभूय बहिरन्तर्विसर्पतः ॥ १ ॥

रक्तदुष्टिदोषत्रयजन्यत्वसामान्यात् कुष्ठानन्तरं शीतपित्तोदर्दादिनिदानम् । तस्य दोषत्रयजन्यत्वमाह—शीतमारुतसंस्पर्शादित्यादि । पित्तेन सह संभूयेति स्वहेतुप्रकुपितेन पित्तेन संभूय मिलित्वा । बहिरन्तरिति बहिस्त्वचि, अन्तः शोणितादौ, विसर्पतः प्रसरतः ॥ १ ॥

पिपासारुचिहृल्लासदेहसादाङ्गगौरवम् ।
रक्तलोचनता तेषां पूर्वरूपस्य लक्षणम् ॥ २ ॥

पूर्वरूपमाह—पिपासेत्यादि । रक्तलोचनता प्रभावात् । पूर्वरूपस्य लक्षणमिति पूर्वरूपस्य स्वरूपमित्यर्थः, न तु लक्षणमत्र लिङ्गं, पिपासादिव्यतिरिक्तस्य पूर्वरूपस्याभावात् ॥ २ ॥

*वरटीदष्टसंस्थानः शोथः संजायते बहिः ।
सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवान् ॥ ३ ॥
उदर्दमिति तं विद्याच्छीतपित्तमथापरे ।
वाताधिकं शीतपित्तमुदर्दस्तु कफाधिकः ॥ ४ ॥

उदर्दलक्षणमाह—वरटीत्यादि । सकण्डूस्तोदबहुलश्छर्दिज्वरविदाहवानिति अत्र कण्डूः कफात्, तोदो वातात्, छर्दिज्वरविदाहाः पित्तादिति दोषत्रयलिङ्गम् । अनयोः शीतपित्तोदर्दयोः समानसंस्थानत्वेऽपि वाताधिकं शीतपित्तं, कफाधिक उदर्दः ॥ ३ ॥ ४ ॥

सोत्सङ्गैश्च सरागैश्च कण्डूमद्भिश्च मण्डलैः ।
शैशिरः कफजो व्याधिरुदर्द इति कीर्तितः ॥ ५ ॥

उदर्दस्य धर्मान्तरमाह—सोत्सङ्गैरित्यादि । उत्सङ्गैर्मध्यनिम्नैः, शैशिर इति शिशिरभव ॥ ५ ॥

†असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः ।
मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च ।
उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते ॥ ६ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शीतपित्तोदर्दकोठनिदानं समाप्तम् ।

---

* 'वरटी कीटविशेषः, तद्दष्टसदृशाकारः, बहिः शरीरे शोथो जायते' (आ० द०) ॥ ३ ॥ ४ ॥

† 'उदीर्णानि प्रेरितानि पित्तश्लेष्माणानि, तेषां निग्रहे शरीरे मण्डलानि सनुन्नतरागीन्यन्तिरण्डमन्ति लोहितयुक्तानि बहूनि च जायन्ते' (आ० द०) ॥ ६ ॥

त्वग्दुष्टिसाम्यादत्रैव कोठोऽभिधीयते—असम्यग्वमनेत्यादि। असम्यक्त्वं वमनस्यायोगमिथ्यायोगादिना, तयोदीर्णानां पित्तश्लेष्माचारां निग्रहो वेगविधारणं, तैर्मण्डलानि जायन्ते,स कोठः, अथवाऽयमर्थः,–असम्यग्वमनोदीर्णौ पित्तश्लेष्माणौ, तथाऽन्ननिग्रह उपस्थितवेगस्यान्नस्य निग्रहश्छर्दिनिग्रह इति यावत्, तैर्हेतुभिर्भवन्ति। वमनस्य चासम्यक्त्वमयोगमिथ्यायोगाभ्यां ज्ञेयं,अतियोगस्य पित्तश्लेष्मकोठाकरत्वात्। एतेन हेतुलक्षणभेदाद्द्विधः कोठ उदर्दात्। कोठो निरनुबन्धः। तथा चोक्तं,–"क्षणिकोत्पादविनाशः कोठ इति निगद्यते तज्ज्ञै"–इति। सानुबन्ध उत्कोठोऽभिधीयते। सानुबन्धता च पुनःपुनर्भवनेन ॥ ६ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शीतपित्तोदर्दकोठनिदानं समाप्तम् ॥५०॥

---

## अथाम्लपित्तनिदानम्।

**विरुद्धदुष्टाम्लविदाहिपित्तप्रकोपिपानान्नभुजो विदग्धम्।**
**पित्तं स्वहेतूपचितं पुरा यत्तदम्लपित्तं प्रवदन्ति सन्तः ॥ १ ॥**

कोठहेतौ पित्तश्लेष्मोल्लेखात् पित्तश्लेष्ममिलितरूपस्याम्लपित्तस्य निदानम्। निदानपूर्वकमम्लपित्तस्य स्वरूपमाह—विरुद्धेत्यादि। विरुद्धं क्षीरमत्स्यादि, दुष्टं व्यापन्नमन्नं, विदाहिस्थाने विदग्धेति पाठान्तरे विदग्धं भर्जितं, पित्तप्रकोपिपानान्नभुज इति पित्तप्रकोपि पानं तक्रसुरादि, अन्नमाम्रधान्यमाषादि, पित्तप्रकोपिपानान्नग्रहणेनैवाम्लविदाहिनो ग्रहणे सिद्धे तदभिधानं विशेषार्थं, 'पित्तप्रकोपणाद्यन्नभुज' इति पाठान्तरे आदिशब्दात् कफादिप्रकोपणमन्नं गृह्यते। एवंविधपानान्नमुपभुञ्जानस्य विदग्धं कुपितं, स्वहेतूपचित पुरा यदिति वर्षासु जलौषधिगतविदाहादिभिः स्वहेतुभिरुपचितं सञ्चयमापन्नम्। यदुक्तं,–"वर्षास्वम्लविपाकित्वादद्भिरोषधिभिस्तथा" ( च. चि. स्था. अ. ३ )–इति। विदाहाद्यम्लगुणोद्रिक्तं पित्तमम्लपित्तम् ॥ १ ॥

**अविपाकक्लमोत्क्लेशतिक्ताम्लोद्गारगौरवैः।**
**हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं वदेद्भिषक् ॥ २ ॥**

तस्य लिङ्गमाह—अविपाकेत्यादि। अविपाक इत्याहारापाकः, क्लमोऽनायासजः श्रमः। अम्लपित्ते पित्तं प्रधानं, वातकफावप्यनानुगौ गौरवोद्गारकम्पादिना ज्ञेयौ ॥२॥

***तृड्दाहमूर्च्छाभ्रममोहकारि प्रयात्यधो वा विविधप्रकारम्।**
**हृल्लासकोठानलसादहर्षस्वेदाङ्गपीतत्वकरं कदाचित् ॥ ३ ॥**

तस्य कदाचिदधऊर्ध्वगमनभेदाद्(द्वि)विधस्याधोगतिं तावदाह—तृड्दाहेत्यादि। मूर्च्छा सर्वथा ज्ञानशून्यत्वं, मोहो विपरीतज्ञानम्। प्रयात्यधो वेत्यत्र वाशब्दो भाव्यूर्ध्वगमनापेक्षया। विविधप्रकारमिति हरितपीतकृष्णरक्तादिबहुवर्णत्वदुर्गन्धित्वयोगाज्ज्ञानाविधम्। कदाचिदिति न सर्वकालम् ॥ ३ ॥

---

* 'अधोविविधप्रकारं कदाचित्प्रयाति, तथा तृड्दाहादिकारि, तथा हृल्लासादिकर' (मा० द०) ॥ ३ ॥

*वान्तं हरितपीतकनीलकृष्णमारक्तरक्ताभमतीव चाम्लम् ।
मांसोदकाभं त्वतिपिच्छिलाच्छं श्लेष्मानुजातं विविधं रसेन ॥४॥
भुक्ते विदग्धे त्वथवाऽप्यभुक्ते करोति तिक्ताम्लवमिं कदाचित् ।
उद्गारमेवंविधमेव कण्ठहृत्कुक्षिदाहं शिरसो रुजं च ॥ ५ ॥
करचरणदाहमौष्ण्यं महतीमरुचिं ज्वरं च कफपित्तम् ।
जनयति कण्डूमण्डलपिडकाशतनिचितगात्ररोगचयम् ॥ ६ ॥

कर्ध्वगतिमाह—वान्तमित्यादि । नीलं स्निग्धकृष्णं, कृष्णं मर्दनाञ्जनवद्रूक्षकृष्णं, आरक्तमीषल्लोहितं, रक्तमत्यन्तलोहितम् । मांसोदकाभमिति मांसधावनतोयाभं कृष्णलोहितमिश्रमर्थः । विविधं रसेनेति रसेन लवणकटुतिक्ताद्येन नानारूपम् । करोति तिक्ताम्लवमिमिति तिक्तस्य अम्लस्य वा वमिं करोति । उद्गारमेवंविधमेवेति अत्र करोतीति सम्बध्यते, एवंविधमिति अम्लतिक्तम् । कण्ठहृत्कुक्षिदाहं शिरसो रुजं चेति अत्रापि करोतीति सम्बध्यते । कण्डूमण्डलपिडकाशतनिचितगात्ररोगचयमिति कण्ड्वादिनिचितगात्रं च रोगचयं चेति द्वन्द्वः, तेन कण्ड्वादिनिचितगात्रं रोगचयं च करोतीत्यर्थः, रोगचयोऽविपाकोत्क्लेशादि ॥ ४–६ ॥

†रोगोऽयमम्लपित्ताख्यो यत्नात् संसाध्यते नवः ।
चिरोत्थितो भवेद्याप्यः कृच्छ्रसाध्यः स कस्यचित् ॥ ७ ॥

साध्यत्वादिकमाह—रोग इत्यादि । कृच्छ्रसाध्य स कस्यचिदिति हिताहाराचारशीलिनः कस्यचिच्चिरोत्थितोऽपि कृच्छ्रसाध्यः ॥ ७ ॥

‡सानिलं सानिलकफं सकफं तच्च लक्षयेत् ।
दोषलिङ्गेन मतिमान् भिषङ्मोहकरं हि तत् ॥ ८ ॥
कम्पप्रलापमूर्च्छाचिमिचिमिगात्रावसादशूलानि ।
तमसो दर्शनविभ्रमविमोहहर्षाण्यनिलकोपात् ॥ ९ ॥
कफनिष्ठीवनगौरवजडतारुचिशीतसादवमिलेपाः ।
दहनबलसादकण्डूनिद्राश्चिह्नं कफानुगते ॥ १० ॥
उभयमिदमेव चिह्नं मारुतकफसंभवे भवत्यम्ले ।
( तिक्ताम्लकटुकोद्गारहृत्कुक्षिकण्ठदाहकृत् ॥ ११ ॥ )
भ्रमो मूर्च्छारुचिश्छर्दिरालस्यं च शिरोरुजा ।
प्रसेको मुखमाधुर्यं श्लेष्मपित्तस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽम्लपित्तनिदानं समाप्तम् ॥ ५१ ॥

* 'हरितशाकपत्राभं, नीलं चाषपक्षाभं, कृष्णमञ्जनाभं, रक्तमत्यन्तलोहितं, अच्छं निर्मलम् । भुक्ते आहारे विदग्धे अथवा कदाचिदभुक्तेऽपि सति तिक्ताम्लवमिं करोतीति सम्बध्यते । अम्लपित्ते कफपित्तवत्सामान्यमाह—करेत्यादि । कफपित्तं करचरणदाहादिकं जनयति' ( मा० द० ) ॥ ४–६ ॥

† अयमम्लपित्ताख्यो रोगो नवः सन् यत्नात्संसाध्यते, चिरोत्थितो याप्यो भवेत्' ( मा० द० ) ॥ ७ ॥

‡ 'तदम्लपित्तं सानिलं सवातं, सानिलकफं सवातकफं लक्षयेत् । दोषलिङ्गेन वातपित्त-

तत्रैव केवलानिलकफानिलकफमात्राणां संसर्गमाह—सानिलमित्यादि । भिषङ्मोहकरमिति तस्योर्ध्वाध प्रवर्तमानत्वेन छर्द्यतीसाराभ्यां सकाशाद्भेदस्य दुर्ज्ञेयत्वाद्वैद्यमोहकरत्वम् । सादवमिलेपा इत्यत्र सादोऽङ्गसाद , लेप श्लेष्मलिप्तास्यता । दहनबलसादेति सादशब्दो दहनबलाभ्यां संबध्यते ॥ ८–१२ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायामम्लपित्तनिदानं समाप्तम् ॥ ५१ ॥

---

## अथ विसर्पनिदानम् ।

*लवणाम्लकटूष्णादिसंसेवादोषकोपतः ।
विसर्पः सप्तधा ज्ञेयः सर्वत· परिसर्पणात् ॥ १ ॥
पृथक् त्रयस्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रयः ।
वातिकः पैत्तिकश्चैव कफज· सान्निपातिकः ॥ २ ॥
चत्वार एते वीसर्पा वक्ष्यन्ते द्वन्द्वजास्त्रय· ।
आग्नेयो वातपित्ताभ्यां ग्रन्थ्याख्य· कफवातजः ॥ ३ ॥
यस्तु कर्दमको घोरः स पित्तकफसंभवः ।

अम्लपित्तसंभवच्छर्दिवेगविधारणाद्रक्तदुष्टौ सत्यां विसर्पोत्पत्तेर्हेतुसाम्यात्तदनन्तरं विसर्पनिदानम् । छर्दिवेगविघातस्य रक्तदूषकत्वे चरकवचनं यथा,—"छर्दिवेगप्रतीघातात् काले चानवसेचनात् । शरत्कालप्रभावाच्च शोणितं संप्रदुष्यति"—(च सू स्था अ २४) इति । तस्य निदानपूर्विकां संख्यां निरुक्तिं चाह—लवणाम्लेत्यादि । 'विसर्पो न ह्यसंसृष्टो रक्तपित्तेन लक्ष्यते'—इति वचनात् लवणाम्लादिकं विशेषेण रक्तपित्तनिदानमुक्तम् । संसेवया सततसेवया दोषकोप संसेवादोषकोपस्तत । अत्र, आदिग्रहणाच्चरकोक्तानां हरितशाकम्लिण्डाकीप्रभृतीनां ग्रहणम् । सप्तधेति उल्बणैकैकदोषजास्त्रय , सन्निपातज एक , त्रयो द्वन्द्वजा , इति सप्तप्रकारत्वमुक्तम् । सर्वत परिसर्पणादिति सर्वत परिसर्पणात् परिसर्प , विविध सर्पणाद्विसर्प । यदुक्तं चरके,—"विविधं सर्पति यतो विसर्पस्तेन स स्मृत । परिसर्पोऽथवा नाम्ना सर्वत परिसर्पणात्"—(च चि स्था अ २१) इति ॥ १–३ ॥

†रक्तं लसीका त्वङ्मांसं दूष्यं दोषास्त्रयो मलाः ॥ ४ ॥
विसर्पाणां समुत्पत्तौ विज्ञेया· सप्त धातव ।

मतकल्पितेत्यर्थ । .... सानिलमम्लपित्तस्य लक्षणमाह—कम्पेत्यादि । वातयुतेऽम्ले कम्पादयस्तथा तमोदर्शनादयो भवन्ति । कफानुगतस्य तु लक्षणमाह—कफेत्यादि । कफानुगतेऽम्ले कफनिष्ठीवनादिलिङ्गं स्यात्' (आ० द०) ॥८–१२॥

* 'लवणादिभिर्विसर्पो रोगो भवति, स सप्तधा ज्ञेय । संख्यासंप्राप्तिमाह—पृथक्त्रय स्त्रिभिश्चैको विसर्पो द्वन्द्वजास्त्रय इत्यादि । सुगमम्' (आ० द०) ॥ १–३ ॥

† 'लसीका जलं, त्वक्शब्देनात्र रसस्य सप्तधातुषु गृहीतत्वात् । वातेन विसर्पमाह—तत्रे-

१ "विभ्रमदर्पणमोहाश्च शाम्यन्ते" इति पाठाभिप्रायेण ।

तत्र वातात् स वीसर्पो वातज्वरसमव्यथः ॥ ५ ॥
शोथस्फुरणनिस्तोदभेदायासार्तिहर्षवान् ।
पित्ताद्द्रुतगतिः पित्तज्वरलिङ्गोऽतिलोहितः ॥ ६ ॥
कफात् कण्डूयुतः स्निग्धः कफज्वरसमानरुक् ।
सन्निपातसमुत्थश्च सर्वलिङ्गसमन्वितः ॥ ७ ॥

सर्वेषामेव रक्तादिदूष्यचतुष्टयदोषत्रयजन्यत्वमाह—रक्तमित्यादि । विसर्पस्य समानसामग्रीकत्वेऽपि कुष्ठाद्भेदः कुष्ठाध्याये एव निरूपितः । दोषशब्देनैव वातादिग्रहणे सिद्धे मला इति यत् कृतं, तदत्यर्थदुष्टया शरीरमलिनीकरणत्वं दोषाणां प्रतिपादयितुम् । सन्निपातजेऽसाध्यत्वमपि "सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति" ( सु. नि. स्था. अ. १० )-इति वचनात् । तेन विकृतिविषमसमवेतत्वमस्य । चरके त्वन्तर्जबहिर्जभेदेन विसर्पः पठितः । यदाह,—"मर्मोपघातात् संमोहादयनानां विघट्टनात् । तृष्णातियोगाद्वेगानां विषमं च प्रवर्तनात् ॥ विद्याद्विसर्पमन्तर्जमाशु चाग्निबलक्षयात् । अतो विपर्ययाद्बाह्यमन्यं विद्यात् स्वलक्षणैः" ( च. चि. स्था. अ. २१ )-इति ॥ ४-७ ॥

*वातपित्ताज्ज्वरच्छर्दिमूर्च्छातीसारतृड्भ्रमैः ।
ग्रन्थिभेदाग्निसदनतमकारोचकैर्युतः ॥ ८ ॥
करोति सर्वमङ्गं च दीप्ताङ्गारावकीर्णवत् ।
यं यं देशं विसर्पश्च विसर्पति भवेत् स सः ॥ ९ ॥
शान्ताङ्गारासितो नीलो रक्तो वाऽऽशु च चीयते ।
अग्निदग्ध इव स्फोटैः शीघ्रगत्वाद्द्रुतं स च ॥ १० ॥
मर्मानुसारी वीसर्पः स्याद्वातोऽतिबलस्ततः ।
व्यथतेऽङ्गं हरेत्संज्ञां निद्रां च श्वासमीरयेत् ॥ ११ ॥
हिक्कां च स गतोऽवस्थामीदृशीं लभते न ना ।
क्वचिच्छर्मारतिग्रस्तो भूमिशय्यासनादिषु ॥ १२ ॥
चेष्टमानस्ततः क्लिष्टो मनोदेहप्रमोहवान् ।
दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रां सोऽग्निवीसर्प उच्यते ॥ १३ ॥

त्यादि । वातज्वरसमव्यथ इति 'वेपथुर्विषमो वेगः' इत्यादिकः । निस्तोदः शूलेन तुद्यत इव, भेदो विदीर्यत इव, अर्तिः पीडा, आयामो विस्तारवान्, हर्षो रोमहर्षः । पैत्तिकमाह—पित्तादित्यादि । द्रुतगतिः शीघ्रगतिः । पित्तज्वरलिङ्गं इति "वेगस्तीक्ष्णोऽतिसारः" इत्यादिकः । अतिलोहितोऽतिरक्तः । कफजमाह—कफादित्यादि । कफज्वरसमानरुगिति "स्तैमित्यं स्तिमितो वेगः" इत्यादिकः । सान्निपातिकमाह—सन्निपातेत्यादि । सर्वदोषलक्षणैर्युक्त इत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ ४-७ ॥

* 'वातपित्तजोऽयं ज्ञेयः । ज्वरादिभिरुपद्रवैर्युतः । नीलः चाषपक्षिवद्वा रक्तो वा स देशो भवति । अग्निदग्ध इवेति आशु शीघ्रमग्निदग्ध इव स्फोटैरुपचीयते वृद्धिं नीयते, द्रुतं

१ "भेदायासार्तिहर्षवान्" इति पाठाभिप्रायेण ।

आग्नेयविसर्पमाह,—वातपित्तादित्यादि। दीप्ताङ्गारावकीर्णवदिति ज्वलदङ्गारैरेव व्याप्तमङ्गं मन्यते। शान्ताङ्गारासित इति निर्वाणाङ्गारवत् कृष्णवर्णः स देशो भवति। नीलो रक्तो वेति स देशः स्निग्धनीलो रक्तो वा भवति। अग्निदग्ध इवेति अग्निदग्धदेश इव। शीघ्रगत्वादिति शीघ्रकारित्वात्। मर्मानुसारी हृदयाद्यनुसारी। व्यथतेऽङ्गमित्यत्रान्तर्भावितो ण्यर्थः, तेन व्यथयतीत्यर्थः। निद्रा चेत्यत्र हरेदिति सम्बध्यते। शर्म सुखम्। दुष्प्रबोधोऽश्नुते निद्रामिति निद्रां मरणरूपां प्राप्नोति॥ ८–१३॥

*कफेन रुद्धः पवनो भित्त्वा तं बहुधा कफम्।
रक्तं वा वृद्धरक्तस्य त्वक्सिरास्नायुमांसगम्॥ १४॥
दूषयित्वा तु दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनाम्।
ग्रन्थीनां कुरुते मालां सरक्तां तीव्ररुग्ज्वराम्॥ १५॥
श्वासकासातिसारास्यशोषहिक्कावमिभ्रमैः।
मोहवैवर्ण्यमूर्च्छाङ्गभङ्गाग्निसदनैर्युताम्॥ १६॥
इत्ययं ग्रन्थिवीसर्पः कफमारुतकोपजः।

ग्रन्थिविसर्पमाह—कफेन रुद्ध इत्यादि। कफेनेति स्वहेतुकुपितेन, पवनः स्वहेतुकुपितः, तेन कफमारुतजोऽयमस्योपपन्नो भवति। भित्त्वा तं बहुधा कफमिति कफं विस्तार्य। रक्तं वेति दूषयित्वेत्यनेन वक्ष्यमाणेन सम्बध्यते। दीर्घाणुवृत्तस्थूलखरात्मनामिति वृत्तं वर्तुलं, स्थूलमुच्छूनं, खरं कठिनं, एवंरूपाणां ग्रन्थीनां मालां करोति, अयं च ग्रन्थिविसर्पः सुश्रुतेऽपचीसंज्ञया पठ्यते॥ १४–१६॥—

†कफपित्ताज्ज्वरः स्तम्भो निद्रा तन्द्रा शिरोरुजा॥ १७॥
अङ्गावसादविक्षेपौ प्रलेपारोचकभ्रमाः।
मूर्च्छाग्निहानिर्भेदोऽस्थ्नां पिपासेन्द्रियगौरवम्॥ १८॥
आमोपवेशनं लेपः स्रोतसां स च सर्पति।
प्रायेणामाशयं गृह्णन्नेकदेशं न चातिरुक्॥ १९॥
पिडकैरवकीर्णोऽतिपीतलोहितपाण्डुरैः।
स्निग्धोऽसितो मेचकाभो मलिनः शोथवान् गुरुः॥ २०॥
गम्भीरपाकः प्राज्योष्मा स्पृष्टः क्लिन्नोऽवदीर्यते।

शीघ्र, विसर्प। अतीव बलवान् वातो निद्रा संज्ञा च हरेन्नाशयेत्, श्वास हिक्का च ईरयेत् प्रकोपयेत्। ईदृशीमवस्था गतो ना पुरुषः, क्वचिच्छर्म सुखं न प्राप्नोति, तेषु भूमिशय्यासनादिषु, स्वैरं आत्मनैव, क्लिष्टः पीडितः, चेष्टमानो विकृतां चेष्टां कुर्यात्, दुःखप्रबोधो मनोदेहश्रमोद्भवां निद्रा मरणरूपा, अश्नुते प्राप्नोति' (आ० द०) ॥८–१३॥

*'कफं भित्त्वा विदार्य, वृद्धरक्तस्य मनुष्यस्य। त्वक्सिरास्नायुमांसगमिति रक्तविशेषणम्। अणु सूक्ष्मं, स्थूलमसूक्ष्मम्' (आ० द०)॥ १४–१६॥—

† 'अङ्गावसादोऽङ्गखेदः, विक्षेपोऽङ्गानामितश्चेतश्च प्रेरणम्। इन्द्रियगौरवमिति चक्षुरा-

१ "तत" इत्यत्र "स्वत" इति पाठाभिप्रायेण। २ "मनोदेहश्रमोद्भवाम्" इति पाठाभिप्रायेण।

पङ्कवच्छीर्णमांसश्च स्पष्टस्नायुसिरागणः ॥ २१ ॥
शवगन्धी च वीसर्पः कर्दमाख्यमुशन्ति तम्।

कर्दमविसर्पमाह,—कफपित्तादित्यादि। स्तम्भ इति गात्रस्य स्तब्धता, आमोपवेशनमामस्य वर्चसस्त्यजनम्। स च सर्पति प्रायेणामाशयं गृह्णन्नेकदेशमिति कफपित्तयोरामाशयस्थत्वात् प्रायेणामाशये भवन्नेकदेशव्यापी भवतीत्यर्थः। पिडकैरिति पिडकाभिः। मलिन इति मलदिग्धः। गम्भीरपाक इत्यन्तःपाकः, प्राज्योष्मा प्रचुरोष्मा। स्पष्टस्नायुसिरागण इति पूतिमांसगलनेन स्नाय्वादीनां स्पष्टता। कर्दमाख्यमुशन्ति तमिति तं कर्दमसारूप्यात् कर्दमाख्यमिच्छन्ति ॥ १७-२१ ॥—

*बाह्यहेतोः क्षतात् क्रुद्धः सरक्तं पित्तमीरयन् ॥ २२ ॥
वीसर्पं मारुतः कुर्यात्कुलत्थसदृशैश्चितम्।
स्फोटैः शोथज्वररुजादाहाढ्यं श्यावशोणितम् ॥ २३ ॥
ज्वरातिसारौ वमथुस्त्वङ्मांसदरणं क्लमः।
अरोचकाविपाकौ च विसर्पाणामुपद्रवाः ॥ २४ ॥

क्षतविसर्पमाह—बाह्यहेतोरित्यादि। अयं च पित्तजे विसर्पेऽन्तर्भावनीयः, तेन न सङ्ख्याधिक्यम्। तथाच भोजः,—"शस्त्रप्रहारैर्लेशैस्तु व्यालदन्तनखैरपि। क्षते वाऽप्यथवा भग्ने बहुदोषस्य देहिनः। रक्तं पित्तं च कुपितं व्रणमाशु प्रपद्यते। क्षुरतस्ते समेते तु व्रणशोथं सुदारुणम्। आचितं तनुविस्फोटैः कृष्णैः पीतकसन्निभैः। पित्तवीसर्पवल्लिङ्गं तस्य शेषं विनिर्दिशेत्"—इति ॥ २२-२४ ॥

†सिध्यन्ति वातकफपित्तकृता विसर्पाः
सर्वात्मकः क्षतकृतश्च न सिद्धिमेति।
पित्तात्मकोऽञ्जनवपुश्च भवेदसाध्यः
कृच्छ्राश्च मर्मसु भवन्ति हि सर्व एव ॥ २५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विसर्पनिदानं समाप्तम् ॥ ५२ ॥

साध्यत्वादिकमाह—सिध्यन्तीत्यादि। पित्तात्मकोऽञ्जनवपुरिति अत्यन्तमुद्रिक्तपित्तोऽञ्जनसमवर्णतनुः, अग्निविसर्पाख्यो न साध्य इति व्याख्यानयन्ति। कृच्छ्राश्च मर्म-

---

दीनां गौरवम्। लेपः स्रोतसां शुषिराणां लिप्तता श्लेष्मादिना। न चातिपीडाकरः। पिडकैः पिडकाभिरवकीर्णो व्याप्तः, किंभूतैः? आपीतलोहितपाण्डुरैः। असितः कृष्णः, मेचकाभोऽञ्जनाभः, स्फुटस्नायुसिरागण इति पूतिमांसापगमेन स्नाय्वादीनां स्फुटता, श्यावलोहितं वर्णेन' (आ० द०) ॥ १७-२१ ॥

* 'विसर्पोपद्रवानाह—ज्वरेत्यादि। मांसदरणं मांसविदरणम्। शेषं सुगमम्' (आ० द०) ॥ २२-२४ ॥

† 'एकैकदोषजनितास्त्रयः साध्याः, त्रिदोषजः क्षतजश्चासाध्यः' (आ० द०) ॥ २५ ॥

---

१ "व्याल" इति पाठान्तरम्। २ "स्पष्ट" इत्यत्र "स्फुट" इति पा०।

स्विति असाध्यत्वेन कृच्छ्रत्वेन बोद्धव्यम् । यदाह । भोजः,—“वर्ज्यस्तु क्षतजस्तेषां सन्निपातात्तु यो भवेत् । भिषजा जानता त्याज्याः सर्वे एव तु मर्मजाः”—इति ॥ २५ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विसर्पनिदानं समाप्तम् ॥ ५२ ॥

---

## अथ विस्फोटनिदानम् ।

*कट्वम्लतीक्ष्णोष्णविदाहिरूक्षक्षारैरजीर्णाध्यशनातपैश्च ।
तथर्तुदोषेण विपर्ययेण कुप्यन्ति दोषाः पवनादयस्तु ॥ १ ॥
त्वचमाश्रित्य ते रक्तमांसास्थीनि प्रदूष्य च ।
घोरान् कुर्वन्ति विस्फोटान् सर्वान् ज्वरपुरःसरान् ॥ २ ॥

प्रायेण दोषदूष्यचिकित्सासाम्याद्विस्फोटनिदानमाह—कट्वित्यादि । अजीर्णाध्यशनातपैश्चेति अजीर्णाशनमपक्वद्रव्यस्याशनं, अध्यशनमजीर्णे भोजनं, अथवा अजीर्णं स्वरूपतो हेतुरध्यशनं च । ऋतुदोषेणेति शीतोष्णादीनामतियोगेन । विपर्ययेणेति ऋतुविपर्ययश्च ऋतुस्वभावस्यान्यथाभावः । एभिर्हेतुभिर्यथासम्भवं प्रत्येकं दोषत्रयप्रकोपो बोद्धव्यः । ज्वरपुरःसरानित्यनेन ज्वरस्य पूर्वरूपतां दर्शयति ॥ १ ॥ २ ॥

†अग्निदग्धनिभाः स्फोटाः सज्वरा रक्तपित्तजाः ।
क्वचित् सर्वत्र वा देहे विस्फोटा इति ते स्मृताः ॥ ३ ॥
शिरोरुक्शूलभूयिष्ठं ज्वरस्तृट् पर्वभेदनम् ।
सकृष्णवर्णता चेति वातविस्फोटलक्षणम् ॥ ४ ॥
ज्वरदाहरुजास्रावपाकतृष्णाभिरन्वितम् ।
पीतलोहितवर्णं च पित्तविस्फोटलक्षणम् ॥ ५ ॥
छर्द्यरोचकजाड्यानि कण्डूकाठिन्यपाण्डुताः ।
अवेदनश्चिरात्पाकी स विस्फोटः कफात्मकः ॥ ६ ॥
वातपित्तकृतो यस्तु कुरुते तीव्रवेदनाम् ।
कण्डूस्तैमित्यगुरुभिर्जानीयात्कफवातिकम् ॥ ७ ॥
कण्डूर्दाहो ज्वरश्छर्दिरेतैस्तु कफपैत्तिकः ।

विस्फोटस्वरूपमाह—अग्निदग्धनिभा इत्यादि । रक्तपित्तजा इति सर्वत्रैव विस्फोटे रक्तपित्तयोरव्यभिचारित्वं, यथा शूले वातस्य, वातानुबन्धोऽप्यत्र बोद्धव्यः । यदाह भोजः,—“यदा रक्तं च पित्तं च वातेनानुगतं त्वचि । अग्निदग्धनिभान् स्फोटान् कुरुतः सर्वदेहगान् ॥ सज्वरान् सपरीदाहान् विद्याद्विस्फोटकांस्तु तान्”—इति ॥ ३-७ ॥—

---

* 'विस्फोटकसंप्राप्तिमाह—त्वचमित्यादि' ( मा० द० ) ॥ १ ॥ २ ॥

† 'सज्वरा इति ज्वरस्तेषां पूर्वरूपत्वेन ज्ञेयः । क्वचिदिति क्वचिच्छरीरदेशे । सर्व शरीरस्य देहस्य, पर्वभेदो सन्धिस्फुटनम्' ( मा० द० ) ॥ ३-७ ॥

*मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते च कठिनोऽल्पप्रपाकवान् ॥ ८ ॥
दाहरागतृषामोहच्छर्दिमूर्च्छारुजाज्वराः ।
प्रलापो वेपथुस्तन्द्रा सोऽसाध्यः स्यात्त्रिदोषजः ॥ ९ ॥

सान्निपातिकलक्षणमाह—मध्य इत्यादि । मध्ये निम्नोन्नतोऽन्ते चेति मध्ये निम्नोऽन्ते चोन्नत इत्यर्थः । निम्नोन्नत इति प्रयोगोऽसिद्धस्यानित्यत्वेन । एवं संपूर्णलक्षणो यस्त्रिदोषजः सोऽसाध्यः ॥ ८ ॥ ९ ॥

†रक्ता रक्तसमुत्थाना गुञ्जाविद्रुमसन्निभाः ।
वेदितव्यास्तु रक्तेन पैत्तिकेन च हेतुना ॥ १० ॥
न ते सिद्धिं समायान्ति सिद्धैर्योगशतैरपि ।
एकदोषोत्थितः साध्यः कृच्छ्रसाध्यो द्विदोषजः ॥
सर्वदोषोत्थितो घोरस्त्वसाध्यो भूर्युपद्रवः ॥ ११ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विस्फोटनिदानं समाप्तम् ॥ ५३ ॥

रक्तजलक्षणमाह—रक्ता इत्यादि । रक्तसमुत्थाना इति लक्ष्यपदं, वेदितव्यास्तु रक्तेनेति लक्षणपदं, यथा अश्मरीहेतु तत्पूर्वमिति; अयमर्थः—रक्तसमुत्थानाश्च विस्फोटा भवन्ति ते च कथं विज्ञेया इत्यत उक्तं वेदितव्यास्तु रक्तेनेति; अथवा रक्तसमुत्थाना इति रक्तं समुत्थापयन्तीति निरुच्य रक्तच्छर्दनमभिमतमाचार्यस्य, वेदितव्यास्तु रक्तेनेति पदस्य कारणद्योतकस्याव्यवस्थानात् । घोरोऽत्यन्तदुःखदः । भूर्युपद्रव इति अत्र विसर्पोक्त एवोपद्रवो ज्ञेयः ॥ १० ॥ ११ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विस्फोटनिदानं समाप्तम् ॥ ५३ ॥

---

## अथ मसूरिकानिदानम् ।

कट्वम्ललवणक्षारविरुद्धाध्यशनाशनैः ।
दुष्टनिष्पावशाकाद्यैः प्रदुष्टपवनोदकैः ॥ १ ॥
क्रूरग्रहेक्षणाच्चापि देशे दोषाः समुद्धताः ।
जनयन्ति शरीरेऽस्मिन् दुष्टरक्तेन सङ्गताः ॥ २ ॥
मसूराकृतिसंस्थानाः पिडकाः स्युर्मसूरिकाः ।
तासां पूर्वं ज्वरः कण्डूर्गात्रभङ्गोऽरतिर्भ्रमः ॥ ३ ॥
त्वचि शोथः सवैवर्ण्यो नेत्ररागश्च जायते ।

विस्फोटप्रभेदत्वात् प्रायेण तुल्यनिदानत्वाच्च मसूरिकानिदानम् । तस्य निदानपूर्विकां संप्राप्तिमाह—कट्वम्लेत्यादि । विरुद्धाध्यशनाशनैरिति विरुद्धैरन्नैरध्यशनैश्च,

---

* 'अल्पप्रपाकवान् इति अल्पपाकवानित्यर्थः । मोह इन्द्रियाणाम्' (आ० द०) ॥८॥९॥

† 'रक्ता रक्तवर्णाः, रक्तसमुत्थाना इति रक्तसमुत्थानाश्च विस्फोटा भवन्तीत्यर्थः । ते ■ पित्तहेतुभिः कुपितेन रक्तेन वेदितव्याः' (आ० द० ) ॥ १० ॥ ११ ॥

---

१ अयमेवादृशमेव पाठं मनुते ।

'विरुद्धाध्यशनेन तु' इति पाठो वा । दुष्टनिष्पावशाकाद्यैरिति दुष्टं व्यापन्नमन्नं, निष्पावः शिम्बिबीजं, आद्यशब्दान्मण्डूकादिग्रहणम् । प्रदुष्टपवनोदकैरिति विषकुसुमादिसंस्पर्शात् प्रदुष्टः पवनस्तथोदकं च तैः । क्रूरग्रहेक्षणाच्चेति शनैश्चरादयो देशक्षोभकराः क्रूरग्रहास्तेषामीक्षणात् । दुष्टरक्तेन सङ्गता इत्यनेन रक्तस्य कट्वम्लादिभिर्हेतुभिर्विशेषेण कोपं दर्शयति । अत एवोक्तं तन्त्रान्तरे—"पित्तं शोणितसंसृष्टं यदा दूषयति त्वचम् । तदा करोति पिडकाः सर्वगात्रेषु देहिनाम् ॥ मसूरमुद्गमाषाणां तुल्याः कोलोपमा अपि । मसूरिकास्तु ता ज्ञेयाः पित्तरक्ताधिका बुधैः"—इति ॥ १-३ ॥—

स्फोटाः श्यावारुणा रूक्षास्तीव्रवेदनयाऽन्विताः ॥ ४ ॥
कठिनाश्चिरपाकाश्च भवन्त्यनिलसंभवाः ।
सन्ध्यस्थिपर्वणां भेदः कासः कम्पोऽरतिः क्लमः ॥ ५ ॥
शोषस्ताल्वोष्ठजिह्वानां तृष्णा चारुचिसंयुता ।

वातजामाह—स्फोटा इत्यादि । चिरपाका इति विकारप्रभावात् ॥ ४ ॥ ५ ॥—

रक्ताः पीतसिताः स्फोटाः सदाहास्तीव्रवेदनाः ॥ ६ ॥
भवन्त्यचिरपाकाश्च पित्तकोपसमुद्भवाः ।
विड्भेदश्चाङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचिस्तथा ॥ ७ ॥
मुखपाकोऽक्षिरागश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः ।

पित्तजामाह—रक्ता इत्यादि । ज्वरस्तीव्रः सुदारुण इति तीव्रश्चण्डवेगः, सुदारुणो बहुदुःखेनातिदुःसहः ॥ ६ ॥ ७ ॥

रक्तजायां भवन्त्येते विकाराः पित्तलक्षणाः ॥ ८ ॥
कफप्रसेकः स्तैमित्यं शिरोरुग्गात्रगौरवम् ।
हृल्लासः सारुचिर्निद्रा तन्द्रालस्यसमन्विताः ॥ ९ ॥
श्वेताः स्निग्धा भृशं स्थूलाः कण्डूरा मन्दवेदनाः ।
मसूरिकाः कफोत्थाश्च चिरपाकाः प्रकीर्तिताः ॥ १० ॥

रक्तजामाह—रक्तजायामित्यादि । एते विकाराः पित्तलक्षणा इति पित्तजमसूरीलक्षणत्वेन उक्ता 'रक्ताः पीतसिताः स्फोटा' इत्यादयो ये ये विकारास्ते रक्तजायां भवन्ति । अत्र कफजामनुक्त्वैव पित्तजाया अनन्तरं रक्तजाया उक्तिः पित्तलक्षणस्यातिदिष्टस्याव्यवहितत्वेन सुखग्रहणार्थं, रक्तरससमत्वाद्रक्तमलत्वाद्वा पित्तस्य पित्तजामभिधायास्याः कथनं, सर्वत्र कृतस्य समर्थनाय ॥ ८-१० ॥

*नीलाश्चिपिटविस्तीर्णा मध्ये निम्ना महारुजः ।
चिरपाकाः पूतिस्रावाः प्रभूताः सर्वदोषजाः ॥ ११ ॥
कण्ठरोधारुचिस्तम्भप्रलापारतिसंयुताः ।
दुश्चिकित्स्याः समुद्दिष्टाः पिटकाश्चर्मसंज्ञिताः ॥ १२ ॥

* 'नीलाश्चावरक्तवर्णिमाः । मध्ये निम्ना वस्तुले मान्नोन्नतत्वं वैपम् । प्रभूताः प्रचुराः । कण्ठरोधः कण्ठग्रहः, प्रलापोऽसम्बद्धभाषणं, दुश्चिकित्स्या असाध्याः, चर्मसंज्ञिता 'चामपाँस' इति ख्याताः' ( आ० द० ) ॥ ११ ॥ १२ ॥

सान्निपातिकलक्षणमाह—नीला इत्यादि। चिपिटविस्तीर्णा इति चिपिटश्चिउडा इति ख्यातः, तद्वद्विस्तृताः। चर्मसंज्ञिता इति 'चर्मदल' इति ख्याताः ॥११॥१२॥

*रोमकूपोन्नतिसमा रागिण्यः कफपित्तजाः।
कासारोचकसंयुक्ता रोमान्त्यो ज्वरपूर्विकाः ॥ १३ ॥

मसूरिकायाः प्रकारं रोमान्तिकामाह—रोमकूपोन्नतिसमा इत्यादि। रागिण्य इति लोहिताः, ज्वरपूर्विका इति ज्वरपूर्वरूपाः ॥ १३ ॥

†तोयबुद्बुदसंकाशास्त्वग्गतास्तु मसूरिकाः।
स्वल्पदोषाः प्रजायन्ते भिन्नास्तोयं स्रवन्ति च ॥ १४ ॥
रक्तस्था लोहिताकाराः शीघ्रपाकास्तनुत्वचः।
साध्या नात्यर्थदुष्टाश्च भिन्ना रक्तं स्रवन्ति च ॥ १५ ॥
मांसस्थाः कठिनाः स्निग्धाश्चिरपाका घनत्वचः।
गात्रशूलतृषाकण्डूज्वरारतिसमन्विताः ॥ १६ ॥
मेदोजा मण्डलाकारा मृदवः किंचिदुन्नताः।
घोरज्वरपरीताश्च स्थूलाः स्निग्धाः सवेदनाः ॥ १७ ॥
संमोहारतिसंतापाः कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेत्।
क्षुद्रा गात्रसमा रूक्षाश्चिपिटाः किंचिदुन्नताः ॥ १८ ॥
मज्जोत्था भृशसंमोहवेदनारतिसंयुताः।
छिन्दन्ति मर्मधामानि प्राणानाशु हरन्ति हि ॥ १९ ॥
भ्रमरेणेव विद्धानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः।
पक्वाभाः पिडकाः स्निग्धाः सूक्ष्माश्चात्यर्थवेदनाः ॥ २० ॥
स्तैमित्यारतिसंमोहदाहोन्मादसमन्विताः।
शुक्रजायां मसूर्यां तु लक्षणानि भवन्ति हि ॥ २१ ॥
निर्दिष्टं केवलं चिह्नं दृश्यते न तु जीवितम्।
दोषमिश्रास्तु सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः ॥ २२ ॥
त्वग्गता रक्तजाश्चैव पित्तजाः श्लेष्मजास्तथा।
श्लेष्मपित्तकृताश्चैव सुखसाध्या मसूरिकाः ॥ २३ ॥

---

* 'रोमकूपोच्छ्रायाः' ॥ १३ ॥

† 'असाध्यं चेन्न दुष्टा तदा साध्या। अत्रापि स्वल्पदोषानुबन्धत्वेन साध्यत्वम्। मृदवो मृदुस्पर्शाः, घोरज्वरपरीता इति दारुणज्वरो यतः। संमोह इन्द्रियाणाम्। क्षुद्राः तन्व्यः, गात्रसमाः शरीरसमवर्णाः, चिपिटाः चिपिटाकाराः। मर्मधामानि मर्मस्थानानि हृदयादीनि। पक्वाकारा अननुपक्काः। अन्ये 'पङ्काभाः' इति पठन्ति, तत्र कर्दमाभाः। [1]श्लक्ष्णाः मसृणाः। धातुगतानां दोषजानामपि साध्यत्वमाह—त्वग्गता इत्यादि' (आ० द०) ॥ १४–२३ ॥

---

१ "सूक्ष्माः" इत्यत्र "श्लक्ष्णाः" इति पा०।

रसादिसप्तधातुगतमसूरिकालिङ्गमाह—तोयबुद्बुदसङ्काशा इत्यादि । अत्र दुष्टदूष्यप्रभावात्तोयबुद्बुदसङ्काशादीनि दोषलक्षणानि च भवन्ति, दोषमन्तरेण दूष्यदुष्टेरभावात्, अत एव वक्ष्यति,–'दोषमिश्राश्च सप्तैता द्रष्टव्या दोषलक्षणैः 'इति । त्वक्शब्देनात्र रसोऽभिधीयते, धातुगतप्रस्तावात् । त्वग्गता साध्या , अल्पदोषसम्बन्धाद्रक्तजाया अपि साध्यत्वेनाभिधानात् । मांसस्था कृच्छ्रसाध्या , अत्यवगाढदोषदुष्टेः । मेदोजाया कश्चिदाभ्यो विनिस्तरेदित्यनेनात्यन्तकृच्छ्रसाध्यत्वं बोधयति, अस्थिमध्यस्थितत्वान्मज्ज्ञः । सुप्ता इत्यादिना अस्थिमज्जगतयोः समानं लिङ्गम् । मज्जोत्था इत्यत्र मज्जग्रहणादस्थ्नोऽपि ग्रहणं, आधारत्वात्, अत एव वक्ष्यति,–'भ्रमरेणेव विद्धानि कुर्वन्त्यस्थीनि सर्वतः '–इति । मर्मधामानीति मर्मस्थानानि । पक्वाभा इत्यादिना शुक्रजाया लिङ्गम् । दृश्यते न तु जीवितमिति गम्भीरधातुगतदोषदुष्टेः शुक्रजाया असाध्यत्वम् । अस्य न्यायस्य समानतया अस्थिमज्जगतयोरप्यसाध्यत्वं बोद्धव्यम् ॥ १४–२३ ॥

*वातजा वातपित्तोत्थाः श्लेष्मवातकृताश्च याः ।
कृच्छ्रसाध्यतमास्तास्माद्यत्नादेता उपाचरेत् ॥ २४ ॥
असाध्याः सन्निपातोत्थास्तासां वक्ष्यामि लक्षणम् ।
प्रवालसदृशाः काश्चित् काश्चिज्जम्बूफलोपमाः ॥ २५ ॥
लोहजालसमाः काश्चिदतसीफलसंनिभाः ।
आसां बहुविधा वर्णा जायन्ते दोषभेदतः ॥ २६ ॥

वातजा इत्यादि । वातजाद्याः सन्निपातोत्थान्ता असाध्याः । एतासां समूर्छनविशेषजनितवक्ष्यमाणप्रवालादिवर्णयोगादसाध्यत्वं,तेनैतद्वर्णविरहे वातजायाश्चिकित्साविधिरप्युक्त उपपद्यत इति केचित् । अन्ये तु वातजाद्या एता खल्वत एवासाध्याः, चिकित्सोक्तिस्तु वातजादीनां महात्ययनिषेधार्थं, लिङ्गान्तरसम्भवार्थं च तासां वक्ष्यामि लक्षणमित्युक्तमित्याहुः । तासामिति असाध्यवातजादीनाम् लोहजालसमा इति जालं जालकं गुडकमिति यावत्, तद्वत्कृष्णवर्णाः । अतसीफलसनिभा इति उमापुष्पवर्णतुल्यवर्णाः । अनुक्तवर्णान्तरसंग्रहार्थमाह—आसां बहुविधा इत्यादि । दोषभेदत इति वातपित्तादिदोषविशेषात्, दुष्टिविशेषादित्यन्ये ॥ २४–२६ ॥

†कासो हिक्का प्रमेहश्च ज्वरस्तीव्रः सुदारुणः ।
प्रलापश्चारतिर्मूर्च्छा तृष्णा दाहोऽतिघूर्णता ॥ २७ ॥
मुखेन प्रस्रवेद्रक्तं तथा घ्राणेन चक्षुषा ।
कण्ठे घुर्घुरकं कृत्वा श्वसित्यत्यर्थवेदनम् ॥ २८ ॥
मसूरिकाभिभूतस्य यस्यैतानि भिषग्वरैः ।
लक्षणानि च दृश्यन्ते न दद्यात्तस्य भेषजम् ॥ २९ ॥

सर्वमसूरिकाया आवस्थिकं लिङ्गमाह—कास इत्यादि । ज्वरस्तीव्रः सुदारुण इति अत्र सुदारुण इति परेण संबध्यते, तेन सुदारुणः प्रलापः । अतिघूर्णता शिरो-

* 'दोषदूष्यसंमूर्छनादिविशेषेणैव स्पष्टमाह–प्रवालेत्यादि' (भा० ८०)॥ २४–२६॥
† 'मसोरदारिकासाम्। ज्वरस्तीव इति तीव्रोऽत्र। सुदारुणो घोर '(भा०८०)२७–२९॥

यनम्। तथा घ्राणेन चक्षुषेत्यत्र रक्तं स्रवेदिति संबध्यते। श्वसितीति श्वासो भवति ॥ २७–२९ ॥

*मसूरिकाभिभूतो यो भृशं घ्राणेन निःश्वसेत्।
स भृशं त्यजति प्राणान् तृषार्तो वायुदूषितः ॥ ३० ॥

सामान्येनासाध्यत्वमाह—मसूरिकाभिभूतो य इत्यादि। घ्राणेन निःश्वसेदिति मुखव्यतिरेकेण घ्राणेनैव निःश्वसेत्, सर्ववाक्यानामवधारणफलत्वात् ॥ ३० ॥

†मसूरिकान्ते शोथः स्यात् कूर्परे मणिबन्धके।
तथांऽसफलके चापि दुश्चिकित्स्यः सुदारुणः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मसूरिकानिदानं समाप्तम् ॥ ५४ ॥

मसूरिकाया उपद्रवमाह—मसूरिकान्ते इत्यादि। दुश्चिकित्स्य इति दुःशब्दोऽयं निषेधे, तेनासाध्य इत्यर्थः ॥ ३१ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मसूरिकानिदानं समाप्तम् ॥ ५४ ॥

---

## अथ क्षुद्ररोगनिदानम्।

‡स्निग्धाः सवर्णा ग्रथिता नीरुजो मुद्गसंनिभाः।
कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिकाः ॥ १ ॥

विसर्पादीनामक्षुद्रहेतुलक्षणचिकित्सितानामभिधानेन क्षुद्रहेतुलक्षणचिकित्सितानां क्षुद्ररोगाणां पारिशेष्यात् क्षुद्ररोगनिदानम्। ननु, यदि क्षुद्रत्वमेषां हेतुलक्षणचिकित्सा-ल्पत्वेन तर्हि अग्निरोहिणीकादीनां त्रिदोषत्वेन हेत्वादिबाहुल्यात् कथं क्षुद्रत्वं? नैवं, बाहुल्येन तावत्, छत्रिणो गच्छन्तीतिवत्; किंवा अवान्तरभेदविरहः क्षुद्रत्वं, येनात्र वक्ष्यमाणानामजगल्लिकादीनां न दोषदूष्यादिकृतभूरिसंख्याभेदेन व्रणज्वरादिवभि-देशः, किंतु प्रत्येकं स्तोकसंख्ययाऽभिधानं तेषाम्। अन्यस्त्वाह—क्षुद्रशब्दोऽत्र रौद्रे च वर्तते, तेन यथायोग्यं सर्वत्र व्यवस्था द्रष्टव्या; रौद्रे क्षुद्रशब्दो यथा—“क्षुद्रा मृगा यत्र शान्ताश्चेरुरन्यैः समं मृगैः”–इति। क्षुद्राणां बालानां रोगाः क्षुद्ररोगा इति

* 'यः प्रदूषितो मसूरिकाभिः पीडितो नरो भृशं तृषार्तो भवति, स तथाविधो नरः प्राणांस्त्यजति' ( आ० द० ) ॥ ३० ॥

† 'मसूरिकान्त इत्यादि। कूर्परे जानुकूर्परे, मणिबन्धने मुष्टिकायां, अंसफलके पार्श्व-योरुपरि' ( आ० द० ) ॥ ३१ ॥

‡ 'क्षुद्ररोगाणां मसूरिकारम्भकत्वादतोऽनन्तरं क्षुद्ररोगनिदानारम्भः। क्षुद्रा अल्पाः, निष्क-ल्पकाभिप्रायेण; अग्निरोहिणीवल्मीकप्रभृतीनामभिप्रायेण क्षुद्रास्तीक्ष्णाः, अथवा पूर्वा-चार्यपठिता पारिभाषिकीय संज्ञा, क्षयरोगसंज्ञावत्। सवर्णा शरीरसमवर्णा, ग्रथिताका-रत्वेन व्यवस्थिता। प्रायेण बालानामन्येषामप्यजगल्लिका भवति' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

१ “वा प्रदूषिनः” इति पाठाभिप्रायेण।

केचित् । एवमप्यजगल्लिकादिपूतनादीनामेव परिग्रहो न त्वन्येषाम् । संक्षेपेण चतुश्चत्वारिंशद्विकारानत्र वक्तव्यान् क्रमेण दर्शयति—स्निग्धेत्यादि । भोजे तु मूषिकाकर्णमुष्ककोशफलाद्याः प्रकृतयोऽधिकविकाराः पठ्यन्ते, ते च सुश्रुते विकारस्थानन्त्यादनुमता एव । बालानामिति प्रायोभावित्वादुक्तं, तेनाबालानामपि दृश्यमानाः संगच्छन्ते ॥ १ ॥

यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता ।
पिडका कफवाताभ्यां यवप्रख्येति सोच्यते ॥ २ ॥

यवप्रख्यामाह—यवाकारेत्यादि । यवाकारेति यववन्मध्ये स्थूला ॥ २ ॥

*घनामवक्त्रां पिडकामुन्नतां परिमण्डलाम् ।
अन्धालजीमल्पपूयां तां विद्यात्कफवातजाम् ॥ ३ ॥

अन्धालजीमाह—घनामित्यादि । अन्धालजी स्नायुगता भोजवचनादवगन्तव्या । यदुक्तं,—"श्लेष्मानिलौ स्थितौ स्नायुं पिडकां परिमण्डलाम् । कुर्यो जनयतोऽवक्त्रामल्पपूयामकण्डुराम् ॥ आमोदुम्बरसंकाशां विद्यादन्धालजीं तु ताम्"—इति ॥ ३ ॥

विवृतास्यां महादाहां पक्वोदुम्बरसंनिभाम् ।
विवृतामिति तां विद्यात्पित्तोत्थां परिमण्डलाम् ॥ ४ ॥

विवृतामाह–विवृतास्यामित्यादि । पित्तनाधिकपाकादिहतमुखतायां विवृतासंज्ञा॥४॥

†ग्रथिताः पञ्च वा षड्वा दारुणाः कच्छपोन्नताः ।
कफानिलाभ्यां पिडका ज्ञेयाः कच्छपिका बुधैः ॥ ५ ॥

कच्छपिकालक्षणमाह—ग्रथिता इत्यादि । दारुणाः कठिनाः । मध्योन्नतत्वेन पर्यन्तानतत्वेन च कच्छपिकासंज्ञा ॥ ५ ॥

‡ग्रीवांसकक्षाकरपाददेशे सन्धौ गले वा त्रिभिरेव दोषैः ।
ग्रन्थिः स वल्मीकवदक्रियाणां जातः क्रमेणैव गतः प्रवृद्धिम् ॥६॥
मुखैरनेकैः स्रुतितोदवद्भिर्विसर्पवत्सर्पति चोन्नताग्रैः ।
वल्मीकमाहुर्भिषजो विकारं निष्प्रत्यनीकं चिरजं विशेषात् ॥ ७ ॥

वल्मीकलक्षणमाह—ग्रीवांसेत्यादि । वल्मीकवदित्यनेन बहुरन्ध्रितरत्वेन समुच्छ्रितत्वं दूरावगाढमूलत्वं च दर्शयते । अत एव चिकित्सायामवगाढमूलशोधनार्थमग्निशराभ्यां चिकित्सेदित्युक्तम् ॥ ६–७ ॥

§पद्मकर्णिकवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम् ।
इन्द्रविद्धां तु तां विद्याद्वातपित्तोत्थितां भिषक् ॥ ८ ॥

इन्द्रविद्धामाह—पद्मकर्णिकवदित्यादि । पद्मकर्णिकवन्मध्ये इति पद्मबीजवत् ॥८॥

---

* 'अन्धालजी बहिर्वक्त्रहीना, अन्तर्मुखी, स्नायुश्रिता च' ॥ ३ ॥

† 'मध्ये उन्नतत्वेन पर्यन्ते नतत्वेन च कच्छपिकासंज्ञा' ( आ० द० ) ॥ ५ ॥

‡ 'निष्प्रत्यनीकमसाध्यम्' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥ ७ ॥

§ 'पद्मकर्णिकामध्ये बीजवत्पिडकाभिर्युक्ताम्' ( आ० द० ) ॥ ८ ॥

*मण्डलं वृत्तमुत्सन्नं सरक्तं पिडकाचितम् ।
रुजाकरीं गर्दभिकां तां विद्याद्वातपित्तजाम् ॥ ९ ॥

गर्दभिकामाह—मण्डलमित्यादि । गर्दभिका यद्यपि समानतन्त्रे न पठ्यते तथाऽपि सर्वत्र सुश्रुतेऽभिधीयते; अभिनीतपाठेन व्यवस्थितैव ॥ ९ ॥

वातश्लेष्मसमुद्भूतः श्वयथुर्हनुसन्धिजः ।
स्थिरो मन्दरुजः स्निग्धो ज्ञेयः पाषाणगर्दभः ॥ १० ॥

पाषाणगर्दभलक्षणमाह—वातेत्यादि । स्थिरः कठिनः, पाषाणवत् काठिन्यात् पाषाणगर्दभः लोके 'गलवट' इति ख्यातः ॥ १० ॥

कर्णस्याभ्यन्तरे जातां पिडकामुग्रवेदनाम् ।
स्थिरां पनसिकां तां तु विद्याद्वातकफोत्थिताम् ॥ ११ ॥

पनसिकामाह—कर्णस्येत्यादि । एषा भोजे 'समन्ततः' इति वचनात् कर्णस्य बहिरपि भवतीति केचिद्व्याचक्षते । यदुक्तं,—"कफवातौ प्रकुपितौ मांसमाश्रित्य कर्णयोः । समन्ततः परिसर्पां कुरुतः पिडकां स्थिराम् ॥ विषमां दाहसंयुक्तां विद्यात् पनसिकां तु ताम्"—इति । तत्तु न सम्यक्, समन्तत इत्यस्य कर्णाभ्यन्तर एवोपपन्नत्वात् । इयमेव पामरजने पाद्धकाकारेयमिति केचित् । अस्यां वातकफजायां भोजे दाहपाठो विकृतिविषमसमवायादधिष्ठानभूतरक्तप्रभावाद्वाऽवगन्तव्यः ॥ ११ ॥

विसर्पवत्सर्पति यः शोथस्तनुरपाकवान् ।
दाहज्वरकरः पित्तात्स ज्ञेयो जालगर्दभः ॥ १२ ॥

जालगर्दभलक्षणमाह—विसर्पवदित्यादि । अपाकवानिति ईषत्पाकवान्, पित्तहरत्वेन सर्वथा पाकाभावस्यायुक्तत्वादिति चक्रः, किन्तु पाकरहित एवायमुपलभ्यते । पित्तादित्युक्तत्वात्, तेन भोजोक्तं पित्तोत्कटदोषत्रयजन्यत्वमस्याविरुद्धं भवति । स यथाह,—"पित्तोत्कटास्त्रयो दोषा जनयन्ति त्वगाश्रिताः । श्वयथुं रक्तं तनुं शोफमपाकं बहुवेदनम् ॥ विसर्पिणं सदाहं च तृष्णाज्वरसमन्वितम् । विसर्पमाहुस्तं व्याधिमपरे जालगर्दभम्"—इति । जतूकर्णोऽप्याह—"पित्ताभिष्यन्दः शीतदाहो रक्ताभो विसर्पज्वरकरो जालगर्दभः—" इति । अपकशिवात इति रूपालो विकारः ॥ १२ ॥

[1]पिडकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्ररुजाज्वराम् ।
सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम् ॥ १३ ॥
बाहुपार्श्वांसकक्षेषु कृष्णस्फोटां सवेदनाम् ।
पित्तप्रकोपसंभूतां कक्षामित्यभिनिर्दिशेत् ॥ १४ ॥

इरिवेल्लिकालक्षणमाह—पिडकामित्यादि । सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गामिति । सर्वात्मिकां सर्वदोषजाम् । सर्वात्मिकाभिधानेनैव सर्वलिङ्गत्वे सिद्धे पुनः सर्वलिङ्गामिति वचनं वि-कृतिविषमसमवायारब्धत्वव्यतिरेकेण प्रत्येकदोषलिङ्गयुक्तत्वं दर्शयति ॥१३॥१४॥

* 'इत्थं गर्दभम् । उभयमुक्तम्' (का० ८०) ॥ ९ ॥
† 'उपनाहस्था शिरोगतम्' (का० ८०) ॥ १३ ॥ १४ ॥

१ "मद्ध.सराविनीम्" इति पाठान्तरम् ।

एकामेतादृशीं दृष्ट्वा पिडकां स्फोटसंनिभाम् ।
त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्धमालां प्रचक्षते ॥ १५ ॥

गन्धमालामाह—एकामित्यादि । एकामेतादृशीमिति कक्षोत्थकृष्णस्फोटसदृशीम् ॥ १५ ॥

*कक्षभागेषु ये स्फोटा जायन्ते मांसदारणाः ।
अन्तर्दाहज्वरकरा दीप्तपावकसंनिभाः ॥ १६ ॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा पक्षाद्वा हन्ति मानवम् ।
तामग्निरोहिणीं विद्यादसाध्यां सर्वदोषजाम् ॥ १७ ॥

अग्निरोहिणीलक्षणमाह—कक्षेत्यादि । सप्ताहाद्वा दशाहाद्वेत्यभिधानमसाध्यत्वमप्यनुपक्रमाद्बोद्धव्यम् । उपक्रमात् पुनरियं साध्यैव, अत एवास्याश्चिकित्साभिधानं चरकेणाप्यग्निरोहिणीं प्रत्यभिहितं,—"सन्ति ह्येवंविधा रोगाः साध्या दारुणसंमताः । ये हन्युरनुपक्रान्ता मिथ्यारम्भेण वा पुनः" (च. सू. स्था. अ. १८)—इति । तन्त्रान्तरमपि,—"पित्तप्रकोपोत्कटा दोषाः प्रदीप्ताङ्गारसंनिभान् । कक्षभागेषु कुर्वन्ति तीव्रदाहरुजाज्वरान् ॥ मांसावदारणान् स्फोटान् ये हन्युरनुपक्रमात् । पक्षाद्दशाहादर्वाग्वा सा ज्ञेया वह्निरोहिणी"—इति । वातपित्तकफाधिक्याद्यथाक्रमं सप्ताहादिविकल्पः ॥ १६ ॥ १७ ॥

†नखमांसमधिष्ठाय वायुः पित्तं च देहिनाम् ।
कुर्वाते दाहपाकौ च तं व्याधिं चिप्पमादिशेत् ॥ १८ ॥
तदेवाल्पतरैर्दोषैः परुषं कुनखं वदेत् ॥ १९ ॥

चिप्पमाह—नखेत्यादि । तं व्याधिं चिप्पमिति चिप्पमङ्गुलिवेष्टकमिति ख्यातम् । चरके त्वक्षतनामायं विकारः । यदुक्तं,—"रोगोऽक्षतश्चर्मनखान्तरे स्यान्मांसाश्रयदोषो भृशदाहपाकः" (च. चि. स्था. अ. १२)—इति ॥ १८ ॥ १९ ॥

‡गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्णामुपरिस्थिताम् ।
पादस्यानुशयीं तां तु विद्यादन्तःप्रपाकिनीम् ॥ २० ॥

अनुशयीलक्षणमाह—गम्भीरामित्यादि । गम्भीरामित्यन्तःपाकेन । अल्पसंरम्भामित्यल्पशोथाम् ॥ २० ॥

---

* 'वाताधिकैः सप्ताहात्, पित्ताधिकैर्दशाहात्, कफाधिकैः पक्षादित्यूचुः' (आ० द०) ॥ १६ ॥ १७ ॥

† 'अन्ये तु "तमेवाक्षतरोगाख्यं तथोपनखमित्यपि" इत्यधिकं ग्रन्थमपीपठन् । तदेव चिप्पमिति' (आ० द०) ॥ १८ ॥ १९ ॥

‡ "कफपित्तप्रकोपोत्थां विद्यादनुशयीं भिषक्" इति केचन पाठं पठन्ति । उपरिस्थिता महती सिताभिर्व्याप्तपृष्ठे' (आ० द०) ॥ २० ॥

विदारीकन्दवद्वृत्ता कक्षावङ्क्षणसन्धिषु।
विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणा ॥ २१ ॥

विदारीलक्षणमाह—विदारीत्यादि। विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणेत्यत्र केचिदसर्वजा, असर्वलक्षणेति उभयत्रापि नञः प्रयोगमिच्छन्ति, तेनासर्वजा इति सर्वदोषैः सन्निपतितैर्न भवति, असर्वलक्षणेति सन्निपातलक्षणरहितेत्यर्थः। तेन प्रत्येकदोषद्वन्द्वजत्वेन षड्विधा सन्निपातमात्रेण न भवतीति वाक्यार्थः। किंत्वयं पक्षो यदभिमतः स्यादाचार्यस्य, तदा व्यक्तयर्थं 'षड्विधा त्वेकदोषजा' इति पदं कृतं स्यात्। किंच बहुप्रपञ्चत्वेन क्षुद्रत्वासङ्गतिश्च। अपरे 'असर्वजा सर्वलक्षणा' इति पठन्ति; तदपि न संगतं, सर्वदोषैर्न भवत्यथ सर्वदोषलक्षणा भवति हन्त तर्हि लिङ्गिनमन्तरेण लिङ्गप्रादुर्भावप्रसङ्गः। अन्ये तूत्तरपद एव नञः प्रयोगात् 'सर्वजाऽसर्वलक्षणा' इति वदन्ति। तत्र यदि सर्वेषां लक्षणानि सर्वलक्षणानि तान्यविद्यमानानि यस्यामिति, तदा कथं लिङ्गमन्तरेण लिङ्गिनः परोक्षस्य परिच्छेदोदयः। अथ सर्वाणि च तानि लक्षणान्यविद्यमानानि यस्यामिति, सन्निपातजत्वेऽप्यसंपूर्णलक्षणेत्यर्थः। एतदपि न सङ्गतं, यद्ययं पक्षोऽभीष्टः स्यात्तदाऽसर्वलक्षणेति न वक्तव्यमत्र स्यात्, सर्वत्र न्यायस्यास्य समानत्वात्; हेत्वनुरूपकोपबलेन हि सर्वत्र सर्वार्थास्वलिङ्गप्रवृत्तिः। असंपूर्णलक्षणत्वेन दोषाणां हीनबलत्वं समवेतानामनारम्भकत्वं वा शक्यमेवास्मिन् पक्षे वक्तुं, किंतु तथात्रियन्ते; ततश्चोभयत्रापि नञः प्रयोगं विना सर्वजा सर्वलक्षणेति पाठो युक्तः सर्वजेत्यभिधायापि सर्वलक्षणेति वचनमिहेवेत्थिकायामिव प्रकृतिसमसमवायजन्यत्वातादिलक्षणदर्शनार्थं, तेन विकृतिविषमसमवायजन्यास्वाधत्वादिलक्षणानि न भवन्ति। अस्मिन्नपि पाठे सर्वजा सर्वैरेकादिप्रकोपैस्तैस्तादिभिर्जन्यते, एवं सर्वलक्षणेति वक्तुं पार्यते, किंतु क्षुद्ररोगत्वाद्दोषभेदेन गणना न युक्ता। चरके त्वियं कफमारुतजा पठ्यते। यदुक्तं,—"ज्वरान्विता वङ्क्षणकक्षसन्धौ वर्तिर्निरर्तिः कठिना मता या। विदारिका सा कफमारुताभ्याम्" ( च. चि. स्था. अ. १ )—इति। तेनात्राप्यत्रपित्तानुबन्धकफवातजत्वेन सर्वजत्वं ज्ञेयम्। यथा—ज्वरयोगेनाप्यपित्तत्वम्। यदुक्तम्,—"ऊष्मा पित्तादृते नास्ति ज्वरो नास्त्यूष्मणा विना" ( च. चि. स्था. अ. १ )—इति। 'विदारीमिति तां विद्यात् सर्वजां सर्वलक्षणाम्' इति पाठान्तरे न कश्चिद्व्याख्यानप्रयत्नः ॥ २१ ॥

*प्राप्य मांससिरास्नायुः श्लेष्मा मेदस्तथाऽनिलः।
ग्रन्थिं करोत्यसौ भिन्नो मधुसर्पिर्वसानिभम् ॥ २२ ॥
स्रवत्यास्रावमनिलस्तत्र वृद्धिं गतः पुनः।
मांसं संशोष्य ग्रथितां शर्करां जनयेत्ततः ॥ २३ ॥
दुर्गन्धि क्लिन्नमत्यर्थं नानावर्णं ततः सिराः।
स्रवन्ति रक्तं सहसा तं विद्याच्छर्करार्बुदम् ॥ २४ ॥

* 'शर्करा पाषाणशर्करा। तत्र इति शर्कराशब्दे, अत्र तद्वत्त्वे प्रयोगः' ( भा० ८० ) ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥

१ 'मस्तके त्वथ दोषे विदके मेदसा कर्णमूलं त्वगुणाः'—इत्यादि पाठान्तरं पठ्यते।

शर्करामाह—प्राप्येत्यादि । इयमेव शर्करार्बुदस्य हेतुः । अस्याः कफानिलौ दोषौ, मांससिरास्नायुमेदांसि दूष्याणि । अनिलश्च वृद्धिं गत इति पूर्वमेव तावद्दुष्टोऽनिलो धातुक्षयेण वृद्धिमतिशयेन गतो मांसं विशोष्य काठिन्यात् शर्करातुल्या शर्करा जनयति । अतः शर्करायास्तुल्यं शर्करार्बुदं भवति । दुर्गन्धि क्लिन्नमित्यादिना शर्करोत्पन्नं शर्करार्बुदलक्षणं, शर्करार्बुदं च शर्करावस्थैवेत्येक एवायं विकारः, तेन न संख्यातिरेकः । नानावर्णमिति घृतमेदोवसावर्णं रक्तम् । तत इति शर्करार्बुदादेव । भोजेऽपि पठ्यते,—"तमेव भिषग् दुर्गन्धं घृतमेदोनिभं सिराः । स्रवन्ति स्रावमनिशं तदा स्याच्छर्करार्बुदम्"—इति । तमेवेति ग्रन्थिम् ॥ २३—२४ ॥

परिक्रमणशीलस्य वायुरत्यर्थरूक्षयोः ।
पादयोः कुरुते दारीं पाददारीं तमादिशेत् ॥ २५ ॥

पाददारीमाह—परिक्रमणशीलस्येत्यादि । परिक्रमणं पादविहरणं, दारी दारणमात्रं, विपादिकायां तु पिडका सविदारणेति भेदः ॥ २५ ॥

*शर्करोन्मथिते पादे क्षते वा कण्टकादिभिः ।
ग्रन्थिः कोलवदुत्सन्नो जायते कदरं हि तत् ॥ २६ ॥

कदरमाह—शर्करोन्मथित इत्यादि । कदरं घोलाठीति ख्यातम् । कोलवदित्यस्य स्थाने कीलवदिति पाठान्तरम् । कदरं हस्तेऽपि भवति । तथाच भोजः,—"हस्तयोः पादयोश्चापि गम्भीरानुगतं खरम् । मांसकीलं जनयतः कुपितौ कफमारुतौ ॥ सशल्यमिव तं देशं मन्यते तेन पीडितः । शर्कराकदरं केचिन्मन्यन्ते वातकण्टकम्"—इति । कोलवदिति बदरवत् ॥ २६ ॥

क्लिन्नाङ्गुल्यन्तरौ पादौ कण्डूदाहरुजान्वितौ ।
दुष्टकर्दमसंस्पर्शादलसं तं विभावयेत् ॥ २७ ॥

अलसकलक्षणमाह—क्लिन्नेत्यादि । अयं कफरक्तजो विकारः 'पाकुया' इति ख्यातः । अत्र कण्डूः कफस्य, दाहरुजे रक्तस्य ॥ २७ ॥

†रोमकूपानुगं पित्तं वातेन सह मूर्च्छितम् ।
प्रच्यावयति रोमाणि ततः श्लेष्मा सशोणितः ॥ २८ ॥
रुणद्धि रोमकूपांस्तु ततोऽन्येषामसंभवः ।
तदिन्द्रलुप्तं खालित्यं रुह्येति च विभाव्यते ॥ २९ ॥

इन्द्रलुप्तस्य लक्षणमाह—रोमकूपेत्यादि । एतत्त्रिभिर्दोषैः सशोणितैः स्वभावाभिघात-कालव्यापारैर्भवति । एतच्च स्त्रीणां न भवतीति विदेहवचनाद्व्याख्यातारो वर्णयन्ति । यदुक्तं,—"अत्यन्तसुकुमारास्तासां दोषा दुष्टाः स्रवन्ति च । अव्यायामरता यस्मात्तस्मात्तासां न विद्यते"

* 'पादे शर्करा परमपरामर्दादयः, नाभिरुन्मथिते पीडिते कण्टकादिभिर्वा क्षते कोलवदुत्सन्नो ग्रन्थिर्जायते, तत्कदरं नाम' ( का० ह० ) ॥ २६ ॥

† 'मूर्च्छितं वृद्धिगतं, प्रच्यावयति पातयति । ततोऽन्येषामसंभव इति अन्येषां रोम्णामनुद्भवः' ( का० ह० ) ॥ २८ ॥ २९ ॥

धिया –" इति । अव्यायामाद्वातपित्तयोरकोपेन नातिरोमच्युतेः, रजस्रावेण च स्रोतोऽनवरोधाभावाच्च्युतानामपि रोम्णां पुनर्विरोहः, किंतु क्वाप्यपि खल्तिदर्शनात् प्रायिकं विदेहवचनम् । खालित्यं रुज्येति च तस्य पर्यायकथनम् । तथाच भोजः,– "तदिन्द्रलुप्तमित्याहुः खली रुज्या च केचन"–इति । कार्तिकस्त्वाह,–"इन्द्रलुप्तं श्मश्रुणि भवति, खालित्यं शिरस्येव, रुज्या च सर्वदेहे"–इति । आगमस्त्वत्र नास्ति ॥२८॥२९॥

*दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते ।
कफमारुतकोपेन विद्याद्दारुणकं तु तम् ॥ ३० ॥

दारुणलक्षणमाह—दारुणेत्यादि । दारुणेति कठिना । कफमारुतकोपादिति यद्यप्युक्तं तथापि पित्तरक्तानुबन्धोऽप्यत्र द्रष्टव्यः । तथाहि विदेहः,–"यदत्र पटलामासं सरुजस्कं शिरस्त्वचि । परुषं जायते जन्तोस्तस्य रूपं विशेषतः ॥ तोदं समन्वितं वातात् सकण्डूगौरवं कफात् । सपिपासं सदाहार्तिरागं पित्तास्रजं तथा"–इति । अत्र वचने सदाहरागं च पित्तात्, आर्तिं तु रक्तात्, आर्तिर्हि रक्तजाऽपि भवति । यदुक्तं,—"रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्चनास्ति न चास्ति रुक्"—इति । दारुणं रुसीति लोके ॥३०॥

†अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्ध्नि तु ।
कफासृक्कृमिकोपेन नृणां विद्यादरूंषिकाम् ॥ ३१ ॥

अरूंषिकामाह—अरूंषीत्यादिना । अरूंषीति व्रणाः ॥ ३१ ॥

‡क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ।
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥ ३२ ॥

पलितमाह—क्रोधेत्यादि । शरीरोष्मेति देहाग्निः । पित्तं चेति पित्तमपि शिरोगतं पलितहेतुः । ननु, पित्तमेवाग्निः, तत्र तत्र पित्तस्य पाचकत्वेनाभिधानात्, यदुक्तवान् सुश्रुतः,–"न पाक पित्ताद्वे" ( सु. सू. स्था. अ. १७ )—इति, तथा–"पित्ते तस्मिन् पाचकोऽग्निरिति संज्ञा" ( सु. सू. स्था. अ. २१ )–इति, तथा स एव–"न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेयत्वात् पित्ते दहनपचनादिष्वभिप्रवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियतेऽन्तरग्निरिति, क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगादतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगादागमाच्च पश्यामो न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः" (सु. सू. स्था. अ. २१)–इति, चरकाचार्योऽप्याह,–"दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम् । प्रभा प्रसादो मेधा च पित्तकर्माविकारजम्" ( च. सू. स्था. अ. १८ )–इति, पाकव्यापारमनुसरता चाग्निरङ्गीकारः, किं च यदेऽग्निः पित्तकरशरीरादिद्रव्योपयोगात्संवृद्धिः,

पित्तप्रतिकूलशीतमधुरादिद्रव्योपयोगाच्चोपशम उपलभ्यते, यदि हि पित्ताद्भिन्नोऽग्निः स्यात्तदा पित्तस्य वृद्धिह्रासानुविधानमस्यानुपपन्नं स्यात्, न हि तुहिनकरमण्डले हिमभाज्यऽहिमोपलम्भः, अनुहिनमण्डले अहिममाजि भावति भास्करेऽभिमतो हिमोपलम्भः, यद्यतो भिन्नं तत्ततो भेदेनोपलभ्यते, यथा सागराज्जगर, न चैवं पित्तादग्निः, तदुत पित्तादग्नेः पृथगुपादानमिति ? अत्र प्रत्यभिधीयते—न तावदन्तरग्निः पित्ताद्भिन्नः, भेदसाधकप्रमाणस्य भूयः सद्भावात्, तथाप्यभेदे 'समदोषः समाग्निश्च' (सु. सू. स्था. अ. १५) इत्यत्र, "समप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रयौ" इत्यत्र च दोषपदलब्धत्वादग्नेः पृथगुपादानमसङ्गतं, तीक्ष्णः पित्तेन चेति स्वात्मनि क्रियाविरोधादसङ्गतं, यत्पुनः "न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः" इत्याद्युक्तं तद्भेदमेव साधयति, उपचाराभिधानात्, न ह्यभेदे उपचारः सम्भवति । यदप्यग्नेः पित्तवृद्धिह्रासानुविधानमभिहितं तदप्रयोजकं, भेदेऽपि समानत्वेन तदुपपत्तेः । यथा कफवृद्धिह्रासकरसौम्याग्नेयद्रव्याभ्यां शुक्रस्य वृद्धिह्रासौ दृष्टौ, न च कफशुक्रयोरैक्यं, किंच घृतं पित्तशमनमग्नेश्च दीपनं, पित्तस्य सर्षपादौ नाग्नेर्वृद्धिः, पेयादिकं चाग्निकरं, न पित्तकरं । ततश्च पित्ताद्विलक्षणोऽन्तरग्निः । स च द्रवतेजःसमुदायात्मकस्य पित्तस्य तेजोभागो न बहिरन्यद्रूपसाधारणाकार, समुदायतश्च समुदायी अन्य एव करचरणादिभ्य इव शरीरं, अत्यन्तभेदेन चाग्रहणं, तस्य नित्यसंश्लेषणशालित्वात् । पित्तस्य तेजोंऽश एव पाच(क)कः, तदाह भोजः,—"हृदमुष्णोषितं हेनव पित्तोष्मा पचतीति च । मूर्च्छितो रसवीर्याभ्यां समानव्यानसहितः"—इत्यारभ्य, "तस्मात् तेजोमयं पित्तं पित्तोष्मा यः स पक्तिमान् । स कायाग्निः स कायोष्मा स पक्ता स च जीवनः"—इति । पित्तैकदेशत्वात्तेजसि पित्तोपचारमाश्रित्य सुश्रुतेनोक्तं,—"न पाकः पित्तादृते"—इति, तथा—"न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः"—इति । एवमन्यदप्यनेकभेदसाधकं वचनं समाधेयम् । ननु, यदि तीक्ष्णः पित्तेनेत्युक्तं, तत् कथं पित्तेनैवाग्नेः प्रशमनमभिधीयते । यदुक्तं चरके,—"घृतजीर्णविदाहमम्लक्षारादैः पित्तमुद्रिक्तम् । आप्लावयद्धन्त्यनलं जलं तप्तमिवानलम्" (च. चि. स्था. अ. १५)—इति । उच्यते, यदा घृतेन दृढोष्णेन पित्तं वृद्धं भवति, तदा तेजोभागरूपाया पित्तस्यावस्थाया उल्बणत्वात्तीक्ष्णः पित्तेनेति सङ्गतं, यदाऽल्पगुणेन स्निग्धोष्णेन कफानुगमनभाजा वृद्धं पित्तं तदा पित्तस्य द्रवावस्थाया उद्रिक्तत्वादग्निर्वापणमुदकमिति । अतएवोक्तं—"कुपितेन वायुना दीपस्येवाग्निर्निर्वापणं, पित्तेनोष्णमम्बरं, कफेनाम्बुवत्"—इति । ततश्च युक्तमग्नेः पृथगुपादानमिति । अग्निश्च पित्तगतत्वेन शोथहेतुर्भवत्येव, शोथेन पित्तदोषात्, शोथश्च माभ्यां तु अनिलवातेन शरीरोष्मणोऽपि विक्षेपणाच्छिरोगतत्वं, तेनानिलोऽपि लभ्यते, पित्तं च साक्षादुपात्तं, चकारेण श्लेष्माऽपि केशानुकर्ताकारो लभ्यते । एतेन दोषत्रयसहितशरीरोष्मा पलितहेतुरिति वाक्यार्थश्चरकोक्तार्थेन सह संवादी भवति । यदाह,—'तेजोऽनिलाद्यैः सह केशभूमिं दग्ध्वा तु कुर्यात् खलतिं नरस्य । किंचित्तु दग्ध्वा पलितानि कुर्याद्धरिप्रभत्वं च शिरोरुहाणाम्" (च. चि. स्था. अ. २)—इति । एतच्चाकालजपलितव्याधिलक्षणम् । कालजे तु प्रोक्तमिदं कारणान्तरोपलक्षणं,

स्त्रियाः-" इति । अव्यायामाद्वातपित्तयोरकोपेन नातिरोमच्युतिः, रजःस्रावेण च स्रोतोऽवरोधाभावाच्च्युतानामपि रोम्णां पुनर्विरोहः; किंतु स्त्रीष्वपि खलितिदर्शनात् प्रायिकं विदेहवचनम् । खालित्यं रूयेति च तस्य पर्यायकथनम् । तथाच भोजः,- "तदिन्द्रलुप्तमित्याहुः खलीं रुह्यां च केचन"-इति । कार्तिकस्त्वाह,-"इन्द्रलुप्तं श्मश्रुणि भवति, खालित्यं शिरस्येव, रुह्या च सर्वदेहे"-इति । आगमस्त्वत्र नास्ति ॥२८॥२९॥

*दारुणा कण्डुरा रूक्षा केशभूमिः प्रपाट्यते ।
कफमारुतकोपेन विद्याद्दारुणकं तु तम् ॥ ३० ॥

दारुणलक्षणमाह—दारुणेत्यादि । दारुणेति कठिना । कफमारुतकोपादिति यद्यप्युक्तं तथापि पित्तरक्तानुबन्धोऽप्यत्र द्रष्टव्यः । तथाहि विदेहः,-"यदत्र पटलाभासं सरुजस्कं शिरस्त्वचि । परुषं जायते जन्तोस्तस्य रूपं विशेषतः ॥ तोदैः समन्वितं वातात् सकण्डूगौरवं कफात् । सपिपासं सदाहार्तिरागं पित्तासजं तथा"-इति । अत्र वचने सदाहरागं च पित्तात्, सार्तिं तु रक्तात्, आर्तिर्हि रक्तजाऽपि भवति । यदुक्तं,—"रक्तं हि व्यम्लतां याति तच्चनास्ति न चास्ति रुक्"—इति । दारुणं रूखीति लोके ॥३०॥

†अरूंषि बहुवक्त्राणि बहुक्लेदीनि मूर्ध्नि तु ।
कफासृक्कृमिकोपेन नृणां विद्यादरूंषिकाम् ॥ ३१ ॥

अरूंषिकामाह—अरूंषीत्यादिना । अरूंषीति व्रणाः ॥ ३१ ॥

‡क्रोधशोकश्रमकृतः शरीरोष्मा शिरोगतः ।
पित्तं च केशान् पचति पलितं तेन जायते ॥ ३२ ॥

पलितमाह—क्रोधेत्यादि । शरीरोष्मेति देहाग्निः । पित्तं चेति पित्तमपि शिरोगतं पलितहेतुः । ननु, पित्तमेवाग्निः, तत्र तत्र पित्तस्य पाचकत्वेनाभिधानात्; यदुक्तवान् सुश्रुतः,-"न पाकः पित्तादृते" ( सु. सू. स्था. अ. १७ )—इति, तथा-"पित्ते तस्मिन् पाचकोऽग्निरिति संज्ञा" ( सु. सू. स्था. अ. २१ )-इति, तथा [illegible] एव-"न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निरुपलभ्यते, आग्नेये तु पित्ते दहनपचनदारणादिष्वभिवर्तमानेऽग्निवदुपचारः क्रियते अन्तरग्निरिति, क्षीणे ह्यग्निगुणे तत्समानद्रव्योपयोगादतिवृद्धे शीतक्रियोपयोगादागमाच्च पश्यामः न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः" (सु. सू. स्था. अ. २१)-इति; चरकाचार्योऽप्याह,-"दर्शनं पक्तिरूष्मा च क्षुत्तृष्णा देहमार्दवम् । प्रभाप्रसादौ मेधा च पित्तकर्माविकारजम्" ( च. सू. स्था. अ. १८ )-इति; पाकस्यान्यथानुपपत्त्या चाग्नेरङ्गीकारः; किंच मन्देऽग्नौ पित्तकरमरीचादिद्रव्योपयोगादग्नेर्वृद्धिः,

* 'प्रपाट्यते स्फुटयते' ( आ० द० ) ॥ ३० ॥

† 'नृणां पुरुषाणां कफासृक्कृमिकोपेन मूर्धनि मस्तके बहुवक्त्राणि तथा बहुक्लेदानि, अरूंषीति व्रणा भवन्ति, तामरूंषिकां विद्यात्' ( आ० द० ) ॥ ३१ ॥

‡ 'क्रोधादिकृतेन शरीरोष्मणा पित्तेन शिरोगतेन केशान् पच.कृतं तु प्रसिद्धमित्यर्थः। अन्ये तु पित्ताद्दोषभेदवादिन उभाभ्यां मन्यन्ते वातजलक्षणं, अन्येऽपि त्रिभिरेव दोषैः स्यादिति कथयन्ति' ( आ० द० ) ॥ ३२ ॥

पित्तप्रतिकूलशीतमधुरादिद्रव्योपयोगाच्चोपशम उपलभ्यते; यदि हि पित्ताद्भिन्नोऽग्निः स्यात्तदा पित्तस्य वृद्धिह्रासानुविधानमस्यानुपपन्नं स्यात्, न हि तुहिनकरमण्डले हिमभाज्यऽहिमोपलम्भः, अतुहिनमण्डले अहिमभाजि भगवति भास्करेऽभिमतो हिमोपलम्भः, यद्यतो भिन्नं तत्ततो भेदेनोपलभ्यते, यथा सागरादजगरः, न चैवं पित्तादग्निः, तत्कुतः पित्तादग्नेः पृथगुपादानमिति? अत्र प्रत्यभिधीयते—न तावदन्तरग्निः पित्तादभिन्नः, भेदसाधकप्रमाणस्य भूयः सद्भावात्; तथाह्यभेदे 'समदोषः समाग्निश्च' (सु. सू. स्था. अ. १५) इत्यत्र, "समप्रकोपौ दोषाणां सर्वेषामग्निसंश्रयौ" इत्यत्र च दोषग्रहणेनैवाग्नेः पृथगुपादानमसङ्गतं, तीक्ष्ण- पित्तेन चेति स्वात्मनि क्रियाविरोधादसङ्गतं; यत्पुनः "न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः" इत्याद्युक्तं तद्भेदमेव साधयति, उपचाराभिधानात्, न ह्यभेदे उपचारः संभवति। यदप्यग्नेः पित्तवृद्धिह्रासानुविधानमभिहितं तदप्रयोजकं, भेदेऽपि समानत्वेन तदुपपत्तेः। यथा कफवृद्धिह्रासकरसौम्याग्नेयद्रव्याभ्यां शुक्रस्य वृद्धिह्रासौ स्तो, न च कफशुक्रयोरैक्यं; किंच घृतं पित्तशमनमग्नेश्च दीपनं, पित्तस्य संचयादौ नाग्नेर्वृद्धिः, पेयादिकं चाग्निकरं, न पित्तकृत्; ततश्च पित्ताद्भिन्नलक्षणोऽन्तरग्निः। स च द्रवतेजःसमुदायात्मकस्य पित्तस्य तेजोभागो न बहिरनलवद्भस्माकारारम्भकः, समुदायतश्च समुदायी अन्य एव करचरणादिभ्य इव शरीरं; अत्यन्तभेदेन चाग्रहणं, तस्य नित्यसंश्लेषणशालित्वात्। पित्तस्य तेजोंऽश एव पाच(च)कः, तदाह भोजः,—"द्रवगुण्योचितं ह्यन्नं पित्तोष्मा पचतीति यत्। गुरुस्निग्धौ रसवीर्याभ्यां समानव्यानसंहितः"—इत्यारभ्य, "तस्मात् तेजोमयं पित्तं पित्तोष्मा यः स पक्तिमान्। स कायाग्निः स कायोष्मा स पक्ता स च जीवनः"—इति। पित्तैकदेशत्वात्तमग्निं पित्तोपचारमाश्रित्य सुश्रुतेनोक्तं,—"स पाकः पित्ताख्ये"—इति, तथा—"न खलु पित्तव्यतिरेकेणान्योऽग्निः"—इति। एवमन्यदप्याग्नेयभेदसाधकं वचनं समाधेयम्। ननु, यदि तीक्ष्णः पित्तेनेत्युक्तं, तत् कथं पित्तेनैवाग्नेः प्रशमनमभिधीयते। यदुक्तं चरके,—"कटुतीक्ष्णविदाह्यम्लक्षारादैः पित्तमुल्बणम्। आप्लावयत्क्षलनलं जलं तप्तमिवानलम्" (च. चि. स्था. अ. १५)—इति। उच्यते, यदा कटुकेन रसेनोष्णेन पित्तं वृद्धं भवति, तदा तेजोभागस्याभावात् पित्तस्याग्नेयस्याभ्युदयः उल्बणवातोद्भवः पित्तेनेति सङ्गतं; यदाऽम्लेन स्निग्धोष्णेन कफानुगमनमात्रं वृद्धं पित्तं तदा पित्तस्य द्रवांशस्याग्निसमावेशाच्छमनमग्नेरिति। उक्तं चान्यत्र—"कुपितेन वायुना दीपस्येवाग्नेर्निर्वापणं, शीतोष्णस्पर्शेन कफेनाम्बुवत्"—इति। ततश्च युक्तमग्नेः पृथगुपादानमिति। अपि च निम्नगत्वेन शोधनो भवत्येव, कोपेन निमज्जनात्; शोकश्रमाभ्यां तु अग्निनाशेन शरीरोष्मणोऽपि विशेषतश्चोपलभ्यते, तेनाग्निभेदोऽपि लक्ष्यते, पित्तं च भास्करगतं, यथा तेन श्लेष्माऽपि तेजोरूपतया दृश्यते। एतेन दोषत्रयमध्ये वातपित्तश्लेष्माणो दूषितहेतुत्वाद्वातादयो दोषाख्येन सह संचारी भवति। यदाह,—"तेजोऽग्निर्दाहं सह देहभूमि दग्ध्वा तु दृष्ट्वा घटिनि नरस्य। शिखितु दग्ध्वा तनिमानि पूर्वाद्दधिरं च शिरोरजम्" (च. चि. स्था. अ. २)—इति। एतावत्स्वरभिन्नत्वं साधनम्। कायेऽनु दोषादिपदं व्यान्तरोपलक्षणं,

तेन वयःपरिणामकृतश्चोष्मा दोषत्रययुक्तः कालजपलितहेतुः । अन्यथा कालजपलितस्य सङ्ग्रहो न स्यात् । किंवा कालजं स्वाभाविकत्वादेव नोच्यते । अन्ये तु पित्तगतश्चेच्छरीरोष्मा तत् किमुभयोरुपादानेनेत्यभिधाय शरीरोष्मा पित्तं चेति कर्तृद्वयमाचक्षते, तेन नात्रैकस्मिन् विषये समुच्चयः, किं तर्हि विषयभेदात् । कर्तृद्वयं-तत्र शरीरोष्मा वैकृतं पलितं करोति, पित्तं च प्राकृतं पित्तप्रकृतेः पलितं करोति । यदुक्तं,-"पित्तप्रकृतिरकालजरन्भीपलितयुक्तश्च भवति"-इति । एवं स्वाभाविकजरापलितमपि पित्तेनैवास्य हेतोः सूक्ष्मत्वात् । न चोष्मकृतत्वेन पलितस्यादोषजत्वप्रसङ्गः, ऊष्मणः पित्तधर्मत्वेन पित्तेऽन्तर्भावात् ॥ ३२ ॥

*शाल्मलीकण्टकप्रख्याः कफमारुतरक्तजाः ।
युवानपिडका यूनां विज्ञेया मुखदूषिकाः ॥ ३३ ॥

युवानपिडकालक्षणमाह—शाल्मलीत्यादि । युवानपिडका लोके 'बरण्डका' उच्यते, यूनामाननपिडका युवानपिडका, पृषोदरादित्वादकारलोपः ; एषा च यूनामेव, मुखे एव, स्वभावात् ॥ ३३ ॥

†कण्टकैराचितं वृत्तं मण्डलं पाण्डुकण्डुरम् ।
पद्मिनीकण्टकप्रख्यैस्तदाख्यं कफवातजम् ॥ ३४ ॥

पद्मिनीकण्टकमाह—कण्टकैरित्यादि । तदाख्यमिति पद्मिनीकण्टकाख्यम् ॥ ३४ ॥

सममुत्सन्नमरुजं मण्डलं कफरक्तजम् ।
सहजं लक्ष्म चैकेषां लक्ष्यो जतुमणिस्तु सः ॥ ३५ ॥

जतुमणिमाह—सममित्यादि । समं मसृणम् । उत्सन्नमुन्नतम् । अयं 'जडुल' इति लोके प्रसिद्धः । कफरक्तजमिति प्राधान्येनोक्तं, तेन चरकोक्तं त्रिदोषजत्वमप्यस्योपपन्नं भवति । यदुक्तं तेन,-"कृष्णः स्निग्धो जतुमणिर्ज्ञेयो वातोत्तरैस्त्रिभिः । अरुजं सपरुषं लक्ष्मेत्याहुर्भिरग्वरा"-इति । सहजं लक्ष्म चैकेषामिति एकेषामाचार्याणां मतेन सहजं लक्ष्म लक्षणं स्त्रीपुंसयोरङ्गभेदेन शुभाशुभफलप्रदं भवति । सहजं शरीरेण सह जातं जन्मकालप्रवृत्तमित्यर्थः ॥ ३५ ॥

अवेदनं स्थिरं चैव यस्मिन् गात्रे प्रदृश्यते ।
माषवत्कृष्णमुत्सन्नमनिलान्मषकं तु तत् ॥ ३६ ॥

मषकलिङ्गमाह—अवेदनमित्यादि । स्थिरं कठिनमिति गयदासः, अचलमिति युक्तं, भोजे स्थिरमिति पाठात् । मषकमादिश्चेदिति माषशब्दात् "इवे प्रतिकृतौ" इति कन्, नैरुक्तयेन च विधिना ह्रस्वत्वम् । अत्र चकारेण कफमेदसी समुच्चीयेते । तथाच भोजः,-"वातेरिते त्वचि यदा दूष्येते कफमेदसी । कृष्णं मृदु सवर्णं च तु उन्नतं मषकं वदेत्"-इति ॥ ३६ ॥

---

* 'मुखदूषिका मुखकान्तिहारका.' (आ० द० ) ॥ ३३ ॥

† 'पद्मिनीकण्टकसदृशैः कण्टकैराचितं वृत्तादिलक्षणं यन्मण्डलं भवति' ( आ० ) ॥ ३४ ॥

*कृष्णानि तिलमात्राणि नीरुजानि समानि च।
वातपित्तकफोच्छोषात्तान्विद्यात्तिलकालकान् ॥ ३७ ॥

तिलकालकलक्षणमाह—कृष्णानीत्यादि। "वातपित्तकफोच्छोषात्" इति पाठे वातपित्ताभ्यां हेतुभ्यां कफस्योच्छोषः शोषणं तस्मात्। अन्ये चरकं दृष्ट्वा 'वातपित्तासृगुच्छोषात्' इति पठन्ति। तथाच चरकः—"यस्य पित्तं प्रकुपितं शोणितं प्राप्य शुष्यति। तिलका पिप्लवो व्यङ्गा नीलिका चास्य जायते" (च. सू. स्था. अ. १८)—इति, अस्मिन् वचने वातोऽप्यवगन्तव्यः, तेनापि शोषस्य क्रियमाणत्वात्। अन्येऽपि तन्त्रान्तरं दृष्ट्वा 'वातपित्तकफोत्सेकात्' इति पठन्ति। उत्सेकादित्युद्रेकात्। तथाहि तन्त्रान्तरं,—"मारुतः पित्तमादाय कफरक्तसमाश्रितः। चिनोति तिलमात्राणि त्वचि ते तिलकालकाः"—इति, किंत्वस्मिन्नपि तन्त्रे कफरक्तसमाश्रित इत्यनेन कफरक्तयोरप्यवलेन पित्तसहितेनोच्छोषादेव तिलकालके कार्ष्ण्यस्य सम्भवोऽवगम्यते, ततश्च 'वातपित्तकफोच्छोषात्' इति पाठो युज्यते। 'वातपित्तरसोद्रेकात्' इति पाठान्तरम्॥३७॥

†महद्वा यदि वा चाल्पं श्यावं वा यदि वाऽसितम्।
नीरुजं मण्डलं गात्रे न्यच्छमित्यभिधीयते ॥ ३८ ॥

न्यच्छलिङ्गमाह—महद्वेत्यादि। असितं कृष्णम्। 'नीरुजं मण्डलं' इत्यस्य स्थाने 'सहजं मण्डलं' इति केचित् पठन्ति, तेन जन्मकालप्रवृत्तं न्यच्छमिच्छन्ति, अत एव न्यच्छस्य पर्याये लाञ्छनमिति तैः पठ्यते। यथा,—'न्यच्छं लाञ्छनमुच्यते'—इति। लाञ्छनं लक्षणम्। अत्र भोजवचनात् पित्तरक्तान्वितो वायुः कारणम्। यदाह,—"रक्तपित्तान्वितो वायुस्त्वक्प्रदेशाश्रितो यदा। जनयेन्मण्डलं कृष्णं श्यावं वा न्यच्छमादिशेत्" इति। अत्र श्यावत्वपक्षे मुखेतरदेश एव सम्भवेन बहुलत्वेन व्यङ्गाद्भेदोऽवगन्तव्यः ॥ ३८ ॥

‡क्रोधायासप्रकुपितो वायुः पित्तेन संयुतः।
मुखमागत्य सहसा मण्डलं विसृजत्यतः ॥ ३९ ॥
नीरुजं तनुकं श्यावं मुखे व्यङ्गं तमादिशेत्।

व्यङ्गलिङ्गमाह—क्रोधायासेत्यादि। श्यावमिति शुक्लानुविद्धकृष्णवर्णम्। अस्य 'छ्यावक' इति मेछेता' इति च लोके ख्यातिः ॥ ३९ ॥—

कृष्णमेवंगुणं गात्रे मुखे वा नीलिकां विदुः ॥ ४० ॥

नीलिकालक्षणमाह—कृष्णमेवगुणमिति। एवगुणमिति नीरुजतनुकमण्डलधर्मं व्यङ्गोक्तदोषोऽत्रापि बोद्धव्यः, सम्मूर्च्छनविशेषात्तु नीलित्वकारी। कृष्णत्वच्छादतिकृष्णत्वेन भिन्ना नीलिका, व्यङ्गनीलिकयोस्तु व्यक्त एव भेदः—श्यावो व्यङ्गः, कृष्णा नीलिका, भोजे तु नीलिका गात्र एवोक्ता। यदुक्तं,—"मारुतः क्रोधहर्षाभ्यामूर्ध्वगो

*'शरीरस्वकृसमानि नोन्नतानीत्यर्थः। अन्ये तु "वातपित्तासृगुच्छोषात्" इति पठन्ति। तत्र वातपित्ताभ्यां रक्तस्य शोषादित्यर्थः। अत एव तिलकालके कार्ष्ण्यं (आ० द०)॥३७॥

† 'श्यावं शुक्लानुविद्धं कृष्णवर्णं' (आ० द०) ॥ ३८ ॥

‡ 'मुखछाद' इति लोके' (आ० द०) ॥ ३९ ॥—

मुखमाश्रितः । पित्तेन सह संयुक्तः करोति वदनत्वचि ॥ नीरुजं तनुकं श्यावं व्यङ्गं तमिति निर्दिशेत् । कृष्णमेवंगुणं गात्रे नीलिकां तां विनिर्दिशेत्"—इति ॥ ४० ॥

मर्दनात् पीडनाद्वाऽपि तथैवाप्यभिघाततः ।
मेढ्रचर्म यदा वायुर्भजते सर्वतश्चरन् ॥ ४१ ॥
तदा वातोपसृष्टत्वात्तच्चर्म परिवर्तते ।
मणेरधस्तात् कोशश्च ग्रन्थिरूपेण लम्बते ॥ ४२ ॥
सरुजां वातसंभूतां तां विद्यात् परिवर्तिकाम् ।
सकण्डूः कठिना चापि सैव श्लेष्मसमुत्थिता ॥ ४३ ॥

मेढ्रगताभिघातजे रोगत्रये परिवर्तिकामाह—मर्दनादित्यादि । पीडनाद्वाऽपीत्यपिशब्दो मर्दनपीडनाभ्यां सह संबध्यते । अतियोगादेव ते वातं कोपयतः । सर्वतश्चरन्निति व्यानः, 'सर्वतश्चर' इति पाठे स एवार्थः । परिवर्तते इति सर्वतो निवर्तते । कोष इति चर्मकोषः । परिवर्तिकेति वृतधातोः "रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्"—इति ण्वुल् ( वृत-ण्वुल्-आप् ) । एवमवपाटिकायां च बोद्धव्यम् । अस्या वातजायामपि पित्तानुबन्धाद्दाहपाकौ भवतः, कफसंबन्धस्तु सकण्डूः कठिना चापीत्यादिनाभिहितः । भोजेऽप्युक्तं,—"मणेरधो मेढ्रचर्म व्यानस्तु परिवर्तयेत् । सशूलतोददाहाद्यैर्विज्ञेया परिवर्तिका । श्लैष्मिकी कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना"—इति ॥ ४१-४३ ॥

अल्पीयःखां यदा हर्षाद्बालां गच्छेत् स्त्रियं नरः ।
हस्ताभिघातादपि वा चर्मण्युद्वर्तिते बलात् ॥ ४४ ॥
यस्यावपाट्यते चर्म तां विद्यादवपाटिकाम् ।

अवपाटिकामाह—अल्पीयःखामित्यादि । अल्पीय खामित्यल्पतरं खं योनिछिद्रं यस्याः सा तथा, कन्या वाऽनार्तवा अल्पीयःखा भवति । अत्र हेत्वन्तरं हस्ताभिघातादपि वेति । उद्वर्तित इति ऊर्ध्वं वर्तिते । यस्यावपाट्यत इति स्वयमेव विदीर्यते । एषा च पृथक् दोषप्रदेशानुबध्यते । तथाच भोजः,—"मर्दनादभिघाताद्वा कन्यायोनिप्रपीडनात् । दृश्यते यदि मेढ्रस्य चर्म दीर्णमिव क्षतम् ॥ ज्ञेयाऽवपाटिका सा तु पृथग्दोषैः समन्विता । वातात् सा परुषा रूक्षा शूलनिस्तोदकारिणी ॥ पित्तात् सदाहा रक्ताद्वा दाहतृष्णासमन्विता । श्लैष्मिकी कठिना स्निग्धा कण्डूमत्यल्पवेदना"—इति ॥ ४४ ॥—

*वातोपसृष्टे मेढ्रे च चर्म संश्रयते मणिम् ॥ ४५ ॥
मणिश्चर्मोपनद्धस्तु मूत्रस्रोतो रुणद्धि च ।
निरुद्धप्रकशे तस्मिन् मन्दधारमवेदनम् ॥ ४६ ॥
मूत्रं प्रवर्तते जन्तोर्मणिर्विव्रियते न च ।
निरुद्धप्रकशं विद्यात् सरुजं वातसंभवम् ॥ ४७ ॥

* 'वातदुष्टमेढ्रे चर्म संश्रयत इति समग्र श्लोके तत्रैव दीयत इत्यर्थः । चर्मसंश्रितो-न्मूत्ररोगो दृश्यते' ( आ० द० )

२ "सर्वतश्चर." इति मुद्रितोऽस्य पाठः ।

निरुद्धप्रकशमाह—वातोपसृष्ट इत्यादि । प्रश्रयत इति सम्यक् श्रयते, अन्तर्नीयत इत्यर्थः । अवपाटिका स्वरूढा चर्मसङ्कोचान्निरुद्धप्रकशो भवतीति ब्रुवते, सन्निरुद्धगुदवत् स्वतन्त्रोऽपि भवतीति शक्यते वक्तुं, निरुद्धप्रकाश इत्यस्मिन्नर्थे निरुद्धप्रकश, नैदकेन च रूपसिद्धिः । मूत्रस्रोत सङ्कुचितचर्मपीडनेन मणे स्वल्पद्वारत्वान्मूत्रस्रोतो रुणद्धि । अवेदनमित्यस्य स्थाने सवेदनमिति केचित् । अत्र भोजाभिप्रायेण व्याचक्षते एकदा विरुद्धे स्रोतसि सवेदनमन्यदा तु प्रकाशे मन्दधारं प्रवर्तते, मणिश्च नावदीर्यते मूत्रेणेति । तथाच भोज —"मेढ्रान्ते चर्मणि यदा मारुत कुपितो भृशम् । द्वारं रुणद्धि स शनैः प्रकाशश्च मुहुर्भवेत् ॥ मूत्रं मूत्रयते कृच्छ्रात् प्रकाशस्तु यदा भवेत् । वातोपसृष्टमेढ्रस्तु मणिर्न च विदीर्यते । निरुद्धं च प्रकाशं च व्याधिं विद्यात् सुदारुणम्"—इति । सुश्रुते तु निरुद्धप्रकशस्वात् निरुद्धप्रकश । मणिर्विभिद्यते न चेति मणिविवृतो न भवति ॥ ४५–४७ ॥

वेगसंधारणाद्वायुर्विहतो गुदसंश्रितः ।
निरुणद्धि महास्रोतः सूक्ष्मद्वारं करोति च ॥ ४८ ॥
मार्गस्य सौक्ष्म्यात् कृच्छ्रेण पुरीषं तस्य गच्छति ।
सन्निरुद्धगुदं व्याधिमेतं विद्यात् सुदारुणम् ॥ ४९ ॥

मूत्रमार्गरोधकनिरुद्धप्रकशानन्तरं पुरीषमार्गरोधकं सन्निरुद्धगुदमाह—वेगसंधारणादित्यादि । तस्येति गुदस्य । 'महत्स्रोत' इति पाठे तु महत्स्रोतो गुदविवरं, निरुद्धप्रकाशवदत्रापि चर्मसङ्कोचात् सन्निरुद्धगुदम् ॥ ४८ ॥ ४९ ॥

शकृन्मूत्रसमायुक्तेऽधौतेऽपाने शिशोर्भवेत् ।
स्विन्ने वाऽस्नाप्यमाने वा कण्डू रक्तकफोद्भवा ॥ ५० ॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते ।
एकीभूतं व्रणैर्घोरं तं विद्यादहिपूतनम् ॥ ५१ ॥

अहिपूतनमाह—शकृन्मूत्रेत्यादि । अपान इति गुदे, स्विन्ने स्वेदयति, अस्नाप्यमाने अक्रियमाणक्षालने, स्वेदमलसङ्गादेव कण्डूर्भवतीत्यर्थः । एकीभूतमिति अपान व्रणै सहैकीभूतम् । अहिपूतनं च बालानामेव भवति, भोजे पुनरिदं दुष्टस्तन्यपानादपि भवतीति पठितम् । यदुक्तं,—"दुष्टस्तन्यस्य पानेन मलस्याक्षालनेन च कण्डूरा दम्पायद्धि पिटकैश्च समाचिता ॥ समवन्ति यथादोष दारुणा ह्यहिपूतना"—इति ॥ ५० ॥ ५१ ॥

*स्नानोत्सादनहीनस्य मलो वृषणसंस्थितः ।
यदा प्रक्लिद्यते स्वेदात् कण्डूं जनयते तदा ॥ ५२ ॥
कण्डूयनात्ततः क्षिप्रं स्फोटः स्रावश्च जायते ।
प्राहुर्वृषणकच्छूं तां श्लेष्मरक्तप्रकोपजाम् ॥ ५३ ॥

अहिपूतनसमानहेतुलिङ्गतया गुदाश्रय गुदभ्रंशानन्तरं वृषणकच्छूमाह—

* 'उत्सादनमाहरणमन्त्र' ( भा० द० ) ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

म्लानोत्सादनहीनस्येत्यादि । एषा च निदानविशेषात् प्रायो रूपणमावित्वाद्विशिष्ट-चिकित्सोपयोगित्वाच्च वृद्धोककन्दूतो भेदेन पठ्यते ॥ ५२ ॥ ५३ ॥

*प्रवाहणातीसाराभ्यां निर्गच्छति गुदं बहिः ।
रूक्षदुर्बलदेहस्य गुदभ्रंशं तमादिशेत् ॥ ५४ ॥

गुदभ्रंशलिङ्गमाह—प्रवाहणेत्यादि । प्रवाहणं प्रकर्षेण वुन्धनम् । 'वाह प्रयत्ने' इत्यस्य रूपम् । प्रवाहणेनानिवेगोदीरणेन वातकोपः, अतीसारेण तु धातुक्षयात्; यदि वा प्रवाहणेनातीसारेण चाधोगतमारुतत्वेन गुदनिर्गमो रूक्षादिदेहस्य ॥ ५४ ॥

†सदाहो रक्तपर्यन्तस्त्वक्पाकी तीव्रवेदनः ।
कण्डूमान् ज्वरकारी च स स्याच्छूकरदंष्ट्रकः ॥ ५५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने क्षुद्ररोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५५ ॥

वराहदंष्ट्रलिङ्गमाह—सदाह इत्यादि । अयं 'वराहदाट' इति लोके प्रसिद्धः ॥५५॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशाख्यायां क्षुद्ररोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५५ ॥

---

## अथ मुखरोगनिदानम् ।

आनूपपिशितक्षीरदधिमत्स्यातिसेवनात् ।
मुखमध्ये गदान् कुर्युः क्रुद्धा दोषाः कफोत्तराः ॥ १ ॥

रोगगणत्वसामान्यान्मुखरोगनिदानमुच्यते-आनूपेत्यादि । मुखरोगाश्च पञ्चषष्टि-र्भवन्ति । यदाह भोजः,—"दन्तेष्वष्टावोष्ठयोश्च मूलेषु दश पञ्च च । नव तालुनि जिह्वायां पञ्च षोडशास्यमध्यगाः । कण्ठे त्रयः सर्वसरा एकषष्टिश्च ते गदाः"—इति ॥ १ ॥

तत्रादावोष्ठगतानाह—

‡कर्कशौ परुषौ स्तब्धौ संप्राप्तानिलवेदनौ ।
दाल्येते परिपाट्येते ओष्ठौ मारुतकोपनः ॥ २ ॥

वातिकलक्षणमाह—कर्कशावित्यादि । दाल्येते इति विदार्येते । परिपाट्येते इति किञ्चिदवदीर्णत्वचौ भवत इत्यर्थः ॥ २ ॥

चीयेते पिडकाभिश्च सरुजाभिः समन्ततः ।
सदाहपाकपिडकौ पीताभासौ च पित्ततः ॥ ३ ॥

पैत्तिकलक्षणमाह—चीयेते इत्यादि । सरुजाभिरिति विसर्पनदजान्विताभिः । इदं च सदाहपाकपिडकावित्ति विमर्षेऽप्युच्यते । पूर्वेणैव गतार्थत्वात् । नैवं, पक्षान्तर-

प्रतीत्यर्थं पुनरुच्यते, अयमर्थः—कदाचित् पित्तरुजान्वितबहुपिडकाचितावोष्ठौ कदाचिद्दाहपाकान्वितपिडकाचितौ वा भवत, अन्यस्त्वाह—अनतिभिन्नार्थत्वाद्व्यक्तशब्दार्थत्वाच्च दाहपाकातिशयदर्शनार्थं पिडकानुवाद ॥ ३ ॥

सवर्णाभिश्च चीयेते पिडकाभिरवेदनौ ।
भवतस्तु कफादोष्ठौ पिच्छिलौ शीतलौ गुरू ॥ ४ ॥

कफजमाह—सवर्णाभिरित्यादि । सवर्णाभिरिति ओष्ठसमानवर्णाभिः । अवेदनौ ईषद्वेदनौ ॥ ४ ॥

सकृत्कृष्णौ सकृत्पीतौ सकृच्छ्वेतौ तथैव च ।
सन्निपातेन विज्ञेयावनेकपिडकाचितौ ॥ ५ ॥

सान्निपातिकलक्षणमाह—सकृदित्यादि । सकृदिति कदाचिद्विकृतिवशादेव भवति । अनेकपिडकाचिताविति वातादिवेदनान्वितबहुपिडकौ, अनेकवर्णपिडकाचिताविस्यन्ये, अनेकाश्च वर्णा वातादीनां कृष्णपीतश्वेताः, अत्र पक्षे सकृत्कृष्णावित्यादिपिडकातोऽन्यत्र कल्पनीयम् ॥ ५ ॥

खर्जूरफलवर्णाभिः पिडकाभिर्निपीडितौ ।
रक्तोपसृष्टौ रुधिरं स्रवतः शोणितप्रभौ ॥ ६ ॥

रक्तजमाह—खर्जूरेत्यादि । खर्जूरफलवर्णाभिरित्यनेन वर्णमात्रेणैव साधर्म्यं प्रतिपाद्यते, यदि तु सर्वात्मना साधर्म्यमभीष्टं स्यात्, तदा 'खर्जूरफलतुल्याभिः' इत्येवोच्येत । रक्तोपसृष्टाविति रक्तदूषितौ ॥ ६ ॥

*गुरू स्थूलौ मांसदुष्टौ मांसपिण्डवदुद्गतौ ।
जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्ति नरस्योभयतो मुखात् ॥ ७ ॥

मांसजमाह—गुरू स्थूलावित्यादि । जन्तवश्चात्र मूर्च्छन्तीति क्रिमयोऽप्यत्र उच्छ्रिता भवन्ति । उभयतो मुखादिति मुखविवरमपेक्ष्योभयभागयोः, सृक्कणीप्रदेशयोरिति यावत् । मुखादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी । 'उभयतोमुखा' इति पाठान्तरे उभयसृक्कणीभागौ मुखमाश्रयो येषां ते तथा । द्विमुखा इत्यन्ये ॥ ७ ॥

सर्पिर्मण्डप्रतीकाशौ मेदसा कण्डुरौ गुरू ।
अच्छं स्फटिकसंकाशमास्रावं स्रवतो भृशम् ॥ ८ ॥
तयोर्व्रणो न संरोहेन्मृदुत्वं च न गच्छति ।

मेदोजमाह—सर्पिर्मण्डप्रतीकाशावित्यादि । सर्पिर्मण्डप्रतीकाशाविति सर्पिर्मण्डो घृतस्योपरितनः स्वच्छभागः, तत्प्रतीकाशौ तत्सदृशौ । तयोरिति तादृशयोः ॥ ८ ॥—

†क्षतजाभौ विदीर्येते पाट्येते चाभिघाततः ॥ ९ ॥
ग्रथितौ च तथा स्यातामोष्ठौ कण्डूसमन्वितौ ।

अभिघातजमाह—क्षतजाभावित्यादिना । अत्र कफरक्तयोरप्यनुबन्धो बोद्धव्यः ।

---

* 'उभयतोमुखा' इति पाठान्तरं, तत्र द्विमुखा' (आ० द०) ॥ ७ ॥

† 'विदीर्येते स्फुट्येते पाट्येते छिन्नीक्रियेते । पाटनं भेदनं स्वकारणकृतम्, अत्र तु बाह्याभिघातारब्धे, तयोरयमेव भेदः । एवमन्यत्रावगन्तव्यम्' (आ० द०) ॥ ९ ॥—

यदुक्तं भोजे,–"क्षतावभिहतौ वापि रक्ताबोष्ठौ सवेदनौ । भवतः सपरिस्रावौ कफरक्तप्रदूषिणौ"–इति । वायुरप्यत्राभिघाताल्लभ्यते, अयं चाभिघातजशोथाद्यथोक्तलक्षणकारणभेदेन तथा वातिकोष्ठप्रकोपादपि कफरक्तरूपहेतुभेदयोगाद्भिद्यते ॥ ९ ॥

दन्तमूलगतान् पञ्चदश व्याकरोति—

*शोणितं दन्तवेष्टेभ्यो यस्याकस्मात्प्रवर्तते ।
दुर्गन्धीनि सकृष्णानि प्रक्लेदीनि मृदूनि च ॥ १० ॥
दन्तमांसानि शीर्यन्ते पचन्ति च परस्परम् ।
शीतादो नाम स व्याधिः कफशोणितसंभवः ॥ ११ ॥

शीतादमाह—शोणितमित्यादि । दन्तवेष्टेभ्य इति दन्तबन्धनमांसेभ्यः । अकस्मादिति अभिघातादिनिमित्तं विना । 'शीर्यन्ते' इत्यस्य स्थाने, 'पच्यन्ते' इति गदाधरः, व्याचष्टे च–'स्वयं' इति शेषः । पचन्ति च परस्परमित्यन्योन्यं पचन्ति, पाकोष्मद्दूषितशोणितसंचरणेन ॥ १० ॥ ११ ॥

†दन्तयोस्त्रिषु वा यस्य श्वयथुर्जायते महान् ।
दन्तपुप्पुटको नाम स व्याधिः कफरक्तजः ॥ १२ ॥

दन्तपुप्पुटकमाह—दन्तयोरित्यादि । अयं च दन्तयोस्त्रिष्वित्यभिधानाद् द्वित्रिदन्तनियतः, कफरक्तजत्वेऽपि शौषिराद्भिन्नोऽयं, रुजालालास्रावाभावात् ॥ १२ ॥

स्रवन्ति पूयरुधिरं चला दन्ता भवन्ति च ।
दन्तवेष्टः स विज्ञेयो दुष्टशोणितसंभवः ॥ १३ ॥

दन्तवेष्टमाह—स्रवन्तीत्यादि । स्रवन्ति पूयरुधिरमित्यत्र 'दन्तमूलानि' इति शेषः । चला दन्ता भवन्ति चेति चकारेण पचन्ति चेति द्रष्टव्यम् ॥ १३ ॥

‡श्वयथुर्दन्तमूलेषु रुजावान् कफरक्तजः ।
लालास्रावी स विज्ञेयः शौषिरो नाम नामतः ॥१४॥

शौषिरलिङ्गमाह—श्वयथुरित्यादि । नामत इति प्रसिद्धितः ॥ १४ ॥

§दन्ताश्चलन्ति वेष्टेभ्यस्तालु चाप्यवदीर्यते ।
यस्मिन् स सर्वजो व्याधिर्महाशौषिरसंज्ञितः ॥ १५ ॥

महाशौषिरलिङ्गमाह—दन्ता इत्यादि । तालु चाप्यवदीर्यत इत्यत्र चकारेण दन्ता ओष्ठौ चाप्यवदीर्यन्ते इति बोद्धव्यम् । सप्तरात्रात्ययं मारकः । यदाह भोजः,–"सदाहो दन्तमूलेषु शोथः पित्तकफानिलात् । जातः कर्क सपयति क्षीणे तस्मिंस्तु

*'रक्तं प्रवर्तते; दन्तमांसानि दुर्गन्धीनि कृष्णानि क्लेदयुक्तानि मृदूनि च भवन्ति, तथा शीर्यन्ते पचन्ति, स शीतादो नाम व्याधिरिति' (आ० द०) ॥ १० ॥ ११ ॥

† 'दन्तयोर्द्वयोस्त्रिषु वा शिवथुः कफरक्तजो दन्तपुप्पुटकः' (आ० द०) ॥ १२ ॥

‡ 'दन्तमूलेषु श्वयथुः पीडावान् कफरक्तोत्थो लालास्रावी स शौषिरो नाम नामतः प्रसिद्ध इति' (आ० द०) ॥ १४ ॥

§'यस्मिन् व्याधौ वेष्टेभ्यो दन्ताश्चलन्ति, स सर्वजः सर्वदोषजः' (आ० द०) ॥ १५ ॥

शोणितम् ॥ विरुद्धमनिर्यं दन्तान् तान्चोष्ठमपि दारयेत् । महाशौषिर इत्येतत् सप्तरात्राद्धिनस्त्यसून्"–इति । यस्मिन् शौषिरे एवमपि भवति स महाशौषिर इति गदाधरः ॥ १५ ॥

*दन्तमांसानि शीर्यन्ते यस्मिन् ष्ठीवति चाप्यसृक् ।
पित्तासृक्कफजो व्याधिर्ज्ञेयः परिदरो हि सः ॥ १६ ॥

परिदरमाह—दन्तमांसानीत्यादि । दन्तमांसस्य परिदारणात् परिदरसंज्ञा ॥१६॥

†वेष्टेषु दाहः पाकश्च ताभ्यां दन्ताश्चलन्ति च ।
यस्मिन् सोपकुशो नाम पित्तरक्तकृतो गदः ॥ १७ ॥

उपकुशलक्षणमाह—वेष्टेष्वित्यादि । ताभ्यामिति दाहपाकाभ्याम् । सोपकुश इति निर्देशोऽसिद्धत्वानिर्व्याबादसाधुः, तेन स उपकुश इत्यर्थः ॥ १७ ॥

‡घृष्टेषु दन्तमांसेषु संरम्भो जायते महान् ।
चला भवन्ति दन्ताश्च स वैदर्भोऽभिघातजः ॥ १८ ॥

वैदर्भलिङ्गमाह—घृष्टेष्वित्यादि । संरम्भ इति शोथः, वेदनापाकौ वा ॥ १८ ॥

§मारुतेनाधिको दन्तो जायते तीव्रवेदनः ।
खलिवर्धनसंज्ञोऽसौ जाते रुक् च प्रशाम्यति ॥ १९ ॥

खलिवर्धनलिङ्गमाह—मारुतेनेत्यादि । जाते रुक् च प्रशाम्यतीति उत्थितेऽधिके दन्ते प्रभावाद्वेदनाया अभावः ॥ १९ ॥

¶शनैः शनैः प्रकुरुते वायुर्दन्तसमाश्रितः ।
करालान्विकटान् दन्तान् करालो न स सिध्यति ॥ २० ॥

करालक्षणमाह—शनैरित्यादि । करालान् विषमान् । करालस्तु सुश्रुतेऽनुक्तोऽधिकः संग्रहकारेण पठितः, तेन सुश्रुतोक्तपञ्चदशसंख्याहानिः ॥ २० ॥

हानव्ये पश्चिमे दन्ते महान् शोफो महारुजः ।
लालास्रावी कफकृतो विज्ञेयः सोऽधिमांसकः ।

* 'यस्मिन् मांसानि शीर्यन्ते, ष्ठीवति चाप्यसृगिति शेषो योजनीय मुखरोगोऽयमित्यर्थः । स व्याधिः परिदरो ज्ञेयः । कथम्भूतः ? पित्तासृक्कफजः' ( आ० द० ) ॥ १६ ॥

† 'वेष्टेषु दन्तवेष्टनमांसेषु दाहः पाकश्च स्यात् । दन्ताश्चलन्ति ( आघट्टिता आचाल्यमानाः शोणितं स्रवन्ति, मन्दरुजः, श्लेष्मो रुद्धे सति ते तस्मात्स्यादनन्ते, ध्रुव पूर्ण च भवति । ) ताभ्यामित्यत्र 'वेष्टेभ्य' इति पाठे, तेभ्यो दन्तवेष्टेभ्यः । सोपकुश इति निर्देशोऽसिद्धत्वात्साधुः' ( आ० द० ) ॥ १७ ॥

‡ 'दन्तमूलेषु दन्तमांसेषु दन्तकाष्ठादिना घृष्टेषु सत्सु महान् संरम्भो जायते, दन्ताश्च चला भवन्ति, स व्याधिरभिघातजो वैदर्भ इत्युच्यते' ( आ० द० ) ॥ १८ ॥

§ 'मारुतेन वायुना दीर्घोऽधिको दन्तो जायते, असौ विकारः खलिवर्धनसंज्ञः' ( आ० द० ) ॥ १९ ॥

¶ 'वायुर्दन्तसमाश्रितः सन् शनैःशनैर्दन्तान् करालान्विकटान् विकृतान् कुरुते, स व्याधिः करालो न सिध्यति' ( आ० द० ) ॥ २० ॥

अधिमांसकमाह—हानव्य इत्यादि। अधिमांसक इति संज्ञायां कन्। हानव्य इति हनुहरे। पश्चिम इत्यवसानजे, अन्तजे इति यावत् ॥—

*दन्तमूलगता नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिताः ॥ २१ ॥

पञ्च दन्तनाडीराह—दन्तेत्यादि। नाड्यः पञ्च ज्ञेया यथेरिता इति नाडीनिदाने यथोक्ता वातपित्तकफसन्निपातागन्तुनिमित्तास्तथा दन्तमांसगता अपि नाड्यः। एताश्च नाडीव्रणसमानलक्षणा अपि शालाक्यसिद्धान्तेन संख्यापूरणाय चिकित्साभेदाच्च पुनरुक्ताः ॥ २१ ॥

दन्तगतानष्टौ प्राह—

†दीर्यमाणेष्विव रुजा यस्य दन्तेषु जायते।
दालनो नाम स व्याधिः सदागतिनिमित्तजः ॥ २२ ॥

सदागतिनिमित्तज इति सदागतिर्वायुः, तस्मान्निमित्ताज्जात इति। सदागतिनिमित्तत इति वक्तव्ये सदागतिनिमित्तज इति यत्कृतं तद्बलवद्धेतुजन्यत्वातकृतत्वबोधनार्थमिति कार्तिकः, केवलवातजत्वख्यापनार्थमित्यन्ये ॥ २२ ॥

‡कृष्णश्छिद्रश्चलः स्रावी ससंरम्भो महारुजः।
अनिमित्तरुजो वाताद्विज्ञेयः क्रिमिदन्तकः ॥ २३ ॥

क्रिमिदन्तकमाह—कृष्णच्छिद्र इत्यादि। कृष्णच्छिद्र इति दुष्टरक्तजक्रिमिकृतशोथपाकद्वारेण कृष्णच्छिद्र इत्यर्थः। अन्ये 'कृष्णश्चित्र' इति पठन्ति, चित्र इति चित्रवान्, अर्शआदित्वादच्। स्रावीति दन्तमूलेषु स्रावो बोद्धव्यः, दन्तानां नीरसत्वेन स्रावाभावात्। अनिमित्तरुज इति अवपट्टनादिनिमित्तं विनैव महारुजत्वेन रुजावानिति कार्तिकः ॥ २३ ॥

§वक्रं वक्रं भवेद्यस्य दन्तभङ्गश्च जायते।
कफवातकृतो व्याधिः स भञ्जनकसंज्ञितः ॥ २४ ॥

भञ्जनकलक्षणमाह—वक्रमित्यादि। वक्रं वक्रमिति दन्तभङ्गकारिणा दोषेण वक्त्रस्यापि वक्रत्वम् ॥ २४ ॥

---

* 'तासां मध्ये त्रिलिङ्गा नाडी असाध्या' (आ० द०) ॥ २१ ॥

† 'दन्तेषु दीर्यमाणेष्विव दाल्यमानेष्विव भृशं रुजा भवति, स दालनो नाम व्याधिः। असाध्योऽयं व्याधिः' (आ० द०) ॥ २२ ॥

‡ 'कृष्णः कृष्णदन्तकः, छिद्र इति छिद्रवान्, अर्शआदित्वादच्। कृष्णच्छिद्रः स्यात्छिद्रदन्त इत्यर्थः। चलश्चलदन्तः। ससंरम्भः सश्वयथुः। स तथाविधो वातात् क्रिमिदन्तको ज्ञेयः' (आ० द०) ॥ २३ ॥

§ 'यस्मिन् रोगे दन्तभङ्गकारिणा दोषेण वक्त्रमपि वक्त्रं भोजनमन्यथा भवेत्; 'भज्यते' इत्यत्र 'दीर्यते' इति पाठान्तरम्; स व्याधिर्भञ्जनक इति स्मृतः। कफवातकृतः। असाध्योऽयं व्याधिः' (आ० द०) ॥ २४ ॥

*शीतरूक्षप्रवाताम्लस्पर्शानामसहा द्विजाः ।
पित्तमारुतकोपेन दन्तहर्षः स नामतः ॥ २५ ॥

दन्तहर्षलक्षणमाह—शीतेत्यादि । 'शीतमुष्णं च दशना सहन्ते स्पर्शनं न च । यस्य तं दन्तहर्षं [illegible] व्याधिं विद्यात् समीरणात्'—इति श्लोकान्तरं पठन्ति । तत्र दन्तहर्षस्य वातजत्वेऽप्युष्णासहत्वं व्याधिप्रभावात्, कफरक्तानुगतत्वाद्वा बोद्धव्यम् ॥ २५ ॥

मलो दन्तगतो यस्तु पित्तमारुतशोषितः ।
शर्करेव खरस्पर्शा सा ज्ञेया दन्तशर्करा ॥ २६ ॥

दन्तशर्करालक्षणमाह—मल इत्यादि । 'शर्करेव खरस्पर्शा' इत्यस्य स्थाने 'सा दन्तानां गुणहरी' इति क्वचित् पठ्यते, दन्तानां गुणस्य शुक्लत्वदृढत्वादिकस्य हरणशीला ॥ २६ ॥

†कपालेष्विव दीर्यत्सु दन्तानां सैव शर्करा ।
कपालिकेति विज्ञेया सदा दन्तविनाशिनी ॥ २७ ॥

कपालिकालक्षणमाह—कपालेष्वित्यादि । कपालेष्विवेति मलसहितदन्तावयवेषु काठिन्यात् कपालतुल्येषु, दन्तमल एव कठिने कपालप्राये दीर्यमाणे सैव शर्करा कपालिका । सदेति पाल्यादौ । अत्रावकाशे हनुमोक्षं सुश्रुते दन्तदेशसामीप्याद्दन्तपीडनाच्च पठितं, स इह सम्प्रहकारेण मुख्यदन्तगतत्वाभावान्न पठितः, पठितस्तु हनुग्रहसंज्ञया वातव्याधौ भोजवचनात् । यदुक्तं,—"वाताभिघाताज्जन्तोर्हि हनुसन्धिर्विमुच्यते । निरस्तजिह्वं कृच्छ्रेण आपितं तत्र गच्छति ॥ सम्यक् तमनिलव्याधिं हनुमोक्षं विनिर्दिशेत्"—इति ॥ २७ ॥

§योऽसृङ्मिश्रेण पित्तेन दग्धो दन्तस्त्वशेषतः ।
श्यावतां नीलतां वापि गतः स श्यावदन्तकः ॥ २८ ॥
दन्तमांसे मलैः सास्रैर्बाह्यान्तः श्वयथुर्गुरुः ।
सदाहरुक् स्रवेद्भिन्नः पूयास्रं दन्तविद्रधिः ॥ २९ ॥

---

* 'यस्य द्विजा दन्ताः शीतस्य रूक्षस्य प्रवातस्य प्रचण्डवातस्याम्लस्यासहा अक्षमा भवन्ति, [illegible] नामतः प्रसिद्धितः पित्तमारुतकोपेन दन्तहर्षो ज्ञेयः । केचन इत्यत्र "रूक्ष" इति पाठान्तरम्' (आ० द०) ॥ २५ ॥

† 'यो दन्तगतो मलः कफमारुतशोषितो भवति सा दन्तशर्करा । तथा च वाग्भटः—"अधावनान्मलो दन्ते कफवातेन शोषितः । पूतिगन्धः स्थिरीभूतः शर्करा साऽप्युपेक्षिता"—इति' (आ० द०) ॥ २६ ॥

‡ 'दन्तविनाशिनी । "दलन्ति दन्तवल्कानि यदा शर्करया सह" इति केचित्पठन्ति, तत्रापि [illegible] एवार्थः' (आ० द०) ॥ २७ ॥

§ 'श्यावदन्तकमाह—य इत्यादि । यो दन्तोऽसृग्मिश्रेण पित्तेनाशेषतो दग्धस्तथा श्याववर्णमथवा नीलतां गतो भवति, स श्यावदन्तको ज्ञेयः । श्यावदन्तक इति संज्ञायां कन् । असाध्योऽयं व्याधिः' (आ० द०) ॥ २८ ॥ २९ ॥

---

१ अत्र "हनु-" इत्यत्र "मन्य-" इत्येव पाठं गुरवो मन्वते ।

*जिह्वाऽनिलेन स्फुटिता प्रसुप्ता भवेच्च शाकच्छदनप्रकाशा।
पित्तेन दह्यत्युपचीयते च दीर्घैः सरक्तैरपि कण्टकैश्च।
कफेन गुर्वी बहुलाचिता च मांसोच्छ्रयैः शाल्मलिकण्टकाभैः ३०

सम्प्रति जिह्वागतानाह—जिह्वाऽनिलेनेत्यादि। स्फुटितेति मनाग्विदीर्णा। प्रसुप्तेति सुप्तेव, रसस्यानवबोधात्। शाकच्छदनप्रकाशेति शाकतरुपत्रवत् कण्टकाचितेत्यर्थः, शाको मरुजद्रुमः। पैत्तिककण्टकलक्षणे दह्यतीति आत्मनेपदानित्यत्वात् साधु। अयं च रोगो जाडीनि ख्यात ॥ ३० ॥

जिह्वातले यः श्वयथुः प्रगाढः
सोऽलाससंज्ञः कफरक्तमूर्तिः।
जिह्वां स तु स्तम्भयति प्रवृद्धो
मूले च जिह्वा भृशमेति पाकम् ॥ ३१ ॥

अलासमाह—जिह्वेत्यादि। प्रगाढ इति प्रकर्षेण गाढो दारुण इत्यर्थः। तेन 'जिह्वागतेष्वलासस्तु' इत्यादिनाऽलासस्यासाध्यतोक्ता सूच्यते। कफरक्तमूर्तिरिति कफरक्ताभ्यां हेतुभ्यां लब्धमूर्तिः। कफरक्तज इत्यर्थः। जिह्वास्तम्भेन वायुरप्यत्र बोद्धव्यः, भृशपाकेन पित्तं, अतस्त्रिदोषजो ज्ञेयः, अत एवास्यानुपक्रमेणासाध्यत्वं, कफरक्तयोस्तु प्राधान्येनाभिधानम्। 'अधोगत' इति पाठान्तरे जिह्वाया अधोगत ॥ ३१ ॥

‡जिह्वाग्ररूपः श्वयथुर्हि जिह्वामुन्नम्य जातः कफरक्तमूलः।
लालाकरः कण्डुयुतः सचोषः सा तूपजिह्वा पठिता भिषग्भिः ३२

उपजिह्विकामाह—जिह्वाग्ररूप इत्यादि। सचोष इति चोषः साक्षादग्निसन्निधेनेवोपतापः, चोषश्चात्र रक्तयोनिना पित्तेन ॥ ३२ ॥

तालुगतानाह—

---

* 'सुप्तेति सुप्तेव रसस्यानवबोधाच्चेतनेत्यर्थः। सरक्तैः कण्टकैश्चाचिता। अयं च रोगो जाडीनि ख्यातः। 'पित्तात्सदाहैरुपचीयते तु दीर्घैः' इति पाठान्तरे पित्ताज्जिह्वा सदाहैः कण्टकैर्व्याप्यते। कफकण्टकानाह—कफेनेत्यादि। कफेन दूषिता जिह्वा गुर्वी बहुला स्थूला शाल्मलिकण्टकाभैर्मांसोच्छ्रयैर्मांसाङ्कुरैश्चिता व्याप्ता भवतीति संबन्धः।' (आ० द०) ३० ॥

† 'यो जिह्वातले श्वयथुः, सोऽलासनामा विकारः, स तु घोरः प्रवृद्धो जिह्वां स्तम्भयति, जिह्वामूले भृशं पाकं प्राप्नोति' (आ० द०) ॥ ३१ ॥

‡ 'उन्नम्य उच्चैःकृत्य, तेन जिह्वाया अधो भवतीत्युक्तं, जिह्वाग्ररूपो जिह्वाग्रसन्निभः, कफरक्तमूलः कफरक्तकारणम्। भिषग्भिः सा उपजिह्विका पठिता' (आ० द०) ॥ ३२ ॥

---

¹ पश्चिमो दिक्करणान्तुदात्तेत्त्वप्रयुक्तात्मनेपदस्यानित्यत्वेऽपि "भावकर्मणोः" इति विहितात्मनेपदस्यानित्यत्वेनात्र साधुत्वसाधनं न्याय्यमपि नेति सुधीभिरेवानुसंधेयम्, चक्षुङादेशस्य अप्यादेशाभूतस्यादर्शनात् परे।

*श्लेष्मासृग्भ्यां तालुमूले प्रवृद्धो
दीर्घः शोथो ध्मातवस्तिप्रकाशः ।
तृष्णाकासश्वासकृच्चं वदन्ति
व्याधिं वैद्याः कण्ठशुण्डीति नाम्ना ॥ ३३ ॥

कण्ठशुण्डीमाह—श्लेष्मासृग्भ्यामित्यादि । ध्मातवस्तिप्रकाश इति वायुपूरितचर्मपुटतुल्यः ॥ ३३ ॥

शोथः स्थूलस्तोददाहप्रपाकी
प्रागुक्ताभ्यां तुण्डिकेरी मता तु ।

तुण्डिकेरीलक्षणमाह—शोथ इत्यादि । प्रागुक्ताभ्यामिति श्लेष्मासृग्भ्याम् । तुण्डिकेरी वनकार्पासीफलं, तत्तुल्यशोथतया तुण्डिकेरी । तोददाहाभ्यामिह वातपित्तानुबन्धो ज्ञेयः ॥—

†मृदुः शोथो लोहितः शोणितोत्थो
ज्ञेयोऽध्रुषः सज्वरस्तीव्ररुक् च ॥ ३४ ॥

अध्रुषलक्षणमाह—मृदुरित्यादि । शोणितोत्थ इति रक्तसमुत्थः ॥ ३४ ॥

‡कूर्मोत्सन्नोऽवेदनोऽशीघ्रजन्मा
रोगो ज्ञेयः कच्छपः श्लेष्मणा तु ।

कच्छपलक्षणमाह—कूर्मोत्सन्न इत्यादि । अवेदन इत्यल्पवेदनः । अशीघ्रजन्मेति चिरजः ॥—

§पद्माकारं तालुमध्ये तु शोथं
विद्याद्रक्तादर्बुदं प्रोक्तलिङ्गम् ॥ ३५ ॥
दुष्टं मांसं नीरुजं तालुमध्ये
कफाच्छूनं मांससंघातमाहुः ।

तालर्वुदमाह—पद्माकारमित्यादि । पद्माकारमिति पद्मकर्णिकाकारम् । तथाच भोजः,—"उपर्येव भवेद्भद्रो यथा पद्मस्य कर्णिका । पार्श्वतश्चाङ्कुरैर्दीर्घैर्नाना चाप्यवसीदति ॥ श्लेष्मरक्तसमुत्थानं तत्ताल्वर्बुदसंज्ञितम्"—इति । रक्तजत्वाल्लोहितम् । प्रोक्तलिङ्गमिति पूर्वोक्तरक्तार्बुदतुल्यलिङ्गमित्यर्थः ॥ ३५ ॥—

---

* 'श्लेष्मरक्ताभ्यां तालुमूले प्रवृद्धस्तथा दीर्घः प्रलम्बः शोफः कण्ठशुण्डीति गलशुण्डीति नाम्नाऽयं व्याधिः पठितः' ( आ० द० ) ॥ ३३ ॥

† 'स्तब्धादिलक्षण· शोथोऽध्रुषो ज्ञेयः । अध्रुष इति कन्दोन्नुरोधात्' (आ० द०) ॥ ३४ ॥

‡ 'कूर्मोन्नतः कूर्मवदुन्नतः, अवेदन इत्यल्पव., अशीघ्रजन्मेति चिरज. मन्दानुसारी-स्पर्शः, भरतः पाण्डुरः' ( आ० द० )—

§ 'तालुमध्ये उत्सन्नः शोफः रक्तार्बुद विद्यात् । मांससंघातमाह—दुष्टमित्यादि । अत्र केचित् "दुष्ट मांसं श्लेष्मणा नीरुजं वा तालव्यन्तःस्थम्" इति पठन्ति' ( आ० द० ) ॥ ३५ ॥

*नीरुक् स्थायी कोलमात्रः कफात् स्या-
न्मेदोयुक्तात् पुप्पुटस्तालुदेशे ॥ ३६ ॥
शोषोऽत्यर्थं दीर्यते चापि तालुः
श्वासश्चोग्रस्तालुशोषोऽनिलाच्च ।
पित्तं कुर्यात् पाकमत्यर्थघोरं
तालुन्येनं तालुपाकं वदन्ति ॥ ३७ ॥

पुप्पुटमाह—नीरुगित्यादि । पुप्पुटस्तालुदेशे इति तालुपुप्पुटः । तालुशब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । 'तालुशोषस्तु पित्तात्' इति केचित् पठन्ति, पित्तस्यापि शोषकत्वात् । केचित्तु वक्ष्यमाणं 'पित्तं कुर्यात्' इति पदमत्रापि संबध्य श्वासश्चोग्र इति चकारं भिन्नक्रमेण योजयित्वा विभक्तिविपरिणामं च कृत्वा पित्तं तालुशोषं कुर्यादिति व्याचक्षते । किन्त्वयं भोजेऽपि वातादेव पठितः । यदुक्तं,–"तालुशोषो भवेद्वातात्"–इत्यादि ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

†गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ
प्रदूष्य मांसं च तथैव शोणितम् ।
गलोपसंरोधकरैस्तथाऽङ्कुरै-
र्निहन्त्यसून् व्याधिरयं हि रोहिणी ॥ ३८ ॥

कण्ठगतास्तु रोहिण्यादयः समदशोच्यन्ते, तत्र पञ्चानां रोहिणीनां सामान्यसंप्राप्तिमाह—गलेऽनिल इत्यादि । सर्वरोहिण्य सन्निपातजाः, वातकफोद्भवादिव्यपदेशः । अन्ये तु 'पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितं' इति पठित्वा सुश्रुते एकदोषजत्वमप्याहुः । भोजेऽप्युक्तं,–"वातपित्तकफा रक्तमेकशः सर्वशोऽपि वा । कण्ठं यदा निषेवन्ते"–इत्यादि । निहन्त्यसूनिल्यनेन यद्यपि सामान्येनासाध्यत्वमुक्तं तथाऽपि सुश्रुतादिना पृथग्दोषत्रयजानामनुक्रमेणासाध्यत्वं, एवं रक्तजाया अपि, सन्निपातजायास्तु जन्मनैवासाध्यत्वम् । तदुक्तं भोजेन,–"तालु शुष्यति कण्ठश्च वातेनायास्यते यदा ।

---

*'स्थायी स्थिरः, कोलमात्रः कोलसमः 'पुप्पुटः' इति तालुनि देशे पुप्पुटस्तालुपुप्पुटः, तालुशब्दोऽत्र लुप्तनिर्दिष्टो द्रष्टव्यः । तालुशोषमाह–शोष इत्यादि । तालुन्यत्यर्थं शोषः, तथा तालु दीर्यते, तथोग्रः श्वासो भवति, सोऽनिलोत्थस्तालुशोषो ज्ञेयः । वाग्भटेन तु वातपित्ताभ्यां तालुशोषः पठितः । यथाहि–"वातपित्तज्वरायासैस्तालुशोषस्तदाह्वयः"–इति' ( आ० द० ) ॥ ३६ ॥ ३७ ॥

† 'गलेऽनिलो वृद्धः, तथा पित्तकफौ मूर्च्छितौ विवृद्धौ, मांसं प्रदूष्य, तथा शोणितं प्रदूष्य, गलोपसंरोधकरैरङ्कुरैरसून्निहन्ति, अयं व्याधिः रोहिणीसंज्ञो ज्ञेयः । अस्मिन् पाठे तु मेलया वातपित्तकफसंसर्गविवक्षावाद् च न सिध्येत् । तस्मादन्ये "गलेऽनिलः पित्तकफौ च मूर्च्छितौ पृथक्समस्ताश्च तथैव शोणितम् । प्रदूष्य मांसं गलरोधिनोऽङ्कुरान्सृजन्ति यान् साऽसुहरा तु रोहिणी"–इति पठित्वा सुश्रुते एकदोषजत्वमप्याहुः । पृथगिति त्रिधाः, समस्तादेका, एका शोणितात्, एवं पञ्च रोहिण्यः । असुहराः प्राणहराः' ( आ० द० ) ॥ ३८ ॥

कण्ठेऽस्याद्यं प्रसज्येत सप्ताहात् स जहात्यसून् ॥ उष्यते चूष्यते पित्तात् धूप्यते परिदह्यते । अङ्गारैरिव जह्यात् स प्राणानाशु चतुर्दिनात्"-इति । "कफादन्तर्बहिः शोथः श्वासः कण्ठश्च बाध्यते । यस्य सोऽसून् त्यजेद्रोगी त्र्यहाद्रोहिणिपीडितः ॥ लक्षणं पित्तरोहिण्या तुल्यं शोणितजन्मनः । सर्वदोषकृता या तु सर्वलिङ्गसमन्विता । असाध्या तां विजानीयाद्रोहिणीं सन्निपातजाम् । एषा सद्यो मारयति विना क्षाराग्निशस्त्रक्रिया"-इति क्वचित् । भोजे 'अन्या सद्यो मारयति' इति पाठः, तदा रक्तजायामप्यसाध्यत्वमायाति, किंत्विय साध्यैव, यदुक्तं,-"लेख्याश्चतस्रो रोहिण्य" (सु. सू. अ. २५)-इति । तथा,-"साध्यानां रोहिणीनां तु हितं शोणितमोक्षणम्" (सु. चि. स्था. अ. २२)-इत्यनेन रक्तजाया अपि चिकित्सोक्ता । किंच गलगतेष्वेवैषु रोहिणी सन्निपातजा 'रोहिणी गले' इत्यनेनासाध्योक्ता । भोजे तु "विना क्षाराग्निशस्त्रक्रिया विना" इत्यभिधानं त्रिदोषजत्वेन प्राधान्यमभिप्रेत्य, चरकादेऽपि सन्निपातजाया एव सद्योमारकत्वमुक्तम् । यदाह,-"सद्यस्त्रिदोषजा हन्ति त्र्यहाच्छ्लेष्मसमुद्भवा । पञ्चाहात् पित्तसंभूता सप्ताहात् पवनोत्थिता"-इति ॥ ३८ ॥

*जिह्वासमन्तान्भृशवेदनास्तु मांसाङ्कुराः कण्ठविरोधिनो ये ।
सा रोहिणी वातकृता प्रदिष्टा वातात्मकोपद्रवगाढयुक्ता ॥ ३९ ॥
क्षिप्रोद्गमा क्षिप्रविदाहपाका तीव्रज्वरा पित्तनिमित्तजा तु ।
स्रोतोविरोधिन्यचलोद्गता च स्थिराङ्कुरा या कफसंभवा सा ॥४०॥
गम्भीरपाकिन्यनिवार्यवीर्या त्रिदोषलिङ्गा त्रितयोत्थिता च ।
स्फोटैश्चिता पित्तसमानलिङ्गा साध्या प्रदिष्टा रुधिरात्मिका तु ४१

वातादिभेदेन रोहिणीलक्षणमाह-जिह्वेत्यादि । जिह्वासमन्तादिति जिह्वायाः सर्वतः इत्यर्थः । वातात्मकोपद्रवगाढयुक्तेति वातात्मका उपद्रवाः कम्पविनामस्तम्भादयस्तैरतिशयमनुगता । त्रिदोषजायामनिवार्यवीर्येति क्रिययाऽपि न निवार्यं वीर्यमस्या, सद्योमारकत्वादित्यर्थः । त्रितयोत्थितेति दोषत्रयोत्थिता । पित्तलिङ्गातिदेशस्यात्र्यवहितत्वप्रतीत्यर्थं पित्तरोहिण्यनन्तरं रक्तजाया वक्तुमुचितायाः, शेषेऽभिधानमितररोहिण्यपेक्षया सुखसाध्यत्वख्यापनार्थमिति केचित् ॥ ३९-४१ ॥

कोलास्थिमात्रः कफसंभवो यो ग्रन्थिर्गले कण्टकशूकभूतः ।
खरः स्थिरः शस्त्रनिपातसाध्यस्तं कण्ठशालूकमिति ब्रुवन्ति ॥४२॥

कण्ठशालूकलक्षणमाह-कोलेत्यादि । कण्टकशूकभूत इति कण्टवत् शूकवच्च वेदनाजनकः, भूतशब्द उपमानार्थे, किंवा कण्टकोपलक्षितः शूको जलशूकः, स इव भूतो जातः । कठिनगुडकतया शालूकसमत्वेन कण्ठशालूकम् । शालूकं जलोत्पलकन्दम् ॥ ४२ ॥

* 'ये मांसाङ्कुरा जिह्वासमन्ताद्भवन्ति ते भृशवेदना, तथा कण्ठनिरोधना, सा वातकृता रोहिणी प्रदिष्टा' ( मा० द० ) ॥ ३९-४१ ॥

*जिह्वाग्ररूपः श्वयथुः कफात्तु जिह्वोपरिष्टादपि रक्तमिश्रात् ।
ज्ञेयोऽधिजिह्वः खलु रोग एष विवर्जयेदागतपाकमेनम् ॥ ४३ ॥

अधिजिह्विकामाह—जिह्वाग्ररूप इत्यादि । जिह्वोपरिष्टादित्यनेन जिह्वातलजातामुपजिह्वां व्यावर्तयति । अपि रक्तमिश्रादिति न केवलात् कफाद्भवति, किन्तु रक्तमिश्रादेव कफादित्यर्थः । अपिरवधारणे । आगतपाकत्वेन पित्तमप्यत्र द्रष्टव्यम् ॥४३॥

†बलास एवायतमुन्नतं च शोथं करोत्यन्नगतिं निवार्य ।
तं सर्वथैवाप्रतिवार्यवीर्यं विवर्जनीयं वलयं वदन्ति ॥ ४४ ॥

वलयमाह—बलास एवेत्यादि । बलासः कफः । अन्नगतिमिति अन्नस्य गतिर्येन स्रोतसा सोऽन्नगतिरन्नवहमार्गः, अन्नस्य प्रवेशो वा । कफजोऽप्ययं प्रभावादसाध्यः ॥ ४४ ॥

‡गले तु शोथं कुरुतः प्रवृद्धौ श्लेष्मानिलौ श्वासरुजोपपन्नम् ।
मर्मच्छिदं दुस्तरमेनमाहुर्बलाससंज्ञं निपुणा विकारम् ॥ ४५ ॥

बलासकमाह—गल इत्यादि । मर्मच्छिदमिति प्राणायतनहृदयमर्मच्छिदम् ॥ ४५ ॥

वृत्तोन्नतोऽन्तःश्वयथुः सदाहः सकण्डुरोऽपाक्यमृदुर्गुरुश्च ।
नाम्नैकवृन्दः परिकीर्तितोऽसौ व्याधिर्बलासक्षतजप्रसूतः ॥ ४६ ॥

एकवृन्दमाह—वृत्तोन्नत इत्यादि । अन्तःश्वयथुरिति गलस्यान्तर्मध्ये । सदाह इति मन्ददाहः, सहशब्द ईषदर्थे । अपाक्यमृदुरिति अपाकी ईषत्पाकी, अमृदुरीषन्मृदुः, अन्ये 'अपाकमृदु' इति पठन्ति, अपाकश्चासौ मृदुश्चेति अपाकमृदुः । बलासक्षतजप्रसूत इति कफरक्तभव इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

समुन्नतं वृत्तममन्ददाहं तीव्रज्वरं वृन्दमुदाहरन्ति ।
तच्चापि पित्तक्षतजप्रकोपाद्विद्यात् सतोदं पवनात्मकं तु ॥ ४७ ॥

वृन्दमाह—समुन्नतमित्यादि । वृन्दमेव पवनानुविद्धं सतोदं स्यात् । ननु, सप्तदश कण्ठगता उक्ताः, उक्तं हि,—'सप्तदशामयाः कण्ठे'—इति, वृन्देन सहाष्टादश खलु ? उच्यते, एकवृन्दस्यावस्थाविशेष एव वृन्दः, तुल्यस्थानाकृतित्वात् न सङ्ख्यातिरेकः, यद्यप्येकवृन्दः कफरक्तेन, वृन्दस्तु पित्तरक्तेन पठितः, तथा वृन्दस्यैव सतोदत्वेन वातात्मकत्वमुक्तं, तथाऽप्येकवृन्दस्यावस्थाविशेषत्वेन वृन्दः पठ्यत एव, यथा वामलाया तद्भिन्नहेतुलक्षणस्यापि दुर्नामकस्य समत्, यथा

* 'जिह्वोपरिष्टादित्यत्र 'जिह्वाग्रस्योपरि' इति पाठान्तरं, जिह्वाग्रस्योपरि जिह्वामूलस्योपरिष्टादित्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ ४३ ॥

† बलासः कफोऽन्नगतेः मार्गं निवार्य, आयतमुन्नतं शोथं करोति, कुपितः सर्वथाऽप्रतिवार्यवीर्यं विवर्जनीयं वलयाख्यं व्याधिं वदन्ति । कफजोऽप्ययं प्रभावात् सम्यगसाध्य' ( आ० द० ) ॥ ४४ ॥

‡ 'प्रवृद्धौ श्लेष्मानिलौ श्वासरुजाभ्यामुपपन्नं गले शोथं कुरुतः, निपुणाः वैद्याः एनं विकारं बलासकसंज्ञमाहुः' ( आ० द० ) ॥ ४५ ॥

वातमदात्ययेन ध्वंसकविक्षेपकयोरत्यन्ताभेदेऽपि स एव स्यात्र पुनस्तेन संग्रहः, भोजेऽप्ययमेकवृन्दज एव पठितः । यदाह,—"श्लेष्मरक्तसमुत्थानमेकवृन्दं विभावयेत् । तुल्यस्थानाकृतिर्वृन्दो वृन्दजो रक्तपित्तजः"—इति । वृन्दज इत्येकवृन्दजः । गदाधरस्तु कारणभेदाद्धर्मभेदाच्चोपपन्नत्वेन चैककार्यकारणयोरभेदप्रसङ्गमभिधाय वृन्दशब्दं छन्दोनुरोधादादिलोपादेकवृन्द एव वर्णयति, तथाच वृत्ति समुन्नतमित्यादिना पित्तानुबन्धसहितबहुलरक्तकृतैकवृन्दस्य लक्षणमुच्यते, वृत्तोन्नं पवनात्मकं चेत्यनेन च वातानुबन्धैकवृन्दलक्षणमिति व्याख्येयम् । परं तु वृन्दजो वृन्द इति भोजवचनेनासंगतमिदं व्याख्यानम् ॥

*वर्तिर्घना कण्ठनिरोधिनी या चिताऽतिमात्रं पिशितप्ररोहैः ।
अनेकरुक् प्राणहरी त्रिदोषाज्ज्ञेया शतघ्नी च शतघ्निरूपा ॥ ४८ ॥

शतघ्नीलक्षणमाह—वर्तिरित्यादि । अनेकरुगिति वातपित्तकफजतोददाहकण्ड्वादिवेदनान्वितेत्यर्थः । शतघ्निरूपेति अयःकण्टकाच्छन्ना महती शिला शतघ्नी तत्तुल्या । प्राणहरीत्यसाध्या । भोजेऽप्युक्तं,—"शङ्कुनेव गले विद्धा शतघ्न्येषा न सिध्यति"—इति ॥ ४८ ॥

ग्रन्थिर्गले त्वामलकास्थिमात्रः स्थिरोऽल्परुक् स्यात् कफरक्तमूर्तिः ।
संलक्ष्यते सक्तमिवाशनं च स शस्त्रसाध्यस्तु गलायुसंज्ञः ॥ ४९ ॥

गलायुलक्षणमाह—ग्रन्थिरित्यादि । कफरक्तमूर्तिरिति कफरक्तजः । सक्तमिवेति लग्नमिव, अशनं भुक्तम् ॥ ४९ ॥

सर्वं गलं व्याप्य समुत्थितो यः शोथो रुजः सन्ति च यत्र सर्वाः ।
स सर्वदोषैर्गलविद्रधिस्तु तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्य ॥ ५० ॥

गलविद्रधिलिङ्गमाह—सर्वमित्यादि । तस्यैव तुल्यः खलु सर्वजस्येति प्रागुक्तस्य विद्रधेः सन्निपातजस्य तुल्य इत्यर्थः । स च स्थानप्रभावेण सन्निपातज एव, चिकित्साभेदार्थं च पुनः पठितः ॥ ५० ॥

शोथो महानन्नजलावरोधी तीव्रज्वरो वायुगतेर्निहन्ता ।
कफेन जातो रुधिरान्वितेन गले गलौघः परिकीर्त्यते तु ॥ ५१ ॥

गलौघलक्षणमाह—शोथ इत्यादि । वायुगतेर्निहन्तेति अतिमहत्त्वादुदानवायुगतिरोधक इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

यस्ताम्यमानः श्वसिति प्रसक्तं भिन्नस्वरः शुष्कविमुक्तकण्ठः ।
कफोपदिग्धेष्वनिलायनेषु ज्ञेयः स रोगः श्वसनात् स्वरघ्नः ॥५२॥

स्वरघ्नलक्षणमाह—य इत्यादि । ताम्यमान इति मूर्च्छां गच्छन्, अथवा तमः पश्यन् । श्वसिति प्रसक्तमिति निरन्तरं श्वसिति । शुष्कविमुक्तकण्ठ इति शुष्को नीरसो विमुक्तश्चास्वाधीनः कण्ठो यस्य स तथा । अस्वाधीनता च किमपि गिलितुमशक्य-

* 'भोजेऽप्युक्तम् "वातपित्तकफा दुष्टा मांसाङ्कुरसमाचिताम् । मध्यकण्टचयां वर्तिं जनयन्ति ह्युपेक्षिताः ॥ शङ्कुनेव गले विद्धा शतघ्न्येषा न सिध्यति"—इति' (मा० द०)॥४८॥

तया बोद्धव्या । अनिलायनेष्विति अनिलमार्गेषु कफरुद्धेषु सत्सु, वायुगतस्रोतसोद्वित्वेऽपि बहुवचनं प्रतानबहुत्वात् । श्वसनादिति वातात् ॥ ५२ ॥

*प्रतानवान् यः श्वयथुः सुकष्टो गलोपरोधं कुरुते क्रमेण ।
स मांसतानः कथितोऽवलम्बी प्राणप्रणुत् सर्वकृतो विकारः ॥५३॥

मांसतानलिङ्गमाह—प्रतानवानित्यादि । प्रतानवानिति विस्तारवान् । सुकष्ट इति महादुःखप्रदायी, न तु कृच्छ्रसाध्य, प्राणप्रणुदिति वचनात्, अथवा याप्यत्वकष्टसाध्य, समस्तगलोपरोधे तु प्राणप्रणुत् । 'स मांसतान कथितोऽवलम्बी'—इत्यस्य स्थाने 'स मांसतानेति बिभर्ति सञ्ज्ञाम्'—इति पाठान्तरे मांसतानेत्यत्रेतिशब्देन प्रातिपदिकार्थस्योक्तत्वाद्विभक्त्यभाव । 'बिभर्ति सञ्ज्ञाम्' इत्यस्य स्थाने 'निरुणद्धि चेष्टाम्'—इति कार्त्तिक । अस्मिन् व्याख्याने स मांसतान इत्यस्यानन्तर स्यात इति द्रष्टव्यम् ॥ ५३ ॥

†सदाहतोदं श्वयथुं सुताम्रमन्तर्गले पूतिविशीर्णमांसम् ।
पित्तेन विद्याद्वदने विदारीं पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते ॥ ५४ ॥

विदारीलक्षणमाह—सदाहतोदमित्यादि । वदन इति स्वरूपपरमिद, अन्तर्गल इत्यनेनैव वदनशब्दस्य लब्धत्वात् । पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते इति स पुरुषो येन पार्श्वेन विशेषाद्बाहुल्येन शेते तस्मिन्नेव पार्श्वे विदारी भवतीत्यर्थ । विशेषग्रहणादन्यस्मिन् पार्श्वेऽपि सम्भवोऽस्या । विदारीसञ्ज्ञा च मांसविदारणेन । भोजेऽप्युक्त,—"पित्तेन जातो वदने विकार पार्श्वे विशेषात् स तु येन शेते । स्नायुप्रतानप्रभवो विशेषाद्दाहप्रपाकप्रचुरो विदारी"—इति ॥ ५४ ॥

स्फोटैः सतोदैर्वदन समन्ताद्यस्याचितं सर्वसरः स वातात् ।
रक्तैः सदाहैस्तनुभिः सपीतैर्यस्याचितं चापि स पित्तकोपात् ।
अवेदनैः कण्डुयुतैः सवर्णैर्यस्याचितं चापि स वै कफेन ॥ ५५ ॥

सर्वसराख्योऽभिधीयन्ते—स्फोटैरित्यादिना । मुखगतोष्ठादिसप्तस्थानव्यापकतया सर्वसरत्व ज्ञेयम् । स्फोटैरिति वदनमिति चोत्तरत्र सम्बन्धनीयम् । आचितं व्याप्तम् । सर्वसरा मुखपाका उच्यन्ते । केचिद्विदेहोक्तरक्तजसर्वसरलक्षण पठन्ति । यथा,—"रक्तेन पित्तोदित एव चापि कैश्चित् प्रदिष्टो मुखपाकसञ्ज्ञ"—इति । अयं च पैत्तिक एवान्तर्भूत इति नेह दर्शित इति ॥ ५५ ॥

‡ओष्ठप्रकोपे वर्ज्याः स्युर्मांसरक्तत्रिदोषजाः ।
दन्तमूलेषु वर्ज्यौ च त्रिलिङ्गगतिशौषिरौ ॥ ५६ ॥

---

* 'अवलम्वी लम्बनशील' (आ० द०) ॥ ५३ ॥

† 'पूतिनिशीर्णमांसं दुर्गन्धशटितमांसम्' (आ० द०) ॥ ५४ ॥

‡ 'ओष्ठजास्त्रय, दन्तमूले द्वौ, दन्तभवेषु त्रय, जिह्वागतेष्वेक, तालुन्यप्येक एव, स्वरघ्नादयो नव गले, समुदायसरया नवदशैवेति । सैव दारिणेति विदार्या सह, छन्दोनुरोधाद्दारिणेति निर्देश, रोहिणी गल इति त्रिदोषजा रोहिणी' (आ० द०) ॥५६–५९॥

---

१ "वराहश्च विदारिका" इत्यत्र "वराह सह दारिणा" इति पाठाभिप्रायेण ।

दन्तेषु च न सिध्यन्ति श्यावदालनभञ्जनाः ।
जिह्वारोगे बलासस्तु ताल्व्येष्वर्बुदं तथा ॥ ५७ ॥
स्वरघ्नो वलयो वृन्दो बलासश्च विदारिका ।
गलौघो मांसतानश्च शतघ्नी रोहिणी गले ॥ ५८ ॥
असाध्याः कीर्तिता ह्येते रोगा नव दशैव तु ।
तेषु चापि क्रियां वैद्यः प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥ ५९ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मुखरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५६ ॥

ओष्ठप्रकोपादिष्वसाध्यानाह—ओष्ठप्रकोपे इत्यादि । त्रिलिङ्गगतिशौषिराविति त्रिदोषजनाडी त्रिदोषजश्च महाशौषिरोऽसाध्यः । रोहिणी गल इति त्रिदोषजा रोहिणी ॥ ५६–५९ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मुखरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५६ ॥

---

## अथ कर्णरोगनिदानम् ।

*समीरणः श्रोत्रगतोऽन्यथाचरन् समन्ततः शूलमतीव कर्णयोः ।
करोति दोषैश्च यथास्वमावृतः स कर्णशूलः कथितो दुराचरः ॥१॥

मुखरोगे जिह्वाश्रयरोगोऽभिहितः, जिह्वा चेन्द्रियाधिष्ठानं, अतः इन्द्रियाधिष्ठानदुष्टिसाम्यात् कर्णरोगनिदानमुच्यते, कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमदृष्टोपगृहीतं श्रोत्रमुच्यते, तत्र यद्यप्येकदेशगतो रोगस्तथाऽप्यवयवेऽपि समुदायोपचारतः कर्णव्यपदेशः । तत्र कर्णशूलः कष्टत्वात् प्रागाह—समीरण इत्यादि । अत्रानयैव सम्प्राप्त्याऽर्थतो निदानमथ यथाक्षिप्तं यतो निदानात् सञ्चयः, सञ्चयात् प्रकोपः, प्रकोपात् प्रसरः, प्रसरात् स्थानसंश्रयः, ततो व्यक्तिः, ततो भेद इति । कर्णशूलस्य च कष्टत्वं मूर्च्छाद्युपद्रवयोगात् । यदाह विदेहः,—“मूर्च्छा दाहो ज्वरः कासो हृल्लासो वमथुस्तथा । उपद्रवाः कर्णशूले भवन्त्येते मरिष्यतः ”—इति । अन्यथाचरन्निति प्रतिलोमं चरन् । दोषैरिति कफपित्तरक्तैः, रक्तोऽपि रुजाकर्तृत्वात् सामान्येन दोषव्यपदेशः । यथास्वमावृत इति स्वनिदानकुपितदोषैर्यथास्वीयस्वगुणैरावृतो न तु कोपितैर्वायुना, ‘एकः प्रकुपितो दोषः सर्वानेव प्रकोपयेत्’ इति न्यायात्, यतः स्वतः प्रकुपिता दोषाः संसर्गभाजो भवन्ति,

---

* ‘श्रोत्रगतः श्रोत्रशष्कुलीपरिच्छिन्नाकाशः, समीरणो वायुः, श्रोत्रगतः श्रोत्रप्राप्तः, अन्यथाचरन्निति प्रतिलोमं चरन् विमार्गग इति वा; चरन् समन्ततः कर्णयोरतीव शूलं करोतीति संबन्धनीयम् । रक्तोऽपि रुजादिकर्तृत्वेन दोषसाम्याद्दोषव्यपदेशः । यथास्वमावृत इति यथास्वमश्च स्वस्य दोषस्यानतिक्रमेण यथास्वम् । स तथाविधो रोगः कर्णशूलः कथितः । किंविशिष्टः ? दुरासदो दुर्वारः, ‘दुराचरः’ इति पाठे दुःखेन आचर्यते उपचर्यत इति दुराचरः’ ( आ० द० ) ॥ १ ॥

---

१ असाध्यमेवेह पाठः ।

परतन्त्रकुपितास्त्वनुबन्धरूपा भवन्ति, अथवा यथास्वमिति शूलविशेषण, यथास्वीयमित्यर्थ । दुराचर इति तु खेनाचर्यत इति दुराचर ॥ १ ॥

*कर्णस्रोतःस्थिते वाते शृणोति विविधान् स्वरान् ।
भेरीमृदङ्गशङ्खानां कर्णनादः स उच्यते ॥ २ ॥
यदा शब्दवहं वायुः स्रोत आवृत्य तिष्ठति ।
शुद्धः श्लेष्मान्वितो वाऽपि बाधिर्यं तेन जायते ॥ ३ ॥

कर्णनादमाह—कर्णस्रोत स्थित इत्यादि । यदा कर्णस्रोतसि विविधप्रकारेणावस्थितो वायुर्भवति तदा तस्य विविधाभिहननाडुक्तविविधशब्दश्रवण, भेरीमृदङ्गशङ्खानामित्युपलक्षण, तेन शृङ्गारादिशब्दश्रवण च भवति । यदुक्त विदेहे,—"शिरोगतो यदा वायु श्रोत्रयो प्रतिपद्यते । तदा तु विविधान् शब्दान् समीरयति कर्णयो ॥ भृङ्गारमौघनाद वा मण्डूककाकयोस्तथा । तन्त्रीमृदङ्गशब्द वा सामतूर्यस्वन तथा ॥ गीताध्ययनवक्षानां निर्घोष क्ष्वेडन तथा । अपामिव पतन्तीना शकटस्येव गच्छत ॥ श्वसतामिव सर्पाणां सदृश श्रूयते स्वन"—इति ॥ २ ॥ ३ ॥

वायु· पित्तादिभिर्युक्तो वेणुघोषोपमं स्वनम् ।
करोति कर्णयोः क्ष्वेडं कर्णक्ष्वेडः स उच्यते ॥ ४ ॥

कर्णक्ष्वेडमाह—वायुरित्यादि । क्ष्वेडमेव व्याकरोति—वेणुघोषोपमं स्वनमिति । ननु, कर्णनादात् कथमस्य भेद ? उच्यते, कर्णनादे केवलानिलजे नानाशब्दान् शृणोति, अत्र तु वेणुशब्दमेव नियमेन, तथाऽय पित्तादिससृष्टवातजन्य इति । तथाह विदेह ,—"मारुत कफपित्ताभ्या ससृष्ट शोणितेन च । कर्णक्ष्वेड सजनयेत् क्ष्वेडन वेणुघोषवत्"—इति ॥ ४ ॥

†शिरोऽभिघातादथवा निमज्जतो
जले प्रपाकादथवाऽपि विद्रधेः ।
स्रवेद्धि पूयं श्रवणोऽनिलार्दितः
स कर्णसंस्राव इति प्रकीर्तितः ॥ ५ ॥

कर्णस्रावमाह—शिरोऽभिघातादित्यादि । स्रवेद्धि पूयमित्युपलक्षण, तेन रक्तमले च स्रवत इति मन्तव्य, शिरोऽभिघातजलमज्जनमात्रेण पूयस्रावाभवात्, अथवा प्रपाकादिति सर्वत्र सबध्यते, तर्हि न पाकात् पृथक् स्राव उक्त सर्वत्र पाकस्याविशिष्टत्वादिति कार्त्तिक । ननु, पाकाद्विद्रधे स्रावसभवोऽस्तु, विद्रधौ तु वातेतरदोषस्यापि

* 'प्रणादस्यापीदाकरत्वेऽपि रोगाख्या, तिलकालकवन्मोदु स्वनकत्वाद । शब्दवह स्रोत कर्णशष्कुलीपरिच्छिन्नमाकाश, तदावृत्य वातजनितमत्र बाधिर्य, अपिशब्दाद्रक्तपित्तावरणयोरपग्रह इति' (आ० द०) ॥ २ ॥ ३ ॥

† 'शिरोभिघातात्, अथवा जले निमज्जत, अथवा विद्रधे कर्णविद्रधे प्रपाकाद्निलार्दित श्रवण पूय स्रवेत, स कर्णसंस्रावाख्यो रोग उक्त' (आ० द०) ॥ ५ ॥

संभवात् कथमनिलादित्व इत्युक्त ? उच्यते, अतिस्रावेणात्रानिलकोपादनिलादत्वमोद्धव्यम् ॥ ५ ॥

*मारुतः कफसंयुक्तः कर्णकण्डूं करोति च ।
पित्तोष्मशोषितः श्लेष्मा कुरुते कर्णगूथकम् ॥ ६ ॥

स कर्णगूथो द्रवतां गतो यदा विलायितो घ्राणमुखं प्रपद्यते ।
तदा स कर्णप्रतिनाहसंज्ञितो भवेद्विकारः शिरसोऽर्धभेदकृत् ॥७॥

कर्णप्रतिनाहमाह—स कर्णगूथो द्रवतामित्यादि । विलायित इति स्नेहस्वेदाभ्यां विलीभीकृत सन् । घ्राणमुखमिति द्वन्द्वत्वादेकवद्भाव , तेन घ्राण च मुख च प्रतिपद्यत इत्यर्थ । अन्ये 'घ्राणमुखात्' इति पठन्ति, तदा घ्राणमुखाभ्यासात्काशात् प्रतिपद्यते गच्छतीत्यर्थ । अय कफजो विकार , अथवा कर्णगूथशोषे मारुतपित्तयोः व्यापारत्रयाणामपि संबन्धोऽस्ति, तेन सन्निपातजोऽयं, तथाच विदेह ,—"कफाद्वा मारुताद्वाऽपि सन्निपातेन वा पुन "—इति । शिरसोऽर्धभेदकृदिति अर्धावभेदकशिरोरोगकृत् ॥ ६ ॥ ७ ॥

†यदा तु मूर्च्छन्त्यथवाऽपि जन्तवः
सृजन्त्यपत्यान्यथवाऽपि मक्षिकाः ।
तदञ्जनत्वाच्छ्रवणो निरुच्यते
भिषग्भिराद्यैः कृमिकर्णको गदः ॥ ८ ॥

क्रिमिकर्णकमाह—यदेत्यादि । यदा तु मूर्च्छन्ति उत्क्लिष्टा भवन्ति । जन्तवः क्रिमयः क्रिमिमूर्च्छनं च मांसशोणितकोथे सति ज्ञेय, तदन्तरेण क्रिमीणामसंभवात् । अपत्यानीति डिम्भकान् । तदञ्जनत्वादिति क्रिमिलक्षणत्वात् । श्रवणो निरुच्यत इति—क्रिमिकर्णको गद इति आश्रयाश्रितयोरभेदोपचाराच्छ्रवण क्रिमिकर्णको गदो गम्यते । श्रवणशब्द पुल्लिङ्गोऽप्यस्तीत्यस्मादेव निर्देशात् प्रतीयते । अय विकारस्त्रिदोषजो मन्तव्य । तथाच निमि ,—"श्लेष्मपित्तानिलोत्थिते कोथे शोणितमांसजे । मूर्च्छन्ति जन्तवस्तत्र सूक्ष्मास्ताम्रा सितास्तथा ॥ भक्षयन्तीव ते कर्णं कुर्वन्तो विविधा रुज । क्रिमिकर्णं तु तं विद्यात् सन्निपातप्रकोपजम्"—इति ॥ ८ ॥

‡पतङ्गाः शतपद्यश्च कर्णस्रोतः प्रविश्य हि ।
अरतिं व्याकुलत्वं च भृशं कुर्वन्ति वेदनाम् ॥ ९ ॥
कर्णो निस्तुद्यते तस्य तथा फरफरायते ।
कीटे चरति रुक् तीव्रा निष्पन्दे मन्दवेदना ॥ १० ॥

* 'यदा स कर्णगूथो विलायित इति स्नेहस्वेदाभ्यां विलीनीकृतो द्रवतां गत' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥ ७ ॥

† 'मूर्च्छन्ति क्रिमय इति पाठ । मक्षिका मन्दपातत्वात् निक्षिपन्ति । कर्णदेशेष्वपत्यानीत्यादि देशादिति ' ( आ० द० ) ॥ ८ ॥

‡ 'निस्तुद्यते व्यथनेनेव' ( आ० द० ) ॥ ९ ॥ १० ॥

कर्णप्रविष्टपतङ्गकीटादिलिङ्गमाह—पतङ्गा इत्यादि । शतपद इति कारण्डिकाः । निष्पन्द इति स्थिरे ॥ ९ ॥ १० ॥

***क्षताभिघातप्रभवस्तु विद्रधिर्भवेत्तथा दोषकृतोऽपरः पुनः ।**
**सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेत् प्रतोदधूमायनदाहचोषवान् ॥ ११ ॥**

कर्णविद्रधिमाह—क्षताभिघातप्रभवस्त्वित्यादि ।—क्षतप्रभवोऽभिघातप्रभवश्च, क्षताभिघातप्रभवयोरागन्तुकत्वादेकत्वं, एवं वातादिजस्यापि दोषजत्वादेकत्वम् । सरक्तपीतारुणमस्रमास्रवेदिति अस्रमास्रावं, सरक्तपीतारुणवर्णत्वं चास्रावस्य वातपित्तकफसंभवात् ॥ ११ ॥

**†कर्णपाकस्तु पित्तेन कोथविक्लेदकृद्भवेत् ।**
**कर्णविद्रधिपाकाद्वा जायते चाम्बुपूरणात् ॥ १२ ॥**

कर्णपाकलक्षणमाह—कर्णपाक इत्यादि । कोथविक्लेदकृदिति कोथः पूतिभावः, विक्लेद आर्द्रता । ननु, कर्णगूथलक्षणे पित्तेन शोषणमुक्तं, तत्कथमार्द्रता ? नैवं, एवंविकारजनककर्मसहकारिणा द्रवांशोद्रिक्तेन पित्तेनार्द्रता, तत्र त्वेतद्विपरीतत्वेन शोषः ॥ १२ ॥

**‡पूयं स्रवति पूति वा स ज्ञेयः पूतिकर्णकः ।**

पूतिकर्णलक्षणमाह—पूयमित्यादि । पूतीति क्रियाविशेषणं, वाशब्दोऽत्र समुच्चये, तेनावेदनत्वं सवेदनत्वं वा घनस्रावित्वं च समुच्चीयते । घनस्रावनियमाच्च कर्णस्रावादस्य भेदः । तथाचोक्तं सुश्रुते,—"स्रोतःस्थिते श्लेष्मणि पित्ततेजसा विलीयमाने भृशसंप्रतापिते । अवेदनो वाऽथ सवेदनो वा घनं स्रवेत् पूति च पूतिकर्णः"—इति । ( सु. उ. तं. अ. २० ) पूतिमान् कर्णः पूतिकर्णः ॥—

**कर्णशोथार्बुदार्शांसि जानीयादुक्तलक्षणैः ॥ १३ ॥**

इदानीं संख्यापूरणार्थं कर्णगतशोथार्बुदार्शसामतिदेशेन लक्षणमाह—कर्णशोथेत्यादि । कर्णशोथाश्चत्वारो वातपित्तकफरक्तजत्वेन; एवमर्शश्चतुर्विधं, सहजसन्निपातजार्शसोः सन्निपातागन्तुजशोथयोश्चात्रासंभूतिराधारप्रभावात् । अर्बुदं च सप्तविधं वातपित्तकफरक्तमांसमेदःसिरानिमित्तभेदात्; सिराजस्य वातजावरुद्धस्यात्र पृथग्गणनं शालाक्यसिद्धान्तसंवादादिति कार्तिकः । यथा सुश्रुत एव कर्णरोगानन्तरं "दोषैस्त्रिभिस्तैः पृथगेकशश्च ब्रूयात्तथाऽर्शांसि तथैव शोथान् । शालाक्यसिद्धान्तमवेक्ष्य चापि सर्वात्मकं सप्तममर्बुदं तु—" ( सु. उ. तं. अ. २२ ) इति नासारोगेऽभिधास्यति, तथेहापि युज्यते; तेन रक्तजस्य पित्तसमानलिङ्गत्वात् पित्तजेऽन्तर्भावः, तथाऽऽगन्तुजस्यापि रक्तपित्तलिङ्गत्वात् पित्तज एवान्तर्भावः, तेन शोथः सन्निपातजोऽत्रागणनीयः,

---

* 'धूमायनं धूमोद्गमनमिव वेदनाविशेषः, चोष आचूष्यन इव वेदनाविशेषः । दोषविद्रधेर्लक्षणं तैरेव ज्ञातव्यम्' ( आ० द० ) ॥ ११ ॥

† 'कर्णविद्रधिपाकात्, अथवाऽम्बुपूरणात् कर्णपाको जायते' ( आ० द० ) ॥ १२ ॥

‡ 'यद्यपि शोफादयः प्राङ्निर्दिष्टाः, तथाऽपि कर्णरोगसंग्रहार्थं साध्यासाध्यविभागार्थं च पुनर्निर्दिष्टाः' ( आ० द० ) ॥ १३ ॥

एवं सहजरक्तजयोर्दोषज एवान्तर्भावात् सन्निपातजमर्शोऽपृथग्गणनीयं, अर्बुदं च सन्निपातजं सप्तममिति, एवमेभिः सहाष्टाविंशतिः सुश्रुतोक्ताः कर्णरोगा भवन्ति ॥१३॥

*नादोऽतिरुक् कर्णमलस्य शोषः स्रावस्तनुश्चाश्रवणं च वातात् ।
शोथः सरागो दरणं विदाहः सपीतपूतिस्रवणं च पित्तात् ॥ १४ ॥
वैश्रुत्यकण्डूस्थिरशोथशुक्लस्निग्धस्रुतिः स्वल्परुजः कफाच्च ।
सर्वाणि रूपाणि च सन्निपातात् स्रावश्च तत्राधिकदोषवर्णः ॥१५॥

इदानीं चरकोक्तं कर्णरोगचतुष्टयं वातपित्तकफसन्निपातजभेदादाह—नादोऽतिरुगित्यादि । अश्रवणमिति अशब्दश्रुतिः । वैश्रुत्यमिति विरुद्धश्रवणम् ॥ १४ ॥ १५ ॥

†सौकुमार्याच्चिरोत्सृष्टे सहसाऽतिप्रवर्धिते ।
कर्णे शोथो भवेत् पाल्यां सरुजः परिपोटवान् ।
कृष्णारुणनिभः स्तब्धः स वातात् परिपोटकः ॥ १६ ॥

कर्णावयवत्वात् कर्णपाल्यास्तद्विकारानाह—सौकुमार्यादित्यादि । सौकुमार्याद्धेतोश्चिरं वर्धनेन त्यक्ते सहसा च वर्धयितुमारब्धे कर्णे शोथः, परिपोटवान् मनाक्त्वगवदरणवानित्यर्थः ॥ १६ ॥

गुर्वाभरणसंयोगात्ताडनाद्घर्षणादपि ।
शोथः पाल्यां भवेच्छ्यावो दाहपाकरुजान्वितः ॥ १७ ॥
रक्तो वा रक्तपित्ताभ्यामुत्पातः स गदो मतः ।

उत्पातलक्षणमाह—गुर्वित्यादि । श्यावत्वं व्याधिप्रभावात्, पित्तरक्तयोः श्यावत्वाजनकत्वात्, किंवा वातानुबन्धादत्र श्यावत्वम् ॥ १७ ॥—

‡कर्णं बलाद्वर्धयतः पाल्यां वायुः प्रकुप्यति ॥ १८ ॥
कफं संगृह्य कुरुते शोथं स्तब्धमवेदनम् ।
उन्मन्थकः सकण्डूको विकारः कफवातजः ॥ १९ ॥
संवर्ध्यमाने दुर्विद्धे कण्डूपाकरुजान्वितः ।
शोथो भवति पाकश्च त्रिदोषो दुःखवर्धनः ॥ २० ॥

उन्मन्थमाह—कर्णमित्यादि । स्तब्धत्वं वातकृतं, कण्डूः कफात्, इति वातकफलिङ्गम् ॥ १८-२० ॥

---

* 'स्रुतिः स्रावः, स्निग्धा स्रुतिः' ( मा॰ द॰ ) ॥ १४ ॥ १५ ॥

† 'अत्र हेत्वभिप्रायः—कर्णे चिरोत्सृष्टे बहुकालमुपेक्षिते सहसा हठेन प्रवर्धिते सति सौकुमार्यात् पाल्यां शोफः सरुगित्यादिलक्षणयुक्तः स्यात्, स वातपरिपोटको रोगः स्यात्, चिरोत्सृष्टत्वे सौकुमार्यं हेतुः' ( मा॰ द॰ ) ॥ १६ ॥

‡ 'कर्णं बलाद्वर्धयतः पाल्यां वायुः कोपं याति, स वायुः कुपितः सन् कफं संगृह्य स्तब्धमवेदनं शोफं कुरुते, स कफवातज उन्मन्थकाख्यो रोगः स्यात् । स [illegible] सकण्डूकः कण्डूयुक्तः, दुःखवर्धनमाह—संवर्धमाने इत्यादि । कर्णे दुर्विद्धे [illegible] विद्धे संवर्धमाने सति कण्ड्वादियुक्तः शोथो भवति, पाकश्च दोषत्रयोत्थः ; दुःखवर्धनात् दुःखवर्धनाख्यो नाम रोगः' ( मा॰ द॰ ) ॥ १८-२० ॥

१ एतच्च 'संवर्धमाने' इति पाठाभिप्रायेण ।

*कफासृक्क्रिमयः क्रुद्धाः सर्पपाभा विसर्पिणः ।
कुर्वन्ति पाल्यां पिडकाः कण्डूदाहरुजान्विताः ॥ २१ ॥
कफासृक्क्रिमिसंभूतः स विसर्पन्नितस्ततः ।
लिहेत् सशष्कुलीं पालीं परिलेहीति स स्मृतः ॥ २२ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने कर्णरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५७ ॥

परिलेहिनमाह—कफासृगित्यादि । स विसर्पन्निति स इति पिडकात्मको विकारः, 'विसर्पान्वित' इति पाठान्तरे विसर्पेणान्वित । लिहेदिति निर्मांसीं करोति, आच्छादयेद्वा ॥ २१-२२ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृताया मधुकोशव्याख्याया कर्णरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५७ ॥

---

## अथ नासारोगनिदानम् ।

†आनह्यते यस्य विशुष्यते च प्रक्लिद्यते धूप्यति चापि नासा ।
न वेत्ति यो गन्धरसांश्च जन्तुर्जुष्टं व्यवस्येत्तमपीनसेन ।
तं चानिलश्लेष्मभवं विकारं ब्रूयात् प्रतिश्यायसमानलिङ्गम् ॥ १ ॥

इन्द्रियाधिकरणविकाराधिकारान्नासारोगनिदानम् । तत्रादावपीनसमाह—आनह्यत इत्यादि । आनह्यत इत्यावध्यते, वातशोषितश्लेष्मणा । प्रक्लिद्यते आर्द्राभवति । धूप्यतीति सन्तापमनुभवति, दिवादेराकृतिगणत्वात् धूप्यतीति रूपम् । गन्धरसानिति गन्धान् सुरभ्यसुरभीन्, आमन्दत्वेन नासायाः, नासारोगारम्भकदोषेण रसनाया अपि दुष्टे रसान् मधुरादींश्च वेत्ति । ॥ चानिलश्लेष्मभवमिति वातकफजम् । ननु अन्यत्र पित्तश्लेष्मणोऽसृक्संश्लिष्टस्य पठ्यते, तद्यथा,—"मस्तुलुङ्गोचितश्लेष्मा यदा पित्तादिदह्यते । तदाऽसृक् पिच्छिलं नासा बहुसिंहाणकं स्रवेत् ॥ सकण्डूदाहपाकं च स तु विद्यादपीनसम्"—इति, तत् कथं न विरोधः ? नैव, सम्प्राप्तिविशेषेणास्य तथाभाव इति कार्त्तिकः । तन्त्रान्तरप्रत्ययात् पित्तसम्बन्धो लिङ्गविशेषश्चात्र बोद्धव्य इत्यर्थः । गदाधरस्तु तत्सवादात् 'अनलश्लेष्मभव' इति पठित्वा श्लेष्मपित्तज एव न्याय्य इत्याह । प्रतिश्यायसमानलिङ्गमिति कफवातजप्रतिश्यायतुल्यलिङ्गम् ॥ १ ॥

दोषैर्विदग्धैर्गलतालुमूले संमूर्च्छितो यस्य समीरणस्तु ।
निरेति पूतिर्मुखनासिकाभ्यां तं पूतिनस्यं प्रवदन्ति रोगम् ॥ २ ॥

पूतिनस्यमाह—दोषैरित्यादि । दोषैरिति पित्तश्लेष्मरक्तैः, रक्तस्यापि दोषतुल्यरूपत्वाद्दोषत्वम् । विदग्धैरिति पित्तश्लेष्मणोः सरक्तयोरूष्मणा विदग्धत्वणाम्लरसपाकेन पूतिभावमापन्नैः । संमूर्च्छित इति उच्छ्राय नीतः । निरेतीति समीरण एव,

---

* 'लिहेदिति निर्मांसीं करोति उत्सादयति वा' ( आ० द० ) ॥ २१ ॥ २२ ॥

† 'तत्रैकत्रिंशन्नासारोगाः' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

अन्यस्य कर्तृपदस्याभावात् । तं पूतिनस्यमिति नासिकाभवो नस्यः, पूतिर्नस्यो वायुर्यत्र तं पूतिनस्यम् । इहैव विदेहः,—"कफपित्तमलद्भिन्नं सञ्चितं मूर्ध्नि देहिनाम् । विदग्धमूष्मणा गाढं रुजां कृत्वाऽक्षिशङ्खजाम् ॥ ततः प्रस्यन्दते घ्राणात् सरक्तं पूतिपीतकम् । पूतिनस्यं तु तं विद्याद् घ्राणकण्डूज्वरप्रदम्"—इति ॥ २ ॥

*घ्राणाश्रितं पित्तमरूंषि कुर्याद्यस्मिन् विकारे बलवांश्च पाकः ।
तं नासिकापाकमिति व्यवस्येद्विक्लेदकोथावथवाऽपि यत्र ॥ ३ ॥

नासापाकमाह—घ्राणाश्रितमित्यादि । अरूंषीति व्रणान् । यस्मिन् विकार इति यस्यां विकृतौ सत्याम् । व्यवस्येत् जानीयात् । विक्लेद आर्द्रता, कोथः पूतिभावः ॥ ३ ॥

दोषैर्विदग्धैरथवाऽपि जन्तोर्ललाटदेशेऽभिहतस्य तैस्तैः ।
नासा स्रवेत् पूयमसृग्विमिश्रं तं पूयरक्तं प्रवदन्ति रोगम् ॥ ४ ॥

दोषागन्तुजं पूयरक्तमाह—दोषैरित्यादि । विदग्धैरिति पित्तरक्ताधिकत्वाद्विदग्धां परिणतिं प्राप्तैः, ललाटाभिघातेन वा पाकं प्राप्ते । तैस्तैरिति प्रहारपीडनादिभिः ॥ ४ ॥

घ्राणाश्रिते मर्मणि संप्रदुष्टो यस्यानिलो नासिकया निरेति ।
कफानुजातो बहुशोऽतिशब्दस्तं रोगमाहुः क्षवथुं विधिज्ञाः ॥ ५ ॥

क्षवथुर्दोषागन्तुभेदाद्द्विविधो भवति, तत्र दोषजं प्रागाह—घ्राणाश्रित इत्यादि । मर्मणीति शृङ्गाटके, 'नलकयोः' इति पाठान्तरे नासापुटयोः, 'तदाश्रितसिरे' इति शेषः ॥ ५ ॥

†तीक्ष्णोपयोगादभिजिघ्रतो वा भावान् कटूनर्कनिरीक्षणाद्वा ।
सूत्रादिभिर्वा तरुणास्थिमर्मण्युद्घाटितेऽन्यः क्षवथुर्निरेति ॥ ६ ॥

आगन्तुजमाह—तीक्ष्णोपयोगादित्यादि ।—तीक्ष्णोपयोगाद्राजिकादितीक्ष्णद्रव्यभक्षणात् । भावान् कटूनिति कटूनि द्रव्याणि । अभिजिघ्रतो भृशं जिघ्रतः । अर्कनिरीक्षणाद्वा कफविलयनकरात् । तरुणास्थिमर्मणीति तरुणास्थि नासावंशास्थि तदेव मर्म तस्मिन् तरुणमर्मणीत्यर्थः, अभिघातादिना मर्मव्यथाजनकत्वात्, अथवा तरुणास्थिनि च मर्मणि च शृङ्गाटके, द्वन्द्वैकवद्भावनिर्देशात् । उद्घाटिते चालिते । अन्यः आगन्तुजः ॥ ६ ॥

‡प्रभ्रश्यते नासिकया तु यस्य सान्द्रो विदग्धो लवणः कफस्तु ।
प्राक्सञ्चितो मूर्धनि सूर्यतप्तस्तं भ्रंशथुं रोगमुदाहरन्ति ॥ ७ ॥

भ्रंशथुमाह—प्रभ्रश्यत इत्यादि । प्रभ्रश्यते गलति । विदग्धो लवण इति

* 'अरूंषि व्रणान्, यस्मिन्निति यस्मिन्विकारे, देहे दर्शनं गतः' (आ० द०) ॥ ३ ॥

† 'उद्घाटितेऽपवारिते, दोषजागन्तुरेक एव गणीय' (आ० द०) ॥ ६ ॥

‡ 'पित्तस्य इति पुष्पपाठ' (आ० द०) ॥ ७ ॥

१ 'अथवापि यत्र' इत्यत्र 'अथ यत्र दृष्टो' इति पाठाभिप्रायेण ।

स्वरूपाख्यान, विदग्धत्वादेव कफस्य लवणत्वसिद्धे । आक्सचित इत्यनेन सचय-पूर्वक कोप दर्शयति, हेतुभूयस्त्वेन चयमन्तरेणापि कोपदर्शनात् । यदुक्त,–"न केवल चय प्राप्य दोषा कुप्यन्ति देहिनाम् । अन्यतोऽपि हि कुप्यन्ति हेतुबाहुल्यतो बलात्"–इति ॥ ७ ॥

*घ्राणे भृशं दाहसमन्विते तु विनिःसरेद्धूम इवेह वायुः ।
नासा प्रदीप्तेव च यस्य जन्तोर्व्याधिं तु तं दीप्तमुदाहरन्ति ॥ ८ ॥

दीप्तमाह—घ्राणे भृशमित्यादि । प्रदीप्तेवेति प्रज्वलितेव ॥ ८ ॥

उच्छ्वासमार्गं तु कफः सवातो रुन्ध्यात् प्रतीनाहमुदाहरेत्तम् ।

प्रतीनाहमाह—उच्छ्वासमार्गमित्यादि ॥—

†घ्राणाद्घनः पीतसितस्तनुर्वा दोषः स्रवेत् स्रावमुदाहरेत्तम् ॥ ९ ॥

नासास्रावमाह—घ्राणादित्यादि । दोष इति कफ ॥ ९ ॥

‡घ्राणाश्रिते स्रोतसि मारुतेन गाढं प्रतप्ते परिशोषिते च ।
कृच्छ्राच्छ्वसेदूर्ध्वमधश्च जन्तुर्यस्मिन् स नासापरिशोष उक्तः ॥१०॥

नासाशोषमाह—घ्राणाश्रिते स्रोतसीत्यादि । अत्र च वायुकृतस्रोत शोषणेन सहृतश्लेष्मशोषो बोद्धव्य , प्रतप्त इत्यनेन पित्तमपि गम्यते, प्रतपनस्य पित्तमन्त-रेणासम्भवात् । तथाच कश्चित् पठति,–"घ्राणाश्रिते श्लेष्मणि मारुतेन पित्तेन गाढ परिशोषिते च"–इति । प्रतप्त इत्यस्य स्थाने 'प्रदीप्ते' इति पाठान्तरे स एवार्थं । कृच्छ्राच्छ्वसेदूर्ध्वमधश्च यस्मिन्निति कष्टेनोच्छ्वासनिश्वासौ करोति यत्रेत्यर्थं ॥ १० ॥

शिरोगुरुत्वमरुचिर्नासास्रावस्तनुः स्वरः ।
क्षामः ष्ठीवत्यथाभीक्ष्णमामपीनसलक्षणम् ॥ ११ ॥
आमलिङ्गान्वितः श्लेष्मा घनः खेषु निमज्जति ।
स्वरवर्णविशुद्धिश्च परिपक्वस्य लक्षणम् ॥ १२ ॥

चिकित्साभेदार्थं पीनसस्यामपक्वलक्षणमाह—शिरोगुरुत्वमित्यादि । तनुरघन । स्वर क्षाम इति अविस्पष्ट वचनम् । ष्ठीवत्यथाभीक्ष्णमिति मुहुर्मुहुर्नासिकया श्लेष्माण निरस्यतीत्यर्थं । आमरसान्वितेन दोषेण शिरोगुरुत्वादय । 'आमलिङ्गान्वित श्लेष्मा घन खेषु निमज्जति' इत्यादि पक्वलक्षणम् । आमलिङ्गै शिरोगुरुत्वादिभिर-

* 'विदेहेऽस्य लक्षणम्–"धूमायते यदा नासा चलत्कुप्यति दीप्यते । निश्चरेत्तम उच्छ्वासस्त व्याधिं दीप्तमादिशेत् '–इति' ( आ० द० ) ॥ ८ ॥

† 'अस्य लक्षण विदेहे–"स्रोत शृङ्गाटके श्लेष्मा चित क्लेदित ऊष्मणा । निशेषा स्यन्दते रात्रौ नासास्राव [illegible] विदु "–इति' ( आ० द० ) ॥ ९ ॥

‡ 'वैदेहेऽस्य लक्षणम्–"पित्तवातौ यदा घ्राणे कफरक्ते विशोषयेत् । तदा स्यादुच्छ्वसे-न्नासा तस्य शुष्क विधीयते ॥ मृगतृष्णावच्चूर्णेन नासाशोष तु [illegible] विदु "–इति' ( आ० द० ) ॥ १० ॥

न्वित श्लेष्मा निमज्जति लीनो भवति । अयमर्थ —श्लेष्मा तावल्लीनो भवति, आमलिङ्गान्यपि लीनानि भवन्ति, तथाच "तनुत्वमामलिङ्गानाम्" इति सुश्रुत । 'न सज्जति' इति पाठान्तरे न सक्तो भवति, न तिष्ठतीति यावत् । तदामलिङ्गान्वित स्रोकेनामलिङ्गेनान्वित । घन स्त्यान । खेषु नासारन्ध्रेषु, 'स्थित' इति शेष , व्यत्ययपेक्षया बहुवचनम् । स्वरविशुद्धि स्वरभेदाभाव , वर्णविशुद्धि प्रकृतिसवर्णता ॥ ११ ॥ १२ ॥

***संधारणाजीर्णरजोतिभाष्यक्रोधर्तुवैषम्यशिरोभितापैः ।**
**प्रजागरातिस्वपनाम्बुशीतैरवश्यया मैथुनबाष्पधूमैः ।**
**संस्त्यानदोषे शिरसि प्रवृद्धो वायुः प्रतिश्यायमुदीरयेत्तु ॥ १३ ॥**
**चयं गता मूर्धनि मारुतादयः पृथक् समस्ताश्च तथैव शोणितम् ।**
**प्रकुप्यमाणा विविधैः प्रकोपणैस्ततः प्रतिश्यायकरा भवन्ति हि ॥**

प्रतिश्याय पञ्चविधो भवति, वातपित्तकफसंनिपातरक्तजभेदात् , तस्य निदान द्विविध, एक सद्योजनक तच्च बलवत्त्वेन चयं नापेक्षत एव, अपर चयादिक्रमेण जनक, चयादिक्रमोत्पन्नश्च दोषो गरीयान् सकलशरीरसभावनया बहुमूलत्वात् । तत्र सद्योजनकनिदानपूर्विका तस्य सप्राप्तिमाह—संधारणेत्यादि ।—संधारण पुरीषादिवेगधारण, रजो धूलि , शिरोभिताप शिरोऽभितप्यते येन स शिरोभितापो धूमादि , रजोधूमादयश्च नासाप्रविष्टा सन्तो हेतव । अतिस्वपनं दिवास्वपनमित्यर्थ । अवश्यया तुषारेण । संस्त्यानदोषे शिरसीति घनीभूतश्लेष्मणि शिरसि । सुश्रुतेनापि सद्योजनक निदान पठित, तद्यथा,—"नारीप्रसङ्ग शिरसोऽभितापो धूमो रज शीत मतिप्रताप । संधारणे मूत्रपुरीषयोश्च सद्य प्रतिश्यायनिदानमुक्तम्" ( सु उ त अ २४ )–इति । चयादिक्रमेण जनकमपि दोष दर्शयन्नाह—चयं गता इत्यादि । चय गता इति सामर्थ्यात् स्वे स्वे स्थाने, "स्वस्थानवृद्धिर्दोषाणा चय इत्यभिधीयते"– इति वचनात् । तथैव शोणितमिति चय गतम् । ननु, यदि स्वस्थानस्थिता दोषास्तत् कथ मूर्ध्नि प्रतिश्यायसभव [1] इत्याह—प्रकुप्यमाणा विविधै प्रकोपणैरिति ।— विविधैरिति बलवद्विग्रहदिवास्वप्रादिभि । प्रकोपविशेषश्च प्रसर । यदुक्त,–"प्रकुपितानां पर्युषितकिण्वोदकपिष्टसमवाय इवोद्रिक्ताना प्रसरो भवति" ( सु सू स्था अ २१ )–इति । अत एव, "चयप्रकोपप्रशमा पित्तादीना यथाक्रमम्"—इत्यत्र प्रकोपमात्रमुपात्तम् । एतेन प्रसरेण शिर संप्राप्ता दोषा प्रतिश्यायकरा । अन्ये तु

* 'मारुतादय इति वातपित्तश्लेष्माण एते तथैव शोणितमपि चय गत, ततो मूर्ध्नि प्रतिश्यायकर भवतीति योज्यम् । अथवा–सर्वशरीरचरास्तु वातपित्तश्लेष्माण सरक्ता , सर्वत्रैतत्कार्यदर्शनात् । तत इति प्रकोपविशेषात् प्रसरादनन्तरम् । तथा चरक –"घ्राणमूले स्थित श्लेष्मा रुधिर पित्तमेव च । मारुताध्मातशिरस श्यायते मारुत प्रति ॥ प्रतिश्यायस्ततो घोरो जायते देहकर्षण "–इति' ( भा० द० ) ॥ १३ ॥ १४ ॥

१ 'प्रकोप्यमाणा विविधै ' इति पाठान्तरम् । अयमेव पाठो ज्यायान्, अन्तर्भावितण्यर्थकल्पने गौरवात्।

चय गता मूर्धनीति यथास्थितमेव योजयन्ति, उदानवायोरूर्ध्वगतित्वाच्छिरस्यपि सभवात्, त्वक्सिराश्रितत्वात् पित्तास्रजो कफस्य च निसर्गत शिरोवस्थिते शिरसि चय इति। तत इति प्रकोपविशेषात् प्रसरादनन्तरम्। प्रतिश्याय इति वात प्रत्य-भिमुख श्यायो गमन कफादीनां यत्र स प्रतिश्याय। 'श्यैङ्' गतौ, इत्यस्य प्रयोग। तथाच चरक,–"घ्राणमूले स्थित श्लेष्मा रुधिरं पित्तमेव वा। मारुताध्मातशिरस श्यायते मारत प्रति" ( च चि स्था अ. ८ ) इति ॥ १३ ॥ १४ ॥

क्षवप्रवृत्ति शिरसोऽतिपूर्णता
स्तम्भोऽङ्गमर्द• परिहृष्टरोमता।
उपद्रवाश्चाप्यपरे पृथग्विधा
नृणां प्रतिश्यायपुर सरा• स्मृता• ॥ १५ ॥

तस्य पूर्वरूपमाह—क्षवप्रवृत्तिरित्यादि। उपद्रवाश्चाप्यपरे इति उपद्रवास्तत्कालभा-विनो रोगा, नतु पारिभाषिका पश्चात्कालभाविन, ते च घ्राणधूमायनमन्थादय। यदाह विदेह,—"पूर्वरूपाणि दृश्यन्ते प्रतिश्याये भविष्यति। घ्राणधूमायन मन्थ क्षवथुस्तालुदारणम्॥ कण्ठध्वसो मुखस्राव शिरस पूरण तथा"–इति। पुर सरा इति पूर्वरूपाणि ॥ १५ ॥

*आनद्धा पिहिता नासा तनुस्रावप्रसेकिनी।
गलताल्वोष्ठशोपश्च निस्तोद• शङ्खयोस्तथा ॥ १६ ॥
क्षवप्रवृत्तिरत्यर्थं वक्त्रवैरस्यमेव च।
भवेत् स्वरोपघातश्च प्रतिश्यायेऽनिलात्मके ॥ १७ ॥
उष्ण• सपीतक स्रावो घ्राणात् स्रवति पैत्तिके।
कृशोऽतिपाण्डु संतप्तो भवेदुष्णाभिपीडित ॥ १८ ॥
सधूममग्नि सहसा वमतीव स मानव।
घ्राणात् कफ कफकृते शीतः पाण्डु स्रवेद्बहु।
शुक्लावभास शुक्लाक्षो भवेद्गुरुशिरा नर ॥ १९ ॥
कण्ठताल्वोष्ठशिरसा कण्डूभिरभिपीडित•।

वातादिप्रतिश्यायलिङ्गान्याह—आनद्धेत्यादि। आनद्धा विबद्धा। पिहिता सपि धानेव। निस्तोद सूचिव्यधनवद्व्यथा। शङ्खयोरिति भ्रूपुच्छान्तयो। सपीतक इति ईषत् पीत। पित्तप्रतिश्यायवान् मानव कृशो भवति। अतिपाण्डुर्धूसर। उष्णाभि पीडित इति उष्णगुणेनाभिपीडित इत्यर्थ ॥ १६–१९ ॥—

* 'आध्माता पूरितेवेति यावत्। तथा गलताल्वोष्ठशोषादयो भवन्ति, निस्तोद शूल-व्यधनवद्व्यथा, श्लैष्मिकमाह–सधूममित्यादि। शुक्लावभास श्वेतवपु, श्वेताक्ष उच्छून नयन' ( आ० द० ) ॥ १६–१९ ॥

१ एतच्च–'शुक्लावभास श्वेताक्ष' इति पाठाभिप्रायेण।

*भूत्वा भूत्वा प्रतिश्यायो यस्याकस्मान्निवर्तते ॥ २० ॥
संपक्वो वाऽप्यपक्वो वा स सर्वप्रभवः स्मृतः ।

सन्निपातजमाह—भूत्वेत्यादि । भूत्वा भूत्वेति वीप्सया पुनः पुनः सम्भवं दर्शयति । अन्यतमदोषस्य कालादिनाऽनवधारितेन बलहानेन निवृत्तिः, अकस्मात् प्रवृत्तिरप्यसम्यङ्निवृत्तदोषस्य कालादिना बललाभात् । अत्र यद्यपि दोषत्रयलिङ्गानि नोक्तानि, तथाऽपि सर्वप्रभवत्वात् प्रत्येतव्यानि । असाध्यश्चायं दुष्टतां गतः सन्, "नृणां दुष्टप्रतिश्यायस्त्वसाध्यः सर्वजः स्मृतः"—इति विदेहवचनात् ॥ २० ॥—

प्रक्लिद्यते पुनर्नासा पुनश्च परिशुष्यति ॥ २१ ॥
पुनरानह्यते वाऽपि पुनर्विव्रियते तथा ।
निःश्वासो वाऽतिदुर्गन्धो नरो गन्धान् न वेत्ति च ॥ २२ ॥
एवं दुष्टप्रतिश्यायं जानीयात् कृच्छ्रसाधनम् ।

एकदोषस्यापि दुरुपचाराद्दोषद्वयानुबन्धेन दुष्टतां गतस्य दोषत्रयसम्बन्धसाम्येन सन्निपातजानन्तरं लिङ्गमाह—प्रक्लिद्यते पुनर्नासेत्यादि । आनह्यत इति विबध्यते । विव्रियत इति विगतावरणा भवतीत्यर्थः । क्लेदशोषपिधानविवरणानि नैककालं भिन्नदोषजानि बोद्धव्यानि, तेन विरोधो नोद्भावनीयः । एवमिति इत्थम्भूतलिङ्गं दुष्टप्रतिश्यायं परस्परविरुद्धोपक्रमदोषसम्बन्धात् कृच्छ्रसाध्यं जानीयात् । अयं च पञ्चानामेवावस्थान्तरतयाऽनन्यत्वान्न षष्ठः । ननु, अवस्थान्तरत्वेऽप्यभिष्यन्दादधिमन्थ इव भिन्नो भविष्यति ? न, तद्वद्वातादिजत्वेनानिर्देशात् ॥ २१ ॥ २२ ॥

रक्तजे तु प्रतिश्याये रक्तस्रावः प्रवर्तते ॥ २३ ॥
ताम्राक्षश्च भवेज्जन्तुरुरोघातप्रपीडितः ।
दुर्गन्धोच्छ्वासवदनो गन्धानपि न वेत्ति सः ॥ २४ ॥

रक्तजलिङ्गमाह—रक्तज इत्यादि । उरोघातप्रपीडित इति उरोघातस्तन्त्रान्तरपठितलक्षणः, तेन प्रकर्षेण पीडितः । तद्यथा,—"उरः क्षतमुरःस्तम्भः पूतिकर्णकफोरसः । सकासः सज्वरो ह्येष उरोघातः सपीनसः"—इति । अत्र पित्तप्रतिश्यायलिङ्गान्यपि बोद्धव्यानि, तुल्यत्वात् पित्तरक्तयोः । तथा च क्वचित् पठ्यते,—"पित्तप्रतिश्यायकृतैर्लिङ्गैश्चापि समन्वितः"—इति ॥ २३ ॥ २४ ॥

सर्व एव प्रतिश्याया नरस्याप्रतिकारिणः ।
दुष्टतां यान्ति कालेन तदाऽसाध्या भवन्ति हि ॥ २५ ॥
मूर्च्छन्ति चात्र क्रिमयः श्वेताः स्निग्धास्तथाऽणवः ।
[1]क्रिमितो यः शिरोरोगस्तुल्यं तेनास्य लक्षणम् ॥ २६ ॥

अप्रतिक्रियया कालान्तरेण सर्व एव दुष्टप्रतिश्याया भवन्ति, ते चासाध्या इत्याह—सर्व एवेत्यादि । मूर्च्छन्ति चात्र क्रिमय इति अत्रेति एषु, बहुवचनान्तात्त्रल्प्रत्यय-

* 'केचित् 'सर्वप्रभवः स्मृतः' इत्यस्याग्रेऽधिकं पादद्वयं पठन्ति, तच्च—"लिङ्गानि चैव सर्वेषां पीनसानां च सर्वजे" इति सर्वजे प्रतिश्याये सर्वेषां वातादिजानां पीनसानां लिङ्गानि भवन्तीति योज्यम्' ( आ० द० ) ॥ २० ॥—

१ 'क्रिमिजो यः शिरोरोग' इति पाठान्तरम् ।

विधि , अन्ये तु प्रत्यासन्नत्वाद्रक्तज एव क्रिमिमूर्च्छनं वदन्ति । श्वेता इति कफाधिकत्वात् प्रतिश्यायस्य सर्वत्र कफजा एव श्वेतक्रिमयो भवन्ति । क्रिमितो य शिरोरोगस्तुल्य तेनास्य लक्षणमिति क्रिमिजशिरोरोगेणेह तुल्य लिङ्ग, तच्च 'निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रम्'-इत्यादिना वक्ष्यमाणम् ॥ २५ ॥ २६ ॥

बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं घोरांश्च नयनामयान् ।
शोथाग्निसादकासांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः ॥ २७ ॥

अत परमपरान् विकारान् प्रवृद्धा प्रतिश्याया कुर्वन्ति, तानाह—बाधिर्यमित्यादि । घोराश्चनयनामयानित्यभिधानादेवान्ध्ये लब्धे विशेषेण तत्करत्वप्रतिपादनार्थमान्ध्यग्रहणम् । अघ्रत्वमिति ॥ जिघ्रतीत्यघ्रस्तस्य भावोऽघ्रत्वम् । 'घ्रा' गन्धोपादाने, इत्यस्मात् 'सुपि स्थ' इत्यत्र योगविभागात् कप्रत्यय ॥ २७ ॥

*अर्बुदं सप्तधा शोथाश्चत्वारोऽर्शश्चतुर्विधम् ।
चतुर्विधं रक्तपित्तमुक्तं घ्राणेऽपि तद्विदु. ॥ २८ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने नासारोगनिदान समाप्तम् ॥ ५८ ॥

सुश्रुते नासारोगा एकत्रिंशदुक्ता ,अत्राप्यपीनसमारभ्य प्रतिश्यायपर्यन्तेन पञ्चदशोक्ता , शेषसंख्यापूरणायापरान् षोडश नासारोगानाह—अर्बुद सप्तधेत्यादि । एकैकदोषरक्तमांसमेद सम्भवत्वेन षडर्बुदानि, शालाक्यसिद्धान्तेन सन्निपातजमधिक, एव सप्त । तथाच विदेह ,—"सर्वलिङ्ग रुजायुक्तमर्बुदं विद्धि सर्वजम्"-इति । शोथाश्चत्वारो वातपित्तकफसन्निपातजभेदात्, एवमर्शोऽपि चतुर्विध, रक्तपित्त चतुर्विधमपि रक्तपित्तत्वसामान्यादेकत्वेन गणनीय, तेन न संख्यातिरेक । अर्बुदादीनां तन्त्र सन्नोक्तानामनाभिधान शालाक्योक्तसंख्यापूरणार्थमाश्रयप्रभावेणातिरिक्तलिङ्गादिख्यापनार्थं च ॥२८॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृताया मधुकोशव्याख्याया नासारोगनिदान समाप्तम् ॥ ५८ ॥

---

## अथ नेत्ररोगनिदानम् ।

†उष्णाभितप्तस्य जले प्रवेशाद्दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ।
स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्च छर्देर्विघाताद्वमनातियोगात् ॥ १ ॥
द्रवात्तथाऽन्नान्निशि सेविताच्च विण्मूत्रवातक्रमनिग्रहाच्च ।
प्रसक्तसंरोदनकोपशोकाच्छिरोऽभिघातादतिमद्यपानात् ॥ २ ॥
तथा ऋतूनां च विपर्ययेण क्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च ।
बाष्पग्रहात् सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च नेत्रे विकाराञ्जनयन्ति दोषा ॥ ३ ॥

---

* 'एवमर्शोऽपि चतुर्विध, सहजरक्तजयोरर्शसोर्दोषजेऽन्तर्भाव । आपार्शोर्बुदयोग्रन्थान्तरे भेद उक्त , तद्यथा—' शिरोललाटतालूना गौरव दु खानिद्रता । अर्शसामर्बुदाना च दोषैर्दोषाकृति समा ॥ कर्णास्ति गोस्तनाकाराण्यर्बुद मोदसमितम्"—इति' (आ० द०)॥२८॥

† 'यथा मध्यन्दिनोल्कापात सौरकिरणेनाभिभूयते । दूरेक्षणात् दूरावलोकनात्, स्वप्नविपर्ययात् रात्रिजागरणाद्दिवास्वप्नाच्च, क्लेशाभिघातात् क्लेश श्रमादिदु ख, तेन सवन्धात्, सूक्ष्मवस्त्ववलोकनात् , एतैर्हेतुभिर्नेत्ररोगा जायन्ते' ( आ० द० ) ॥ ३ ॥

इन्द्रियाधिष्ठानगतविकारपारिशेष्यान्नेत्ररोगाभिधानम् । एते च नयनरोगा वातपित्तकफरक्तसन्निपातागन्तुजाः सन्तः षट्सप्ततिः । यदाह सुश्रुतः,–‘तैस्त्रिभिस्त्रिंशदुक्तास्ते कफेनाप्यधिकास्त्रयः । रक्तजाः षोडश प्रोक्ताः सर्वजाः पञ्चविंशतिः । बाह्यौ पुनर्द्वौ च तथा रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः ”( सु उ त अ १ ) इति । षट्सप्ततिश्चैते रोगा आश्रयभेदेन सुश्रुतेनैव विभक्ताः । यदाह,–“नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः । शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु । द्वौ च बाह्याश्रयावन्याविनिमित्तनिमित्तजौ ॥ षट्सप्ततिर्नेत्ररोगाः समहेण प्रकीर्तिताः ” ( सु उ त अ १ ) इति । नेत्रप्रमाणं च सुश्रुतेनैवोक्तम्,–“विद्याद्द्व्यङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसम्मितम् । द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धं भिषङ्नयनबुद्बुदम्” ( सु उ त अ. १ )–इति । द्व्यङ्गुलबाहुल्यं विस्तारेण, अन्तः स्वाङ्गुष्ठोदरसमितं, द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धमायामेन । अन्ये द्व्यङ्गुलबाहुल्यमिति यदुक्तं तत्र द्व्यङ्गुलमानियमं स्वाङ्गुष्ठोदरसमितमित्यनेनाहुः । अयमर्थः,–स्वेनाङ्गुष्ठोदरेण समितं द्व्यङ्गुलबहुलं, द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धमिति चायामविस्ताराभ्यां बोद्धव्यमिति । ननु, यद्यर्धतृतीयाङ्गुलायामं नेत्रं तर्हि “द्व्यङ्गुलायतं च नयनम्” ( सु सू स्था अ ३५ )–इत्यातुरोपक्रमणीयोक्तं विरुध्यते ? नैव, वर्त्ममण्डलं गृहीत्वा गणनयाऽर्धतृतीयाङ्गुलं, तद्विरहात् द्व्यङ्गुलायतमिति न विरोधः । नयनरोगहेतुमाह—उष्णाभितप्तस्येत्यादि ।—उष्णेनातपादिना सन्तप्तदेहस्य जलावगाहनात्, शीताहृतदेहस्योर्ध्वगतेनोष्मणा नयनवेनसोऽभिभवाच्चक्षूरोगोदयः । स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्चेति घर्मरजोधूमानां नयनरुज-धाना हेतुत्वम् । छर्दिर्विघाताद्वान्तिवेगविघातात् । वमनातियोगादतिवान्ते । विण्मूत्रवातक्रमनिग्रहात् विण्मूत्रवातानां क्रमेण शनैः शनैर्निग्रहाद्वेगविधारणात् । प्रसक्तसंरोदनशोकक्रोधादिति प्रसक्तं निरन्तरं कृतसंरोदनादेरित्यर्थः । ऋतुविपर्ययेण एकर्तुचर्याया अन्यर्तौ करणेन । क्लेशाभिघातात् क्लेशः कायादिदुःखं तेनाभिसम्बन्धात् । बाष्पनिग्रहादश्रुवेगधारणात् । यदुक्तं,–“आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि । शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च भवन्ति तीव्राः सह पीनसेन”–इति । नयनरोगसम्प्राप्तिश्च सुश्रुते पठ्यते,–“सिरानुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूर्ध्वमाश्रितैः । जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः ” ( सु उ त अ १ ) इति ॥ १–३ ॥

वातात् पित्तात् कफाद्रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विधः ।
प्रायेण जायते घोरः सर्वनेत्रामयाकरः ॥ ४ ॥

सामान्यपूर्वकत्वाद्विशेषस्य, तथा सर्वनयनरोगहेतुत्वाच्च, आदौ सर्वनयनगतमभिष्यन्दमाह—वातादित्यादि । घोर इति तु महावेदनः । सर्वनेत्रामयाकर इति सर्वेषां नेत्ररोगाणामधिमन्थादीनामाकर उत्पत्तिकरत्वादाकरः स्थानम् । अत एवाह सुश्रुतः –“प्रायेण सर्वे नयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमूलाः ”–( सु उ त अ १ )–इति ॥ ४ ॥

*निस्तोदनस्तम्भनरोमहर्षसंघर्षपारुष्यशिरोऽभितापाः ।
विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ५ ॥

* ‘सङ्घर्षं वालुकापूरिता इव कर्करिका’ ( आ० द० ) ॥ ५ ॥

विधि, अन्ये तु प्रत्यायकत्वात् कफज एव क्रिमिमूर्च्छन वदन्ति । श्वेता इति कफाधिकत्वात् प्रतिश्यायस्य सर्वत्र कफजा एव श्वेतक्रिमयो भवन्ति । क्रिमितो च शिरोरोगस्तुल्य तेनास्य लक्षणमिति क्रिमिजशिरोरोगेणेह तुल्य लिङ्ग, तच्च 'निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रम्'–इत्यादिना वक्ष्यमाणम् ॥ २५ ॥ २६ ॥

बाधिर्यमान्ध्यमघ्रत्वं घोरांश्च नयनामयान् ।
शोथाग्निसादकासांश्च वृद्धाः कुर्वन्ति पीनसाः ॥ २७ ॥

अत परमपरान् विकारान् प्रवृद्धा प्रतिश्याया कुर्वन्ति, तानाह—बाधिर्यमित्यादि । घोरान्नयनामयानित्यभिधानादेवान्ध्ये लब्धे विशेषेण तत्करत्वप्रतिपादनार्थमान्ध्यग्रहणम् । अघ्रत्वमिति न जिघ्रतीत्यघ्रस्तस्य भावोऽघ्रत्वम् । 'घ्रा' गन्धोपादाने, इत्यस्मात् 'तुभि स्थ' इत्यत्र योगविभागात् कप्रत्यय ॥ २७ ॥

*अर्बुदं सप्तधा शोथाश्चत्वारोऽर्शश्चतुर्विधम् ।
चतुर्विधं रक्तपित्तमुक्तं घ्राणेऽपि तद्विदुः ॥ २८ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने नासारोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५८ ॥

सुश्रुते नासारोगा एकत्रिंशदुक्ता, अत्राप्यपीनसमारभ्य प्रतिश्यायपर्यन्तेन पञ्चदशोक्ता, शेषसङ्ख्यापूरणार्थमपरान् षोडश नासारोगानाह—अर्बुदं सप्तधेत्यादि । एकैकदोषरक्तमांसमेदः समस्तत्वेन षडर्बुदानि, शालाक्यसिद्धान्तेन सन्निपातजमधिकं, एवं सप्त । तथाच विदेह,–"सर्वलिङ्गं रक्तायुक्तमर्बुदं विद्धि सर्वजम्"–इति । शोथाश्चत्वारो वातपित्तकफसन्निपातजभेदात्, एवमर्शोऽपि चतुर्विधं, रक्तपित्तं चतुर्विधमपि रक्तपित्तत्वसामान्यादेकत्वेन गणनीयं, तेन न सङ्ख्यातिरेकः । अर्बुदादीनां च तन्त्रोक्तनामत्राभिधानं शालाक्योक्तसङ्ख्यापूरणार्थमाश्रयप्रभावेणातिरिक्तलिङ्गादिख्यापनार्थं च ॥२८॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां नासारोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५८ ॥

---

## अथ नेत्ररोगनिदानम् ।

†उष्णाभितप्तस्य जले प्रवेशाद्दूरेक्षणात् स्वप्नविपर्ययाच्च ।
स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्च छर्देर्विघाताद्वमनातियोगात् ॥ १ ॥
द्रवात्तथाऽन्नान्निशि सेविताच्च विण्मूत्रवातक्रमनिग्रहाच्च ।
प्रसक्तसंरोदनकोपशोकाच्छिरोऽभिघातादतिमद्यपानात् ॥ २ ॥
तथा ऋतूनां च विपर्ययेण क्लेशाभिघातादतिमैथुनाच्च ।
बाष्पग्रहात् सूक्ष्मनिरीक्षणाच्च नेत्रे विकाराञ्जनयन्ति दोषाः ॥ ३ ॥

---

* 'एवमर्शोऽपि चतुर्विधं, सहजरक्तजयोरर्शसोर्दोषेष्वेवान्तर्भाव । घ्राणार्शोर्बुदयोश्च'न्यत्र भेद उक्त, तद्यथा–"शिरोरुक्पादतादल्पं गौरवं दुष्टनिद्रता । घ्राणार्शसामर्बुदानां च दोषैर्दोषाकृति तथा ॥ अर्शांसि गोस्तनाकाराण्यर्बुदे चोत्सृतानि च"–इति' (आ० द०)॥२८॥

† 'यथा मध्यन्दिनोल्कापातं सौरकिरणेनाभिभूयते । दूरेक्षणात् दूरावलोकनात्, स्वप्नविपर्ययात् रात्रिजागरणादिवास्वप्नाच्च, क्लेशाभिघातात् क्लेश नामादिदु ख, तेन सन्तापात्, सूक्ष्मवस्त्ववलोकनात्, एतैर्हेतुभिर्नेत्ररोगा जायन्ते' ( आ० द० ) ॥ ३ ॥

इन्द्रियाधिष्ठानगतविकारपारिशेष्यान्नेत्ररोगाभिधानम् । एते च नयनरोगा वातपित्तकफरक्तसन्निपातागन्तुजाः सन्तः षट्सप्ततिः । यदाह सुश्रुतः,—"तैस्त्रिभिस्त्रिरादुक्तास्ते कफेनाप्यधिकास्त्रयः । रक्तजाः षोडश प्रोक्ताः सर्वजाः पञ्चविंशतिः । बाह्यौ पुनर्द्वौ च तथा रोगाः षट्सप्ततिः स्मृताः" ( सु. उ. तं. अ. १ ) इति । षट्सप्ततिश्चैते रोगा आश्रयभेदेन सुश्रुतेनैव विभक्ताः । यदाह,—"नव सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजाः स्त्वेकविंशतिः । शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु । द्वौ च बाह्याश्रयावन्यावनिमित्तनिमित्तजौ ॥ षट्सप्ततिर्नेत्ररोगाः समस्तेन प्रकीर्तिताः" ( सु. उ. तं. अ. १ ) इति । नेत्रप्रमाणं च सुश्रुतेनैवोक्तम्,—"विद्याद् द्व्यङ्गुलबाहुल्यं स्वाङ्गुष्ठोदरसम्मितम् । द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धं भिषङ्नयनबुद्बुदम्" ( सु. उ. तं. अ. १ )—इति । द्व्यङ्गुलबाहुल्यं विस्तारेण, अन्तः स्वाङ्गुष्ठोदरसम्मितं, द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धमायामेन । अन्ये द्व्यङ्गुलबाहुल्यमिति यदुक्तं तत्र द्व्यङ्गुलमाननियमं स्वाङ्गुष्ठोदरसम्मितमित्यनेनाहुः । अयमर्थः,—स्वेनाङ्गुष्ठोदरेण सम्मितं द्व्यङ्गुलबहुलं, द्व्यङ्गुलं सर्वतः सार्धमिति चायामविस्ताराभ्यां बोद्धव्यमिति । ननु, यद्यर्धतृतीयाङ्गुलायामं नेत्रं तर्हि "द्व्यङ्गुलायतं च नयनम्" ( सु. सू. स्था. अ. ३५ )—इत्याङ्गुरोपकरणीयोक्तं विरुध्यते ? नैव, कर्ममण्डलं गृहीत्वा गणनयाऽर्धतृतीयाङ्गुलं, तद्विरहात् द्व्यङ्गुलायतमिति न विरोधः । नयनरोगहेतुमाह—उष्णाभितप्तस्येत्यादि ।—उष्णेनातपादिना सन्तप्तदेहस्य जलावगाहनात्, शीताप्लुतदेहस्योर्ध्वंगतेनोष्मणा नयनतेजसोऽभिभवान्नेत्ररोगोदयः । स्वेदाद्रजोधूमनिषेवणाच्चेति घर्मरजोधूमानां नयनसंरम्भाना हेतुत्वम् । छर्दिर्विघाताद्वान्तिवेगविघातात् । वमनातियोगादतिवान्तेः । विण्मूत्रवातक्रमनिग्रहात् विण्मूत्रवातानां क्रमेण शनैः शनैर्निग्रहाद्वेगविधारणात् । प्रसक्तसंरोदनशोकक्रोधादिति प्रसक्तं निरन्तरं कृतसंरोदनादेरित्यर्थः । ऋतुविपर्ययेण एषर्तुवर्ण्यया अन्यर्तौ करणेन । क्लेशाभिघातात् क्लेशः कायादिदुःखं, तेनाभिसम्बन्धात् । बाष्पनिग्रहादश्रुवेगधारणात् । यदुक्तं,—"आनन्दजं वाऽप्यथ शोकजं वा नेत्रोदकं प्राप्तममुञ्चतो हि । शिरोगुरुत्वं नयनामयाश्च भवन्ति तीव्रा सह पीनसेन"—इति । नयनरोगसंप्राप्तिश्च सुश्रुते पठ्यते,—"सिरानुसारिभिर्दोषैर्विगुणैरूर्ध्वमाश्रितैः । जायन्ते नेत्रभागेषु रोगाः परमदारुणाः" ( सु. उ. तं. अ. १ ) इति ॥ १-३ ॥

वातात् पित्तात् कफाद्रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विधः ।
प्रायेण जायते घोरः सर्वनेत्रामयाकरः ॥ ४ ॥

सामान्यपूर्वकत्वाद्विशेषस्य, तथा सर्वनयनरोगहेतुत्वाच्च, आदौ सर्वनयनगतमभिष्यन्दमाह—वातादित्यादि । घोर इति दुःसहवेदनः । सर्वनेत्रामयाकर इति सर्वेषां नेत्ररोगाणामधिमन्थादीनामाकर उत्पत्तिकारत्वादाकरः स्थानम् । अत एवाह सुश्रुतः —"प्रायेण सर्वे नयनामयास्ते भवन्त्यभिष्यन्दनिमित्तमूलाः"—( सु. उ. तं. अ. १ )—इति ॥ ४ ॥

*निस्तोदनस्तम्भनरोमहर्षसंघर्षपारुष्यशिरोऽभितापाः ।
विशुष्कभावः शिशिराश्रुता च वाताभिपन्ने नयने भवन्ति ॥ ५ ॥

* 'सङ्घर्षं पांशुनापूरिते इव कर्करिका' ( आ० द० ) ॥ ५ ॥

वातपर्यायलिङ्गमाह—वारंवारमित्यादि। पर्यायेण क्रमेण कदाचिद्भ्रुवि, कदाचिल्लोचने, वायुस्तीव्रां रुजां करोतीति वातपर्यायार्थः ॥ १६ ॥

**यत् कूणितं दारुणरूक्षवर्त्म संदह्यते चाविलदर्शनं यत्।**
**सुदारुणं यत् प्रतिबोधने च शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षि ॥ १७ ॥**

शुष्काक्षिपाकमाह—यत्कूणितमित्यादि। कूणितमिति निमीलितम्। दारुणं कठिनं रूक्षं च वातशोषाद्वर्त्म यस्य तद्दारुणरूक्षवर्त्म। संदह्यते सदाहं भवति। आविलदर्शनमाकुलदर्शनम्। सुदारुणं कृच्छ्रोन्मीलनम्। प्रतिबोधने उन्मेषणे। सुदारुणं सुकठिनमिति गदाधरः। शुष्काक्षिपाकोपहतं तदक्षीति तच्छुष्केणाक्षिपाकेनोपहतमक्षीत्यर्थः। अयं रोगः सरक्तवातजन्यः। यदाह करालः,—"कूणितं खरवर्त्माक्षि कृच्छ्रोन्मीलाविलेक्षणम्। सदाहं सास्रजाद्वाताच्छुष्कपाकान्वितं वदेत्"—इति ॥१७॥

**यस्यावटुः कर्णशिरोहनुस्थो मन्यागतो वाऽप्यनिलोऽन्यतो वा।**
**कुर्याद्रुजं वै भ्रुवि लोचने च तमन्यतोवातमुदाहरन्ति ॥ १८ ॥**

अन्यतोवातमाह—यस्येत्यादि। अवटुर्घाटा। मन्ये ग्रीवापार्श्वशिरे। अन्यतो वेति उक्तप्रदेशादितरत्र पृष्ठे, सप्तम्यर्थे तसिः। अन्यत्र वातस्य कारणस्यावस्थानं, अन्यत्र लोचने भ्रुवि च रुजां करोतीत्यन्यतोवातः। विदेहेऽप्युक्तम्,—"मन्ययोरन्तरे वायुः स्थितः पृष्ठतोऽपि वा। करोति भेदं निस्तोदं शङ्खे चाक्ष्णोर्भ्रुवोस्तथा। तमाहुरन्यतोवातं रोगं दृष्टिविदो जनाः"—इति ॥ १८ ॥

**श्यावं लोहितपर्यन्तं सर्वं चाक्षि प्रपच्यते।**
**सदाहशोथं सास्रावमम्लाध्युषितमम्लतः ॥ १९ ॥**

अम्लाध्युषितमाह—श्यावमित्यादि। श्यावमीषन्नीलम्। अम्लत इत्यम्लभोजनात्। अम्लाध्युषितमिति पित्ताध्युषितं, कारणे कार्योपचारात् ॥ १९ ॥

**अवेदना वाऽपि सवेदना वा यस्याक्षिराज्यो हि भवन्ति ताम्राः।**
**मुहुर्विरज्यन्ति च याः स तादृग्व्याधिः सिरोत्पात इति प्रदिष्टः॥२०॥**

सिरोत्पातमाह—अवेदना वाऽपीत्यादि। अक्षिराज्य इति अक्षिसिराः। विरज्यन्तीति विरक्ता भवन्ति, विशेषरक्ता भवन्तीत्यर्थः। रक्तजोऽयम् ॥ २० ॥

***मोहात्सिरोत्पात उपेक्षितस्तु जायेत रोगस्तु सिराप्रहर्षः।**
**ताम्राभमस्रं स्रवति प्रगाढं तथा न शक्नोत्यभिवीक्षितुं च ॥ २१ ॥**

सिराप्रहर्षमाह—मोहादित्यादि। इति सर्वगताः ॥ २१ ॥

**†निमग्नरूपं तु भवेद्धि कृष्णे सूच्येव विद्धं प्रतिभाति यद्वै।**
**स्रावं स्रवेदुष्णमतीव यच्च तत् सव्रणं शुक्र(क्रं)मुदाहरन्ति ॥ २२ ॥**

* 'ताम्रमस्रम्, अच्छं निर्मलम्। प्रगाढमित्यतिशयेन अभिवीक्षितुं द्रष्टुं न शक्नोतीत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ २१ ॥

† 'अथ कृष्णगताश्चत्वारः' ( आ० द० ) ॥ २२ ॥

१ "एतच्च–'ताम्राच्छमस्रम्' इति पाठाभिप्रायेण।

सन्धिवर्त्मशुक्लकृष्णदृष्टिगतेषु मध्ये प्राधान्याद्दृष्टिगतेषु वक्तुमुचितेषु स्वल्पवक्तव्यतया दृष्टिमण्डलप्रत्यासत्त्या कृष्णगतविकाराभिधानम् । तत्र सव्रणशुक्रलक्षणमाह—निमग्नरूपमित्यादि । रूपग्रहणमाभासनिषेधार्थं, तेन निमग्नरूपमेव । यत् सूच्येवेत्युपमानं वर्तुलत्वख्यापनाय सूचीव्यधनवद्वेदनादर्शनाय च । स्रावं स्रवेदुष्णमिति स्रवेदुष्णमित्येतावतैव लब्धे स्रावे पुनः स्रावग्रहणं निरन्तरस्रावं लक्षयति । अतिशब्दस्तूष्णेन संबध्यत इति कार्तिकः । उष्णस्रावता रक्तात्मकत्वात् । शुक्रस्थानं चात्यन्तरुग्बोद्धव्या, सव्रणत्वात् । यदाहाव्रणलक्षणे सुश्रुतः,—"नातिरुगश्रुयुक्तम्" ( सु. उ. त. अ. ५ )—इति । तत् सव्रणं सक्षतं, क्षते तु रुजा युक्तैव, नयने ■ सुकुमारे विशेषेणोदाहरन्ति विदेहप्रभृतयः । विदेहेऽप्युक्तं,—"रक्तराजीनिभं कृष्णे छिन्नाभं यत्र लक्ष्यते । सूच्यग्रेणेव तच्छुक्रमुष्णाश्रुस्रावि सव्रणम्"—इति ॥ २२ ॥

दृष्टेः समीपे न भवेत्तु यच्च न चावगाढं न च संस्रवेद्धि ।
अवेदनं वा न च युग्मशुक्रं तत् सिद्धिमायाति कदाचिदेव ॥ २३ ॥

अस्यासाध्यतया निर्दिष्टस्यावस्थावशेन पाक्षिकीं सिद्धिमाह—दृष्टेः समीप इत्यादि । क्षतं हि स्वभावत एव सर्वथोद्घातकरं, अतो दृष्टिसमीपे न साध्यं, उक्तविपर्ययात्तु दृष्टिसमीपेऽपि सुखसाध्यमव्रणम् । न चावगाढमेकत्वग्गतम् । विपर्ययात्त्ववगाढमप्यव्रणं सिध्यति । अत एवाव्रणे वक्ष्यति—गम्भीरजातमिति । न च संस्रवेदिति न चात्यर्थं स्रवेत्, सशब्दस्यातिशयार्थत्वात् । अवेदनं मन्दवेदनं, रक्तस्य कफानुगमात्, वातानुगमात्तु विवेदनं तु न सिध्यति । युग्मं च क्षतशुक्रं कदाऽपि न सिध्यति ॥ २३ ॥

स्यन्दात्मकं कृष्णगतं सचोषं शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासम् ।
वैहायसाभ्रप्रतनुप्रकाशमथाव्रणं साध्यतमं वदन्ति ॥ २४ ॥

इदानीमव्रणशुक्रलक्षणमाह—स्यन्दात्मकमित्यादि । स्यन्दात्मकमभिष्यन्दनिमित्तकं, सर्वेषामक्षिरोगाणामभिष्यन्दनिमित्तत्वेऽपि चास्य नियमप्रतिपादनार्थमभिधानम् । वैहायसाभ्रप्रतनुप्रकाशमिति विहायसि स्थितं वैहायसं, 'तत्र निवासः' इत्यण्, विहायो नभः, आकाशस्थिताभ्रवत् प्रतनुप्रकाशमित्यर्थः । एतेनाच्छत्वं प्रतिपाद्यते । शुक्लत्वं तु शङ्खेन्दुकुन्दप्रतिमावभासमित्यनेनैव लब्धम् । वैहायसाभ्रग्रहणं सजलाभ्रव्यवच्छेदार्थं, तद्धि प्रायः पार्वतं भवतीति कार्तिकः । साध्यतमं सुखसाध्यम् । ननु, गम्भीरजातमित्यादिना कृच्छ्राभिधानेन ? तद्विपर्ययेण सुखसाध्यत्वावगतिः सेत्स्यति, तत् साध्यतमाभिधानेन ? नैव, असत्यत्र साध्यतमाभिधाने उभयत्रापि कृच्छ्रत्वभ्रान्तिः स्यादतस्तदभिधानम् ॥ २४ ॥

*गम्भीरजातं बहुलं च शुक्रं चिरोत्थितं चापि वदन्ति कृच्छ्रम् ।
विच्छिन्नमध्यं पिशितावृतं वा चलं सिरासूक्ष्ममदृष्टिकृच्च ।
द्वित्वग्गतं लोहितमन्ततश्च चिरोत्थितं चापि विवर्जनीयम् ॥ २५ ॥

अव्रणस्यैवावस्थाभेदेन कृच्छ्रत्वमाह—गम्भीरजातमित्यादि । गम्भीरजातं द्वित्रित्व-

* 'सिरास्थमिति सिरा हि चला, अतस्तदाश्रितं शुक्रमपि चलमेव । सव्रणं त्रित्वग्गतं चासाध्यमिति ज्ञेयम् । लोहितमन्तत इति प्रान्तेषु लोहितं व्रणाकारेण । चिरोत्थितं चिरकालजम्' ( आ० द० ) ॥ २५ ॥

ग्गतम् । बहुलं प्रतनुनोऽप्राछनम् । अव्रणस्यैवावस्थाभेदेनासाध्यत्वमाह—विच्छिन्नमध्यमित्यादि । विच्छिन्नमध्यं विदीर्णमांसत्वात् सच्छिद्रं, निम्नमिति यावत्; तद्विपर्ययं तु पिचिताद्रतमुन्नतमांसरूपतया । चलमित्यनवस्थितम् । सिरासूक्ष्ममिति सिरावृतत्वात् सूक्ष्मं; अन्ये 'सिरासक्तं' इति पठन्ति, व्याचक्षते च–सिरासक्तं यतस्ततश्चलं, सिराणां चलत्वात्; सिरा हि मत्स्यवत् परिवर्तमाना मुहुर्मुहुश्चलन्ति; अन्ये 'सिराशुक्रं' इति पाठान्तरं व्याचक्षते; सिराभिः शुक्रं, सिराशुक्रं सिराशुक्रत्वहेतुकं; न हि सिराभवनं शुक्रत्वे हेतुरिति गदाधरः । अदृष्टिकृदिति दर्शनाभावकारि, दृष्टेः समीपे न भवेदित्यस्य विपर्ययोऽयम् । द्वित्वग्गतं द्विपटलाश्रितं, एतदपरलिङ्गसहितमसाध्यं, न तु केवलं; द्वित्वग्गतस्य कृच्छ्रत्वाभिधानात् । लोहितमन्ततश्चेति मध्ये शुक्रमन्ते लोहितं, मणाकारेण ॥ २५ ॥

उष्णाश्रुपातः पिडका च नेत्रे यस्मिन् भवेन्मुद्गनिभं च शुक्रम् ।
तदप्यसाध्यं प्रवदन्ति केचिदन्यच्च यत्तित्तिरिपक्षतुल्यम् ॥ २६ ॥

न केवलमेवंविधं परमसाध्यं किन्त्वन्यादृशमपीत्यत आह—उष्णाश्रुपात इत्यादि । पिडका च नेत्र इत्यन्तं द्वित्वग्गतशुक्रे । तथाऽऽह विदेहः–"एकत्वग्गतमेवं स्याद्वित्वग्गतमिदं भवेत् । चोपोष्णास्रावदाहाश्च तृष्णा च पिडकोद्गमः"–इति । मुद्गनिभं च शुक्रमित्याकारेण, एतद्वित्वग्गतम् । तथाच विदेहः,–"व्यक्तमुद्गफलाकारं शुक्रं द्वित्वग्गतं भवेत्"–इति । द्वित्रित्वग्गतस्याव्रणशुक्रस्य कृच्छ्रत्वे एतत् पिडकोद्गममुद्गफलाकारत्वेनैवासाध्यत्वं बोध्यम् । अन्ये पुनः सव्रणशुक्रस्य विच्छिन्नमध्यमित्याविकमसाध्यलक्षणं वर्णयन्ति । अत्र पक्षे द्वित्वग्गतमिति केवलमेवासाध्यलक्षणं, एतच्चायगाढमित्यस्य विपर्ययः । लोहितमन्ततः उष्णाश्रुपातः पिडका चेत्यादि द्वित्वग्गतशुक्रलक्षणमिति । किंत्वियमत्रासङ्गतिः–विच्छिन्नमध्यं सच्छिद्रं, तद्यदि सच्छिद्रत्वं सव्रणशुक्रस्याभ्युपगम्यते, तदा निम्नरूपमित्यनेनैव सिद्धत्वात् पुनरुक्तं स्यात्, किंच सव्रणशुक्रानन्तरमस्य पाठो विफलः स्यात् । अन्ये तु सव्रणाव्रणशुक्रविषयं सामान्यमसाध्यलक्षणमेतदाहुः; यथायोग्यतया कचिल्लिङ्गान्तरयोगेन च व्यवस्थेति च वर्णयन्ति । असाध्यत्वं विदेहादन्येषां मतेनाह–केचिदित्यादि । तित्तिरिपक्षतुल्यमिति शबलं, एतच्चानिषेधादनुमतम् ॥ २६ ॥

*श्वेतः समाक्रामति सर्वतो हि दोषेण यस्यासितमण्डलं च ।
तमक्षिपाकात्ययमक्षिरोगं सर्वात्मकं वर्जयितव्यमाहुः ॥ २७ ॥

इदानीमक्षिपाकात्ययमाह—श्वेत इत्यादि । दोषेण यः कृतः श्वेतः स समाक्रामति । सर्वात्मकं त्रिदोषजं; अन्ये तु स्यन्दात्मकमिति पठित्वा अभिष्यन्दात्मकमाहुः । तदा सर्वेषामभिष्यन्दमूलत्वाद्विशेषार्थमभिधानम् ॥ २७ ॥

†अजापुरीषप्रतिमो रुजावान् सलोहितो लोहितपिच्छिलास्रः ।
विगृह्य कृष्णं प्रचयोऽभ्युपैति तच्चाजकाजातमिति व्यवस्येत् ॥२८॥

* 'कृष्णमण्डलं सर्वतः समाक्रामति' ( मा० द० ) ॥ २७ ॥

† 'अभ्युपैति समन्तादागच्छति । सव्रणशुक्रमव्रणशुक्रमक्षिपाकात्ययः अजकाजातः एवं कृष्णगताश्चक्षूरोगाश्चत्वारः । इति कृष्णजाः' ( मा० द० ) ॥ २८ ॥

अजकाजातमाह—अजापुरीषप्रतिम इत्यादि । अजापुरीषप्रतिमः शुष्काजपुरीषतुल्यः सलोहित ईषल्लोहितः । विगृह्य कृष्णमिति स्वोच्छ्रायेण कृष्णदेशं महत्त्वाद्विच्छिद्य । प्रचय इति प्रकृष्टचय उद्गम इति यावत् । अजकाया मेदोवत् संश्रयस्तृतीयपटलगतत्वेन मेदसः प्रचयो बोद्धव्यः । तथाच विदेहः,—"कृष्णेऽक्ष्णोर्यद्भवेच्छुक्रं छागलीविट्समप्रभम् । सान्द्रपिच्छिलरक्ताभं त्रितयमजकेति सा"—इति ॥ इति कृष्णजाः ॥ २८ ॥

*प्रथमे पटले दोषा यस्य दृष्ट्यां व्यवस्थिताः ।
अव्यक्तानि स रूपाणि कदाचिदथ पश्यति ॥ २९ ॥

कृष्णाश्रितत्वाद्दृष्टिमण्डलस्य दृष्टिजा उच्यन्ते । दृष्टिप्रमाणं तु सुश्रुतेनोक्तं,—"मसूरदलमात्रां तु पञ्चभूतप्रसादजाम्"—( सु. उ. तं. अ. ७ )—इति । अत्र मसूरदलमात्रामिति मसूरार्धदलमात्रां, तथाच निमिः,—"पञ्चभूतात्मिका दृष्टिर्मसूरार्धदलोन्मितिः"—इति । ननु, एवं सुर्हि विरुध्यते, यदाह स एव पुनः,—"नेत्रायामत्रिभागं च कृष्णमण्डलमुच्यते । कृष्णात् सप्तममिच्छन्ति दृष्टिं दृष्टिविदो जनाः" (सु. उ. तं. अ. १)—इति, अत्र कृष्णसप्तमभागत्वेन दृष्टेरुक्तत्वात् । उच्यते, कृष्णसप्तमभागत्वेनापि मसूरार्धदलप्रमाणा दृष्टिरित्येक एवार्थः । ननु, एवमातुरोपक्रमणीयोक्तं 'द्व्यङ्गुलायतं नयनं, नयनत्रिभागपरिमाणा तारका, नवमस्तारकांशो दृष्टिमण्डलम्' ( सु. सू. स्था. अ. ३५ )—इति विरुध्यते । उच्यते, तत्र मण्डलाभिधानेन मण्डलसहिताया दृष्टेरुक्तिः, अत्र तु मण्डलरहिताया इति; मतभेदाद्वा न विरोधः, तारकानवमांशो दृष्टिरिति शाल्यमतं, तारकासप्तमांशो दृष्टिरिति शालाक्यसिद्धान्तेन । ननु, एवं तर्हि 'दृष्टिश्च रोमकूपाश्च न वर्धन्ते' ( सु. शा. स्था. अ. ४ )—इति शारीरोक्तं विरुध्यते, यतः कृष्णसप्तमभागत्वेन दृष्टेरुक्तत्वात् कृष्णवृद्ध्या तद्वृद्धेः संभवात् । नैवं, अत्रान्तरयत्न यत्तु वर्धेत इत्यभिप्रायेणोक्तं दृष्टिर्न वर्धेत इति । दृष्ट्यां च चत्वारि पटलानि । रसरक्ताश्रयं बाह्यं, द्वितीयं मांससंश्रयं, तृतीयं मेदःसंश्रयं, चतुर्थं कालकास्थिसंस्थितम् । तथा च सुश्रुतः,—"तेजोजलाश्रितं बाह्यं तेष्वन्यत् पिशिताश्रितम् । मेदस्तृतीयं पटलमाश्रितं त्वस्थि चापरम् । पञ्चमांशसमं दृष्टेस्तेषां बाहुल्यमिष्यते" ( सु. उ. तं. अ १ )—इति । अत्र तेजःशब्देन रक्तं, जलशब्देन च रसो व्याख्यातः । तेषु पटलेषु बाह्यादिभेदेनाधिष्ठानविशेषप्रभावाद्दोषाणां लिङ्गविशेषमाह—प्रथमे पटल इत्यादि । प्रथमे पटले सर्वाभ्यन्तरे पटले कालकास्थिसंश्रये, न तु बाह्ये, तत्र प्रथमं दोषलिङ्गानुपलब्धेः; यदि तु शुक्रादिवद्बाह्यं प्रथमं प्रदूष्याभ्यन्तरे दोषानुप्रवेशः स्यात्तदा प्रागेव रोगस्तत्रोपलभ्येत, न चैवं दृश्यते । तथाच विदेहः,—"दृष्टेरन्तरमाद्यं तु पटलं समभिद्रुताः" इत्यारभ्य "एकैकमनुपद्यन्ते पर्यायात् पटलान्तरम्"—इति । प्रथमे पटल इत्यादिग्रन्थात् पूर्वं केचित् "सिरानिरभिसंप्राप्य विगुणोऽभ्यन्तरे भृशम्" ( सु. उ. तं. अ १ )—इति संप्रार्थं संप्राप्तिरूपं पठन्ति सुश्रुते, तच "सिरानुसारिभिर्दोषैः (सु. उ. तं. अ. )"—इत्यनेनैव गतार्थमित्यनार्षं टीकाकारै-

* 'तथाच विदेहः—"यदा दोषाः प्रकुपिताः प्राप्य रूपाद्दे गिरे । दृष्टेरन्तरमाद्यं तु पटलं समभिद्रुताः ॥ एकैकमनुपद्यन्ते पर्यायात्पटलान्तरम्" इति' ( मा० द० ) ॥२९॥

र्थाख्यातम् । रूपाणीति रूपवन्ति द्रव्याणि । कदाचिदथ पश्यतीत्यनेनात्राविष्टानविशेषाद्दोषस्याल्पबलता उक्ता भवति । अव्यक्तरूपाण्यपि वक्ष्यमाणभ्रमरारुणवर्णादियुक्तानि वातेन, पित्तेनादित्यखद्योतादिपीतनीलवर्णानि, कफेन सितवर्णानि, रक्तेन रक्तवर्णानि, सन्निपातेन चित्रवर्णानि, एवं द्वितीयतृतीयचतुर्थपटलेष्वपि व्याख्येयम् ॥ २९ ॥

*दृष्टिर्भृशं विह्वलति द्वितीयं पटलं गते ।
मक्षिकामशकांश्चापि जालकानि च पश्यति ॥ ३० ॥
मण्डलानि पताकांश्च मरीचीन् कुण्डलानि च ।
परिप्लवांश्च विविधान् वर्षमभ्रं तमांसि च ॥ ३१ ॥
दूरस्थानि च रूपाणि मन्यते स समीपतः ।
समीपस्थानि दूरे च दृष्टेर्गोचरविभ्रमात् ॥ ३२ ॥
यत्नवानपि चात्यर्थं सूचीपाशं न पश्यति ।

द्वितीयपटलगतस्य लिङ्गमाह—दृष्टिर्भृशं विह्वलतीत्यादि । विह्वलति पुनः पुनरसम्यग्रूपं गृह्णाति, तथाऽविद्यमानान् मक्षिकादीन् पश्यति; अथवा मक्षिकेत्यादिना विह्वलत्वमेव व्याक्रियते । जालकानि जालान्येव । मरीचीनिति रश्मीन् । परिप्लवानिति मण्डूकादीनां परि सर्वतः प्लवान् गतीः । विविधानिति ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्गतश्लेष्मादिदोषवर्णेन नानाविधान्, अन्ये परिप्लवान् विविधानिति नानावर्णान् जलप्लवानित्याचक्षते । गोचरविभ्रमादिति विषयभ्रान्तेः । सूचीपाशं न पश्यतीति सतोऽपि सूक्ष्मस्यानुपलम्भः; सूचीपाशं सूचीरन्ध्रं, पाशं वा गुणम् ॥ ३०–३२ ॥—

ऊर्ध्वं पश्यति नाधस्तात्तृतीयं पटलं गते ॥ ३३ ॥
महान्त्यपि च रूपाणि छादितानीव चाम्बरैः ।
कर्णनासाक्षिहीनानि विकृतानीव पश्यति ॥ ३४ ॥
यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसि ।

तृतीयपटलगतस्य लिङ्गमाह—ऊर्ध्वं पश्यतीत्यादि । ऊर्ध्वं दर्शनाभिधानादधोदर्शनस्य निषेधसिद्धौ तदभिधानं स्वरूपानुवादार्थम् । ननु, पार्श्वयोरीषद्दर्शनार्थं किमित्येतन्न भवति ? उच्यते, ऊर्ध्वाधोगतत्वेनैव पार्श्वस्य परिग्रहादिति कार्तिकः । यदेतद्रूपं पश्यति तत् कीदृशमित्यत आह—महान्त्यपीत्यादि । छादितानीव चाम्बरैरिति आवृतानीव वस्त्रैः । 'अम्बरे' इति पाठान्तरे आकाशे छादितानि केनापि । विकृतानीवेति छिन्नकरपादादीनि । अत्र रागप्राप्तिमाह—यथादोषं च रज्येत दृष्टिर्दोषे बलीयसीति, अस्यार्थः—यथायथं दोषवर्णैररुणपीतसितादिभिर्युज्यते दृष्टिः, रागश्चात्र वर्णमानवचनः । अत एव वक्ष्यति—'कफात् सितः शोणितजः सरक्तः' इति । दोषे बलीयसीति रक्तमांसमेद:सहाये बलवति दोषे, अन्यथा तु तृतीयेऽपि रागो न भवतीति व्यभि·

* 'द्वितीय पटल मांसरक्ताश्रयम् । तथा मक्षिकादीन्यप्यसन्ति यथादोषवर्णानि पश्यति, अथवा वर्षं वृष्टिः, अभ्रं मेघः, तमोऽन्धकारः, यत्नवान् कुर्वन्नपि' (आ० द० ) ॥ ३०–३२ ॥

चार सूच्यत इति गदाधर । ननु, तृतीये कथं रागवर्णन, बाह्यपटलेनावृते दर्शनासंभवात् ? न चाश्मरीवर्णाभिधानवदायुर्वेदप्रामाण्यार्थं भविष्यतीति, अश्मर्यां उत्तरकालमादृष्टौ तथा प्रतीते, इह तु न तादृक् । उच्यते, तृतीयपटलगतस्य दोषस्य तथास्वभावाद्बाह्ये रागोपलब्धि, तृतीयपटलादारभ्य रागोदय । यदाह विदेह ,—"यथास्व रज्यते दृष्टिर्दोषैस्त्रिपटलस्थितै । चतुर्थपटलप्राप्तैर्मण्डलं रज्यते तु तै"—इति ॥ ३१ ॥ ३४ ॥—

*अध.स्थिते समीपस्थं दूरस्थं चोपरिस्थिते ॥ ३५ ॥
पार्श्वस्थिते तथा दोषे पार्श्वस्थं नैव पश्यति ।
समन्ततः स्थिते दोषे संकुलानीव पश्यति ॥ ३६ ॥
दृष्टिमध्यस्थिते दोषे महद्ध्रस्वं च पश्यति ।
द्विधा स्थिते द्विधा पश्येद्बहुधा चानवस्थिते ॥ ३७ ॥
दोषे दृष्ट्याश्रिते तिर्यक् स एकं मन्यते द्विधा ।

अधुनाध ऊर्ध्वमेव यथाप्रदेश दृष्टौ दोषावस्थाने यथा न पश्यति यादृग्वा पश्यति तथा दर्शयितुमाह—अध स्थित इत्यादि । समीपस्थ दूरस्थ चेति नैव पश्यतीति संबन्ध । समन्तत इति सर्वत । संकुलानीवेति अन्यान्यरूपेणैव मिश्राणि । अनवस्थित इति अनियतावस्थान इत्यर्थ ॥ ३५ ३७ ॥

†तिमिराख्यः स वै दोषश्चतुर्थं पटलं गत. ॥ ३८ ॥
रुणद्धि सर्वतो दृष्टिं लिङ्गनाशमतः परम् ।
अस्मिन्नपि तमोभूते नातिरूढे महागदे ॥ ३९ ॥
चन्द्रादित्यौ सनक्षत्रावन्तरीक्षे च विद्युतः ।
निर्मलानि च तेजांसि भ्राजिष्णून्यथ पश्यति ॥ ४० ॥

चतुर्थपटलगतमाह—तिमिराख्य इत्यादि । आन्ध्योत्पादकतया तिमिरसाधर्म्यां तिमिराख्य , दोषो रोग , "दोषा अपि रोगाख्या लभन्ते" इत्यागमात्, स एव रोग सर्वतो दृष्टिरोधाल्लिङ्गनाश उच्यते लिङ्ग्यते ज्ञायतेऽनेनेति लिङ्गमिन्द्रिय दर्शनशक्ति , तन्नाशोऽस्मिन्निति लिङ्गनाश । लिङ्गनाशमत परे 'वदन्ति' इति शेष । अस्मिन्नपि तमोभूत इति भूतशब्द सादृश्ये, रूपस्यानुपलम्भादन्धकारसदृशे । नातिरूढे नातिवृद्धे, अत चन्द्रादित्यादीनि भास्वन्ति वस्तूनि पश्यति । अन्तरीक्षे चेत्यस्योपादान भूमेस्तमोमयत्वात्, तत्र च तमोऽभिभवात्तादृशस्य चक्षुषो दर्शनाशक्ते ॥३८-४०॥

‡स एव लिङ्गनाशस्तु नीलिका काचसंज्ञितः ।

---

* दृष्टिमण्डलाधोभागस्थिते दोष इत्यर्थ , तथोपरिस्थिते दोषे दूरस्थ च नैव पश्यतीति संबन्ध ' ( आ० द० ) ॥ ३५-३७ ॥

† 'चतुर्थं कालकाभिधिम ; तिमिरसाधर्म्यात्तिमिराख्य , अतश्चन्द्रादित्यादीनि भासन्ति पिण्डीभूतानि ज्वलन्तीव पश्यति' ( आ० द० ) ॥ ३८-४० ॥

‡ 'एकजातीयतया तृतीयचतुर्थपटलगतानां रोगाणां तिमिरकाचनीलिकाचसंज्ञा, तद नामनि पदार्थमेव, न तु दाददत्वम् । संख्यातिरिक्तैव लिङ्गनाशा इति'( आ० द० ) ॥

तस्यैव लिङ्गनाशस्य सञ्ज्ञान्तरमाह—स एव लिङ्गनाशस्त्वित्यादि। यस्तृतीयपटलस्थित काचसञ्ज्ञितो दोष स एवोपेक्षया चतुर्थे पटले पुनर्लिङ्गनाशो नीलिका च। तुशब्द पुनरर्थे। कुत पुनरयमृजुरेव ग्रन्थो न लगति—नीलिकाकाचाभ्या पर्यायाभ्या सञ्ज्ञितो नीलिकाकाचसञ्ज्ञित इति, नैव, तन्त्रान्तरे तृतीयपटलस्थिते दोषे काचाभिधानात्। यदाह निमि,—"काच इत्येष विज्ञेयो याप्यस्त्रिपटलोत्थित। चतुर्थपटलप्राप्तो लिङ्गनाश स उच्यते॥ प्रत्याख्येयश्च कफजो व्याधि साध्यस्तु तद्विदा"–इति। अत्रापि तत्प्रत्ययात्तृतीयपटलस्थस्य काचसञ्ज्ञा, चतुर्थपटलप्राप्तस्य प्रत्याख्येयत्व प्रत्येतव्यम्। यत्पुनर्लिङ्गनाशोपादानं तत्सकलपर्यायज्ञानार्थम्। गदाधरस्तु 'नीलिकाविशेषिता काचसञ्ज्ञा नीलिकाकाचसञ्ज्ञा' इत्याह, एतेन तृतीयपटलस्थदोषे काचसञ्ज्ञा, चतुर्थे सा नीलिकया विशिष्यते इति फलति। एकजातीयतया त्रिचतु पटलयोरपि रोगाणा षट्त्वमेव, नतु द्वादशत्व, तेन न सङ्ख्यातिरेक। इदमिदानीं चिन्त्यते—तृतीयपटलस्थे दोषे काचसञ्ज्ञा तिमिरसञ्ज्ञा च, तर्हि कथं न षट्सङ्ख्याहानि? काचात्तिमिरस्य भिन्नत्वात्, उक्त च 'षड् लिङ्गनाशा' इति, अथ मन्यसे, तिमिरात् काचो न भिद्यते, तस्यावस्थान्तरत्वादिति, न, तद्विपरीतसाधकत्वाद्धेतो, यतोऽभिष्यन्दसिरोत्पाताभ्यामधिमन्थसिराहर्षयोरवस्थान्तरत्वेऽपि भिन्नत्व प्रतीयते। उच्यते—भवत्येव, यदवस्थान्तरत्वेऽपि विशिष्टनामप्राप्तिस्तयोरिवास्य प्रथमनामपरित्यागात् स्यात्, न चैव, 'तिमिराख्य स वै दोष' इत्यभिधानात्, तथाच 'तिमिरे रागिणि'–इति वचनात्, तस्मात्तस्यावस्थान्तरे पूर्वनामपरित्याग, ततस्तिमिरात् काचस्यावस्थान्तरत्वेऽप्यनन्यत्वं साधु, यथा—सत्यपि यौवनत्वे यज्ञदत्तस्य न स्वाभिधेयहानि, अतो न सङ्ख्यातिरेकप्रसङ्ग इति॥—

*वातेन चापि रूपाणि भ्रमन्तीव च पश्यति॥ ४१॥
आविलान्यरुणाभानि व्याविद्धानीव मानवः।
पित्तेनादित्यखद्योतशक्रचापतडिद्गुणान्॥ ४२॥
नृत्यतश्चैव शिखिनः सर्वं नीलं च पश्यति।
कफेन पश्येद्रूपाणि स्निग्धानि च सितानि च॥ ४३॥
( पश्येदसूक्ष्माण्यत्यर्थं व्यभ्रमेवाभ्रसङ्कुलम्। )
सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानि मानवः।
पश्येद्रक्तेन रक्तानि तमांसि विविधानि च॥ ४४॥
स सितान्यपि कृष्णानि पीतान्यपि च मानवः।
सन्निपातेन चित्राणि विप्लुतानीव पश्यति॥ ४५॥
बहुधा च द्विधा चापि सर्वाण्येव समन्ततः।
हीनाधिकाङ्गान्यपि तु ज्योतींष्यपि च भूयसा॥ ४६॥

दोषविशेषेण रूपविशेषदर्शनमाह—वातेनेत्यादि। अविशेषेण यदुक्तमेतद्वाते तत् सर्वपटलेषु संबध्यते, तुल्यत्वाद्न्यायस्य। व्याविद्धानीव कुटिलानीव। खद्योतो

---

*'कफेन रूपमाह-गौराणीत्यादि। श्वेतचामरशुभ्राणि शुभ्रमेघप्रख्यानि। असूक्ष्माणि स्थूलानि। व्यभ्रे चैवाभ्रसंप्लुतानीति मनभ्रे आकाशे मेघोन्नतिं पश्यति'(आ०द०)॥४१–४६॥

ज्योतींषि ग्रहगण, शक्रचाप इन्द्रधनु, गुणान् रूपाणि, आदित्यादीनां रूपाणीत्यर्थः । शिखिनो मयूरान् । सलिलप्लावितानीव परिजाड्यानीति सलिलप्लवनेनैव स्तिमितानीत्यर्थः । सितानीति श्वेतानि । ननु रक्तेन कथं सितानीत्युच्यन्ते ? श्लेष्मणा सितरूपस्य दर्शितत्वात् । नैवं, सितान्यपि कृष्णानि पीतानि पश्यतीति व्याख्यानाददोषः, स इति मानवः । रक्तेन कृष्णपीतदर्शनं पित्तसधर्मकत्वाद्रक्तस्य । चित्राणीति नानावर्णानि । विप्लुतानीवेति विपरीतानि । विपरीतत्वमेव विवृणोति—बहुभेत्यादि । अयमर्थः— सन्निपातेन पूर्वप्रकारेण बहुविधानि द्विविधानि वा सर्वाणि द्रव्याणि पश्यति, तृतीयपटले हीनाधिकाङ्गान्यपीति गदाधरः ॥४१-४६ ॥

पित्तं कुर्यात् परिम्लायि मूर्च्छितं पित्ततेजसा ।
पीता दिशस्तु खद्योतान् भास्करं चापि पश्यति ॥ ४७ ॥
विकीर्यमाणान् खद्योतैर्वृक्षांस्तेजोभिरेव वा ।

पित्तेनापरं परिम्लायिसंज्ञकं तिमिरमाह—पित्तं कुर्यादित्यादि । परिम्लायीति परिम्लायि तिमिरं, एतच्च रक्तमूर्च्छितपित्तकृतं पीतं नीलं बोद्धव्यम् । यदाह सात्यकिः,— "एवमेव तु विज्ञेया नीला पित्तसमुत्थिता । रक्ता पित्तोत्थिता पीता "—इति । अत्र वचने काचा इति विशेष्यत्वेन बोद्धव्यम् । मूर्च्छितं पित्ततेजसेति पित्तस्य तेजो रक्तं, प्रसादरूपत्वात्, तेन मिश्रितम् । अन्ये तु 'रक्ततेजसा' इति पठन्ति, रक्तस्य तेजो बलं रक्ततेजः, केचित् 'भक्ततेजसा' इति पठन्ति, भक्तस्य अन्नस्य तेजसा प्रसादेन रसेनेत्यर्थः, रक्ततेजसेत्यत्रापि रक्तार्थं तेजो रक्ततेज इति रस एवाभिधातुं शक्यते, पित्ततेजसेत्यत्रापि पित्तार्थं तेजः पित्ततेजः, पित्तशब्देन समानार्थेन तत्प्रसादत्वेन च रक्तमभिधाय पूर्व एवार्थः कर्तुं शक्यते । तथा च विदेहः,—"पित्तं रक्तप्रसादेन मूर्च्छयित्वा च मारुतम्"—इत्यारभ्य "एष याप्यः स्मृतः काचो म्लायीनाम्ना शरीरिणाम्"—इति । इदं त्वन्यत्र रक्तपित्ताभ्यां पठ्यते । यदुक्तं,—'विदधाति परिम्लायि पित्तं रक्तेन संगतम् । तेन पीता दिशः पश्येदुद्यन्तमिव भास्करम्'—इति, अत्रापि यदि रक्तशब्देन रक्तार्थं यत्तद्रक्तमिति व्युत्पत्त्या रसोऽभिधीयते, तदा पूर्वेण सह समानार्थमेवैतद्वचनं स्यादिति । परिम्लायिरोगे तिमिरवत् पुनो रागप्रवृत्ते लिङ्गमाह—पीता दिश इत्यादि । विकीर्यमाणानिति आच्छाद्यमानान् । याप्यश्चाय,तथाहि सात्यकिः —"तृतीयं पटलं प्राप्तं तिमिरं रागि जायते । अरागि तिमिरं साध्यमाद्यं पटलमाश्रितम् ॥ कृच्छ्रं द्वितीये रागि स्यात्तृतीये याप्यमुच्यते"—इति ॥ ४७ ॥

वक्ष्यामि षड्विधं रागैर्लिङ्गनाशमतः परम् ॥ ४८ ॥

वातादिभेदेन षड्विधं तिमिरमभिधाय रागं षड्विधमाह—वक्ष्यामि षड्विधं रागैरित्यादि । सर्वानुगां तिमिरसंज्ञां विहाय लिङ्गनाशसंज्ञया कीर्तनं रागप्रकर्षे प्राप्ते ॥ ४८ ॥

*रागोऽरुणो मारुतजः प्रदिष्टो म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तात् ।
कफात् सितः शोणितजः सरक्तः समस्तदोषप्रभवो विचित्रः ॥ ४९ ॥

* 'विचित्रो नानावर्णः' (मा० द०) ॥ ४९ ॥

वातादिरागोद्देशमाह—रागोऽरुण इत्यादि । म्लायी च नीलश्च तथैव पित्तादिति म्लायी पीतनीलो वर्णः । ननु, शेषे परिम्लायि पठितं तत् कथमधुना वातरागानन्तरं तस्योक्तिः ? नैव, रागकाले वायुरप्यनंशेन व्याप्रियते इति प्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः । पैत्तिकरूपद्वयस्यैकत्राभिधानेन लाघवं स्यादिति युक्तं, यत्तु प्रागेव न कृतं तदेकविकारशङ्कानिरासार्थम् ॥ ४९ ॥

अरुणं मण्डलं दृष्ट्यां स्थूलकाचारुणप्रभम् ।

उद्देशक्रमेण वातिकरागस्यैव विशिष्टलक्षणमाह—अरुणं मण्डलमित्यादि । अरुणं मण्डलं कीदृशं भवतीत्यत आह—स्थूलकाचारुणप्रभमिति ।—स्थूलकाचस्येव अरुणा प्रभा यस्य तत्तथा, एतेन बाहुल्यमरुणत्वं च प्रतिपाद्यते । काचोऽत्रारुणो विवक्षितः ॥

*परिम्लायिनि रोगे स्यान्म्लायि नीलं च मण्डलम् ॥ ५० ॥
दोषक्षयात् स्वयं तत्र कदाचित् स्यात्तु दर्शनम् ।

परिम्लायिनो विशिष्टलिङ्गमाह—परिम्लायिनीत्यादि । अत्र गदाधरस्तु 'रक्तजं मण्डलं दृष्ट्यां स्थूलकाचानलप्रभम्'–इति पठित्वा एतदपि परिम्लायिलक्षणमाह, व्याचष्टे च–बाहुल्येन स्थूलकाचस्येव वर्णतोऽनलस्येव प्रभा यस्य तत्तथेति, अनलप्रभत्वेन पीतं मण्डलं भवति, पीतं चेषन्नीलं बोद्धव्यं, 'म्लायि नीलं च मण्डलम्'-इत्यभिधानात्, तथा 'पित्तान्मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव च–' इत्युक्तं, आनीलमीषन्नीलमित्यर्थः । म्लायीति म्लानमिति कार्तिकः । दोषक्षयादिति कर्मक्षयात्, सत्यपि दोषरूपत्वे दर्शनसद्भावात् । ननु, किं तर्हि दोषरूपं तादृशमेवावतिष्ठते उत क्षीणं वा ? तत्र न तावदाद्यः पक्षः, दोषाणां कृतकार्याणां तथात्वे दर्शनस्यायुगतत्वात्, अथ द्वितीयस्तदा दोषस्यैव क्षयादित्यापतितं, किमिति कर्मक्षयादिति स्वीक्रियते ? नैव, विना दोषप्रतीकारं दर्शनोदयाद्विकारस्वभावादिति कार्तिकः । अन्ये तु कालवशाद्वातादिदोषस्यैव क्षयात् कदाचिद्दर्शनं स्यादित्याहुः, यतः कालादिजमपि विशेषं दन्तिलक्षणं येन पठत्येव, दोषशब्देन च कर्मणोऽभिधानमप्रसिद्धं, किं च दोषक्षये एव कदाचित् कर्मक्षयो हेतुरिष्यतां, कर्मणश्च कदाचित् क्षयो येनेष्यात् । अथानैव युक्त एव ? उच्यते, अस्यैवंविधकर्मजन्यत्वादिति । गदाधरपाठे रक्तजमित्यत्र रक्तमित्युपलक्षणं, तेन रक्तपित्तजम् ॥ ५० ॥—

†अरुणं मण्डलं वाताच्चञ्चलं परुषं तथा ॥ ५१ ॥
पित्तान्मण्डलमानीलं कांस्याभं पीतमेव च ।

* 'परिम्लायिनि तिमिरे दोषक्षयात् कदाचित्तत्र दर्शनं भवतीत्याह–दोषक्षयादिति । कालादिना वातादिदोषस्यैव क्षयात्, अन्ये कर्मसहचरितवातादिदोषक्षयात्' ( आ० द० ) ॥ ५० ॥

† 'तेषामेव मण्डलगतरागमाह–अरुणमित्यादि । स्पन्दना बहुलमेघादिककम्प्रो बहुलं घनम् । कमलदलस्थजलबिन्दुसदृशं, मृज्यमाने नेत्रे तन्मण्डलं प्रसरति' ( आ० द० ) ॥ ५१–५४ ॥

श्लेष्मणा बहुलं पीतं शङ्खकुन्देन्दुपाण्डुरम् ॥ ५२ ॥
चलत्पद्मपलाशस्थः शुक्लो बिन्दुरिवाम्भसः ।
मृज्यमाने च नयने मण्डलं तद्विसर्पति ॥ ५३ ॥
प्रवालपद्मपत्राभं मण्डलं शोणितात्मकम् ।
दृष्टिरागो भवेच्चित्रो लिङ्गनाशे त्रिदोषजे ।
यथास्वं दोषलिङ्गानि सर्वेष्वेव भवन्ति हि ॥ ५४ ॥

रागोऽरुणो मारुतज इत्यादिसूत्रं पूर्वोक्तं विवृणोति—अरुण मण्डलं वातादित्यादि । पित्तान्मण्डलमानीलमिति आनीलमीषन्नील पीतमेव, तेन रक्तसम्बन्धे सति कांस्याभम् । पीतमेव चेति रक्तसम्बन्धे पीतमेव, कांस्याभमापाण्डुपीतमित्यर्थं । केचिदत्र कफजे पठन्ति,—'सङ्कुचत्यातपेऽत्यर्थं छायायां विस्तृतो भवेत्'—इति । शोणितजे प्रवालेत्यादौ प्रवाल रत्नामरुख्यातं तदाभ, पद्मपत्राभं च रक्तपद्मपुष्पदलाभम् । त्रिदोषजे चित्र इत्यत्र यथास्व वातादिवर्णविभेदेन चित्रत्व बोद्धव्य, यथास्वमित्यस्य वक्ष्यमाणस्यात्रापि सम्बन्धात्, तेनायमर्थ —यथायथ वातादीनां वर्णभेदेन चित्रवर्णो भवति, उद्देशोक्तवर्णचित्रत्वे साक्षादेतादृशविवरणाभाव इति विशेष । यथास्वं दोषलिङ्गानीत्यस्याभिधान न्यायसिद्धस्यैवार्थस्य द्योतनार्थम् । दोषलिङ्गानि वातादीनां क्रमेणारुणादिलिङ्गान्युक्तेषु ज्ञातव्यानि ॥ ५१–५४ ॥

*षड् लिङ्गनाशा॰ षडिमे च रोगा दृष्ट्याश्रयाः षट् च षडेव वाच्याः ।

अत परमुक्तवक्ष्यमाणविकारयो सङ्ख्याभिधानार्थमाह—षडित्यादि । षड्लिङ्गनाशा इत्युक्तानुवादोऽयं । षडिमे च रोगा इति पित्तविदग्धदृष्ट्यादयो वक्ष्यमाणा । ननु, उक्तानुवादो युक्त , वक्ष्यमाणाना पुन किमर्थं सङ्ख्योक्ति ? नैव, पित्तकफविदग्ध दृष्ट्यवस्थान्तराभ्या दिवान्धरात्र्यन्धाभ्या सङ्ख्याधिक्यनिरासार्थं, अत एव षडेवेत्यवधारण कृत, षट् च षडेवेति मिलित्वा द्वादश, अमु च ग्रन्थ केचिदत्र समेहे न पठन्त्येव ॥—

†पित्तेन दुष्टेन सदा तु दृष्टिः पीता भवेद्यस्य नरस्य किंचित् ॥ ५५ ॥
पीतानि रूपाणि च तेन पश्येत् स वै नरः पित्तविदग्धदृष्टिः ।
प्राप्ते तृतीय पटलं [illegible] दोषे दिवा न पश्येन्निशि चेक्षते सः ॥ ५६ ॥
रात्रौ च शीतानुगृहीतदृष्टिः पित्ताल्पभावादपि तानि पश्येत् ।

पित्तविदग्धदृष्टिलिङ्गमाह—पित्तेनेत्यादि । दृष्टि पीता भवेदिति प्रथमद्वितीययो पटलयोरिति गम्यते, यत परत 'प्राप्ते तृतीय पटल'—इत्यभिधास्यति । ननु, यद्येवं कथ तिमिरादस्या पार्थक्य ? उच्यते—तृतीयपटलप्राप्तिमन्तरेण न मांसदूषणात् । एतच्च

* 'पित्तविदग्धदृष्टिरित्यादिना दिवान्ध , तथा नर इत्यादिना रात्र्यन्ध , तथा धूमदर्शी ह्रस्वजाड्यनकुलान्ध्यगम्भीरसंज्ञा इति दृष्टिरोगा वक्ष्यमाणा षट्, पूर्वोक्ता षट् लिङ्गनाशा दिवान्धादयो वक्ष्यमाणा षड्विकारा , एव दृष्ट्याश्रया रोगा द्वादश ज्ञेया ' (आ० द०) ॥

† 'पित्तविदग्धदृष्टेरवस्थान्तर दिवान्धमाह—प्राप्त इत्यादि । रात्रौ तु शीतानुग्रहा-द्रूपाणि पश्येत्' ( आ० द० ) ॥ ५५ ॥ ५६ ॥

१ 'अमु ग्रन्थ केचित्समदे पठन्ति' इति पा० ।

सति वर्णे पटलान्तरगतदोषलिङ्गाभावात् प्रत्येतव्यम्। अस्मिन्नेव व्यवस्थाने तादृग्रूपो दोषः कथमन्यविकारं करोतीति नाशङ्कनीयं, तज्जनककर्मणो भिन्नत्वेन सामग्रीभेदात्। अयं दिवान्धः, दिवा न पश्येदिति वचनात्। तानीति रूपाणि। दोषे पित्ते ॥ ५५ ॥ ५६ ॥—

*तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिस्तान्येव शुक्लानि तु मन्यते सः ॥ ५७ ॥
त्रिषु स्थितोऽल्पः पटलेषु दोषो नक्तान्ध्यमापादयति प्रसह्य।
दिवा स सूर्यानुगृहीतदृष्टिः पश्येत्तु रूपाणि कफाल्पभावात् ॥ ५८ ॥

श्लेष्मविदग्धदृष्टिलिङ्गमाह—तथा नरः श्लेष्मविदग्धदृष्टिरित्यादि। एतां च प्रथमद्वितीयपटलाश्रितः श्लेष्मा जनयति; परतः 'त्रिषु' इत्युक्तेः। तानीति रूपाणि। त्रिषु स्थितोऽल्प इत्यनेन दिवादर्शनं प्रत्यानुकूल्यं ख्याप्यते, यदि त्वनल्पदोषः स्यात्तदा दिवाऽपि दर्शनं न भवेदेव। दोषोऽत्र कफः, तस्यैव प्रकान्तत्वात्; अयं नक्तान्धः ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

†शोकज्वरायासशिरोऽभितापैरभ्याहता यस्य नरस्य दृष्टिः।
धूम्रांस्तथा पश्यति सर्वभावान् स धूमदर्शीति नरः प्रदिष्टः ॥ ५९ ॥

धूम(म्र)दर्शिनो लिङ्गमाह—शोकज्वरायासेत्यादि। शोकादिभिः कारणैः कुपितेन पित्तेनाभ्याहता उपहता दृष्टिरिति प्रत्येतव्यं, अस्य सुश्रुते रोगसंग्रहे पैत्तिकगणेऽभिधानात्। अयं च रोगो बाह्यपटलस्थेन दोषेण जन्यत इति गदाधरः, तृतीयपटलाश्रितदोषेणेति कार्तिकः। दिवा धूम्रान् पश्यति, न तु नक्तं; तदा पित्तस्य क्षीणत्वादिति व्याख्यानयन्ति ॥ ५९ ॥

यो ह्रस्वजाड्यो दिवसेषु कृच्छ्राद्ध्रस्वानि रूपाणि च तेन पश्येत्।

ह्रस्वजाड्यलक्षणमाह—यो ह्रस्वजाड्य इत्यादि। तेन ह्रस्वजाड्येन ह्रस्वानि रूपाणि दिवा यः पश्येत् स ह्रस्वजाड्य इति योजना। अत्र दोषो दृष्टिमध्यगतः। यदुक्तं,—"दृष्टिमध्यगते दोषे महद्ध्रस्वं च पश्यति"—इति। अयं पैत्तिकः ॥—

विद्योतते यस्य नरस्य दृष्टिर्दोषाभिपन्ना नकुलस्य यद्वत् ॥ ६० ॥
१चित्राणि रूपाणि दिवा स पश्येत् स वै विकारो नकुलान्ध्यसंज्ञः।

नकुलान्ध्यसंज्ञमाह—विद्योतते यस्येत्यादि। नकुलस्य यद्वद्यथा दृष्टिर्विद्योतते वर्णेन प्रतिभासते तथाऽस्येत्यर्थः। अतः सर्वदृष्टिमण्डलगतो रागः सदोषवर्णश-

---

* 'यः श्लेष्मविदग्धदृष्टिः स तानि रूपाणि शुक्लानि पश्यति, अत्रापि प्रथमद्वितीयपटलाश्रितत्वं बोद्धव्यम्। अवस्थान्तरं राज्यन्धमाह-त्रिष्वित्यादि। त्रिषु पटलेषु स्थितोऽल्पदोषो नक्तान्ध्यं जनयति, रात्रौ न पश्यतीत्यर्थः। सूर्यानुग्रहात् कफाल्पभावात् स दिवाऽनुपश्यति' (भा० द०) ॥ ५७ ॥ ५८ ॥

† 'सधूमकान् धूमेन सह वर्तन्त इति सधूमकास्तान्पदार्थान्पश्यति, द्वितीयपटलाश्रितेन दोषेणेति कार्तिकः' (भा० द०) ॥ ५९ ॥

१ "धूम्रांस्तथा" इत्यत्र "सधूमकान्" इति पाठाभिप्रायेण।

दोषाभिपन्नेत्यत्र दोषशब्दस्याविशेषितत्वादभिशब्दस्याभिव्याप्त्यर्थस्य प्रयोगात् । एतौ ह्रस्वजाड्यनकुलान्ध्यौ चतुर्थपटलस्थितदोषजन्यौ सरागौ न साध्यौ । तथाच विदेह ,— "नक्तमन्धास्तु चत्वारो ये पुरस्तात् प्रकीर्तिताः । तेषामसाध्यो नकुलो ह्रस्वजाड्यस्तथैव च ॥ विशेषेण भवेयातां द्वौ चतुर्थपटलाश्रितौ । तौ च संप्राप्तरागत्वादसाध्यौ परिकीर्तितौ"—इति । एतौ च रात्र्यन्धौ, अत्येतन्ध्यौ दिवा ह्रस्वचित्ररूपदर्शनाभिधानेन रात्रावदर्शनप्रतीतेः । विदेहेन तु नक्तान्धनित्वेऽपि चत्वार इत्युक्तं, नक्तान्धत्वबाहुल्येन दिवान्धेऽपि तत्प्रयोगात्, छत्रिणो गच्छन्तीतिवत् ॥ ६० ॥—

***दृष्टिर्विरूपा श्वसनोपसृष्टा संकोचमभ्यन्तरतस्तु याति ॥ ६१ ॥**
**रुजावगाढा च तमक्षिरोगं गम्भीरिकेति प्रवदन्ति तज्ज्ञाः ।**

गम्भीरिकालक्षणमाह—दृष्टिरित्यादि । विरूपा विकृता । श्वसनोपसृष्टा वातोपगता, संकोचमभ्यन्तरतस्तु यातीति अन्तः संकोचमेति निमज्जतीत्यर्थः, 'संकुच्यतेऽभ्यन्तरतश्च याति' इति पाठान्तरेऽप्ययमेवार्थः, इयमविशेषोक्तिः । सकलपटलगतवातजन्या असाध्या, सुश्रुते गम्भीरिका तथेति निर्देशात् ॥ ६१ ॥—

**†बाह्यौ पुनर्द्वाविह संप्रदिष्टौ निमित्ततश्चाप्यनिमित्ततश्च ॥ ६२ ॥**
**निमित्ततस्तत्र शिरोऽभितापाज्ज्ञेयस्त्वभिष्यन्दनिदर्शनः सः ।**
**सुरर्षिगन्धर्वमहोरगाणां संदर्शनेनापि च भास्करस्य ॥ ६३ ॥**
**हन्येत दृष्टिर्मनुजस्य यस्य स लिङ्गनाशस्त्वनिमित्तसंज्ञः ।**
**तत्राक्षि विस्पष्टमिवावभाति वैदूर्यवर्णा विमला च दृष्टिः ॥ ६४ ॥**

एवं शारीरान् द्वादश दृष्टिगतविकारानभिधाय सनिमित्तानिमित्तभेदादागन्तू बाह्यजौ नयनविकारौ ( लिङ्गनाशौ ) दर्शयन्नाह—बाह्यौ पुनर्द्वाविहेत्यादि । संप्रदिष्टौ कथितावौपद्रविकाध्याये 'तथा बाह्यौ पुनर्द्वौ' ( सु. उ. त. अ. १ )—इत्यादिना ।

* 'अन्तः संकुच्यत इति अन्तः संकुच्यते निमज्जतीत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ ६१ ॥

† 'तत्र तयोर्मध्ये निमित्ततः कथ्यत इत्यर्थः । रक्ताभिष्यन्दनिदर्शनैरिति गदाधरः । सन्निपाताभिष्यन्दलक्षणैरिति कार्तिकः । अभिघातजमाह—विदीर्येत इति, विदीर्यते द्विधा भवति, सीदति ग्लानीभवति, हीयते हीना भवति, अभिघातो लगुडलोष्टादिजः । अनिमित्तजमाह—सुरर्षीत्यादि । एषां संदर्शनेन हन्येत । नयनोपघातमन्तरेण दर्शनशक्तिमात्रमुपहतमिति दर्शयन्नाह—तत्राक्षीत्यादि । विस्पष्टं प्रसन्नम् । विमला दोषजनिततिमिररागजनितकाचादिरहिता । ननु, कथमिन्द्रियस्य भौतिकस्यादुष्टस्यापि शक्तिनाशः ? उच्यते,—देवादयोऽत्र भौतिकेन्द्रियमदूषयन्त एव शक्तिमुपघ्नन्ति । वातिकः, पैत्तिकः, श्लैष्मिकः, रक्तजः, सान्निपातिकः, परिम्लायी, एवं षड्लिङ्गनाशाः, दिवान्धः, रात्र्यन्धः, धूमदर्शी, ह्रस्वजाड्यः, नकुलान्धः, गम्भीरिका, एवमपरे दृष्टिरोगाः षट्, एवं द्वादश । बाह्यावपरौ द्वौ सनिमित्तानिमित्तजौ, एवं चतुर्दश दृष्टिरोगाः' ( आ० द० ) ॥ ६२–६४ ॥

१ 'दोषस्याभिशब्दविशेषितत्वात्, अभिशब्दस्य व्याप्त्यर्थत्वात्' क । २ अत्र "संकुच्यतेऽभ्यन्तरतस्तु याति" इत्येव मुख्यः पाठः । ३ तृतीयान्तः पक्षान्तरे पाठः ।

बहिर्भवौ बाह्यौ, आगन्तू इत्यर्थः । तत्र सनिमित्तं दर्शयन्नाह—निमित्ततस्त्वित्यादि । शिरोऽभितापादिति शिरो अभि सर्वतस्तप्यते येन विषकुसुमगन्धवाह्निपवनस्पर्शादिना स शिरोऽभितापस्तस्मात्, तेन समस्तशिरस उपतापात्रयनगतरुधिराधिककोपो दृष्टेरपि शक्तेर्व्याघातः । अभिष्यन्दनिदर्शन इति रक्ताभिष्यन्दलिङ्ग इति गदाधरः, सुश्रुते रोगसंग्रहे सर्वजगणे द्वयोरप्येतयोः पाठात्; सन्निपातजाभिष्यन्दलक्षण इति कार्तिकः। अनिमित्तमाह—सुरर्षिगन्धर्वेत्यादि । अनुपलभ्यमानविशिष्टसुरादिदर्शननिमित्तमाहुः। संदर्शनेन सम्यग्दर्शनेन, हन्येत हन्तुं संभाव्येत, न त्ववश्यं हन्येतेत्यभिप्रायः । ( दृष्टिरिति दर्शनमुपलब्धिरित्यर्थः, न तु दृष्टिमण्डलं, अस्यादृष्टिगतविकारत्वात् । लिङ्गनाशप्रयोगश्चात्र रूपग्रहणाभावसामान्यान्न तु रूढ्या, तस्य चतुर्थपटलस्थतिमिर एव रूढत्वात्। ) तेनेदं दर्शनं किमभिष्यन्दवत् सकलगोलकोपघातकं तिमिरत्वाद् दृष्टिमात्रोपघातकं वेति शङ्कानिरासार्थमाह—तत्राक्षीत्यादि । विस्पष्टमिवेति पूर्वावस्थातो विशेषेण प्रसन्नमिव गोलकावच्छिन्नं चक्षुरवभासते । दृष्टिरपि वैडूर्यवर्णा श्यावा दृष्टिः प्रकृतिवर्णेत्यर्थः । विमलेति विगतकाचादिमला । अयं तात्पर्यार्थः—पूर्वावस्थातः शक्तिमात्रमुपहन्यते, यतो देवादयो ह्यवयवमदूषयन्त एव शक्तिमात्रमुपघ्नन्ति । यदुक्तं चरके,—"देवादयोऽप्यौ हि महानुभावा न दूषयन्तः पुरुषस्य देहम् । विशन्त्यदृश्यास्तरसा यथैव छायातपौ दर्पणसूर्यकान्तौ" ( च. चि. स्था. अ. ९ )-इति । ( एतौ च बाह्यजौ दृष्ट्याधानविरूपणीयतया दृष्टिगतावेव, अत एव तदधिकारनिर्दिष्टौ, शारीराभिप्रायेण द्वादशविधत्वमुक्तं, तेन न संख्यातिरेकः, ) द्वावप्येतावसाध्यौ ॥ ६२-६४ ॥

( इति दृष्टिगताः ॥ )

*प्रस्तार्यर्म तनुस्तीर्णं श्यावं रक्तनिभं सिते ।

अथ मण्डलगतनिदानाभिधानपारिशेष्याद् दृष्टिगतानन्तरं शुक्लमण्डलवर्त्मपक्ष्ममण्डलगतानां निदानाभिधानावसरप्राप्तौ वर्त्मादिमण्डलप्रतियोगितया शुक्लमण्डलस्यान्तर्गतत्वात् सौकुमार्येणान्तरं कृत्वा च निदानोद्देशारम्भः । तत्र प्रस्तारिशब्दाभिधानस्यार्मणो लक्षणमाह—प्रस्तारीत्यादि । प्रस्तारीति लक्ष्यं, शेषं लक्षणम् । तनु अबहलम् । स्तीर्णं विततम् । (श्यावमीषन्नीलम् । रक्तनिभं रक्तवर्णम् । अत्र श्यावरक्तयोर्विरोधात्

* 'चतुर्दशदृष्टिजानन्तरमदूरत्वेन शुक्लजा उच्यन्ते, तत्र प्रस्तार्यर्मलक्षणमाह—प्रस्तारीत्यादि, विस्तीर्णं प्रस्तारि, प्रसरयुक्तमित्यर्थः । श्यावं ईषत्कृष्णं, रक्तमीषल्लोहितं, सिते शुक्ले, अर्थान्नयनस्येति पूरणीयम्' ( आ० द० )

१ 'तेन शिरोगतरक्तकोपाद्दृष्टिव्याघातः' इति क. । २ अयं पाठः क. पुस्तके नोपलभ्यते । ३ 'नयनोपघातव्यतिरेकेण दृष्टिमात्रस्य हननं दर्शयन्नाह'—इति क. । ४ 'देवादयोऽप्यौ हि शरीरोपघातव्यतिरेकेण शक्तिमात्रमुपघ्नन्ति' क. । ५ अयं पाठः क. पुस्तके नोपलभ्यते । ६ 'दृष्टिजानन्तरमदूरत्वेन शुक्लजानाह'—इति क. । ७ 'प्रस्तारीति अन्वर्थनामद्योतनार्थमुक्तम् । श्यावं रक्तनिभमिति ईषन्नीललोहितं; वाशब्दोऽत्र वा द्रष्टव्यः, तेन श्यावं रक्तं वेत्यर्थः । सिते शुक्ले, अर्थान्नयनस्येति पूरणीयम् । विरोधजमिदम्' क. ॥

समुच्चयाभावेन विकल्पः । अत एवाह निमिः,—"समन्ताद्विग्रथितः श्यावो रक्तो वा मांससञ्चयः । सन्निपातेन दोषाणां प्रस्तार्यर्म तदुच्यते"—इति । गदाधरेणेवनील-लोहितवर्णसमुच्चय एव दर्शितः । सिते शुक्लभागे ) ॥—

**सश्वेतं मृदु शुक्लार्म शुक्ले तद्वर्धते चिरात् ॥ ६५ ॥**

शुक्लार्मलक्षणमाह—सश्वेतमित्यादि । सश्वेतं किंचिच्छ्वेतम् । मृदु कोमलं । परतो वक्ष्यमाणं मांसमिति पदं सिंहावलोकनन्यायेन सम्बन्धनीयम् । सशब्दस्याधि-कस्योपादानं सम्यक् श्वेतत्वप्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः । शुक्ले शुक्लमण्डले । चिरात् चिरकालेन तद्वर्धते, कफजत्वात् ॥ ६५ ॥

***पद्माभं मृदु रक्तार्म यन्मांसं चीयते सिते ।**

रक्तार्मलक्षणमाह—पद्माभमित्यादि । पद्माभमरुणपद्मपत्रनिभम् । मृदु कोमलं, सिते शुक्लमण्डले । चीयते वृद्धिमुपैति, एतद्रक्तजम् ॥—

**पृथु मृद्वधिमांसार्म बहलं च यकृन्निभम् ॥**

अधिमांसार्मलक्षणमाह—पृथ्वित्यादि । पृथु विततं, विस्तीर्णमित्यर्थः । बहलं स्थूलम् । लोहितत्वेन यकृन्निभं, श्याववर्णमप्यधोऽप्यत्र ज्ञेयं, यथाऽऽह सुश्रुतः —"विस्तीर्णं मृदु बहलं यकृत्प्रकाशं श्यावं वा तदधिकमांसजार्म विद्यात्"—इति । अत्र श्यावं वेति वाशब्दः समुच्चये, तेन श्यावं लोहितं चेत्यर्थः । एतच्च त्रिदोषजं, सुश्रुते त्रिदोषजप्रकरणे पठितत्वात् ॥—

**स्थिरं प्रस्तारि मांसाढ्यं शुष्कं स्नाय्वर्म पञ्चमम् ॥ ६६ ॥**

स्नाय्वर्मलक्षणमाह—स्थिरमित्यादि । स्थिरं कठिनम् । मांसाढ्यं बहुमांसम् । शुष्कमविस्रावि । इदं च प्रस्तार्यर्मोद्भवम् । तथा च निमिः—"प्रस्तारिणोऽर्मणः स्नाव निरुणद्धि यदाऽनिलः । विना स्नावं विशुष्कं तत् स्नाय्वर्मेति प्रकीर्तितम्"—इति । इदं तु सन्निपातजमपि साध्यम् ॥ ६६ ॥

**†श्यावाः स्युः पिशितनिभाश्च बिन्दवो ये**
**शुक्त्याभाः सितनियताः स शुक्तिसंज्ञः ।**

शुक्तिकालक्षणमाह—श्यावा इत्यादि । श्यावाः पाण्डुश्यामाः, पिशितनिभा इति नियमेन भणिताः, ( तेन[1] पिशितस्येव नियमेन भा दीप्तिर्येषां ते तथा, सा च प्रभा श्यावेति समभिव्याहारेण श्याववर्णैव, नत्वत्र मांसस्योपमानत्वं पिशितनिभशब्दोऽभिधत्ते वक्ष्यमाणार्जुने रुधिरोपमशब्दवत्, मांसात्मकत्वादेव शुक्तिकायाः । ) सितनियता इति[2] सिते शुक्लमण्डले नियताः, शुक्त्याभा जलशुक्तिनिभाः, वर्णसाम्यात्, अत

---

* 'पद्माभं चीयत इति मांसमुपचयमुपैति' । ( आ० ८० )

† 'असितसिता असितोऽश्च सिताश्चासितसिताः । वय पित्तजं ' ( आ० ८० )

---

१ 'पिशितनिभा इति मांसपिण्डतुल्याः' इति व । २ () एतच्चिह्नान्तर्गत-पाठः कपुस्तके नोपलभ्यते । ३ ' सितनियता " इत्येतद्यपाठाभिप्रायेण ।

एव शुक्तिसंज्ञः, अयं पित्तजः । अत्र वाग्भटः,-"पित्तं कुर्यात् सिते बिन्दूनसितश्यावपीतकान् । मलाक्तादर्शतुल्यं वा सर्वं शुक्लं सदाहरुक् ॥ रोगोऽयं शुक्तिकासंज्ञः सशकृद्भेदतृड्ज्वरः" ( वा. उ. तं अ. १ )-इति ॥—

एको यः शशरुधिरोपमश्च बिन्दुः
शुक्लस्थो भवति तमर्जुनं वदन्ति ॥ ६७ ॥

अर्जुनलक्षणमाह—एक इत्यादि । एक एव सन् यः शशरुधिरवल्लोहितो बिन्दुरूपश्च विकारस्तमर्जुनं वदन्तीत्यर्थः । उक्तं च कल्याणविनिश्चये,-"शशकोपनिभं शुक्लेऽर्जुनं रक्तप्रकोपतः"-इति । एतेन बिन्दुरूपत्वे नियमो नास्तीति ज्ञेयम् । अत एव रविगुप्ते,-"कृष्णभागे सितं बिन्दुं शुक्लं विद्यात् कफात्मकम् । रक्तं च शुक्लभागस्थमर्जुनं शोणितोद्भवम्"-इति ॥ ६७ ॥

श्लेष्ममारुतकोपेन शुक्ले पिष्टं समुन्नतम् ।
पिष्टवत् पिष्टकं विद्धि मलाक्तादर्शसंनिभम् ॥ ६८ ॥

पिष्टकलक्षणमाह—श्लेष्ममारुतकोपेनेत्यादि । पिष्टमिति लक्षणपदम् । पिष्टवदिति आलेपनपिष्टतुल्यं श्वेतत्वेन । पुनः पिष्टकमिति लक्ष्यपदम् । समुन्नतमुच्छूनम् । मलाक्तादर्शसंनिभमिति धूल्यादिम्रक्षितदर्पणतुल्यम् । अयं कफवातजः, अतः कफेनाच्छतया, वातेन किंचिच्छ्यावतया मलाक्तदर्पणनिभत्वमस्येत्यर्थः ॥ ६८ ॥

जालाभः कठिनसिरो महान् सरक्तः
संतानः स्मृत इह जालसंज्ञितस्तु ।

सिराजाललक्षणमाह—जालाभ इत्यादि । अनुलोमविलोमसिरानिचयरचितनिरन्तरविवरगवाक्षीमार्यात् जालस्येव आभा आकृतिर्यस्य स तथा । कठिनसिर इत्यनेन सिराणामेव संतानोऽयं विकार इति दर्शयति । सरक्त ईषल्लोहितः । संतनोति आच्छादयतीति संतानः, बहुलवचनात् कर्तरि घञ् । अत्र बिन्दुशब्दोऽनुवर्तनीयः, स सर्वत्र विशेष्यः । जालसंज्ञित इत्यत्र 'सिरापूर्वं' इति शेषः, तेन सिराजालसंज्ञित इत्यर्थः । अयं च रक्तजः ॥—

*शुक्लस्थाः सितपिडकाः सिरावृता या-
स्ता ब्रूयादसितसमीपजाः सिराजाः ।

सिराजपिडकालक्षणमाह—शुक्लस्था इत्यादि । सितपिडका इति सितवर्णाः पिडकाः । सिरावृताः सिराव्याप्ताः । असितसमीपजा इति कृष्णभागाभ्यर्णशुक्लजाः । सिरापरिवृतत्वात्सिराजाः, न तु साक्षात्सिराजाता इति गदाधरः । अयं च त्रिदोषजः, त्रिदोषजसाध्यप्रकरणे सुश्रुतेन पठितत्वात् ॥—

* 'सिराभिरावृताः, वातुस्थितसिरापरिवृतत्वेन सिराजाः । पिडका इति शेषः' ( भा० द० )

१ 'अनुलोमविलोमसितसिरानिरन्वितबहुविवरत्वेन' क. । २ 'व्याप्नोति' क. ।

***कांस्याभोऽमृदुरथ वारिबिन्दुकल्पो**
**विज्ञेयो नयनसिते बलाससंज्ञः ॥ ६९ ॥**

बलासग्रथितलक्षणमाह—कांस्याभ इत्यादि । कांस्यस्येवाभा दीप्तिर्यस्य स तथा, सित इत्यर्थः, वारिबिन्दुरिवोच्छूनत्वात् । अमृदु कठिनं, कफानिलजत्वात् । तथा च विदेहः,—"मारुतोत्पीडितः श्लेष्मा शुक्लभागे व्यवस्थितः । जलबिन्दुरिवोच्छूनो ह्यमृदुः कफसम्भवः ॥ बलासग्रथितं नाम तं शोथं ह्यतमादिशेत्"—इति । ('कोपाभ' इति क्वचित् पठन्ति, कोपो मांसवृद्धिस्तदाभस्तदाकारः, एतावताऽप्ययमुच्छूनत्वं प्रतिपाद्यते, वारिबिन्दुकल्प इति चेत्युच्छूनताऽपि, नयनसिते शुक्लभागे इत्यर्थः । बलाससंज्ञ इत्यत्र ग्रथितशब्दलोपः, तेन बलासग्रथित इति संज्ञा । अत्र सिरोत्पातसिराहर्षौ वाग्भटेन पठितौ । तथा हि,—"रक्तराजीनिभं शुक्ले उष्यतेऽपि सवेदनम् । अशोफाश्रूपदेहं च शिरोत्पातं सशोणितम् ॥ उपेक्षितः सिरोत्पातो राजीस्ता एव वर्धयन् । कुर्यात् साक्षि सिराहर्षं तेनाक्ष्युद्वीक्षणाक्षमम्" (वा उ त अ १०)—इति ॥ ६९ ॥

**पक्वः शोथः सन्धिजो यः सतोदः स्रवेत् पूयं पूति पूयालसाख्यः ।**

अथ मण्डलगतनिदानाभिधानपारिशेष्यात् कृष्णमण्डलगतनिदानाभिधाने प्राप्ते कनीनिकासन्ध्याश्रितानां वर्त्ममण्डलाभियोगितयाऽन्तर्गतत्वेनाभ्यर्हितत्वात् सन्धिगतनिदानोद्देशारम्भः । ते च सन्धयः षट् । यदाह सुश्रुतः,—"पक्ष्मवर्त्मगतः सन्धिर्वर्त्मशुक्लगतोऽपरः । शुक्लकृष्णगतस्त्वन्यः कृष्णदृष्टिगतस्तथा ॥ कनीनिकागतः षष्ठः अपाङ्गगः स्मृतः" (सु उ त. अ १) इति । नासासमीपनेत्रान्तः कनीनिका, यस्तु पुच्छस्याधो नेत्रान्तोऽपाङ्गः । तत्र पूयालसलक्षणमाह—पक्व इत्यादि । सन्धिज इति कनीनिकासन्धिजः । यदाह विदेहः,—"शोथस्तेदसमाविष्टः सोस्रमेदसमाकुलम् । पूयालसं तु तं विद्यात् सन्धौ कानीनिके नृणाम्"—इति । अयं त्रिदोषजः, सुश्रुतेन साध्यत्रिदोषजप्रकरणे पठितत्वात् ॥—

---

* 'अयमर्थः–अत्युच्छूनो वा मनागुच्छूनो वा । शुक्लस्य वक्रसत्वादेव लभ्यते । यच्च सर्वेद्य इत्यत्र यदेऽपि यदेकदेशमप्युपेर्येविज्ञाऽनभिधानम् । एवं प्रस्तारि १ शुक्लार्म २ रक्तार्म ३ अधिमांसार्म ४ स्नाय्वर्म ५ शुक्तिका ६ अर्जुन ७ पिष्टक ८ सिराजाल ९ सिराज १० बलासग्रथित ११ इत्येकादश नयनस्य शुक्लभागजा रोगाः । एवं शुक्लगा एकादश ॥ ६९ ॥ इति शुक्लजाः ॥

---

१ 'कोपाभ' इति पाठपक्षे कोपो मांसकोपः, तत्तुल्यः, एतेनात्युच्छूनत्वं प्रतिपाद्यते । अयमर्थः—अत्युच्छूनो मनागुच्छूनो वा, शुक्लस्य वक्रत्वादेव लभ्यते । अन्ये तु पठन्ति–'संतानो भवति सितासिते सितो बिन्दुर्यः स तु निरुक्तो बलासः' इति । अत्र संतानो मांसोत्सेधरूपः शोथः । २ 'कनीनिकादिसन्धीनां शुक्लगतत्वाम-प्यासन्नत्वं सन्धिगतानाह'-इति च ।

**ग्रन्थिर्नाल्पो दृष्टिसन्धावपाकी कण्डूप्रायो नीरुजस्तूपनाहः ॥ ७० ॥**

श्लेष्मोपनाहलक्षणमाह—ग्रन्थिरित्यादि । नाल्प इति महान् । अपाक ईषत्पाक, अत एव सुश्रुतेऽल्पस्राव पठित । दृष्टिसन्धाविति कृष्णदृष्टिमण्डलयो सन्धावित्यर्थ । कण्डूप्राय कफप्राबल्यात् । नीरुजोऽल्परुज इत्यर्थ । तथाच विदेह,—"वायु श्लेष्माणमादाय दृष्टिसन्धौ व्यवस्थित । अरुण कठिन ग्रन्थि जनयेदल्पवेदनम् ॥ श्लेष्मोपनाह त विद्यात्, स्रावान् वक्ष्याम्यत परम्'–इति । वातश्लेष्मजन्यत्वेऽपि श्लेष्मप्राबल्यात् श्लेष्मोपनाहव्यपदेश । आश्रयप्रभावादपरत्वमत्र ॥ ७० ॥

***गत्वा सन्धीनश्रुमार्गेण दोषाः कुर्युः स्रावान् लक्षणैः स्वैरुपेतान् । त हि स्रावं नेत्रनाडीति चैके तस्या लिङ्गं कीर्तयिष्ये चतुर्धा ॥ ७१ ॥**

चतुर्णां स्रावाणा सम्प्राप्तिमाह—गत्वा सन्धीनित्यादि । सन्धीनिति बहुवचननिर्देशात्सर्वेनेनान्तर्गताश्चत्वार सन्धयो गृह्यन्ते । अश्रुमार्गेणेति अश्रुवाहिन्यौ धमन्यौ अश्रुमार्ग 'द्वे चाश्रुवाहिन्यौ ( सु शा स्था अ ९ )–इति सुश्रुत, अश्रुवहधमनीभ्यामित्यर्थ । ननु, यदश्रुवहधमनीभ्या गत्वा दोषा स्रावानापादयन्ति, तत्कथ 'सिरानुसारिभिर्दोषै' इत्याद्युक्ता सम्प्राप्तिर्न व्याहन्यते, सिराधमन्योरन्यत्वात् । उच्यते—सामान्यविशेषत्वात् सम्प्राप्त्यभिधानद्वयस्य, पूर्वा सम्प्राप्ति सामान्य, इतरा च विशेष इति न विरोध । अथवा "सिराधमनीस्रोतसामविभाग" ( सु शा स्था अ ९ ) इति परकीयमतेन सिराधमन्योरैक्यादविरोध । अस्मिन्नर्थे सम्प्राप्त्युक्त एवार्थो निष्पन्नीक्रियते । नेत्रनाडीति चैक इति वदन्तीति शेष, अनिषेधादनुमतमिदम् । ( दोषा सन्निपातश्लेष्मरक्तपित्तात्मका । लक्षणैर्दोपलक्षणै । उपेतान् परीतानिति । गदाधरेण 'लक्षणै' इत्यस्य स्थाने 'सर्वत' इति पठित, दोषा परीतान् स्वलक्षणैरित्यर्थविशेषादधिगन्तव्यम् । चतुर्धेति सान्निपातिककफरक्तपित्तत्वभेदात्, वातजस्तु स्रावो नास्त्येव, व्याधिस्वभावात्, पित्तजगण्डवत् ) ॥ ७१ ॥

**पाकात् सन्धौ संस्रवेद्यस्तु पूयं पूयास्रावोऽसौ गदः सर्वजस्तु ।**

चतुर्विधस्रावमध्ये पूयास्रावलक्षणमाह—पाकादित्यादि । सर्वजस्त्रिदोषज इत्यर्थ । अस्य प्राधान्येनत्वादग्रेऽभिधान, यद्यप्यन्येऽपि स्रावा अप्राधान्येनोक्तास्तथाऽपि याप्या बोद्धव्या । 'पाक' इति पाठे पाक संस्रवेत् पाकवान् शोथ स्रवेदित्यर्थ, उपचारात्, पाकस्य क्रियामात्रत्वात् ॥—

***श्वेतं सान्द्रं पिच्छिलं च स्रवेत्तु श्लेष्मस्रावोऽसौ विकारो मतस्तु ।***

श्लेष्मस्रावलक्षणमाह—श्वेतमित्यादि । सान्द्र घनम् ॥ ७२ ॥

---

* 'सन्धीनानिति कनीनसन्धिगान्, कनीनसन्धिश्च नासामनु नेत्रान्त । स नेत्रनाडीमित्येके मतान्तरम्' ( मा० द० ) ॥ ७१ ॥

---

१ ()एतच्चिह्नमध्यस्थ पाठ क पुस्तके नोपलभ्यते । २ "निरिदम्" इत्यत्र "नीरुजम्" इति पाठान्तरम् । ३ 'कनीनान् च' इति पदाभिप्रायेण ।

***रक्तस्रावः शोणितोत्थो विकारः स्रवेदुष्णं तत्र रक्तं प्रभूतम् ।**

रक्तस्रावलक्षणमाह—रक्तस्राव इत्यादि । रक्तकृतः स्रावो रक्तस्रावः (१रक्तस्राव इत्यनेनैव स्रवेदित्यस्य लब्धत्वात्तदुक्तिर्निरन्तरस्रावप्रतिपादनार्थमिति कार्तिकः न चैतत् प्रभूतमित्यनेन गतार्थं, अनिरन्तरतयाऽपि प्रभूतस्रावसंभवात्) । रक्तस्राव । इत्यनेनैव रक्तजत्वे सिद्धे शोणितजो विकार इति यदुच्यते तदत्यन्तकुपितरक्तजत्वप्रतिपादनार्थम् । कार्तिकस्त्वाह—पित्तलिङ्गपरिग्रहार्थं, पित्तेन सह तुल्यत्वाद्रक्तस्य । तथात्र क्वचित् पाठः 'रक्तस्रावः पित्तलिङ्गैरुपेतः' इति ॥—

**हरिद्राभं पीतमुष्णं जलाभं पित्तास्रावः संस्रवेत् सन्धिमध्यात् ॥**

जलस्रावपर्यायस्य पित्तस्रावस्य लक्षणमाह—हरिद्राभमित्यादि । हरिद्राभं पीतलोहितं बोद्धव्यं, परतः पीतमित्यस्योक्तेः (जलाभमिति जलवत् स्वच्छम् । उष्णमिति सर्वेनैव सम्बध्यते । केचित् 'पीतं' इत्यस्य स्थाने 'नीलं' इति पठन्ति । यत्तु 'जलाभं' इत्यस्य स्थाने 'जलं वा' इति तदसङ्गतं, सुश्रुतेनोद्देशावसरे जलस्रावनामतयाऽस्योद्देशात्, तद्धि नाम जलवदास्रावोऽस्येति योगतः समावेशितम् । यदा तु 'जलं वा' इति पाठः स्यात्तदा कदाचिज्जलाभता स्यादिति न सर्वत्र योगव्याप्तिरिति ) सन्धिमध्यादित्यविशेषोक्ते सर्वसन्धिमध्यादिति बोद्धव्यम् । ननु, वातस्रावः कुतो नोक्तः, वातेन स्रावाभावादिति चेत्, नैवं, वाताभिष्यन्दे शिशिराश्रुतेरुक्तत्वात्तेनोऽपि स्रावो दर्शितः । उच्यते, २विशिष्टेऽक्षिप्रदेशे केवलवायोः स्रावजनकत्वं सम्बन्धित्वमनभिधानात् । विदेहेऽपि चत्वार एवोक्ताः,—"सन्निपाताद् कफाद्रक्तात् पित्तात् स्रावोऽक्षिसन्धिषु"—इति ॥ ७३ ॥

**†ताम्रा तन्वी दाहशूलोपपन्ना**
**रक्ताज्ज्ञेया पर्वणी वृत्तशोफा ।**
**जाता सन्धौ कृष्णशुक्ले—**

तदेवमसाध्यानां चतुर्णां स्रावाणां लक्षणमभिधाय पर्वणीलक्षणमाह—ताम्रेत्यारभ्य कृष्णशुक्ल इत्यन्तेन । इयं रक्तजा कफानिलजा च, रक्तजत्वमेव सुश्रुते दर्शितमाश्रित्येन ॥—

**ऽलजी स्या-**
**त्तस्मिन्नेव ख्यापिता पूर्वलिङ्गैः ॥ ७४ ॥**

अलजीलक्षणमाह—अलजी स्यादित्यादि । तस्मिन्नेवेति शुक्लकृष्णसन्धौ, पूर्वलिङ्गैः

*'रक्तस्रावः शोणितोत्थ इति ग्रहणं प्रभूतस्रावसूचनार्थम् । पुनः सैरक्तमुष्णमिति यत्तत्प्रकुपितरक्तजत्वप्रतिपादनार्थम्' । (आ० द० )

† 'ताम्रा अरुणा, तन्वी सूक्ष्मा, वृत्तशोफा वर्तुलाकारशोथा' । ( आ० द० )

१ ( ) एतच्चिह्नमध्यस्थः पाठः क. पुस्तके नोपलभ्यते । २ 'विशिष्टे क्वचिदक्षिप्रदेशे केवलस्य वायोः स्रावजनकत्वमनभिधानाद्बोद्धव्यम्' क. । ३ "रक्तस्रावः शोणितोत्थः स्रवेदुष्णं नाल्पं संस्रवेन्नातिसान्द्रम्" इति पाठाभिप्रायेण ।

पर्वणीलक्षणैरुपेतेत्यर्थः । ननु, एवं सति स्थानलक्षणयोरभेदेनानयोरभेदः स्यादिति चेत्, नैव, तनुत्वस्थूलत्वाभ्यां पर्वणिकालज्योर्भेदात्। तथाच विदेहः,–' शुक्लकृष्णान्तसन्धौ तु चीयन्तेऽसृक्कफानिलाः । पर्वणीपिडका तेषु जायते त्वङ्कुरोपमा ॥ ताम्रा सदाहचोषोष्णपीतकाश्रुसमाकुला । कफपित्ते तु समूर्च्छ्य सह रक्तेन मारुतः ॥ शुक्लकृष्णान्तसन्धौ तु जनयेद्ग्रोस्तनाकृतिम् । पिडकामल्जीं तां तु विद्धि तोदाश्रुसङ्कुलाम्''– इति । कार्तिकस्त्वभेदानुपपत्तिं शङ्कमानः पूर्वलिङ्गैरित्यन्यथा व्याचष्टे—पूर्वोक्ताया प्रमेहपिडकाया अलज्या लिङ्गैरित्यर्थः । इयं त्रिदोषजा असाध्या च ॥ ७४ ॥

***क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मनः पक्ष्मणश्च कण्डूं कुर्युः क्रिमयः सन्धिजाताः ।**
**नानारूपा वर्त्मशुक्लान्तसन्धौ चरन्त्यन्तर्लोचनं दूषयन्तः ॥ ७५ ॥**

क्रिमिग्रन्थिलक्षणमाह—क्रिमिग्रन्थिरित्यादि । ( प्रथमं वर्त्मशुक्लयोः सन्धौ भूत्वा क्रमेण वर्त्मनः पक्ष्मणश्च सन्धिजाताः सम्भावितः प्राप्ताः क्रिमयो यत्र कण्डूं कुर्युः स क्रिमिग्रन्थिः । स चायं क्रिमिग्रन्थिर्वर्त्मशुक्लयोः सन्धौ भवति, तथैव भूत्वा अन्तर्लोचनं नयनस्याभ्यन्तरं चरन्ति भक्षयन्ति, दूषयन्तः सन्त इत्यर्थः । अत्रैव विदेहः,–''वर्त्मशुक्लस्य सन्धौ तु ग्रन्थिः पित्तकफात्मकः । ऊष्मणा पच्यते गाढं तत्र मूर्च्छन्ति जन्तवः ॥ सुसूक्ष्मजातचरणा वर्त्मपक्ष्मसमाश्रयाः । ततस्ते पूयसंसृष्टा पतन्ति क्रिमयस्तथा ॥ लक्षणैर्विविधैर्युक्ता सन्निपातसमुत्थिताः । क्रिमिग्रन्थिं तु तं विद्याद्देहिनां नेत्रदूषणम्''–इति । कार्तिकस्त्वन्यथा पठित्वा व्याचष्टे—)वर्त्मनः पक्ष्मणश्चापि कण्डूं कुर्युरित्यभिधानात् क्रिमिग्रन्थिः पक्ष्मवर्त्मसन्धौ भवतीति गम्यते, कथमन्यथाऽन्यत्रावस्थितैः क्रिमिभिरन्यत्र कण्डूर्जन्यते इति । एतच्च न सम्यक्, वर्त्मशुक्लान्तसन्धाविति विरोधप्रसङ्गात् ॥ ७५ ॥

**†अभ्यन्तरमुखी ताम्रा बाह्यतो वर्त्मनश्च या ।**
**सोत्सङ्गोत्सङ्गपिडका सर्वजा स्थूलकण्डुरा ॥ ७६ ॥**

* 'वर्त्मनः पक्ष्मणश्च कण्डूं कुर्युरित्युक्ते क्रिमिग्रन्थिः पक्ष्मवर्त्मसन्धावेव प्रतीयते । तेनायमर्थः —क्रिमयो वर्त्मनः पक्ष्मणश्च सन्धिजाताः सन्तः कण्डूं कुर्वन्ति, तथा वर्त्मशुक्लान्तसन्धौ भूत्वाऽन्तर्नयनं दूषयन्तश्चरन्ति । अयं सन्निपातजः । एवं पूयालसः, श्लेष्मोपनाहः, सन्निपातजेऽपरक्तपित्तस्राक्षत्वारः स्रावाः, पर्वणीका, अलजी, क्रिमिग्रन्थिरिति नवसंख्या एते सन्धिजाः ॥ ७५ ॥ **इति सन्धिगताः ॥**

† 'सन्धिजानन्तरं वर्त्मजा उच्यन्ते, तत्र वर्त्मोत्सङ्गिनीमाह–अभ्यन्तरमुखीत्यादि' ( आ० द० ) ॥ ७६ ॥

---

१ 'अन्ये तु पूर्वलिङ्गैरित्यनेन प्रमेहपिडकावयवैरलजीलिङ्गैरिति ब्रुवते, सुश्रुते प्रमेहनिदाने रक्ताभिरवेत्यादिलिङ्गैः ख्यापिता याऽलजी तद्दियमपीत्यर्थः । तेन स्थानसाम्येऽपि भिन्नरूपतया पर्वणीतो विलक्षणत्वम्'–इति च । २ () एतच्चिह्नान्तर्गतः पाठः क पुस्तके नोपलभ्यते । ३ 'इति कार्तिकः । तेनायमर्थः –वर्त्मनः पक्ष्मणश्च सन्धौ जाताः सन्तः कण्डूं कुर्वन्ति । तथा वर्त्मशुक्लान्तसन्धौ भूत्वाऽन्तर्नयनं दूषयन्तश्चरन्ति । अयं सन्निपातजः । यदाह निमिः –वर्त्मशुक्लसन्ध्यादि' क ।

अथ सन्धिगतरोगाभिधानानन्तरं पारिशेष्याद्वर्त्मशुक्लान्तसन्धाविस्तत्र वर्त्मनिर्देशेन तद्गतरोगनिदानारम्भः । नयनगोलकावरकं निमेषोन्मेषाश्रयं पटलद्वयं वर्त्म उच्यते । सुश्रुते प्रथमोद्दिष्टत्वेनोत्सङ्गपिडकालक्षणमाह—अभ्यन्तरमुखीत्यादि । वर्त्मन एवाभ्यन्तरे मुखं यस्याः सा तथा । ( ननु, कथं बाह्यत इति ? उच्यते, वास्तूत्सेधेन बहिरप्युन्नततया दर्शनाद्बाह्यत्वं, न तु बाह्यमुखत्वेन[1] ) । बाह्यत इति सप्तम्यर्थे तसिल्, एवं वर्त्मन इत्यत्रापि । इयं विदेहवचनादधरवर्त्मान्तर्जाता बोध्या । ताम्रा ताम्रवर्णा । सोत्सङ्गा सा उत्सङ्गा उत्सङ्गिनी, अर्श आदित्वादच् । उत्सङ्गपिडकेति उत्सङ्गे क्रोडे बह्व्यः पिडका यस्याः सा । ( अन्ये तु सोत्सङ्गा क्रोडीकृतपूया । उत्सङ्गपिडकेति नामेदम् । तत्रापि कुक्कुटाण्डरसपूयता चकाराद्बोद्धव्या ) स्थूलकण्डूरेति स्थूला चासौ कण्डूरा चेति कर्मधारयः, कण्डूरा कण्डूमती, दोषाणां कफप्राबल्यात् । चकारेणात्र विदेहोक्तकाठिन्यादि संगृहीतम् । तथाच विदेहः,—"वर्त्मोत्सङ्गेऽधरे जन्तोः सन्निपातात् प्रजायते । अभ्यन्तरमुखी स्थूला बाह्यतश्चापि दृश्यते । पिडका पिडकाभिश्च चिताऽन्याभिः समन्ततः । उत्सङ्गपिडका नाम कठिना मन्दवेदना ॥ सा प्रभिन्ना स्रवेत् स्रावं कुक्कुटाण्डरसोपमम्"—इति । सर्वजेति सन्निपातभवा ॥ ७६ ॥

वर्त्मान्ते पिडका ध्माता भिद्यन्ते च स्रवन्ति च ।
कुम्भीकाबीजप्रतिमाः कुम्भीकाः सन्निपातजाः ॥ ७७ ॥

कुम्भीकालक्षणमाह—वर्त्मान्त इत्यादि । पिडका इति बहुवचननिर्देशाद्बह्व्यः, भिद्यन्ते विदीर्यन्ते तथा स्रवन्ति च । ध्माता इति भिद्यमानाः स्वयमेव पूर्णोदरा भवन्तीति ध्माताः । कुम्भीकाबीजप्रतिमा इति कुम्भीका कच्छदेशोद्भवा दाडिमफलाकारफला लता, तद्बीजेन प्रतिमा भासा ता इत्यर्थः, अन्ये 'कुम्भीकबीजसदृशा' इति पठन्ति, तत्र कुम्भीकः कुम्भाण्डलता, तद्बीजमपि दाडिमफलबीजाकारं, तत्सदृशाः पिडका उच्यन्ते । कुम्भीशब्दात् 'इवे प्रतिकृतौ' इति कन् । एषा त्रिदोषजा असाध्या च ॥ ७७ ॥

*स्राविण्यः कण्डुरा गुर्व्यो रक्तसर्षपसंनिभाः ।
रुजावत्यश्च पिडकाः पोथक्य इति कीर्तिताः ॥ ७८ ॥

पोथकीना लक्षणमाह—स्राविण्य इत्यादि । स्राविण्यो बहुस्रावाः । गुर्व्य इति गौरवयुताः । रुजावत्य इति रक्तसंबन्धात् कफजा अपि वेदनान्विताः ॥ ७८ ॥

पिडका या खरा स्थूला सूक्ष्माभिरभिसंवृता ।
वर्त्मस्था शर्करा नाम स रोगो वर्त्मदूषकः ॥ ७९ ॥

वर्त्मशर्करालक्षणमाह—पिडका येत्यादि । खरा खरस्पर्शा । सूक्ष्माभिरभिसंवृतेति सूक्ष्माभिः प्रकरणात्पिडकाभिर्वेष्टिता । अत्रैव विदेहः,—"सुसूक्ष्मपिडकाकीर्णा या स्थूला पिडका खरा । जायते सन्निपातात्तु वर्त्मशर्करिकेति सा"—इति ॥ ७९ ॥

* 'कण्डुराः कण्ड्वयुताः' (आ० द०) ॥ ७८ ॥

[1] 'बाह्यत इत्यभिधानाद्वास्तूत्सेधेन बाह्यतोऽप्युपलभ्यते' क. ।

एर्वारुबीजप्रतिमाः पिडका मन्दवेदनाः ।
श्लक्ष्णाः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते ॥ ८० ॥

अर्शोवर्त्मलक्षणमाह—एर्वारुबीजेत्यादि । एर्वारुः ग्रीष्मकर्कटी । श्लक्ष्णा अकर्कशा । वर्त्मस्था इत्यविशेषिताभिधानादन्तर्बहिश्च वर्त्मनो भवतीति गम्यते । इयं सन्निपातजा । तथाच निमिः,—"नीरुजा कठिना वर्त्मपक्ष्मान्तर्वर्त्मतोऽपि वा । पिडका सन्निपातेन तदर्शोवर्त्म निर्दिशेत्"–इति ॥ ८० ॥

दीर्घाङ्कुरः खरः स्तब्धो दारुणोऽभ्यन्तरोद्भवः ।
व्याधिरेषोऽभिविख्यातः शुष्कार्शो नाम नामतः ॥ ८१ ॥

शुष्कार्शोलक्षणमाह—दीर्घाङ्कुर इत्यादि । खरः कर्कशः । स्तब्धः कठिनः, शुष्कत्वात् । दारुणः बहुदुःखदत्वात् । अभ्यन्तरोद्भव इति वर्त्माभ्यन्तरस्थितः । अभिविख्यातः कथितः । नामतः प्रसिद्धितः । सन्निपातजमिदम् । अत्र विदेहः—"वर्त्माभ्यन्तर्गतं स्वर्शः शुष्कं स्थूलं च दारुणम् । जायते सन्निपातेन तच्छुष्कार्शः प्रकीर्तितम्"–इति ॥ ८१ ॥

*दाहतोदवती ताम्रा पिडका वर्त्मसंभवा ।
मृद्वी मन्दरुजा सूक्ष्मा ज्ञेया साऽञ्जननामिका ॥ ८२ ॥

अञ्जननामिकालक्षणमाह—दाहतोदवतीत्यादि । इयं रक्तजा ॥ ८२ ॥

वर्त्मोपचीयते यस्य पिडकाभिः समन्ततः ।
सवर्णाभिः स्थिराभिश्च विद्याद्बहुलवर्त्म तत् ॥ ८३ ॥

बहुलवर्त्मलक्षणमाह—वर्त्मोपचीयत इत्यादि । सवर्णाभिस्त्वक्समानवर्णाभिः । एतत् सन्निपातादेव ॥ ८३ ॥

कण्डूमताऽल्पतोदेन वर्त्मशोथेन यो नरः ।
न[1] स संछादयेदक्षि यत्रासौ वर्त्मबन्धकः ॥ ८४ ॥

वर्त्मबन्धकलक्षणमाह—कण्डूमतेत्यादि । वर्त्मशोथेनोपलक्षितो नरः स चक्षुर्न संछादयेत् सम्यक् छादयितुं न शक्नुयादित्यर्थः । एष सन्निपातजः ॥ ८४ ॥

†मृद्वल्पवेदनं ताम्रं यद्वर्त्म सममेव च[2] ।
अकस्माच्च भवेद्रक्तं क्लिष्टवर्त्मेति तद्विदुः ॥ ८५ ॥

क्लिष्टवर्त्मलक्षणमाह—मृद्वल्पवेदनमित्यादि ।—रक्तजत्वेऽप्यस्याल्पवेदनत्वमधिरकफदूषितत्वादस्य । ( वर्त्मेति निर्देशदर्शनाद्वर्त्मद्वयं ग्राह्यं, अत एव सर्वं युगप-

* 'या वर्त्मसंभवा पिडका दाहादिलक्षणा भवति साऽञ्जननामिका ज्ञेया, इयं रक्तजा साध्या च' ( आ० द० ) ॥ ८२ ॥

† 'यत् लेपकात् रक्तं लोहितं भवति परमकस्मादनिमित्तात् । एतत्क्लिष्टवर्त्म' ( आ० द० ) ॥ ८५ ॥

१ 'न संछादयेदिति सशोथत्वाच्चक्षुरुन्मेषनिमेषणं न विदधाति' इति क. । २ 'यद्वर्त्मद्वयं सममेवकालं रक्तं भवति तत् क्लिष्टवर्त्म । एतद्रक्तजम्' क. ।

देवेत्यर्थः । श्वयथ्वादित्वहेतोरनियमेनैवेत्यर्थः । ताम्रमित्यनेनोपात्तेऽपि लोहित्ये रक्तमित्युपादानं हेत्वनियमप्रयुक्तं कादाचित्कं लौहित्यमिति द्योतयति । अत्रैव विदेहः,—"श्लेष्मदुष्टेन रक्तेन क्लिष्टं मांसमिवोभयम् । बन्धुजीवनिभं वर्त्म क्लिष्टवर्त्म तदुच्यते"—इति । अन्ये सममसृक्छ्लेष्मणोरिति यावदित्याचक्षते । अत्र पक्षे क्लिष्टत्वं वेदनाऽतियोगादवगन्तव्यम् ॥ ८५ ॥

*क्लिष्टं पुनः पित्तयुतं शोणितं विदहेद्यदा ।
ततः क्लिन्नत्वमापन्नमुच्यते वर्त्मकर्दमः ॥ ८६ ॥

वर्त्मकर्दमलक्षणमाह—क्लिष्टं पुनरित्यादि । ( क्लिष्टमिति प्रागुक्तस्य कर्तृत्वेनायमर्थः —क्लिष्टं क्लिष्टवर्त्मैव यदा पित्तसम्पर्कात्सादधिकपित्तं सरक्तशोणितं विदहेद्विदग्धदाहेन संयोजयेत्तदा क्लिन्नत्वमापादयति, क्लेदत्वमापन्नं वर्त्म वर्त्मकर्दम उच्यत इति योज्यम् । ) 'ततः कृष्णत्वमापन्नं' इत्यन्ये पठन्ति । तत्र कृष्णत्वं शोणितविदाहेनैव । एवं च सति कृष्णत्वेन कर्दमसंज्ञासमावेशोऽपि घटते इति । कार्त्तिकस्त्वन्यथा व्याचष्टे—शोणितमिति कर्तृपदं, तेन शोणितं पित्तयुक्तं कर्तृभूतं, यदा पूर्वोक्तं क्लिष्टमेव विदहेदित्यादि सर्वमपरं समानं पूर्वेण । अस्य तु सुश्रुते यत् साम्निपातिकत्वमुक्तं तत् कफपित्तरक्तारब्धत्वात्, वातकारणत्वस्याश्रुते ॥ ८६ ॥

†यद्वर्त्म बाह्यतोऽन्तश्च श्यावं शूनं सवेदनम् ।
तदाहुः श्याववर्त्मेति वर्त्मरोगविशारदाः ॥ ८७ ॥

श्याववर्त्मलक्षणमाह—यद्वर्त्म बाह्यत इत्यादि । बहिरन्तश्च श्यावत्वं वातकृतम् । अत्रैव शूनं च आयतं इत्यस्यान्ते 'सवेदनं सकण्डु च ह्यल्पक्लेदि त्रिदोषजम्'—इत्यपि केचित् पठन्ति तदप्युपपन्नं, कफात् कण्डू, अल्पक्लेदि पित्तात्, सवेदनं वातात् । अत्रैव विदेहः,—"दुष्टः श्लेष्मा मरुत् पित्तं वर्त्मनोऽश्रीयते यदा । अभिदग्धनिभं श्यावं श्याववर्त्मेति तद्विदुः"—इति । अत्र वाताधिकत्वं बोद्धव्यम् ॥ ८७ ॥

‡अरुजं बाह्यतः शूनं वर्त्म यस्य नरस्य हि ।
प्रक्लिन्नवर्त्म तद्विद्यात् क्लिन्नमत्यर्थमन्ततः ॥ ८८ ॥

---

* 'प्रागुक्तलक्षणमेव वर्त्म पित्तमिलितं शोणितं कर्तृभूतं यदा विदहेत् दूषयेत्, कफदुष्टे [illegible] रक्ते पित्तसम्पर्कोपासनात् पित्तमधिकं तद्वत्, तत्र क्लिन्नत्वमापन्नमिति आर्द्रतां गतं वर्त्मकर्दम उच्यते । 'कृष्णत्वमापन्नं' इति पाठान्तरे कृष्णत्वं हि शोणितविदाहेनैव । अयं पित्ताधिकसन्निपातजः' ( आ० द० ) ॥ ८६ ॥

† 'रक्ताद्यधिकदोषत्रयजश्चायम्' (आ० द०) ॥ ८७ ॥

‡ 'क्लिन्नमत्यर्थमिति अत्यन्तं क्लेदवत्, गदाधरस्तु क्लिन्नमन्तरीति पठित्वा, तत्र मध्ये क्लेदवदित्यर्थः । सन्निपातश्चायं 'क्लिन्नवर्त्मनोऽस्या तदमवगन्तव्यम्' ( आ० द० ) ॥८८॥

---

१ 'पूर्वोक्तलक्षणमेव वर्त्म शोणितं कर्तृ विदहेद्दूषयेत् । पित्तयुक्तमिति कफदुष्टमपि रक्तं पित्तसम्पर्कात्सरात् पित्तमधिकं यत्र, तत्र क्लिन्नत्वमापन्नमिति आर्द्रत्वमापन्नं वर्त्मकर्दम इत्युच्यते' क । २ 'तदा क्लिन्नत्वेनापि कर्दमानुकारो बोद्धव्यः' क । ३ 'तत्र कृष्णत्वमात्रेण पित्ताधिकसन्निपातज' क ।

प्रक्लिन्नवर्त्मलक्षणमाह—अरुजमित्यादि । अरुजमल्परुजम् । बाह्यतः शूनमिति बहिः शोथयुक्तम् । क्लिन्नमत्यर्थमन्तत इति अन्तत उपान्ते क्लेदवत् । गदाधरस्तु क्लिन्नमन्तरिति विवृणोति । एतच्च चक्षुष्येण पिल्लाख्यया पठितम् । तथा हि,—"भृशं प्रक्लिद्यते वर्त्म कण्डूमन्मन्दवेदनम् । विद्यात् प्रक्लिन्नवर्त्मेति तत् पिल्लं सन्निपातजम्"—इति । यद्येवं कथं विदेहेऽक्लिन्नवर्त्म पिल्लाख्यया निर्दिश्यते । यथा,—"प्रक्षालितेऽथवा मृष्टे क्षालयेत पुनः पुनः । अपरिक्लिन्नवर्त्मेति तत्पिल्लमिति निर्दिशेत्"—इति, किंच सुश्रुते प्रक्लिन्नवर्त्म श्लेष्मसंग्रहे पठितं, पिल्लं च सन्निपातजगणे; तत्कथं प्रक्लिन्नवर्त्म पिल्लमिति संगतं ? उच्यते—अक्लिन्नवर्त्मैव पिल्लं, तस्य सन्निपातजत्वात्, न तु प्रक्लिन्नवर्त्म, तस्य कफात्मकत्वात्; यदि तु प्रक्लिन्नवर्त्मैव कफोल्बणसन्निपातजं पिल्लत्वेनाभ्युपगम्यते, एतत् ख्यापनाय च तस्य कफजसर्वगणयोर्निर्देशः कृत इति स्वीक्रियते, तदा सन्निपातजगणे पित्तेनाक्लिन्नवर्त्म न परिगृहीतं स्यात्; ततस्तदपरिग्रहे षट्सप्तत्योपसंहारो नेत्ररोगाणां न घटते, पञ्चसप्ततेरभिधानात्, पिल्लस्य प्रक्लिन्नवर्त्मस्वरूपत्वेनापृथक्त्वात् । ननु, एवं तर्हि कथं 'विद्यात् प्रक्लिन्नवर्त्मेति तत् पिल्लं सन्निपातजम्'—इति समर्थयितव्यं ? उच्यते, (अस्यायमर्थः प्रत्येतव्यः[1]—यदा तदेव प्रक्लिन्नवर्त्म श्लेष्मात्मकमेव सद्वातपित्ताभ्यां विशेषकाभ्यामुपनिबध्यते तदा सन्निपातजं सदपरिक्लिन्नवर्त्मार्थान्तरमासादयत् पिल्लमित्यभिधीयते, तथा चोभयोरप्यविरोधः, उभाभ्यामेवापरिक्लिन्नवर्त्मन एव पिल्लाख्यत्ववर्णनादिति । अयं च वाग्भटे कफोत्क्लिष्टाख्यतया निबद्धः, ) किंच यदि प्रक्लिन्नवर्त्म पिल्लं तत्पृथक्त्वेन चाक्लिन्नवर्त्म अभविष्यत्, तदास्योपद्रविके सुश्रुतो दोषागमकत्वेन साध्यादिभेदेन चाभिधानमकरिष्यत्, न च कृतं, तस्मादक्लिन्नवर्त्मनोऽवस्थान्तरमिति ॥ ८८ ॥

*यस्य धौतान्यधौतानि संबध्यन्ते पुनः पुनः ।
वर्त्मान्यपरिपक्वानि विद्यादक्लिन्नवर्त्म तत् ॥ ८९ ॥

अपरिक्लिन्नवर्त्मनो लक्षणमाह—यस्य धौतानीत्यादि । एतद्वाग्भटे पिल्लाख्यम् । संबध्यन्ते अन्योन्यं लग्नानि भवन्तीत्यर्थः । तदिदं संबद्धत्वं किं पूयसंपर्कादेव, तथा च प्रक्लिन्नत्वमेव स्यात्तदर्थमाह—अपरिपक्वानीति । एतदेव पिल्लाख्यम् । अन्यत्र च पिच्चपिल्लाख्यमन्यथा पठितं,—"पित्तश्लेष्मप्रकोपेण वर्त्मान्तः परिपाट्यते । साश्रं निर्लोम तथापि विशिष्टं पिल्ललक्षणम्"—इति । एतदनादृतं, टीकाकृद्भिरव्याख्यातत्वात् । वाग्भटेन कुकूणकादीनामष्टादशानां पिल्लाख्या कृता । वर्त्मानीति बहुवचनं नेत्रद्वये वर्त्मचतुष्टयत्वेन संगच्छते तेन नेत्रद्वयगत एवायं व्याधिरिति कार्तिकः ॥ ८९ ॥

* 'यस्य वर्त्मानि बहिरन्तश्चापरिक्लिन्नानि तथापि संबध्यन्ते भासन्ते, शिलोपदेहेन संलग्नानि भवन्तीत्यर्थः । पक्वान्यपि धौतानि पूयेनाबद्धानि भवन्तीति तन्निरासायाह—अपरिपक्वानीति । धौतान्यधौतानीति कोऽर्थः ? पुनः पुनः प्रक्षालितानि' (मा० ९० ) ॥ ८९ ॥

[1] 'अस्यायमर्थः प्रत्येतव्यः—तत्प्रक्लिन्नवर्त्मनोऽवस्थान्तरमक्लिन्नवर्त्म अवस्थावशात्पदा विशेषाद्वातपित्तश्लेष्मदस्त्रेऽर भवति यदा सन्निपातजं सपिल्लाख्यं भवति । नन्वलन्तरूर्ध्वं, ततश्च टीकाकृद्भिः पठ्यत्वात्, एतेन प्रक्लिन्नवर्त्मनोऽवस्थान्तरमक्लिन्नवर्त्म, पिल्लतया निर्दिश्यते, अन्यथा चक्षुष्येण विरोधो दुर्वारः' इति क० ।

*विमुक्तसन्धि निश्चेष्टं वर्त्म यस्य न मील्यते ।
एतद्वातहतं वर्त्म जानीयादक्षिचिन्तकः ॥ ९० ॥

वातहतवर्त्मलक्षणमाह—विमुक्तसन्धीत्यादि । विमुक्तो विश्लिष्टो वर्त्मशुक्लगतः सन्धिर्यस्मात् तत्तथा, स्थानच्युतसन्धि । निश्चेष्टं निमेषोन्मेषरहितम् । सन्धिविश्लेषादेव तदाश्रयाणां निमेषोन्मेषकारिणीनां सिराणामपि विश्लेषेण निमेषोन्मेषरहितत्वमित्यभिप्रायः । अत एवोक्तं न मील्यते न संकुचतीत्यर्थः । 'निमील्यते' इति पाठान्तरं, तत्र निमीलितमेव तिष्ठतीत्यर्थः । इदं युक्तं, स्पष्टत्वात् । एतच्च साध्यं, सुश्रुतेऽसाध्यप्रकरणे पठितत्वादिति ॥ ९० ॥

†वर्त्मान्तरस्थं विषमं ग्रन्थिभूतमवेदनम् ।
आचक्षीतार्बुदमिति सरक्तम(वि)लम्बितम् ॥ ९१ ॥

अर्बुदलक्षणमाह—वर्त्मान्तरस्थमित्यादि ।—वर्त्मनोऽभ्यन्तरस्थं, बाह्येऽप्युन्नतत्वदर्शनाद्विषमम् । ग्रन्थिभूतं ग्रन्थिरूपेण स्थितम् । अवेदनमिति ईषदर्थे नञ्, तेन ग्रन्थिरिवाल्पवेदनमित्यर्थः, वेदना च वातानुबन्धेनैव । सरक्तमिति किंचिद्रक्तं, पित्तानुबन्धात् । अविलम्बितं शीघ्रजन्मेत्यर्थः । केचिदन क्रियाविशेषणं ब्रुवते, तेनायमर्थः—अविलम्बितं शीघ्रमाचक्षीतार्बुदमिति; किं त्वेतन्न संगतं, अस्य, व्याख्यानस्य निष्प्रयोजनत्वात् । अन्ये तु 'अवलम्बितं' इति पठन्ति । एतत् सन्निपातजम् (अपाकि च, तच्च फेनेन) ॥ ९१ ॥

‡निमेषिणीः सिरा वायुः प्रविष्टः सन्धिसंश्रयाः ।
प्रचालयति वर्त्मानि निमेषं नाम तद्विदुः ॥ ९२ ॥

निमेषलक्षणमाह—निमेषिणीरित्यादि । निमेषिणीः निमेषकारिकाः सिराः । सन्धिसंश्रया इति वर्त्मशुक्लगता इत्यर्थः । अयमसाध्यो वातजः । चकुन्येन चोन्मेषिणीः सिरा इत्युक्तं, यदाह,—"उन्मेषणीः सिरा वायु प्रविश्य चावतिष्ठते । अत्यर्थं चालयेद्वर्त्म निमेष स न सिध्यति"—इति ॥ ९२ ॥

यः स्थितो वर्त्ममध्ये तु लोहितो मृदुरङ्कुरः ।
तद्रक्तजं शोणितार्शश्छिन्नं छिन्नं प्रवर्धते ॥ ९३ ॥

शोणितार्शोलक्षणमाह—यः स्थित इत्यादि । अङ्कुराकारो मांसोच्छ्रयोऽङ्कुरः ।

---

* 'अक्षिचिन्तक इति शालाक्यसिद्धान्तवादी, विमुक्तसन्धि स्वस्थानच्युतसन्धि' (आ० द०) ॥ ९० ॥

† 'अर्बुदलक्षणमाह—वर्त्मनोरित्यादि । विषममवर्तुलं, अविलम्बितमस्वल्पे, शीघ्रजन्मेत्यन्ये । अन्ये 'अविलम्बि च' इति पाठान्तरं पठन्ति । एतत् सन्निपातजम् । आचक्षीत कथयेत्' (आ० द०) ॥ ९१ ॥

‡ 'व्यानो वायुः, सिराः प्रविष्टो वर्त्मानि चालयति विसंस्पन्दयति' (आ० द०) ९२

---

१ 'विषम मर्बुद' क. २ अयं पाठः क. पुस्तके नोपलभ्यते । ३ 'वर्त्मनो योऽभिवर्धते' क. ।

एतदसाध्यं, तथा च विदेहः,—"वायुः शोणितमादाय सिराणां प्रमुखे स्थितः । जनयत्यङ्कुरं ताम्रं वर्त्मनि च्छिन्नरोहणम् ॥ तच्छोणितार्शोऽसाध्यं स्यादकक्षाव्यथ नीरुजम्"—इति ॥ ९३ ॥

अपाकी कठिनः स्थूलो ग्रन्थिर्वर्त्मभवोऽरुजः ।
लगणो नाम स व्याधिर्लिङ्गतः परिकीर्तितः ॥ ९४ ॥

लगणलक्षणमाह—अपाकीत्यादि । अपाकित्वादिकं श्लेष्मारब्धत्वादेव । तथा च शाल्यकिः,—"वर्त्मोपरिष्टाद्यो ग्रन्थिः कठिनो न विपच्यते । नीरुजो लगणो नाम रोगः श्लेष्मसमुद्भवः"—इति ॥ ९४ ॥

*त्रयो दोषा बहिःशोथं कुर्युश्छिद्राणि वर्त्मनोः ।
प्रस्रवन्त्यन्तरुदकं बिसवद्बिसवर्त्म तत् ॥ ९५ ॥

बिसवर्त्मलक्षणमाह—त्रयो दोषा इत्यादि । बहिःशोथमिति बहिरुच्छूनत्वं यथा भवति तथा वर्त्मनोश्छिद्राणि दोषास्त्रयः कुर्युरित्यर्थः । तानि छिद्राणि अन्तर्मुखान्येव, यदाह—प्रस्रवन्त्यन्तरुदकमिति । छिद्राणीति बहुवचननिर्देशाद्बहुमुखानि, अत्रापि दोषाः कुर्युरिति संबन्धः । अत एव बिसवन्मृणालवत्, तद्वानेकच्छिद्रयुक्तं भवति तद्वत् । अत्रैव चन्द्रिकाकारः सुश्रुते पठति—"शूनं यद्वर्त्म बहुभिः सूक्ष्मैश्छिद्रैः समन्वितम् । वर्त्मान्तरे बिसमिव बिसवर्त्मेति तत् स्मृतम्"—इति । शाल्यकिरप्याह,—"बिसस्योपाचितस्येव बहुमांससिरामुखम् । बिसवर्त्मेति जानीयाद्बुधिकिरस्यं त्रिदोषजम्"—इति ॥ ९५ ॥

†वाताद्या वर्त्मसंकोचं जनयन्ति मला यदा ।
तदा द्रष्टुं न शक्नोति कुञ्चनं नाम तद्विदुः ॥ ९६ ॥

कुञ्चनलक्षणमाह—वाताद्या इत्यादि । मला इत्यस्याभिधानं दुष्टत्वप्रतिपादनार्थं, यतो मलिनीकरणान्मला इत्युच्यन्ते । कुञ्चनं च कस्यापि तन्त्रस्य माधवकरेण लिखितं न सौश्रुतं, तेन सुश्रुतोक्तपञ्चसप्ततिसंख्या न हीयते, एवं वक्ष्यमाणेऽपि पक्ष्मशाते बोद्धव्यम् ॥ ९६ ॥

प्रचालितानि वातेन पक्ष्माण्यक्षि विशन्ति हि ।
घृष्यन्त्यक्षि मुहुस्तानि संरम्भं जनयन्ति च ॥ ९७ ॥

---

* शोथं कुर्युः, छिद्राण्यपि कुर्युरिति संबध्यते । बिसवदिति बिसं मृणालं यथाऽनेकच्छिद्रमभ्यन्तरस्थिते जले सति स्रवति, तद्वत् । 'प्रस्रवति' इति पाठे तद्बिसवर्त्म प्रस्रवतीति संबध्यते' ( आ० द० ) ॥ ९५ ॥

† 'यदाह सुश्रुतः—"उत्सङ्गिन्यपि कुम्भीका पोथकी वर्त्मशर्करा । तथाऽर्शोवर्त्म शुष्कार्शस्त्वथैवाञ्जननामिका ॥ बहलं वर्त्म यच्चापि व्याधिर्वर्त्मनिबन्धकः । क्लिष्टकर्दमवर्त्माख्यौ श्याववर्त्म तथैव च ॥ प्रक्लिन्नमपरिक्लिन्नं वर्त्म वातहतं च यत् । अर्बुदं निमिषश्चापि शोणितार्शश्च यत्स्मृतम् ॥ लगणं बिसनामा च पक्ष्मकोपस्तथैव च । एकविंशतिरित्येते विकारा वर्त्मसंभवाः"—इति ( आ० द० ) ॥ ९६ ॥

---

१ 'सकण्डुः पिच्छिलः कोलसंस्थानो लगणस्तु सः' क. ।

अस्तिते सितभागे च मूलकोपात् पतन्त्यपि ।
पक्ष्मकोपः स विज्ञेयो व्याधिः परमदारुणः ॥ ९८ ॥

पक्ष्मकोपलक्षणमाह—प्रचालितानीत्यादि । प्रचालितानि प्रकर्षेण चालितानि, प्रतीपीकृतानीत्यर्थः । पक्ष्माणि वर्त्मरोमाणि वातचालितानि सन्ति नेत्रं प्रविशन्ति अन्तर्मुखानि वर्तन्त इत्यर्थः । तान्यसिते कृष्णमण्डले, सितभागे शुक्लमण्डले वा अक्षि घृष्यन्ति घर्षयन्तीत्यर्थः । अत एव संरम्भं शोथं जनयन्ति । मूलकोपात् पक्ष्मकोपात्, पतन्त्यपीति 'पक्ष्माणि' इति शेषः, अपिशब्दात्र पठन्ति च । त्रिदोषजत्वार्थं, प्रचालने वातमात्रकारणत्वमुक्तं; तथा च चन्द्रिकाकारः पाठान्तरं पठति—"पक्ष्माशयगता दोषास्तीक्ष्णाग्राणि खराणि च । निर्वर्तयन्ति पक्ष्माणि तैर्घृष्टं चाक्षि दूयते ॥ उद्धृतैरुद्धृतैः शान्तिः पक्ष्मभिश्चोपजायते"—इति । अत्र पक्ष्माशयो वर्त्म । विदेहोऽप्याह—"यस्य वातसंबन्धेन दोषाः प्रकुपितास्त्रयः"—इत्यादिनेति । कल्याणविनिश्चये उपपक्ष्म पठ्यते,—"पक्ष्मोपरोधो वातेन कोठोऽन्तर्मुखरोमवान् । रोमभिरन्तर्मुखैरन्यैरुपपक्ष्म मलैस्त्रिभिः"—इति । उपपक्ष्मणि यादृशी पूर्वसिद्धा तादृश्यपराऽन्तर्मुखी पक्ष्मपङ्क्तिरिति भेदः, अस्य पक्ष्मोपरोधविशेषत्वात् समानचिकित्सत्वाच्च पृथगिहानभिधानम् ॥ ९७ ॥ ९८ ॥

वर्त्मपक्ष्माशयगतं पित्तं रोमाणि शातयेत् ।
कण्डूं दाहं च कुरुते पक्ष्मशातं तमादिशेत् ॥ ९९ ॥
(तत्र सन्ध्याश्रयास्तेषु वर्त्मजास्त्वेकविंशतिः ।
शुक्लभागे दशैकश्च चत्वारः कृष्णभागजाः ॥ १ ॥
सर्वाश्रयाः सप्तदश दृष्टिजा द्वादशैव तु ।
बाह्यजौ द्वौ समाख्यातौ रोगौ परमदारुणौ ॥ २ ॥)

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने नेत्ररोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५९ ॥

पक्ष्मशातलक्षणमाह—वर्त्मेत्यादि । पक्ष्माशयोऽत्र पक्ष्ममूलं, शातयेदुन्मूलयेदित्यर्थः । अयं च कफपैत्तिकः, कण्डूदाहवत्त्वात् । अत्र कृच्छ्रोन्मीलनं वाग्भटः पठति—"रोगान् कुर्युश्चलस्तत्र प्राप्य वर्त्माश्रयाः सिराः । सुप्तोत्थितस्य कुरुते वर्त्मस्तम्भं सवेदनम् ॥ पांशुपूर्णाभनेत्रत्वं कृच्छ्रोन्मीलनमश्रु च । विमर्दनात् स्याच्च शमः कृच्छ्रोन्मीलं वदन्ति तम्" ( वा. उ. स्था. अ. ८ )—इति । अस्य चकारेण संग्रहः । पक्ष्मणां वर्त्माश्रयत्वादयमपि वर्त्मरोग एव । इति वर्त्मगता एकविंशतिर्व्याधयः समाप्ताः ॥ ९९ ॥ इति वर्त्मगताः ।

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां नेत्ररोगनिदानं समाप्तम् ॥ ५९ ॥

---

१ 'मूलस्थानात्' क. । २ 'कण्डूरत्र पित्तदूषितरक्तभवा'—इति क. ।

## अथ शिरोरोगनिदानम्।

*शिरोरोगास्तु जायन्ते वातपित्तकफैस्त्रिभिः।
सन्निपातेन रक्तेन क्षयेण क्रिमिभिस्तथा॥
सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैः॥ १॥

अथ[1] कर्णनासानेत्राणामधिष्ठानत्वेन शिरसो नयनरोगानन्तरं शिरोरोगनिदानारम्भः। शिरोरोगाश्चैकादश, तत्र कारणभेदेन शिरोरोगभेदं दर्शयन्नाह—शिरोरोगास्त्वित्यादि। वातपित्तकफैरित्युक्ते गम्यत एव त्रिभिरिति, तत्कथं तदुक्तिः? उच्यते—सर्वेषां शिरोरोगाणां सन्निपातजत्वख्यापनार्थं, वातादिभेदश्चोत्कर्षात्; तदुक्तं चालम्बे,—"सर्व एव शिरोरोगाः सन्निपातसमुत्थिताः। औत्कट्याद्दोषलिङ्गैस्ते कीर्तितास्त्विह दश"—इति। त्रिभिः सन्निपातेनेति पदद्वयेन प्रकृतिविकृतिसमवेतसन्निपातद्वयमाहुरन्ये। अत्र पक्षे सन्निपातजत्वादेकत्वगणनया न संख्यातिरेकः; त्रिभिरिति पदं पृथक्त्वद्योतनार्थमिति[3] गदाधरः। क्षयेणेति असृग्वसादीनां क्षयेण; क्षयजोऽयं धातुक्षयजनितवातकोपेन सहसाकृतवातजन्यत्वेनाचयपूर्वकः, वातजस्तु संचयप्रकोपजनित इति भेदः; अत एवानुपशयोऽप्यस्य संस्वेदनादिना शुक्रक्षयकृदेवोपन्यस्तः[4]। शिरोरोगशब्देन शिरोगतशूलरूपा रुजाऽभिधीयते, तेन सूर्यावर्तानन्तवातार्धावभेदकशङ्खकैरित्यभिधानमुपपद्यते अन्यथा तेषामेव शिरोरोगत्वात्तैः शिरोरोगा जायन्त इत्यसंगतं स्यात्॥ १॥

†यस्यानिमित्तं[5] शिरसो रुजश्च भवन्ति तीव्रा निशि चातिमात्रम्।
बन्धोपतापैः[6] प्रशमश्च यत्र शिरोऽभितापः स समीरणेन॥ २॥

वातिकशिरोरोगलक्षणमाह—यस्यानिमित्तमित्यादि। अनिमित्तमेतर्कितनिमित्तं, वायोर्विषमक्रियत्वात्; तेन निमित्तानुपलब्धिना कालादिनेत्यर्थः। निशि चातिमात्रमिति रात्रौ शीतेन वायोरधिकयान्महती रुजा भवति, शीतयोनित्वाद्वायोः। बन्धोपतापैरिति बन्धो बन्धनं वस्त्रादिभिः, उपतापः स्वेदादिभिः, व्यक्त्यपेक्षया बहुवचनं, एतेनोपशयो दर्शितः। शिरोऽभितापः शिरोरुजा॥ २॥

---

* 'क्षयेणेति असृग्वसादीनां क्षयेण क्षयजः; तथैव चेति चकारेण तन्त्रान्तरोक्तेऽनन्तवात उपलक्ष्यते' ( आ० द० )॥ १॥

† 'अत्र तीव्रा इत्यभिधानाद् दिवेन मध्या, कफेन मन्दा रुजः। बन्धप्रतापैरिति बन्ध उष्णीषादिना, प्रतापः स्वेदेन' ( आ० द० )॥ २॥

---

१ 'शिरःसंश्रितान् ययेणादिरोगानभिधायोर्ध्वजत्रुगतपारिशेष्यादाश्रयभूतशिरोरोगनिदानम्' क.। २ 'तत्किमर्थं पुनरभिधानं' क.। ३ 'द्योतनार्थं' क.। ४ 'शुद्धिकृदेवोपन्यस्तः' क.। ५ 'यस्याश्चिन्निमित्तं' क.। ६ 'बन्धोपतापैरित्यत्र बहुत्वाद्बन्दे बहुवचनम्' क.। ७ "सूर्यावर्तार्धभेदाभ्यां शङ्खकेन तथैव च" इति पाठान्तरम्। असाधुनेष्टः पाठः।

*यस्योष्णमङ्गारचितं यथैव भवेच्छिरो धूप्यति चाक्षिनासम् ।
शीतेन रात्रौ च भवेच्छमश्च शिरोऽभितापः स तु पित्तकोपात् ३

पित्तजलक्षणमाह—यस्योष्णमङ्गारचितमित्यादि । अङ्गारचितं यथैवेति ज्वलदङ्गाराच्छन्नमिवेत्यर्थः । धूप्यति धूमायते धूमपूर्णमिव भवतीत्यर्थः । धूप्यतीति दिवादेराकृतिगणत्वात् । अक्षि च नासा चेत्यक्षिनासं, प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भावः । उपशयं दर्शयति—शीतेन रात्रौ चेत्यादि ॥ ३ ॥

†शिरो भवेद्यस्य कफोपदिग्धं गुरु प्रतिष्टब्धमथो हिमं च ।
शूनाक्षिकूटं वदनं च यस्य शिरोऽभितापः स कफप्रकोपात् ॥४॥

श्लेष्मजलक्षणमाह—शिरो भवेदित्यादि । कफोपदिग्धमिति कफलिप्तम् । गुरु गौरवयुतम् । प्रतिष्टब्धं बद्धमिव । हिमं हिमस्पर्शम् । शूनाक्षिकूटमिति वदनविशेषणम् । तथा हि चरकः,—'शिरो मन्दरुजं तेन गुरु स्तिमितभारिकम्' (च. सू. स्था. अ. १७)—इति । अत्रापि स्वेदादिनोपशयो ज्ञेयः ॥ ४ ॥

‡शिरोऽभितापे त्रितयप्रवृत्ते सर्वाणि लिङ्गानि समुद्भवन्ति ।

सान्निपातिकलक्षणमाह—शिरोऽभिताप इत्यादि । सर्वाणि लिङ्गानि अनन्तरोक्तानि वातादिलिङ्गानि । (अयं च सन्निपातो विकृतिविषमसमवेतो ज्ञेयः, अन्यथा सर्वेषामेव शिरोरोगाणां त्रिदोषजत्वात् पृथगभिधानं व्यर्थं स्यात्, अस्य च विकृतिविषमसमवेतत्वं कारणभेदाज्ज्ञेयं, न तु विरुद्धलक्षणतया; स चायं कारणभेद उत्कटसर्वदोषजत्वादेव विज्ञेयः । यथा त्रिदोषजे राजयक्ष्मणि स्वरभेदादिजनकानां वातादीनामुत्कटत्वमिति । उक्तं हि चरके,—"वाताच्छूलं भ्रमः कम्पः पित्ताद्दाहो मदस्तृषा । कफाद्गुरुत्वं तन्द्रा च शिरोरोगे त्रिदोषजे" (च. सू. स्था. अ. १७)—इति ॥—

रक्तात्मकः पित्तसमानलिङ्गः स्पर्शासहत्वं शिरसो भवेच्च ॥ ५ ॥

रक्तजलक्षणमाह—रक्तात्मक इत्यादि । पित्तसमानलिङ्ग इति पित्तजशिरोरोगतुल्यलक्षण. । पैत्तिकलिङ्गाधिकमिह स्पर्शासहत्वम् ॥ ५ ॥

§असृग्वसाश्लेष्मसमीरणानां शिरोगतानामिह संक्षयेण ।
क्षयप्रवृत्तः शिरसोऽभितापः कष्टो भवेदुग्ररुजोऽतिमात्रम् ।
संस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यैरसृग्विमोक्षैश्च विवृद्धिमेति ॥ ६ ॥

* 'नासा धूमावृता भवति । शिर इति पित्त संतापयतीत्यर्थः' (आ० द० ) ॥ ३ ॥

† 'प्रैवर्द्धं बद्धमिव' (आ० द० ) ॥ ४ ॥

‡ 'सन्निपातजमाह–शिर इत्यादि । त्रितयप्रवृत्ते दोषत्रयसंभूते, उक्तवातादिलिङ्गानां मुहुर्मुहुर्भवनात्' (आ० द० )

§ 'शिरसोऽभिताप इति शिरोरुजा । संस्विदनच्छर्दनतीक्ष्णनस्यैः कफस्य क्षयः' (आ० द० ) ॥ ६ ॥

१ 'दह्यति' क. । २ 'कफदिग्धमिव प्रस्तुतमिति यावत्' ख. । ३ ( ) एतच्चिह्नमध्यस्थः पाठः क पुस्तके नोपलभ्यते । ४ "धूमवती च नासा" इति पाठाभिप्रायेण । ५ "प्रबद्धं च तथा हिमं च" इति पाठाभिप्रायेण । ६ अयमेव तदिष्टः पाठः ।

क्षयजलक्षणमाह—असृगित्यादि । वसासृजो सर्वदेहस्थितत्वाच्छिरसि स्थिति, श्लेष्मणश्च स्थानमेव शिर, उदानवायोरूर्ध्वगतित्वाच्छिरस्यवस्थान, तेषा क्षयेणो-ग्रत्वं व्याधिप्रभावात्, यतो वृद्धे वायावुग्ररुजा युज्यते न तु क्षीणे, यदुक्तं,—"वाते पित्ते कफे चैव क्षीणे लक्षणमुच्यते । कर्मणा प्राकृताद्धानि" ( च. सू. स्था. अ. १८ )–इति । अन्यैः पुनरत्र पाठ सुश्रुते स्वीकृत, यथा—'वसाबलासक्षयसम्भवानाम्' इति । युक्तश्चायं पाठ', वातक्षये हि कफवृद्धौ कफज शिरोरोग स्यात्, "वृद्धिर्वाऽपि विरोधिनाम्" ( च. सू. स्था. अ. १८ ) इति वचनात् । किं चैतस्य चिकित्सायामुक्तं,–'पाने नस्ये च सर्पि स्याद्वातघ्नमधुरै शृतम्'–इति । ततश्च समीरणपाठो न सङ्गत, न हि क्षीणे वायौ शमनमुक्त, अपि तर्हि वर्धनविधि, यदुक्तं,–'क्षीणा वर्धयितव्या' ( सु चि. स्था. अ ३३ )–इति । वसा देहस्नेहस्योपलक्षण, तेन मेदोमज्जशुक्रमस्तिष्काण्यप्यवरुध्यन्ते, तेषा देहस्नेहत्वात् । पित्तमांसादिक्षयजस्तु चयादिक्रमजक्षयकृतवातशिरोरोग एवावरुध्यते, इति गदाधर. । शिरोभिताप शिरोरुजा । सस्वेदनच्छर्दनधूमनस्यैः कफक्षय, नागरादिक्षीरधूमेन वसामस्तिष्कादिक्षय, सिरामोक्षादिभिरसृक्क्षय, अत एवैतैः सस्वेदनादिभि क्षयजस्य वृद्धि । अथ विदेहेऽपि पठ्यते–"भ्रमति तुद्यते शून्य शिरो विभ्रान्तनेत्रता । मूर्च्छा गात्रावसादश्च शिरोरोगे क्षयात्मके"–इति । चक्षुष्योऽप्याह,–"स्त्रीप्रसङ्गादभिघातादथवा देहकर्मणा । क्षिप्र सजायते कृच्छ्र शिरोरोग क्षयात्मक ॥ वातपित्तात्मकं लिङ्गं व्यामिश्र तत्र लक्षयेत्"–इति ॥ ६ ॥

**निस्तुद्यते यस्य शिरोऽतिमात्रं संभक्ष्यमाणं स्फुरतीव चान्तः ।**
**घ्राणाच्च गच्छेत् सलिलं सपूयं शिरोभितापः क्रिमिभि' स घोरः**

क्रिमिजमाह—निस्तुद्यत इत्यादि । निस्तुद्यते सूचीभिरिव तुद्यते । सभक्ष्यमाण-मित्यत्र 'क्रिमिभि' इति शेष, प्रकरणात् । स्फुरतीव मनाक् चलतीव । घ्राणाच्चेति चकारो भिन्नक्रमेण सलिलमित्यत्र सबध्यते, तेन सलिल पूय च गच्छेत्, तथा क्रिमयश्च कदाचिन्निर्गच्छन्तीति, तथाच चरक,–"क्रिमीणा दर्शनेन च" ( च. सू. स्था अ. १७ )–इति ॥ ७ ॥

**सूर्योदयं या प्रति मन्दमन्दमक्षिभ्रुवं रुक् समुपैति गाढा ।**
**विवर्धते चांशुमता सहैव सूर्यापवृत्तौ विनिवर्तते च ।**
**सर्वात्मकं कष्टतमं विकारं सूर्यापवर्तं तमुदाहरन्ति ॥ ८ ॥**

*सूर्यावर्तलक्षणमाह—सूर्योदयमित्यादि । सूर्योदयं प्रति लक्षीकृत्य या रुगक्षिभ्रुवं* समुपैतीति सबन्ध । अक्षिभ्रुवाविति पाठान्तरे प्राप्यत्वेन प्रासेकवद्भावस्याभाव, नातिकास्तमयोरितिमलक्षणव्यभिचारात् । सूर्योदये प्रातर्मन्दं मन्द यथा स्यात्तथा रुजा समुपैति, अंशुमता च सूर्येण सह गाढा यथा भवति तथा वर्धते । अयमर्थ — यथा सूर्यो वर्धते तथा वेदना प्रवृद्धा भवति, सूर्यस्यापवृत्तौ सायाह्ने विनिवर्तते

---

१ 'क्षीणा जहति स्व लिङ्गम्'–इति क । २ 'यत्र क्षीणे वर्धन कर्तव्य' क । ३ 'रुधिर' क । ४ 'घ्राणाच्च गच्छेदित्यत्र चकारेण कृमयश्च गच्छन्तीति द्रष्टव्य' क.

शाम्यतीत्यर्थः, 'गाढा' इत्यत्र 'गूढा' इति पाठान्तरं, तदा सूर्यापगमे गूढा रात्रौ लीनेत्यर्थः । सर्वात्मकमिति सन्निपातजम् । व्याधिस्वभावाच्च कालविशेषनियमः । कष्टतमं कृच्छ्रसाध्यम् । ननु, अयं सुश्रुते वातपित्ताभ्यां पठ्यते, तद्यथा—"आवर्त संज्ञः स तु सूर्यपूर्वो व्याधिर्मतः पित्तसमीरणाभ्याम् । शीतेन शान्तिं लभते कदाचिदुष्णेन जन्तुः सुखमाप्नुयाच्च" (सु. उ. त. अ. २५)-इति । तत्कथं सर्वजत्वं? उच्यते-सुश्रुते औत्कर्षेण व्यपदेश इति न विरोधः । ननु, एवं कथं रात्रौ वायुसमानगुणशीतप्रादुर्भावे वेदनालीनता, दिवसस्याद्यन्तयोर्मन्दरुक्त्वं च? उच्यते-अत्रापि पित्तस्य प्रबलतमत्वात् । यत्तु चिकित्सायां शिरीषमूलपिप्पलीमूलवचावपीडाद्यभिहितं तद्व्याधिप्रत्यनीकत्वात् । अथ वातपित्तजत्ववर्णनेन विशिष्टकालभञ्जने हेतुर्दर्शितो भवति । यतो वातपित्तयोः शीतोष्णात्मकत्वात् । पूर्वाह्णे सूर्यवृद्धिक्रमेण स्रोतसां सङ्कोचकत्वादवरुद्धमार्गयोर्वेदनाकरत्वं, पराह्णे निवर्तमाने सूर्ये तु स्रोतसां विवृतत्वात् स्वमार्गव्याघातविरहेण वेदनाया अजनकत्वमिति युक्तः कालविशेषनियमः । तथा चाह निमिः,—"सूर्यसोमात्मकौ नित्यं स्वहेतू पित्तमारुतौ । कुर्वाते वेदनां तीव्रां दिनात् पूर्वाह्ण एव तु ॥ आदित्यतेजसा युक्ते निवृत्तेऽपि च भास्करे । स्रोतसां विवृतत्वाच्च ततः श्लेष्माधिगच्छति ॥ उद्गतो मातरिश्वा च स्वमार्गं प्रतिपद्यते । तस्मान्मध्यदिनादूर्ध्वं वेदनाऽत्र प्रशाम्यति"—इति । वातपित्तजत्वमस्याधिकत्वेन व्यपदेश इति न्यायाद्, तेन पूर्वेण समं न विरोधः । विदेहे सूर्यावर्तविपर्ययोऽपि पठ्यते,—"तत्र वातानुगं पित्तं चितं शिरसि तिष्ठति । मध्याह्ने तेजसाऽर्कस्य तद्विरुद्धं शिरोरुजम् ॥ करोति पैत्तिकीं घोरां उपशाम्यति दिनक्षये । अस्तगते प्रभाहीने सूर्ये वायुर्विवर्धते[1] ॥ पित्तं शान्तिमवाप्नोति ततः शाम्यति वेदना । एवं पित्तानिलकृतः सूर्यावर्तविपर्ययः"—इति । अयमत्र सूर्यावर्त एवान्तर्भावनीयः, चातुर्थिके चातुर्थिकविपर्ययवत् ॥ ८ ॥

दोषास्तु दुष्टास्त्रय एव मन्यां संपीड्य घाटासु रुजां सुतीव्राम् ।
कुर्वन्ति योऽक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे स्थितिं करोत्याशु विशेषतस्तु ॥ ९ ॥
गण्डस्य पार्श्वे तु करोति कम्पं हनुग्रहं लोचनजांश्च रोगान् ।
अनन्तवातं तमुदाहरन्ति दोषत्रयोत्थं शिरसो विकारम् ॥ १० ॥

अनन्तवातलक्षणमाह—दोषा इत्यादि । मन्या ग्रीवाशिराद्वयं, तां संपीड्य घाटासु ग्रीवापश्चाद्भागेषु दोषास्त्रय एव रुजां वेदनां सुतीव्रां कुर्वन्ति, तथा अक्षिभ्रुवि शङ्खदेशे च स्थितिमारब्धत्वं यो विशेषतः करोति, तथा गण्डपार्श्वे कम्पं हनुग्रहादिकं च यः करोति, तमनन्तवातमुदाहरन्तीति योज्यम् । गण्डस्य कपोलस्य, पार्श्वे एकदेशे । हनुग्रहो वातव्याधिविशेषः । अयं च सुश्रुते अन्यतोवातेनैव तुल्यत्वादनन्तवातं परित्यज्य दश शिरोरोगा अभिहिताः[2], एवं तन्त्रान्तरेऽपि 'कीर्तितास्त्रिदिवा दश'-इत्यभिधानं, माधवकरेण तु त्रिदोषजत्वेन तदधिककम्पहनुग्रहलिङ्गयोगाच्च केवलवातजादन्यतोवातादिलक्षण एवायमिति अनन्तवातोऽधिकः पठितः, भेदो हि भेदवतां कारणभेदाद्विरुद्धधर्माध्यासाच्च भवतीति ॥ ९ ॥ १० ॥

---

१ 'वायुर्निवर्तते' क । २ 'सुश्रुतेन नेत्ररोगोक्तान्यतोवातेन सह तुल्यत्वादस्य दशमपरित्यज्य दश शिरोरोगा अभिहिताः' क ।

*रूक्षाशनात्यध्यशनप्राग्वातावश्यमैथुनैः ।
वेगसंधारणायासव्यायामैः कुपितोऽनिलः ॥ ११ ॥
केवलः सकफो वाऽर्धं गृहीत्वा शिरसो बली ।
मन्याभ्रूशङ्खकर्णाक्षिललाटार्धेऽतिवेदनाम् ॥ १२ ॥
शस्त्रारणिनिभां कुर्यात्तीव्रां सोऽर्धावभेदकः ।
नयनं वाऽथवा श्रोत्रमतिवृद्धो विनाशयेत् ॥ १३ ॥

अर्धावभेदलक्षणमाह—रूक्षाशनेत्यादि ।—अध्यशनमजीर्णे भोजनम् । अवश्यायेति अवश्यायो हिममुच्यते, छन्दोऽनुरोधेन यकारलोपो ह्रस्वत्वं चेति व्याचक्षते । कदाचित् सश्लेष्मवातजत्वमिति विकल्पं दर्शयति—केवल इत्यादि । शस्त्रारणिनिभां शस्त्रच्छेदनिभामरणिनिभां च, अरणिरग्न्युत्थापनकाष्ठयन्त्रं, तस्य मन्थनवत् पीडां; किंवा अरणिना करणेनाग्निरेवोच्यते, तेनाग्निनिभां वेदनाम् । सुश्रुते त्वयं त्रिदोषजः पठितः । तद्यथा,—"यस्योत्तमाङ्गं रुजतेऽर्धमात्रं सतोदभेदभ्रममोहशूलैः । पक्षाद्दशाहादथवाऽप्यकस्मात्तमर्धभेदं त्रितयाद्व्यवस्येत्" (सु. उ. तं. अ. २५)—इति । अत्र तु केवलोऽनिलः सकफो वेत्यौरभ्र्यादभिधानं, 'सोऽर्धभेदः कफानिलात्' इति विदेहेऽप्येवं बोद्धव्यम् । अयमुपेक्ष्यमाणो नयनादिकं हन्यादित्याह—नयनमित्यादि । अत्रैव विदेहः,—"शिरसोऽन्यतरे पार्श्वे कुपितो मारुतो यदा । श्लेष्मणा रुध्यते जन्तोस्तोदस्फुटनदालनैः ॥ शस्त्रावदारणैर्गाढमर्धं तदवरुध्यते । नयनं चावशीर्येत सोऽर्धभेदः कफानिलात् ॥ तथा त्र्यहात् स पक्षाहात् पक्षान्मासाच्च देहिनाम्"—इति । सुश्रुते 'पवनात् सपित्तात्' इति केचित् पठन्ति । तेन वातपित्तजत्वमस्य । सात्यकिना 'वायुः शिरःशङ्खभ्रूनेत्रमवष्टभ्य' इत्यादिना वातजत्वमस्य दर्शितम् । अन्ये तु सन्निपाताधिकारात् सन्निपातजं पठन्ति, तथाच सुश्रुतः—"त्रितयाद्व्यवस्येत्" ( सु. उ. तं. अ. २५ ) इति । व्याधिस्वभावादचिरानुबन्धकत्वं सान्निपातिकत्वेऽपि ॥ ११–१३ ॥

†रक्तपित्तानिला दुष्टाः शङ्खदेशे विमूर्च्छिताः ।
तीव्ररुग्दाहरागं हि शोथं कुर्वन्ति दारुणम् ॥ १४ ॥
स शिरो विषवद्वेगी निरुध्याशु गलं तथा ।
त्रिरात्राज्जीवितं हन्ति शङ्खको नामतः परम् ।
त्र्यहाज्जीवति भैषज्यं प्रत्याख्याय समाचरेत् ॥ १५ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने शिरोरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६० ॥

* 'अवश्यायो निशाजलम्' ( आ० द० ) ॥ ११–१३ ॥

† 'पित्तेत्यादि । मूर्च्छिताः प्रवृद्धाः । त्रिरात्रात्परतो जीवितं हन्ति । त्रिरात्रं कुशलवैद्याधिष्ठिते जीवति । त्र्यहादिति त्र्यहं प्राप्य । एव सुश्रुतोक्ता दश शिरोरोगा उक्ताः, अनन्तवातस्त्वत्राधिकः' ॥ १४ ॥ १५ ॥

१ 'अरणिरग्न्युत्पादमन्थानकाष्ठयन्त्रं, तत्कृतमन्थननिभां वेदनां करोति' क. ।
२ "रक्तपित्त–" इत्यत्र "पित्तरक्त—" इति पाठाभिप्रायेण ।

शङ्खकलक्षणमाह—रक्तपित्तानिला इत्यादि । दुष्टाश्चयादिमन्तः । मूर्च्छिता अन्योन्यमेकीभूताः । कफोऽप्यत्र बोद्धव्यः, तथाच सुश्रुतः—"शङ्खाश्रितो वायुरुदीर्णवेगः कृतानुतापः कफपित्तरक्तैः" ( सु. उ. तं. अ. २५ )—इति । [1]( मारकत्वमाह—त्रिरात्राज्जीवितं हन्तीति । कुशलेनोपक्रमे क्रियमाणे त्रिरात्रात् परतो जीवसेवेत्यत आह—परं त्र्यहाज्जीवतीति । अत्र अहःसंबन्धिनी रात्रिरुपलक्ष्यते, तेन त्रिरात्रात् परं जीवतीत्यर्थः । तत् किमस्य त्रिरात्राभ्यन्तरे साध्यत्वमसाध्यत्वं वेत्यत आह—भैषज्यमित्यादि । तदनेन त्रिरात्राभ्यन्तरे विकल्पितासाध्यत्वं, त्रिरात्रात् परमसाध्यत्वं दर्शितम् । तत्रैव विदेहः,—"चीयते तु यदा पित्तं शङ्खयोरनिलान्वितम् । निरुणद्धि ततो मर्म परिपूरितमुल्बणम् ॥ ततः शङ्खौ प्ररुज्येते दह्येते इव वह्निना । सूचीभिरिव तुद्येते निकृत्येते इवासिना ॥ शङ्खको नाम शिरसि व्याधिरेषः सुदारुणः । तृष्णामूर्च्छाज्वरकरस्त्रिरात्रात् परमन्तकृत् ॥ कुशलेन तूपक्रान्तस्त्रिरात्रादेव जीवति"—इति ) ॥ १४ ॥ १५ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां शिरोरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६० ॥

---

## अथासृग्दरनिदानम् ।

**विरुद्धमद्याध्यशनादजीर्णाद्गर्भप्रपातादतिमैथुनाच्च ।**
**यानाध्वशोकादतिकर्षणाच्च भाराभिघाताच्छयनाद्दिवा च ।**
**तं श्लेष्मपित्तानिलसंनिपातैश्चतुष्प्रकारं प्रदरं वदन्ति ॥ १ ॥**

स्त्रीपुंसां साधारण्यात् विकारानभिधाय पुंप्रतिनियतस्योपदंशादेरुक्तत्वात् स्त्रीनियतरोगाभिधानम् । तत्र च योनिव्यापत्तिविशेषेऽप्यार्तवप्रवृत्तिसद्भावात् प्रथमं दुष्टार्तवप्रवृत्तिरूपं प्रदरमाह—विरुद्धेत्यादि । विरुद्धमद्यं, दुष्टमद्यं अथवा विरुद्धं संयोगादिविरुद्धं, मद्यं च स्वरूपतः । अजीर्णादपक्वभोजनात् । अतिकर्षणात् लङ्घनायतियोगेन क्षीणधातुत्वात् । तं श्लेष्मपित्तानिलसंनिपातैरित्यत्र श्लेष्मणोऽग्रेऽभिधानं श्लेष्मजेऽपि वेदनासूचनार्थम् ॥ १

**असृग्दरं भवेत् सर्वं साङ्गमर्दं सवेदनम् ।**

तस्य सामान्यरूपमाह—असृग्दरमित्यादि । सवेदनं सशूलं, असृग् दीर्यते च्यवते यस्मिन्नित्यसृग्दरं, तन्त्रान्तरमत्र,—"तदेवातिप्रसङ्गेन प्रवृत्तमनृतावपि । असृग्दरं विजानीयात् पुरस्तादुक्तलक्षणम्" ( सु. शा. स्था. अ. २ )—इति । तदेवेति आर्तवम् ॥—

***तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं भ्रमो मूर्च्छा मदस्तृषा ।**
**दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः ॥ २ ॥**

* 'अतिप्रवृत्तौ अतिप्रवृद्धौ दौर्बल्यादयः' ( आ० द० ) ॥ २ ॥

---

१ 'विमूर्च्छिता विशेषेण पृथक् इत्यर्थः.' क. । २ ( ) एतच्चिह्नमध्यस्थः पाठः क-पुस्तके नोपलभ्यते । ३ 'श्लेष्मणोऽग्रेऽभिधानं विशेषार्थम्' क. । ४ 'तस्यातिवृद्धौ' क. ।

आर्तवातिप्रवृत्तौ उपद्रवानाह—तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यमित्यादि । रोगाश्च वातजा इति आक्षेपककम्पादयः ॥ २ ॥

*आमं सपिच्छाप्रतिमं सपाण्डु पुलाकतोयप्रतिमं कफात्तु ।
सपीतनीलासितरक्तमुष्णं पित्तार्तियुक्तं भृशवेगि पित्तात् ॥ ३ ॥
रूक्षारुणं फेनिलमल्पमल्पं वातार्ति वातात् पिशितोदकाभम् ।
सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्णं मज्जप्रकाशं कुणपं त्रिदोषात् ॥ ४ ॥
तं चाप्यसाध्यं प्रवदन्ति तज्ज्ञा न तत्र कुर्वीत भिषक् चिकित्साम् ।
शश्वत् स्रवन्तीमास्रावं तृष्णादाहज्वरान्विताम् ।
क्षीणरक्तां दुर्बलां च तामसाध्यां विनिर्दिशेत् ॥ ५ ॥

श्लैष्मिकादिभेदेन विशेषलक्षणान्याह—आममित्यादि । आममामरसानुविद्धम् । सपिच्छाप्रतिममिति पिच्छा शाल्मल्यादिनिर्यासः, तत्सदृशं पिच्छिलमित्यर्थः; सशब्द इवार्थे । पुलाकतोयप्रतिमं प्रक्षालितपललतोयसदृशं, अन्ये पुलाकं गवेधुकमाहुः । पित्तार्तियुक्तं दाहचिमिचिमादियुक्तम् । भृशवेगि बहुवेगि । वातार्ति तोदादिलक्षणम् । पिशितोदकाभं मांसप्रक्षालनजलसदृशम् । सक्षौद्रसर्पिर्हरितालवर्णमिति नानावर्णत्वं त्रिदोषकोपादेव । क्षौद्रवर्णं मनाक्कपिलं, सर्पिर्वर्णं विलीनघृतवत् स्निग्धवर्णं च, मज्जप्रकाशं मज्जा अस्थिस्नेहः तत्समं, कुणपं शवगन्धि । तच्चाप्यसाध्यमिति चिकित्सानिराकरणार्थम् ॥ ३–५ ॥

†मासान्निष्पिच्छदाहार्ति पञ्चरात्रानुबन्धि च ।
नैवातिबहुलात्यल्पमार्तवं शुद्धमादिशेत् ॥ ६ ॥
शशासृक्प्रतिमं यच्च यद्वा लाक्षारसोपमम् ।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यच्चाप्सु न विरज्यते ॥ ७ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदानेऽसृग्दरनिदानं समाप्तम् ॥ ६१ ॥

विशुद्धार्तवलक्षणमाह—मासादित्यादि । निष्पिच्छदाहार्तीति अपिच्छिलमदाहमशूलादिवेदनं, एतेन विकृतवातादिलिङ्गरहितमित्यर्थः । पञ्चरात्रानुबन्धीति पञ्चरात्रं प्रभृतप्रवृत्त्याऽनुबध्नातीत्यर्थः । अल्पप्रवृत्त्या पञ्चरात्रात् परतोऽप्यनुबध्नाति । तदुक्तं हारीते,–'षोडशाद्दिवसान्यृतुकालः'–इति । विदेहेऽप्युक्तम्,–'स्त्रीणामृतुर्भवति षोडशवासराणि''–इति । शशासृगित्यादिना वर्णद्वयं वातादिप्रकृतिभेदात् । यच्चाप्सु न

* 'सपिच्छाप्रतिमं सपिच्छशाल्मल्यादिनिर्यासतुल्यं पिच्छिलमित्यर्थः । पुलाकतोयप्रतिमं गवेधुकाम्बुसदृशम्, अन्ये पुलाकं तुच्छधान्यमाहुः' ( आ० द० ) ॥ ३–५ ॥

† 'यच्चाप्सु न विरज्यत इति यदार्तवं कर्पटगतं सत् अप्सु जलेषु संक्षुभ्यमानेषु न विरागं भवति । अयमर्थः–यत् धौतं सत् वासो न विरञ्जयति' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥ ७ ॥

१ 'तुच्छधान्यमहान्नजलसदृशम्' क. । २ 'निर्दोषत्वाद्दाहपित्तादिरहितम्' ख. । ३ 'बहुप्रवृत्त्या पञ्चरात्रं, ततः परं स्वल्पप्रवृत्त्या [illegible] षोडशदिनानि' क. ।

विरज्यत इति येनार्तवेन रञ्जितं वस्त्रमप्सु प्रक्षालितं सक्लेदितं न भवति तद्विशुद्धम्। तथाच हिरण्याक्षः,—"सुरेन्द्रगोपसङ्काश निर्गन्धं च मधुगन्धि च। अपिच्छिलमशीतं च यद्वासो न विरञ्जयेत्" इति ॥ ६ ॥ ७ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायामसृग्दरनिदानं समाप्तम् ॥ ६१ ॥

---

## अथ योनिव्यापन्निदानम्।

*विंशतिर्व्यापदो योनौ निर्दिष्टा रोगसंग्रहे।
मिथ्याचारेण ताः स्त्रीणां प्रदुष्टेनार्तवेन च ॥ १ ॥
जायन्ते बीजदोषाच्च दैवाच्च शृणु ताः पृथक्।

इयधिकारानुवृत्तेः प्रदुष्टार्तवकार्यत्वाच्च योनिव्यापन्निदानमाह—विंशतिरित्यादि। रोगसंग्रह इति अष्टोदरीये, चरकोक्तत्वादस्य वाक्यस्य। मिथ्याचारेण असम्यगाहाराचारेण, चरकेऽतिभक्षणार्थत्वात्। प्रदुष्टेनार्तवेनेति वातादिदुष्टरजसेत्यर्थः। तेन, वन्ध्यादिष्वार्तवदुष्टिरपि कारणं भवति। बीजदोषान्मातापित्रोरारम्भकबीजदोषात्। दैवात् प्राक्तनाधर्मकारणात्, दैवस्य सर्वत्र कारणत्वे सिद्धेऽत्र विशेषेण कारणत्वमुक्तम् ॥ १ ॥—

†सा फेनिलमुदावर्ता रजः कृच्छ्रेण मुञ्चति ॥ २ ॥
वन्ध्यां नष्टार्तवां विद्याद्विप्लुतां नित्यवेदनाम्।
परिप्लुतायां भवति ग्राम्यधर्मेण रुग्भृशम् ॥ ३ ॥
वातला कर्कशा स्तब्धा शूलनिस्तोदपीडिता।
चतसृष्वपि चाद्यासु भवन्त्यनिलवेदनाः ॥ ४ ॥

वातिकीमाह—सा फेनिलमित्यादि। सा योनिः फेनवदार्तवं मुञ्चति। उदावर्तेति ऊर्ध्वमावर्तं समन्तादावर्तनं वायोर्यत्र सा तथेति, अर्शआदित्वादच्। विप्लुतामिति

विप्लुता वातवेदनया विप्लुतत्वात् । नित्यवेदनामतिकुपितेनैव वातेनेति । परिप्लुतायामिति परि सर्वतो वातविकारेण प्लुतत्वात् परिप्लुतासंज्ञा । परिप्लुतायां बाह्याभ्यन्तरवातवेदनाभियुक्तायाम् । 'ग्राम्यधर्मेण रुग्भृशम्' इत्यत्र 'ग्राम्यधर्मे रुचिर्भृशम्' इति पाठान्तरं, तत्र रुचिरभिलाप , ग्राम्यधर्मे मैथुने । वातलेत्यादि योनिविशेषणं, वातलया सह पञ्च योनिव्यापद । वातलाया पृथगभिधानं वातलायां विशेषेण वातवेदनाप्रादुर्भावार्थम् । एवं पित्तलादिष्वपि बोद्धव्यम् । चतसृष्विति उदावर्तावन्ध्याविप्लुतापरिप्लुतासु ॥ २–४ ॥

सदाहं क्षीयते रक्तं यस्यां सा लोहितक्षया ।
सवातमुद्गिरेद्बीजं वामिनी रजसा युतम् ॥ ५ ॥
प्रस्रंसिनी स्रंसते च क्षोभिता दुःप्रजायिनी ।
स्थितं स्थितं हन्ति गर्भं पुत्रघ्नी रक्तसंक्षयात् ॥ ६ ॥
अत्यर्थं पित्तला योनिर्दाहपाकज्वरान्विता ।
चतसृष्वपि चाद्यासु पित्तलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥ ७ ॥

पैत्तिका आह—सदाहमित्यादि । क्षीयते रक्तमिति अतिप्रवृत्त्या रक्तस्य क्षय । वामिन्युद्गिरेद्बीजमिति शुक्र शुद्धमपि वमतीत्यर्थं । प्रस्रंसिनी स्रंसत इति स्वस्थानाच्च्यवते नि सरतीति यावत् । अत एव "क्षीरस्विन्नां प्रवेशयेत् (सु उ. तं. अ. ३८)' इति चिकित्सितम् । क्षोभिता विमर्दिता । दुःप्रजायिनी दु खप्रसवा । रक्तक्षयादार्तपस्य वायुना क्षयात् । यद्यपि सर्वस्येत्रापत्यस्य नाशस्तथाऽपि पुत्रस्य प्राधान्यात् पुत्रघ्नीति व्यपदेश । पित्तलया सह पञ्च पित्तजा । दाहपाकेत्याद्युपलक्षणं, तेन नीलपीतासितार्तवा च भवतीत्यर्थं । यदुक्तमन्यत्र,–"व्यापद्यवणकट्वम्लक्षाराद्यै पित्तजा भवेत् । दाहपाकज्वरोष्णार्ता नीलपीतासितार्तवा"–इति । आद्यास्विति रक्तक्षयावामिनीप्रस्रंसिनीपुत्रघ्नीषु ॥ ५–७ ॥

*अत्यानन्दा न सन्तोषं ग्राम्यधर्मेण गच्छति ।
कर्णिन्यां कर्णिका योनौ श्लेष्मासृग्भ्यां प्रजायते ॥ ८ ॥
मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यते ।
बहुशश्चातिचरणा तयोर्बीजं न विन्दति ॥ ९ ॥
श्लैष्मला पिच्छिला योनिः कण्डूग्रस्ताऽतिशीतला ।
चतसृष्वपि चाद्यासु श्लेष्मलिङ्गोच्छ्रयो भवेत् ॥ १० ॥

श्लैष्मिका आह—अत्यानन्देत्यादि । ग्राम्यधर्मेण मैथुनेन । कर्णिन्यां कर्णिकेति कर्णिका मांसकन्दाकारग्रन्थि । मैथुनेऽचरणा पूर्वं पुरुषादतिरिच्यत इति अचरणा सम्यङ्मैथुनाचरणात् पूर्वं प्रथमं, पुरुषादतिरिच्यते विरमति, तेन बीजं न

* 'बहुशो मैथुनाचरणादतिचरणा, सा च श्लेष्मजनितकण्डूयोगाद्बहुमैथुनाचरणादतिचरणा, बीजं गर्भाङ्कुरजननं न लभते । श्लेष्मानुबन्धत्वमाह–चतसृष्वपीत्यादि । अत्यानन्दाकर्णिन्यचरणातिचरणासु । एव श्लेष्मानुबन्धिन्य. पञ्च' (आ० द०) ॥ ८–१० ॥

१ अस्यामे ष. पुस्तके 'अचरणा –यावत्पुरुषस्तु शुक्र नाप्नोति तावदसौ विरमति' इत्यधिकमुपलभ्यते ।

गृह्णाति। अत्राचरणशब्देनोपचारात्तद्वती स्त्री भण्यते। बहुशश्चातिचरणेति बहुशो मैथुनाचरणादतिचरणा, सा च श्लेष्मजनितकण्डूभिराजैव (?) बहुमैथुनाचरणाद्बीजं न धत्ते। अत उक्तं—तयोर्बीजं न विन्दतीति।—तयोरिति अचरणातिचरणयोः। श्लेष्मलायामतिशीतलेत्युपलक्षणं, तेन वेदनादिकमपि ज्ञेयम्। तथाच तन्त्रान्तरे,—"कफोऽभिष्यन्दिभिर्वृद्धो योनिं चेद्दूषयेत् स्त्रियः। स कुर्यात् पिच्छिलां शीतां कण्डूग्रस्तां सवेदनाम्"—इति॥ ८–१०॥

*अनार्तवाऽस्तनी षण्डी खरस्पर्शा च मैथुने।
अतिकायगृहीतायास्तरुण्यास्त्वण्डली भवेत्॥ ११॥
विवृता च महायोनिः सूचीवक्त्राऽतिसंवृता।
सर्वलिङ्गसमुत्थाना सर्वदोषप्रकोपजा॥ १२॥
चतसृष्वपि चाद्यासु सर्वलिङ्गोच्छ्रयो भवेत्।
पञ्चासाध्या भवन्तीह योनयः सर्वदोषजाः॥ १३॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने योनिव्यापन्निदानं समाप्तम्॥ ६३॥

सान्निपातिका आह—अनार्तवेत्यादि। अनार्तवा रजःशून्या। अस्तनी ईषत्स्तनी। अतिकायगृहीताया महामेहनेन गृहीतायाः। अण्डली अण्डवल्लिम्बिता योनिः। विवृता महायोनिरतिविवृतमुखी। सूचीवक्त्राऽतिसंवृता सूचीरन्ध्राऽतिसङ्कटमुखी। सर्वलिङ्गसमुत्थानेति सर्वदोषलिङ्गानां समुत्थानं यत्र सा तथा। अन्ये त्वाहुः—सर्वदोषसमुत्थाना सर्वदोषहेतुजेत्यर्थः। चरकोक्ता अधिका रक्तयोन्यादयः सुश्रुतोक्तानामन्तर्भूतत्वेनावबोद्धव्याः॥ ११–१३॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां योनिव्यापन्निदानं समाप्तम्॥ ६३॥

---

## अथ योनिकन्दनिदानम्।

दिवास्वप्नादतिक्रोधाद्व्यायामादतिमैथुनात्।
क्षताच्च नखदन्ताद्यैर्वाताद्याः कुपिता यदा॥ १॥
पूयशोणितसंकाशं निकुचाकृतिसंनिभम्।
जनयन्ति यदा योनौ नाम्ना कन्दः स योनिजः॥ २॥

योन्याश्रयत्वाद्योनिकन्दनिदानमाह—दिवास्वप्नेत्यादि। नखदन्ताद्यैरित्याद्यशब्दात् कण्टकादिपरिग्रहः। वाताद्याः कुपिता इति यथानिदानं प्रत्येकं वातादयः

---

* 'अण्डलीमाह—अतिकायो बृहन्मेहनपुरुषः, तेन गृहीताया इति अप्रगल्भायाः अण्डली अण्डवल्लिम्बिता योनिः। अतिशयेन सूचीवत्संकीर्णमुखी संवृता। चतसृष्वपि, सर्वलिङ्गानुबन्धमाह—चतसृष्विति।—षण्ढ्यण्डलीविवृतासूचीवक्त्रासु। त्रिदोषजाः पञ्च' (आ० द०)॥ ११–१३॥

---

१ 'इयं पुरुषादतिरिच्यते पश्चाद्भवति तेन बीजं न गृह्णाति' क.। २ 'अण्डिनी' क.। ३ 'निकुचाकृतिसंनिभं' क.।

कुपिताः । निकुचाकृतिसंनिभमिति वर्तुलमित्यर्थः; अस्यानन्तरं गुडकमिति द्रष्टव्यं, तेन नपुंसकलिङ्गता सङ्गता भवति । कन्दः प्रायेण जरन्नारीयोनिगतो निकुचाकारो रोगः ॥ १ ॥ २ ॥

*रूक्षं विवर्णं स्फुटितं वातिकं तं विनिर्दिशेत् ।
दाहरागज्वरयुतं विद्यात् पित्तात्मकं तु तम् ॥ ३ ॥
नीलपुष्पप्रतीकाशं कण्डूमन्तं कफात्मकम् ।
सर्वलिङ्गसमायुक्तं सन्निपातात्मकं विदुः ॥ ४ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने योनिकन्दनिदानं समाप्तम् ॥ ६३ ॥

वातजादिभेदेन रूपमाह—रूक्षमित्यादि । नीलपुष्पप्रतीकाशमिति अतसीकुसुमवर्णम् । कफजेऽपि नीलता व्याधिप्रभावादेव; अन्ये तु पैत्तिकलक्षण एव संबध्नन्ति, योग्यत्वात् ॥ ३ ॥ ४ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां योनिकन्दनिदानं समाप्तम् ॥ ६३ ॥

## अथ मूढगर्भनिदानम् ।

भयाभिघातात्तीक्ष्णोष्णपानाशननिषेवणात् ।
गर्भे पतति रक्तस्य सशूलं दर्शनं भवेत् ॥ १ ॥

योनिस्थानविकारानुहेतोः स्त्रीरोगनिदानारम्भः । तत्र गर्भपातनिदानमाह—भयाभिघातादित्यादि । एतच्चोपलक्षणं, तेनान्येऽपि सुश्रुतोक्ता ग्राम्यधर्मयानवाहनपतनस्खलनादयो बोद्धव्याः । पततीति संसमाने, तेन स्रावपातयोरपि सशूलं रक्तदर्शनं भवति, एतत्तु पूर्वरूपमिति दर्शयति ॥ १ ॥

आचतुर्थात्ततो मासात्प्रस्रवेद्गर्भविद्रवः ।
ततः स्थिरशरीरस्य पातः पञ्चमषष्ठयोः ॥ २ ॥

एतयोः कालभेदमाह—आचतुर्थादित्यादि । गर्भविद्रव इति अनतिघनावयवत्वेन विशेषेण द्रवरूपतया गर्भविद्रवो भण्यते; स्रावो नातिघनत्वात्, पातस्तु घनत्वात् । यत्तु भोजेनाभिहितः—"आतृतीयात्ततो मासाद्गर्भः स्रवति शोणितम् । ऊर्ध्वं संघातभूतस्तु गर्भः पतति योषिताम्"—इति । संघातभूतः कोमलाङ्गः, पिण्डितावस्थ इत्यर्थः । अत एव सुश्रुते चतुर्थमासेऽप्यदृढत्वात् स्रावः कथितः । स्थिरशरीरस्येति

* 'तच्चतुर्थे मासि संघातरूपतया अनभिव्यक्तदृढाङ्गतया सुश्रुतेन स्रावरूपो निर्दिष्टम्' ( मा० द० ) ॥ २ ॥

१ 'लकुचाकृति वर्तुलं' 'गुडकं' इति शेषः, तेन 'नपुंसकलिङ्गता भवति' क. । २ 'योनिस्थानसाम्यादधिकारानुषङ्गः' क. । ३ 'संघातभूतस्तु' क. । ४ 'संघातभूतः' क. ।

कठिनशरीरावयवस्य । पञ्चमषष्ठयोरिति सप्तमे अनुगुणजनने जीवदर्शनायोक्तं, विगुणजनने तु सप्तमादिमासेष्वपि गर्भपातः । अन्ये तु पञ्चमषष्ठयोरेव पातः, सप्तमादिषु दोषवैगुण्यादिप्रसव इति आचार्यप्रामाण्याद्व्यवहाराच्च मन्यन्ते ॥ २ ॥

*गर्भोऽभिघातविषमाशनपीडनाद्यैः
पक्वं द्रुमादिव फलं पतति क्षणेन ।

गर्भस्याकालपाते निदानपूर्वकं दृष्टान्तमाह—गर्भोऽभिघातेत्यादि । पक्वं द्रुमादिवेति दृष्टान्तेनैव दर्शयति यथा वृन्तलग्नं पक्वफलमभिघातेनाकाल एव पतति, तथोक्तहेतुभिरकाले गर्भपातः ॥—

†मूढः करोति पवनः खलु मूढगर्भं
शूलं च योनिजठरादिषु मूत्रसङ्गम् ॥ ३ ॥

उचितप्रसवकाले यथा मूढो गर्भः स्यात्तदाह—मूढः करोतीत्यादि । मूढो व्यापन्नगतिः, शूलं च योनिजठरादिषु 'करोति' इति शेषः; मूत्रसङ्गमित्यत्र करोतीति सम्बध्यते ॥ ३ ॥

‡भुग्नोऽनिलेन विगुणेन ततः स गर्भः
संख्यामतीत्य बहुधा समुपैति योनिम् ।
द्वारं निरुध्य शिरसा जठरेण कश्चित्
कश्चिच्छरीरपरिवर्तितकुब्जदेहः ॥ ४ ॥
एकेन कश्चिदपरस्तु भुजद्वयेन
तिर्यग्गतो भवति कश्चिदवाङ्मुखोऽन्यः ।
पार्श्वापवृत्तगतिरेति तथैव कश्चि-
दित्यष्टधा गतिरियं ह्यपरा चतुर्धा ॥ ५ ॥

विगुणानिलवशादसंख्येयत्वेऽपि विशिष्टा अष्टौ गतीराह—भुग्नोऽनिलेनेत्यादि । भुग्नो विगुणीकृतः । बहुधेति कथितप्रकारादप्यधिकं दर्शयति । द्वारं निरुध्य

* 'पूर्णेषु मासेषु प्रसवः समुचिते काले' ॥—( मा० द० )

† 'यथा मूढो गर्भो भवति तदाह—मूढ इत्यादि । मूढो व्यापन्नगतिः, मूढगर्भं करोति, ( मा० द० ) ॥ ३ ॥

‡ 'विगुणानिलयोगादसंख्येया गतिमाह—भुग्न इत्यादि । भुग्नो विपरीतीकृतः । तत्र व्यवहारयोग्यानष्टौ प्रकारानाह—द्वारमित्यादि । विगुणेन शिरसा योनिमुखं निरुध्य स्थितो भवति, इत्येकः प्रकारः । अपरो जठरेण अधरेणोदरेण योनिमुखमुखं निरुध्य स्थितो भवतीति द्वितीयः प्रकारः । कश्चित् शरीरपरिवर्तनेन विपरीतवर्तनेन कुब्जदेहः स्थितो भवति, अनेन पार्श्व-कुब्जतकुब्जयोः परिग्रहः, अयं तृतीयः प्रकारः । एकेनैकेन बाहुनेति चतुर्थः प्रकारः । अपरो बाहुद्वयेनेति पञ्चमः प्रकारः । एवमन्यत्र दृष्टिर्देया । गर्भस्य चतुरः प्रकारान् पुनराह—अपरा चतुर्धेत्यादि । संकीर्णादिभेदेन अपरा अष्टप्रकारास्तु प्रकाराः' ( मा० द० ) ॥ ४ ॥ ५ ॥

१ 'अनुगुणजनने' क. । २ 'विगुणजनने' क. ।

शिरसैकेः प्रकारः, शिरसा विपुलेन द्वारं योनिमुखं पिधाय सक्तो भवतीत्यर्थः। जठरेण कश्चिदित्यपरः, जठरेणोदरेण योनिद्वारं पिधाय सक्तो भवतीत्यर्थः। कश्चित् शरीरपरिवर्तितकुब्जदेह इति शरीरपरिवर्तनेन कुब्जदेहः कश्चित् सक्तो भवति, अनेनान्तःकुब्जपृष्ठकुब्जयोः परिग्रहः। एकेनेति बाहुना, अयं चतुर्थः। तिर्यग्गत इति अर्गलायमानः। कश्चिदवाङ्मुखोऽन्य इति ग्रीवाभङ्गादधः संलग्नः। पार्श्वापवृत्तगति-रिति पार्श्वभङ्गेन विगुणीकृतः पार्श्वनत इति यावत्। एतीति स्वस्थानादपैति, तथे-चेति अवाङ्मुखः सन्। सुश्रुतेऽप्यष्टधा गतिरेव पठ्यते। यथा,—"कश्चिद्द्वाभ्यां सक्थिभ्यां योनिमुखं प्रपद्यते, कश्चिदाभुग्नैकसक्थिरेकेन सक्थ्ना, कश्चिदाभुग्नस-क्थिशरीरः स्फिग्देशेन तिर्यगागतः,कश्चिदुरःपृष्ठपार्श्वानामन्यतमेन योनिद्वारं पिधा-यावतिष्ठते, अन्तःपार्श्वापवृत्तशिराः कश्चिदेकेन बाहुना, कश्चिदाभुग्नशिरा बाहुद्वयेन, कश्चिदाभुग्नमध्यो हस्तपादशिरोभिः, कश्चिदेकेन सक्थ्ना योनिमुखमभिप्रपद्यतेऽपरेण पायुम्" ( सु. नि. स्था. अ. ८ )–इति ॥ ४ ॥ ५ ॥

*संकीलकः प्रतिखुरः परिघोऽथ बीज-
स्तेषूर्ध्वबाहुचरणैः शिरसा च योनिम्।
सङ्गी च यो भवति कीलकवत् स कीलो
दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरं स हि कायसङ्गी।
गच्छेद्भुजद्वयशिराः स च बीजकाख्यो
योनौ स्थितः स परिघः परिघेण तुल्यः ॥ ६ ॥

इत्यष्टविधा गतीः प्रदर्श्य चतुःप्रकारेण ये गतिविशेषाः कथितास्तानाह—संकीलक इत्यादि। सम्यक् कीलवत् संकीलकः, स्वार्थे कन्। तेनोर्ध्वबाहुचरणशि-रोभिः कीलकवल्लग्नो योन्यां संकीलकः। पृष्ठेन योन्यां तथैतद्विपरीतेन दृश्यैर्हस्त-पादशिरोभिः प्रतिखुरः, खुरसाधर्म्यात्; खुरशब्देन हस्तपादावुच्येते। गच्छेद्भुज-द्वयशिरा इति भुजद्वयोपहितं शिरो यस्य स तथाभूतः सन् यो गच्छेत् स बीजकः कायसङ्गी। भोजेऽप्येता गतयः पठ्यन्ते। तथाहि,—"ऊर्ध्वबाहुशिरःपादो रुन्ध्याद्यो-निमुखं तु यः। प्रतिकीलोपमस्थित्या स च कीलकसंज्ञितः ॥ अधस्तात् पार्श्वतो वाऽपि तथैवाकुञ्चितोऽपि वा। यो निःसृत्य मुखं योनेर्ज्ञेयः प्रतिखुरस्तु सः ॥ योनिद्वारात्तु निर्गच्छेदर्धकः सशिरोभुजः। तमाहुर्बीजकं नाम मूढगर्भचिकित्सकाः॥ योनिमावृत्य यस्तिष्ठेत् परिघो गोपुरे यथा। तथाऽन्तर्गर्भमायान्तं विद्यात् परिघसंज्ञितम्"–इति ॥ ६ ॥

* 'येन हस्तपादैर्बहिर्गतैः प्रतिखुर उच्यते, स प्रतिखुरः कायसंगी निरुद्धकायो भवति। परिघमाह–यो योनिमावृत्य तिष्ठेत्स परिघः। परिघेण तुल्य इति परिघोऽर्ग-लादण्डः' ( आ० द० ) ॥ ६ ॥

१ 'अनेन सहजकुब्जत्वग्रहण' क.। २ 'ग्रीवाभङ्गादन्तर्लग्नः' क.। ३ 'विगुणीभूतो रतिद्वारं गच्छति' क.। ४ 'मागुरूतः कीलकः' संशब्दप्रयोगश्छन्दोऽनुरोधात्' क.। ५ 'योनिं प्रति दृश्यैः खुरैः प्रतिखुरः' क.। ६ 'भुजद्वययोः पिहितं' क.। ७ 'अधः पार्श्वगतो वाऽपि' क.। ८ 'योन्यन्तर्गर्भमायातं' क.।

अपविद्धशिरा या तु शीताङ्गी निरपत्रपा ।
नीलोद्गतसिरा हन्ति सा गर्भं स च तां तथा ॥ ७ ॥

असाध्यमूढगर्भगर्भिण्योर्लक्षणमाह—अपविद्धशिरा या त्वित्यादि । अपविद्धशिरा शिरो धारयितुमशक्तेत्यर्थः, अवनतशिरा इति गदाधरः । निरपत्रपा लज्जाशून्या । नीलोद्गतसिरा इति नीलवर्णा उद्गता कुक्षौ यस्याः सा तथा । स चेति गर्भः ॥७॥

*गर्भास्पन्दनमावीनां प्रणाशः श्यावपाण्डुता ।
भवेदुच्छ्वासपूतित्वं शूनताऽन्तर्मृते शिशौ ॥ ८ ॥

मृतगर्भलक्षणमाह—गर्भास्पन्दनमित्यादि । अस्पन्दनं निश्चलत्वं, जीवतो गर्भस्यावयवचलनं भवति । आवीनां प्रणाशः प्रसववेदनानामभावः, अथवा आवीशब्देन प्रसवलिङ्गान्युच्यन्ते, तानि च मूत्रकफप्रसेकादीनि, तेषां नाशः । शूनतेति उच्छूनता-अन्तर्गतस्य मूढगर्भस्याध्मापनेन ॥ ८ ॥

†मानसागन्तुभिर्मातुरुपतापैः प्रपीडितः ।
गर्भो व्यापद्यते कुक्षौ व्याधिभिश्च निपीडितः ॥ ९ ॥

तस्यान्तर्गतस्य मानसागन्तुदुःखव्याधिभेदेन द्विविधं मरणहेतुमाह—मानसागन्तुभिरित्यादि । उपतापैः दुःखैः ॥ ९ ॥

‡योनिसंवरणं सङ्गः कुक्षौ मक्कल्ल एव च ।
हन्युः स्त्रियं मूढगर्भा यथोक्ताश्चाप्युपद्रवाः ॥ १० ॥
( वायुः प्रकुपितः कुर्यात् संरुध्य रुधिरं सुतम् ।
सूतायाः हृच्छिरोबस्तिशूलं मक्कल्लसंज्ञकम् ॥ १ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने मूढगर्भनिदानं समाप्तम् ॥ ६४ ॥

अपरमसाध्यगर्भिणीलक्षणमाह—योनिसंवरणमित्यादि । योनिसंवरणं तन्त्रान्तरपठितो रोगः । तथाहि,—"वातलान्यन्नपानानि ग्राम्यधर्मं प्रजागरम् । भजन्त्यं

---

* 'अथ गर्भिणीरक्षार्थं मृतस्य मूढगर्भस्य परिपीड्याकर्षणार्थं एवंमाह—गर्भेत्यादि । शूनतेति उच्छूनता मृतस्य गर्भस्याध्मापनेन' ( आ० द० ) ॥ ८ ॥

सेवमानाया गर्भिण्या योनिमार्गगः ॥ मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य संवृतिम् । कुरुते रुद्धमार्गत्वात् पुनरन्तर्गतोऽनिलः ॥ निरुणद्ध्याशयद्वारं पीडयन् गर्भसंस्थितिम् । निरुद्धवदनोच्छ्वासो गर्भस्थाशु विपद्यते ॥ सद्वां संरुद्धहृदयां नाशयत्याशु गर्भिणीम् । योनिसंवरणं विद्याद्याधिमेनं सुदारुणम् ॥ अन्तकप्रतिमं घोरं नारभेत चिकित्सितम्" इति । सद्यः कुक्षाविति योनिसंवरणे प्रतिनिवृत्तो वायुर्गर्भाशयं यदा निरुणद्धि तदा गर्भं कुक्षौ सद्यो भवति स उच्यते—सद्यः कुक्षाविति । मक्कल्लो रक्तमारुतजः शूलविशेषः । यद्यपि प्रसूतायाः शूलं मक्कल्लमुक्तं सुश्रुते,—"प्रजातायाश्चोत्तरकालं तीक्ष्णैरविशोधितं रक्तं मक्कल्लं करोति" ( सु शा. अ. १० )-इति, तथाऽपि प्रजातायाश्चेति चकारेणाप्रजाताया अपि शूलं मक्कल्लमिति । यथोक्ताश्चाप्युपद्रवा इति यथोक्ता ये ये उक्तास्ते पुनराक्षेपकश्वासादयः ॥ १० ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां मूढगर्भनिदानं समाप्तम् ॥ ६४ ॥

---

# अथ सूतिकारोगनिदानम् ।

**अङ्गमर्दो ज्वरः कम्पः पिपासा गुरुगात्रता ।**
**शोथः शूलातिसारौ च सूतिकारोगलक्षणम् ॥ १ ॥**

क्रमप्राप्तत्वात् सूतिकारोगनिदानारम्भः—अङ्गमर्द इत्यादि । सूतिकारोगलक्षणमिति सूतिकारोग एव लक्षणं, अङ्गमर्दादिव्यतिरिक्तस्य रोगस्यानभिधानात् । एतेऽङ्गमर्दादयः प्रायेण सूतिकाया भवन्तः सूतिकारोगत्वेन लक्ष्यन्त इत्यर्थः ॥ १ ॥

***मिथ्योपचारात् संक्लेशाद्विषमाजीर्णभोजनात् ।**
**सूतिकायाश्च ये रोगा जायन्ते दारुणास्तु ते ॥ २ ॥**
**ज्वरातीसारशोथाश्च शूलानाहबलक्षयाः ।**
**तन्द्रारुचिप्रसेकाद्याः कफवातामयोद्भवाः ॥ ३ ॥**
**कृच्छ्रसाध्या हि ते रोगाः क्षीणमांसबलाश्रितः ।**
**ते सर्वे सूतिकानाम्ना रोगास्ते चाप्युपद्रवाः ॥ ४ ॥**

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने सूतिकारोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६५ ॥

सूतिकारोगनिदानमाह—मिथ्येत्यादि । संक्लेशादिति संक्लिश्यते सङ्क्लिश्यते दोषोऽनेनेति संक्लेशो दोषजनकमन्नम् । विषमाजीर्णभोजनादिति विषमभोजनादजीर्णभोजनाच्च । ज्वरातीसारादीनामङ्गमर्दादिभ्यः पृथक् पुनरुपादानं रोगाधिक्यं कृच्छ्रत्व-सुरदत्वं च ख्यापयितुम् । कफवातामयोद्भवा इति तन्द्रारुचिप्रसेकाद्या इत्यस्य विशेषणं मन्यन्ते केचित्, अन्ये सर्वस्य ज्वरातिसारादेः । कफवातजे विकारे सति येषामुद्भवस्ते कफवातामयोद्भवा ज्वरातीसारादयः कृच्छ्रसाध्या इत्यर्थः । ते सर्वे

* 'मिथ्योपचारादिभिः सूतिकाया ये रोगा जायन्ते ते सूतिकारोगा इत्युच्यन्ते' ( आ० द० ) ॥ २–४ ॥

सूतिकानाम्नेति ते ज्वरातीसारादयः सर्वे सूतिकाभवत्वेनाश्रयाश्रितयोरभेदोपचारात् सूतिकानाम्नोच्यन्ते; ते चाप्युपद्रवाः ते उपद्रवाश्च भवन्ति उक्तानां रोगाणामन्यतमं प्रधानीकृत्य ॥ २-४ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां सूतिकारोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६५ ॥

---

## अथ स्तनरोगनिदानम् ।

सक्षीरौ वाऽप्यदुग्धौ वा प्राप्य दोषः स्तनौ स्त्रियाः ।
प्रदूष्य मांसरुधिरे स्तनरोगाय कल्पते ॥ १ ॥

सूतिकारोगाधिकारात् स्तनरोगा उच्यन्ते । पारिभाषिकस्तनरोगसंप्राप्तिमाह—सक्षीरौ वाऽपीत्यादि । सक्षीरौ गर्भवत्याः, अदुग्धौ वेति दोहदाद्योगेन प्रसूतायाः, स्तनौ प्राप्येति विवृतधमनीमुखेनाविश्य, स्तनरोगशब्देन स्तनकोप इति प्रसिद्धो रोग उच्यते ॥ १ ॥

पञ्चानामपि तेषां हि रक्तजं विद्रधिं विना ।
लक्षणानि समानानि बाह्यविद्रधिलक्षणैः ॥ २ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्तनरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६६ ॥

तेषां वातपित्तकफसन्निपातागन्तुजानामतिदेशेन लक्षणमाह—पञ्चानामपीत्यादि । एतत् सुबोध्यम् । आगन्तुस्तनरोगोऽभिघातेन शल्येन च । रक्तजस्याभेदमथो व्याधिस्वभावात् ॥ २ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां स्तनरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६६ ॥

---

## अथ स्तन्यदुष्टिनिदानम् ।

( *विशालेष्वपि गात्रेषु यथा शुक्रं न दृश्यते ।
सर्वदेहाश्रितत्वाच्च शुक्रलक्षणमुच्यते ॥ १ ॥
तदेव चेष्टयुवतेर्दर्शनात्स्मरणादपि ।
शब्दसंश्रवणात्स्पर्शात्संहर्षाच्च प्रवर्तते ॥ २ ॥
सुप्रसन्नं मनस्तत्र हर्षणे हेतुरुच्यते ।
आहाररसयोनित्वादेवं स्तन्यमपि स्त्रियाः ॥ ३ ॥

---

* अदृश्यस्यापि स्तन्यस्य प्रसिद्धोपमानेन प्रवर्तने हेतुं दर्शयन्नाह—विशालेष्वित्यादि । शुक्रस्थान स्तन्यमुच्यत इति शेषः । तुल्यत्वमाह—यथा शुक्रं विशालेषु स्थितेष्वपि गात्रेषु न दृश्यते, मध्यादेवोः । द्वितीयं हेतुमाह—सर्वदेहाश्रितत्वादिति । शुक्रवाहमलस्तदीय-मितरस्य' ( आ० द० ) ॥ १ ॥

† 'शुक्रदृष्टान्तेन स्तन्यस्याप्यन्यदर्शनं प्रतिपाद्य तेनैव दृष्टान्तेन वहि.प्रवर्तन प्रतिपाद-यन्नाह—तदेवेत्यादि । यदेव शुक्रं प्रवर्तते वक्ष्यति शरीरे । संहर्षात् विशिष्टसंपर्कसंस्पर्शात् ।

*तदेवापत्यसंस्पर्शाद्दर्शनात्स्मरणादपि ।
ग्रहणाच्च शरीरस्य शुक्रवत्संप्रवर्तते ।
स्नेहो निरन्तरस्तत्र प्रस्रवे हेतुरुच्यते ॥ ४ ॥
†गुरुभिर्विविधैरन्नैर्दुष्टैर्दोषैः प्रदूषितम् ।
क्षीरं मातुः कुमारस्य नानारोगाय कल्पते ॥ १ ॥

स्तनाश्रितत्वेन स्तन्यदुष्टिमाह—गुरुभिर्विविधैरित्यादि । गुरुभिरन्नैर्हेतुभूतैर्ये दुष्टा दोषास्तैः प्रदूषितम् ॥ १ ॥

कषायं सलिलप्लावि स्तन्यं मारुतदूषितम् ।
कट्वम्ललवणं पीतराजीमत् पित्तसंज्ञितम् ॥ २ ॥
कफदुष्टं घनं तोये निमज्जति सपिच्छिलम् ।
द्विलिङ्गं द्वन्द्वजं विद्यात् सर्वलिङ्गं त्रिदोषजम् ॥ ३ ॥

स्तन्यदुष्टिलक्षणमाह—कषायमित्यादि । सलिलप्लावीति सलिले यदुत्प्लवते लाघवात् तत् सलिलप्लावि । एतदुपलक्षणं, तेन तनुत्वाद्यपि बोद्धव्यम् । कट्वम्ललवणमिति कटु तिक्तं, तिक्तेऽपि कटुशब्दप्रवृत्तेरिति वदन्ति । पीतराजीमदिति पीतरेखायुक्तं, तत्रापि नीललोहिताश्च राज्यो ज्ञेयाः । निमज्जति पित्तदुष्टसंज्ञितम् । संज्ञितमित्यत्र संयुतमिति पाठान्तरम् । तोये निमज्जति गुरुत्वात् । अतिमाधुर्याद्यपि बोध्यम् । प्रसन्नस्य तु साधारणं मधुरपाण्डुत्वम् । अभिघातेनापि स्तन्य दुष्टं संभवत्येव, किंतु तस्य वातिक-स्तन्यलक्षणैरेव संग्रहणं कर्तव्यम् । स्तन्यस्वरूपं च सुश्रुतेनोक्तम् । तद्यथा,—"रसप्रसादो मधुरः पक्वाहारनिमित्तजः । कृत्स्नदेहात् स्तनौ प्राप्तः स्तन्यमित्यभिधीयते" ( सु. नि. स्था. अ. १० ) इति ॥ २ ॥ ३ ॥

---

सहर्षे हेतुचतुष्टय निर्दिशन्नाह–हृष्टयुवतेरित्यादि । हृष्टयुवतिदर्शनादिहेतुचतुष्टयेन यः संहर्ष , स सुप्रसन्न एव मनसि भवतीति मनसोऽपि प्रसन्नस्य कारणत्वं दर्शयन्नाह–सुप्रसन्नेत्यादि । तत्र हर्षणे हेतुः सुप्रसन्नमीर्ष्याद्यनभिभूतं मन उच्यते । शुक्रेण सह प्रस्तुतस्य स्तन्यस्य साधर्म्यहेतु दर्शयन्नाह–आहारेत्यादि । पूर्वं स्तन्यमपि स्त्रियाः प्रवर्तते, शुक्रमाहाररसयोनित्वात्प्रवर्तते, स्तन्यमपि तथा, रसात्प्रवर्तते' ( आ० द० ) ॥ २ ॥ ३ ॥

* 'ननु शुक्रमाहाररसयोन्यपि संहर्षात्कारणात्प्रवर्तते, अत्र [illegible] किं कारणमित्याह–तदेवेत्यादि । तदेव स्तन्यं शुक्रवत् प्रवर्तते । अपत्यसंस्पर्शादिकारणचतुष्टयेऽपि स्नेहो मूलकारणमिति तदेव दर्शयन्नाह–स्नेह इत्यादि । प्रस्रवे स्तन्यस्रवणे; अत्रापि चत्वारो हेतवः परमिष्टयुवतिस्थानेऽपत्यग्रहणं, मूलहेतुहर्षस्थाने स्नेहः, प्रसन्नस्थाने निरन्तरः' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥

† 'प्रदूषितं धात्र्याः क्षीरं कुमारस्य नानारोगाय कल्पते । नानारोगानुत्पादयतीत्यर्थः ( आ० द० ) ॥ १ ॥

---

१ 'धात्र्याः' क.।

अदुष्टं चाम्बुनिक्षिप्तमेकीभवति पाण्डुरम् ।
मधुरं चाविवर्णं च प्रसन्नं तत् प्रशस्यते ॥ ४ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने स्तन्यदुष्टिनिदानं समाप्तम् ॥ ६७ ॥

अविकृतस्तन्यमाह—अदुष्टमित्यादि । अम्बुनिक्षिप्तमेकीभवति सर्वात्मना जलेन सहैकीभवतीति बोध्यं, वातादिदुष्टस्याप्येकदेशेनैकीभावोपलम्भात् । अविवर्णमिति अविद्यमानवातादिदुष्टवर्णम् । एतत् समदोषप्रकृतिक्षीरस्य प्रसन्नस्य लक्षणम् । अन्ये त्वविवर्णमित्यत्र नञ् ईषदर्थे, तेन यद्वातादिप्रकृतिवर्णानुविद्धमपि पाण्डुरमदुष्टत्वात्तद्गृह्णन्ति । केचित् पाण्डुरस्थाने 'सर्वशः' इति पठन्ति, तदा सर्वात्मना जलेन सहैकीभवतीति व्यक्तोऽर्थः । अत्र पक्षे अविवर्णमित्यनेनैवादुष्टशुक्लवर्णता ज्ञेया । प्रसन्नं प्रकृतिस्थम् ॥ ४ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां स्तन्यदुष्टिनिदानं समाप्तम् ॥ ६७ ॥

---

# अथ बालरोगनिदानम् ।

*वातदुष्टं शिशुः स्तन्यं पिबन् वातगदातुरः ।
क्षामस्वरः कृशाङ्गः स्याद्बद्धविण्मूत्रमारुतः ॥ १ ॥
स्विन्नो भिन्नमलो बालः कामलापित्तरोगवान् ।
तृष्णालुरुष्णसर्वाङ्गः पित्तदुष्टं पयः पिबन् ॥ २ ॥
कफदुष्टं पिबन् क्षीरं लालालुः श्लेष्मरोगवान् ।
निद्रान्वितो जडः शूनवक्त्राक्षश्छर्दनः शिशुः ॥ ३ ॥
द्वन्द्वजे द्वन्द्वजं रूपं सर्वजे सर्वलक्षणम् ।

बालरोगाणां दुष्टस्तन्येन संभवात्तदनन्तरं तानाह—वातदुष्टमित्यादि । वातगदातुर इति वक्ष्यमाणक्षामस्वरादियुक्तः । तृष्णालुरिति तृष्णावान् । लालालुरिति लालास्रावयुक्तः । छर्दन इति स्तन्यवान्तिकरः ॥ १–३ ॥—

†शिशोस्तीव्रामतीव्रां च रोदनाल्लक्षयेद्रुजम् ॥ ४ ॥
स यं स्पृशेद्भृशं देशं यत्र च स्पर्शनाक्षमः ।
तत्र विद्याद्रुजं, मूर्ध्नि रुजं चाक्षिनिमीलनात् ॥ ५ ॥
कोष्ठे विबन्धवमथुस्तनदंशान्त्रकूजनैः ।
आध्मानपृष्ठनमनजठरोन्नमनैरपि ॥ ६ ॥
वस्तौ गुह्ये च विण्मूत्रसंगत्रासदिगीक्षणैः ।
स्रोतांस्यङ्गानि सन्धींश्च पश्येद्यत्नान्मुहुर्मुहुः ॥ ७ ॥

* 'तथा श्लेष्मरोगयुक्तः, निद्रया पीडितः, जडः अपविद्धाङ्गः, शूनवक्त्राक्षः सच्छोफमुखनयनः' (आ० द०) ॥ १–३ ॥

† 'अतिरोदनेन किञ्चिद्रोदनेन च रुजं पीडां विद्यादित्यर्थः । स शिशुर्यं देहदेशं भृश-

१ 'शूनः शुक्लाक्षः' कः ।

शिशोर्वक्तुमक्षमस्यान्तर्गतवेदनाज्ञानोपायमाह—शिशोरित्यादि । तीव्रां रुजं बहुरोदनात्, अतीव्रामल्परोदनाल्लक्षयेत् ॥ ४–७ ॥

*कुकूणकः क्षीरदोषाच्छिशूनामेव वर्त्मनि ।
जायते तेन तन्नेत्रं कण्डूरं च स्रवेन्मुहुः ॥ ८ ॥
शिशुः कुर्याल्ललाटाक्षिकूटनासावघर्षणम् ।
शक्तो नार्कप्रभां द्रष्टुं न वर्त्मोन्मीलनक्षमः ॥ ९ ॥

बालानामेव दुष्टस्तन्यपानाद्वर्त्मरोगमाह—कुकूणक इत्यादि । कुकूणक 'कोथ' इति ख्यातः । स्रवेन्मुहुरिति पिच्छिलस्रुतियुक्तं भवतीत्यर्थः । न वर्त्मोन्मीलनक्षम इति न वर्त्मचालनपटु ॥ ८ ॥ ९ ॥

†मातुः कुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि ।
कासाग्निसादवमथुतन्द्राकार्श्यारुचिभ्रमैः ॥ १० ॥
युज्यते कोष्ठवृद्ध्या च तमाहुः पारिगर्भिकम् ।
रोगं परिभवाख्यं च युञ्ज्यात्तत्राग्निदीपनम् ॥ ११ ॥

पारिगर्भिकमाह—मातुरित्यादि । पिबन्नपीति अपिशब्दादपिबन्नपि । तमाहुः पारिगर्भिकमिति पारिगर्भिकोऽह्णिडीति ख्यात; तस्यैव परिभवाख्य इति नामान्तर, बालं परिभवतीति परिभव, स एव आख्या यस्य तम् । उपशयेनापि तज्ज्ञानमाह—युञ्ज्यादित्यादि ॥ १० ॥ ११ ॥

‡तालुमांसे कफः क्रुद्धः कुरुते तालुकण्टकम् ।
तेन तालुप्रदेशस्य निम्नता मूर्ध्नि जायते ॥ १२ ॥
तालुपातः स्तनद्वेषः कृच्छ्रात् पानं शकृद्द्रवम् ।
तृडक्षिकण्ठास्यरुजा ग्रीवादुर्धरता वमिः ॥ १३ ॥

---

मन्यथं स्पृशेत्, यत्र च देहदेशे स्पर्शनाक्षमः स्वात्स्पर्शं न सहते, तत्र देहदेशे वेदनां जानीयात्, अक्षिनिमीलनात् नेत्रयोः संकोचनाच्छिरसि पीडां विद्यात्, जिह्वौष्ठदशनादिभिर्बालस्य हृदि पीडां विद्यात्, विबन्धादिभिराध्मानादिभिश्च कोष्ठे रुजं विद्यात्, बस्तौ गुदे च विण्मूत्रयोः सङ्गेन तथा त्रासेन दिग्विलोकनेन च बालस्य रुजं विद्यात्' ( आ० द० ) ॥ ४ ॥ ७ ॥

* 'क्षीरदोषात्कुकूणको नाम रोगः शिशूनामेव वर्त्मनि जायते, न महतां पुंसाम् । यथा च वाग्भटः—"कुकूणकः शिशोरेव दन्तोत्पत्तिनिमित्तजः."—इति । कुत्सिते कूणिते निर्मीलिते नेत्रे यस्माद्रोगात्स कुकूणकः, लोके कोथक इत्याख्यातः । तेन कुकूणकेन नेत्रं कण्डूयुक्तं जायते । तथा तन्नयनं स्रवेन्मुहुरिति पिच्छिलस्रुतियुक्तं भवतीत्यर्थः । एवमादि-रिमर्दनं कुर्यात्' ( आ० द० ) ॥ ८ ॥ ९ ॥

† 'कुमारो गर्भिण्या मातुः प्रायो बाहुल्येन स्तन्यं पिबन् कासादिभिस्तथा कोष्ठवृद्ध्या युज्यते युक्तो भवति' ( आ० द० ) ॥ १० ॥ ११ ॥

‡ 'कण्टकाकारत्वेन तालुकण्टकः, निम्नता गर्ताकारता । तालुपातमाह—तालुपात इत्यादि । तालुपाताख्यो रोगः, तालुनः पतनं भ्रंशो यत्र रोगे स तथा' ( आ० द० ) ॥ १२ ॥ १३ ॥

तालुकण्टकमाह—तालुमांस इत्यादि । अस्यैव लक्षणं तालुपात इत्यादि । तालुपात इत्यभ्यन्तरे तालुनोऽधःपातः । कृच्छ्रात् पानमित्यत्र 'स्तन्यस्य' इति शेषः । शकृद्द्रवं भिन्नपुरीषता । ग्रीवादुर्धरता ग्रीवाया दुःखेन धारणम् । वमिः स्तन्यस्य वान्तिः ॥ १२ ॥ १३ ॥

विसर्पस्तु शिशोः प्राणनाशनो बस्तिशीर्षजः ।
पद्मवर्णो महापद्मनामा दोषत्रयोद्भवः ॥ १४ ॥
शङ्खाभ्यां हृदयं याति हृदयाद्वा गुदं व्रजेत् ।

महापद्मनामानं विसर्पमाह—विसर्पस्त्वित्यादि । बस्तिशीर्षज इति बस्तिजः शीर्षजश्च, शीर्षं शिरः । पद्मवर्ण इति लोहितपद्मवर्णः । शङ्खाभ्यां हृदयं यातीति शीर्षजः । पद्मपत्रतुल्यवर्णता मुखतालुनि बहिर्देशे चेति वदन्ति । हृदयाद्गुदं यातीति बस्तिजः, ऊर्ध्वं हृदयं गत्वा गुदं यातीत्यर्थः । अत्र पद्मसवर्णता बस्तिदेशे गुदे च । वाशब्दश्चात्र व्यवस्थितविकल्पवचनः ॥ १४ ॥—

क्षुद्ररोगे च कथिते त्वजगल्ल्यहिपूतने ॥ १५ ॥

अन्यौ द्वौ विकारौ बालानां भवतस्तावाह—क्षुद्रेत्यादि । स्निग्धा सवर्णेत्यादिनाऽजगल्लिका, कण्डूयनादित्यादिनाऽहिपूतना ॥ १५ ॥

ज्वराद्या व्याधयः सर्वे महतां ये पुरेरिताः ।
बालदेहेऽपि ते तद्वद्विज्ञेयाः कुशलैः सदा ॥ १६ ॥

अन्येऽपि विकारा बालानां संभवन्तीत्यतिदेशेन तानाह—ज्वराद्या इत्यादि । पुरेरिता इति पूर्वोक्ताः । ते तद्वदिति ते ज्वरादयस्तादृशा ज्ञेयाः । कुशलैरिति विज्ञैः ॥ १६ ॥

क्षणादुद्विजते बालः क्षणात्त्रस्यति रोदिति ।
नखैर्दन्तैर्दारयति धात्रीमात्मानमेव वा ॥ १७ ॥
ऊर्ध्वं निरीक्षते दन्तान् खादेत् कूजति जृम्भते ।
भ्रुवौ क्षिपति दन्तौष्ठं फेनं वमति चासकृत् ॥ १८ ॥
क्षामोऽति निशि जागर्ति शूनाक्षो भिन्नविट्स्वरः ।
मांसशोणितगन्धिश्च न चाश्नाति यथा पुरा ॥ १९ ॥
सामान्यं ग्रहजुष्टानां लक्षणं समुदाहृतम् ।

प्रायेण शौचभ्रंशादिना स्कन्दग्रहादयो नव बालेष्वावेशं कुर्वन्त्यतस्तत्परिज्ञानाय सामान्यलक्षणमाह—क्षणादुद्विजते बाल इत्यादि । एते ग्रहाः पूजार्थं बालान् हिंसन्ति । यदुक्तं सुश्रुते,—"धात्रीमात्रोः प्राक् प्रदिष्टापचाराच्छौचभ्रष्टान् मङ्गलाचारहीनान् । त्रस्तान् हृष्टांस्तर्जितान् क्रन्दितान् वा पूजाहेतोर्हिंस्युरेते कुमारान्" ( सु. उ. तं. अ. २७ )—इति । उद्विजत इत्युद्विग्नो भवति; उद्विग्नो विह्वलः, न तु बिभेतीत्यर्थः, त्रस्यतीत्यनेन पौनरुक्त्यप्रसंगात् । कूजत्यार्तनादं करोति । भ्रुवौ

१ 'हृतान् त्रस्तान् तर्जितान् ताडितांश्च' क. । २ 'त्रस्यतीत्यस्योपात्तत्वात्' क. ।

क्षिपतीति भ्रूभङ्गं रचयति । दन्तौष्ठमित्यत्र क्षिपतीति संबध्यते । क्षिपति खादति, धातूनामनेकार्थत्वात् । भिन्नविट्स्वर इति भिन्नविट् भिन्नशकृत्, भिन्नस्वरः स्वरभेदवान् । मांसशोणितगन्धिरिति विस्रगन्धि । न चाश्नाति यथा पुरेति पूर्ववन्न भक्षयतीत्यर्थः ॥ १७–१९ ॥—

*एकनेत्रस्य गात्रस्य स्रावः स्पन्दनकम्पनम् ॥ २० ॥
ऊर्ध्वं दृष्ट्या निरीक्षेत वक्रास्यो रक्तगन्धिकः ।
दन्तान् खादति वित्रस्तः स्तन्यं नैवाभिनन्दति ॥ २१ ॥
स्कन्दग्रहगृहीतानां रोदनं चाल्पमेव च ।

सामान्यलिङ्गमभिधाय विशेषग्रहलिङ्गमाह–एकनेत्रस्येत्यादि । एकनेत्रस्य वामस्य दक्षिणस्य वा स्रावोऽश्रुस्रुतिः प्रभावात्, गात्रस्य स्रावो घर्मयुक्तगात्रतेत्यर्थः । स्पन्दनकम्पनमिति स्पन्दनं मनाक् चलनं, कम्पनं महता वेगेन वेपनं; स्पन्दनं कम्पनं वा भवतीत्यर्थः । वक्रास्यो वक्रमुखः । रक्तगन्धिक इत्येतत् सामान्यलक्षणलब्धमप्यतिशयार्थमुक्तं; एवमन्यत्रापि सामान्यलक्षणे पुनरुक्ते व्याख्येयम् ॥ २०–२१ ॥—

नष्टसंज्ञो वमेत् फेनं संज्ञावानतिरोदिति ।
पूयशोणितगन्धित्वं स्कन्दापस्मारलक्षणम् ॥ २२ ॥

स्कन्दापस्मारलक्षणमाह—नष्टेत्यादि । नष्टसंज्ञो मूर्च्छितः सन् फेनं वमति, तथा संज्ञावान् सन्नतिरोदिति ॥ २२ ॥

स्रस्ताङ्गो भयचकितो विहङ्गगन्धिः
स्रावाढ्यव्रणपरिपीडितः समन्तात् ।
स्फोटैश्च प्रचिततनुः सदाहपाकै-
र्विज्ञेयो भवति शिशुः क्षतः शकुन्या ॥ २३ ॥

शकुनीलक्षणमाह—स्रस्ताङ्ग इत्यादि । स्रस्ताङ्ग इति श्लथसंधयवयवावान् । भयचकित इति भयहेतुर्भयं भयानकमुच्यते, तेन चकितः, त्रसति भयहेतौ त्रस्यतीत्यर्थः । विहङ्गगन्धिरिति विहङ्गस्येव गन्धो यस्य स तथा, उपमानाच्चेति समासान्त इप्रत्ययः । विहङ्गशब्देन जलचरा मांसादाश्च पक्षिणो गृह्यन्ते, विस्रगन्धित्वात् । हिरण्याक्षेऽप्युक्तं,–"संज्ञावदाहपाकाद्यैश्चितः स्फोटैर्भयान्वितः । स्रस्ताङ्गो विस्रगन्धिः स्याच्छकुन्या पीडितः शिशुः"–इति । स्रावाढ्यव्रणपरिपीडित इति स्फोटैरेव विदीर्णैर्व्रणरूपमापन्नैः परिपीडितः स्फोटैश्च प्रचिततनुरिति नवनवैः स्फोटैर्व्याप्ततनुः । क्षत इत्यभिभूतः ॥ २३ ॥

†व्रणैः स्फोटैश्चितं गात्रं पङ्कगन्धं स्रवेदसृक् ।
भिन्नवर्चा ज्वरी दाही रेवतीग्रहलक्षणम् ॥ २४ ॥

* 'स्कन्दोऽत्र स्कन्दविनोदार्थं रुद्रेण सृष्टो ग्रहः, न पुनर्भगवान् कार्त्तिकेयः' ( आ० द० ) ॥ २० ॥ २१ ॥—

† 'पङ्कगन्धं कर्दमगन्धमसृक् स्रवेत् । पूतनामलक्षणमाह–अतीसार इत्यादि । निर्देशू शासदर्शिनेत्रप्रान्तस्यावलोकनं, उद्विग्नो व्यथचित्तः । कन्थपूतनया प्रग्रमाह–छर्दिरि-

अतीसारो ज्वरस्तृष्णा तिर्यक्प्रेक्षणरोदनम् ।
नष्टनिद्रस्तथोद्विग्नो ग्रस्तः पूतनया शिशुः ॥ २५ ॥
छर्दिः कासो ज्वरस्तृष्णा वसागन्धोऽतिरोदनम् ।
स्तन्यद्वेषोऽतिसारश्च अन्धपूतनया भवेत् ॥ २६ ॥
वेपते कासते क्षीणो नेत्ररोगो विगन्धिता ।
छर्द्यतीसारयुक्तश्च शीतपूतनया शिशुः ॥ २७ ॥
प्रसन्नवर्णवदनः सिराभिरभिसंवृतः ।
मूत्रगन्धी च बह्वाशी मुखमण्डिकया भवेत् ॥ २८ ॥
छर्दिस्प(स्य)न्दनकण्ठास्यशोषमूर्च्छाविगन्धिता ।
ऊर्ध्वं पश्येद्दशेद्दन्तान् नैगमेयग्रहं वदेत् ॥ २९ ॥
प्रस्तब्धाक्षः स्तनद्वेषी मुह्यते चानिशं मुहुः ।
तं बालमचिराद्धन्ति ग्रहः संपूर्णलक्षणः ॥ ३० ॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने बालरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६८ ॥

रेवतीग्रहलक्षणमाह—व्रणैरित्यादि । व्रणैः पुराणैः, स्फोटैरविदीर्णैर्नूतनैः, चितं व्याप्तम् । गात्रं पङ्कगन्धं सवेदनमिति गात्रमिति कर्तृपदं, पङ्कगन्धं शटितकर्दमगन्धं, समासविधेरनित्यत्वादिप्रत्ययो न भवति । पूतनालक्षणमाह—अतीसार इत्यादि । ग्रस्त इति गृहीत इत्यर्थः ॥ २४–३० ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां बालरोगनिदानं समाप्तम् ॥ ६८ ॥

---

## अथ विषरोगनिदानम् ।

*स्थावरं जङ्गमं चैव द्विविधं विषमुच्यते ।
मूलाद्यात्मकमाद्यं स्यात् परं सर्पादिसंभवम् ॥ १ ॥

पारिशेष्याद्विषरोगनिदानमुच्यते—स्थावरमित्यादि । विषादजनकत्वाद्विषं, तच्च द्विविधं स्थावरं जङ्गमं च । मूलाद्यात्मकमिति आद्यं स्थावरं मूलादिरूपं दशविधं, यदुक्तं

---

त्यादि । वसाया मांसस्नेहस्य गन्धवान् । शीतपूतनाग्रस्तलक्षणमाह—वेपत इत्यादि । शुगमम् । मुखमण्डलिकाग्रस्तलक्षणमाह—प्रसन्नेत्यादि । सिराभिरभिसंवृत उद्गतसिरः, मूत्रगन्धीति बस्तमूत्रगन्धः, बह्वाशी बहुभक्षणशीलः । नैगमेयग्रस्तलक्षणमाह—छर्दिरित्यादि । स्पन्दनं लालास्रावः, अथवा घर्माम्बुस्रावः । साध्यासाध्यलक्षणमाह—प्रस्तब्धाक्ष इत्यादि' (आ० द०) ॥ २४–३० ॥

* 'मूलाद्यात्मकमिति आद्यं प्रथमं, अदनीयमाद्यमित्यन्ये । स्थावरं मूलादिस्वरूपं दशविधम् । यदुक्तं सुश्रुते—"दशाधिष्ठानमाद्यं स्याद्द्वितीयं षोडशाश्रयम्"—इति' (आ० द०) ॥ १ ॥

---

१ 'समासान्तविधेरनित्यत्वादुपमानाच्चेतीप्रत्ययो न भवति' क. ।

सुश्रुते, "मूलं पत्रं फलं पुष्पं त्वक् क्षीरं सार एव च। निर्यासो धातवश्चैव कन्दश्च दशमः स्मृतः"(सु क.स्था. अ.२)–इति। तत्र क्लीतकाश्वमारकगुञ्जासुगन्धगर्गरकरघाटविद्युच्छिखानन्ताविजयानीत्यष्टौ मूलविषाणि, विषपत्रिकालम्बावरदारुकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पत्रविषाणि, कुमुद्वतीरेणुकाकरम्भमहाकरम्भकर्कोटकरेणुकखद्योतकचर्मरीभगन्धासर्पघातिनन्दनसारपाकानि द्वादश फलविषाणि, वेत्रकादम्बवल्लीजकरम्भमहाकरम्भाणि पञ्च पुष्पविषाणि, अन्त्रपाचककर्तरीयसौरीयककरघाटकरम्भनन्दनवराटकानि सप्त त्वङ्निर्याससारविषाणि, कुमुदघ्नीस्नुहीजालक्षीरीणि त्रीणि क्षीरविषाणि, फेनाश्मभस्म हरितालं च द्वे धातुविषे कालकूटवत्सनाभसर्षपकपालकर्दमकवैराटकमुस्तकमहाविषप्रपौण्डरीकमूलकहलाहलश्रृङ्गिमर्कटकानि त्रयोदश कन्दविषाणि, एतानि प्राणहराणि, एवं पञ्चपञ्चाशत् स्थावराणि विषाणि भवन्ति। एषां च व्याधपुलिन्दादिभ्यो व्यक्तिज्ञानं कर्तव्यम्। परं सर्पादिसंभवमिति परं जङ्गमं, तच्च षोडशाभिधानं–दृष्टिनिःश्वासदंष्ट्रानखमूत्रपुरीषशुक्रलालार्तवमुखसंदंशपर्दितगुदास्थिपित्तशूकशवभेदात्। पर्दितं पायुकृतः कुत्सितशब्दः, 'पर्द' कुत्सिते शब्दे, इत्यस्य प्रयोगात्। तत्र दृष्टिनिःश्वासविषा दिव्याः सर्पाः, भौमाः सर्पा दंष्ट्राविषाः, मार्जारमकरव्याघ्रादयो दंष्ट्रानखविषाः, पिच्चिटकौण्डिन्यादयो मूत्रपुरीषविषाः, मूषिकाः शुक्रविषाः, वृश्चिकवरटीचित्रिङ्गादय आराविषाः, लूता लालार्तवविण्मूत्रशुक्रमुखसंदंशविषाः, चित्रशीर्षकशतदारुकशारिकादयो मुखसन्दंशदंष्ट्रापर्दितगुदपुरीषविषाः, विषहतास्थिमत्स्यास्थिप्रभृतयोऽस्थिविषाः, शकुलीमत्स्यादयः पित्तविषाः सूक्ष्मतुण्डभ्रमरादयः शूकविषाः, कीटसर्पदेहा गतासवः शवविषाः। एषां च सुश्रुतस्य कल्पस्थाने विस्तरो द्रष्टव्यः॥१॥

निद्रां तन्द्रां क्लमं दाहमपाकं लोमहर्षणम्।
शोथं चैवातिसारं च जङ्गमं कुरुते विषम्॥ २॥

तत्र जङ्गमविषस्य बह्वधिष्ठानत्वेन प्राधान्यात् सर्ववेगानुगतं सामान्यलिङ्गमाह—निद्रामित्यादि। एतत् सुबोध्यम्॥ २ ॥

स्थावरं च ज्वरं हिक्कां दन्तहर्षं गलग्रहम्।
फेनच्छर्द्यरुचिश्वासं मूर्च्छां च कुरुते भृशम्॥ ३॥

स्थावरस्य सामान्यलिङ्गमाह—स्थावरं चेत्यादि। फेनच्छर्दिरिति फेनस्य छर्दिः॥ ३ ॥

*इङ्गितज्ञो मनुष्याणां वाक्चेष्टामुखवैकृतैः।
जानीयाद्विषदातारमेभिर्लिङ्गैश्च बुद्धिमान्॥ ४॥

* 'अवनीपतेः परिकर्मिणो विषमवचारयन्तीति तेषां विषदातॄणां लक्षणमाह–इङ्गितज्ञ

१ "आराशब्देनात्र वृश्चिकादिलाङ्गूलस्थितः कण्टको भण्यते, तस्य च स्थूलशूकरूपत्वाच्छूकग्रहणेनैव ग्रहणं, अत एव दृष्टिनिःश्वासेत्यादिसूत्रे पृथङ्नोदाहृतमाराग्रहणम्" इति डल्हणः।

न दद्यादुत्तरं पृष्टो विवक्षुर्मोहमेति च ।
अपार्थं बहु संकीर्णं भाषते चापि मूढवत् ॥ ५ ॥
हसत्यकस्मात् स्फोटयत्यङ्गुलीर्विलिखेन्महीम् ।
वेपथुश्चास्य भवति त्रस्तश्चान्योन्यमीक्षते ॥ ६ ॥
विवर्णवक्त्रो ध्यामश्च नखैः किंचिच्छिनत्यपि ।
आलभेतासनं दीनः करेण च शिरोरुहम् ॥ ७ ॥
वर्तते विपरीतं च विषदाता विचेतनः ।

विषदातृलक्षणमाह—इङ्गितज्ञ इत्यादि । अभिप्रायसूचकमीहितमिङ्गितं तज्ज्ञो वैद्यो वाचा क्रियया मुखवैकृत्यादिना च विषदातारं जानीयात् । एभिर्वक्ष्यमाणलक्षणैः । न दद्यादुत्तरं पृष्ट इति स्वीयासत्कर्मजनितव्यामोहात् । अपार्थमित्यनर्थकम् । संकीर्णमित्यस्फुटम् । हसत्यकस्मादिति अहेतोरपि हसति । भयजवायुजनितपर्वव्यथापनोदनायाङ्गुलीः स्फोटयति । क्रियान्तरकरणसूचनाय महीं विलिखति । भीतः सन् प्रत्येकं वीक्षते. ध्याम इति दग्धसमवर्णः किंचित्तृणादिकं. वर्तते *विपरीत इति आचारं परिवर्त्य* तिष्ठति ॥ ४–७ ॥—

*उद्वेष्टनं मूलविषैः प्रलापो मोह एव च ॥ ८ ॥
जृम्भणं वेपनं श्वासो मोहः पत्रविषेण तु ।
मुष्कशोथः फलविषैर्दाहोऽन्नद्वेष एव च ॥ ९ ॥
भवेत् पुष्पविषैश्छर्दिराध्मानं श्वास एव च ।
त्वक्सारनिर्यासविषैरुपयुक्तैर्भवन्ति हि ॥ १० ॥
आस्यदौर्गन्ध्यपारुष्यशिरोरुक्कफसंस्रवाः ।
फेनागमः क्षीरविषैर्विड्भेदो गुरुजिह्वता ॥ ११ ॥
हृत्पीडनं धातुविषैर्मूर्च्छा दाहश्च तालुनि ।
प्रायेण कालघातीनि विषाण्येतानि निर्दिशेत् ॥ १२ ॥

मूलादिविषाणां प्रमादादुपयुक्तानां प्रत्येकं लक्षणमाह—उद्वेष्टनमित्यादि । उद्वेष्टनं दण्डविमर्दनवद्व्यथा । मूलविषैरित्यष्टविधैरपि, एवं पत्रादीनामुक्तानां यावत्संख्याकानामेकं सामान्यलक्षणमवगन्तव्यम् । प्रायेण कालघातीनीति एतानि नव मूलादिविषाणि कालान्तरेण मारकाणि भवन्तीत्यर्थः । कन्दविषं तु त्रयोदशविधमतितीक्ष्णत्वाद्व्यवायिविकाशित्वादिगुणयोगात्तदात्वेन मारकम् ॥ ८–१२ ॥

इत्यादि । त्रस्तश्चान्योन्यमीक्षत इति स्वपापकर्मोपलम्भभयेनान्योन्यमीक्षते । विवर्णवक्त्रो मलिनवक्त्रवर्णः इति दल्हणः[1] ( आ० द० ) ॥ ४–७ ॥

* 'मुष्कयोः श्वयथुः । पुष्पविषलक्षणमाह–भवेदित्यादि । त्वक्सारेत्यादि त्वग्विषैः सारविषैर्निर्यासविषैः पृथक् त्रिभिः । पारुष्यं खरस्पर्शत्वं मुखस्यैव, कफसंस्रवः श्लेष्मास्रावः । क्षीरविषलक्षणमाह–फेनेत्यादि । सुगमम् । धातुविषमाह–हृदित्यादि । धातुविषैः हरितालादिकैः ( आ० द० ) ॥ ८–१२ ॥

१ 'मुखशोषः' इति क० ।

*सद्यः क्षतं पच्यते यस्य जन्तोः स्रवेद्रक्तं पच्यते चाप्यभीक्ष्णम् ।
कृष्णीभूतं क्लिन्नमत्यर्थपूति क्षतान्मांसं शीर्यते चापि यस्य ॥ १३ ॥
तृष्णा मूर्च्छा ज्वरदाहौ च यस्य दिग्धाहतं तं पुरुषं व्यवस्येत् ।
लिङ्गान्येतान्येव कुर्यादमित्रैर्व्रणे विषं यस्य दत्तं प्रमादात् ॥ १४ ॥
सर्पीतं गृहधूमाभं पुरीषं योऽतिसार्यते ।
फेनमुद्वमते चापि विषपीतं तमादिशेत् ॥ १५ ॥

विषलिप्तशस्त्रहतस्य लिङ्गमाह—सद्य इत्यादि । पच्यते चाप्यभीक्ष्णमिति सद्यस्त्रावत् पच्यते पश्चादपि पुनः पुनः पाकमेति ॥ १३—१५ ॥

†वातपित्तकफात्मानो भोगिमण्डलिराजिलाः ।
यथाक्रमं समाख्याता, द्व्यन्तरा द्वन्द्वरूपिणः ॥ १६ ॥

स्थावरमभिधाय जङ्गमेष्वतितीक्ष्णत्वेन सर्पविषे वाच्ये तदाश्रयान् सर्पानाह—वातपित्तकफात्मान इत्यादि । भोगी फणी, मण्डली मण्डलवद्गत्याऽङ्गलाङ्गलादिरूपमण्डलयुक्तः, राजिलश्चित्रदीर्घरेखावान्, एते यथाक्रमं वाताद्यात्मानो वातादिप्रकृतयः । व्यतिकरजान् सर्पान् दर्शयति-द्व्यन्तरा द्वन्द्वरूपिण इति ।-द्वयोरन्तरं विशेषो येषु ते तथा । यथा-फणिना मण्डलिन्यां गोनसा जाताः, मण्डलिना गोनसेन च फणिन्यां कृष्णसर्पाः, एवमन्येऽपि जातिसंकरा ऊह्याः । व्यन्तरा इति पाठे स एवार्थः, विशब्दस्य द्व्यर्थत्वात्; तथा 'विभवान्महानाकाशः' इत्यत्र व्याख्यातं, विभवादिति द्विभावात्, द्विभावश्च सर्वमूर्तद्रव्यैः संयोगः सर्वत्रोपलम्भश्चेति । द्वन्द्वरूपिण इति द्वयोः फणिमण्डलिनोर्वातपित्तप्रकृत्योर्यत् प्रकृतित्वं सम्मिलितप्रकृतित्वमेषामित्यर्थः, वातपित्तप्रकृत्योरथवा द्वयोर्दोषयो रूपं तद्रूपमित्यर्थः ॥ १६ ॥

दंशो भोगिकृतः कृष्णः सर्ववातविकारकृत् ।
पीतो मण्डलिजः शोथो मृदुः पित्तविकारवान् ॥ १७ ॥
राजिलोत्थो भवेद्दंशः स्थिरशोथश्च पिच्छिलः ।
पाण्डुः स्निग्धोऽतिसान्द्रासृक् सर्वश्लेष्मविकारकृत् ॥ १८ ॥

भोगिप्रभृतिकृतदंशेषु वातादीनां लिङ्गमाह—दंशो भोगिकृत इत्यादि । सर्ववातविकारकृदित्यनेनैव कृष्णत्वे सिद्धे तदुक्तिरवश्यंभावित्वख्यापनार्थं, एवमुत्तरत्रापि पीताद्यभिधानम् ॥ १७ ॥ १८ ॥

‡अश्वत्थदेवायतनश्मशानवल्मीकसन्ध्यासु चतुष्पथेषु ।
याम्ये च दष्टाः परिवर्जनीया ऋक्षे सिरामर्मसु ये च दष्टाः ॥१९॥

* 'दिग्धाहतं विषलिप्तशस्त्रहतम् । शत्रुभिर्व्रणसंचारितविषलक्षणमाह-लिङ्गानीत्यादि । एतान्येव पूर्वोक्तानि, अमित्रैः शत्रुभिः, व्रणे शस्त्रव्रणे, प्रमादात् अनवधानात्' ( आ० द० ) ॥ १३–१५ ॥

† 'द्वन्द्वरूपिण इति द्वयोर्यो भावः; तद्वन्त इत्यर्थः' ( आ० द० ) ॥ १६ ॥

‡ 'याम्ये इत्यत्र "पित्र्ये" इति पाठः । पित्र्ये मघायां । ये च मर्मसु दष्टाः स्युस्तेऽपि त्याज्या इति' ( आ० द० ) ॥ १९ ॥

विशिष्टदेशादिदष्टस्यासाध्यत्वमाह—अश्वत्थेत्यादि । याम्ये चेति भरण्याम् । ऋक्षे नक्षत्रे । मर्मस्विति आशुघातिषु । याम्ये चेति चकारेणार्द्राश्लेषामघामूलकृत्तिकानां ग्रहणम् । यदुक्तमन्यत्र—"चैत्यायतनवल्मीकश्मशानेषु चतुष्पथे । आर्द्राश्लेषामघामूलकृत्तिकाभरणीषु च । पञ्चम्यां सन्ध्ययोर्दंशे मर्मस्वाशुहरेषु च । दष्टाः कष्टेन जीवन्ति यदि वृक्षादिसंपदः"—इति ॥ १९ ॥

*दर्वीकराणां विषमाशुघाति सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्ति ।

दर्वीत्यादि । दर्वीकराणां विषमाशु हन्ति अश्वत्थादौ विशेषेण दर्वीकराणामाशुमारकं, दर्वीकराः फणिनः । सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्तीति उष्णसंयोगे सति सर्वाणि विषाणि स्वरूपतो द्वैगुण्यं भजन्ते; 'सर्वाणि चोष्णानि यथाक्रमेण' इति पाठान्तरे अयमर्थः—सर्वाणि भोगिमण्डलिराजिलविषाणि यथाक्रमेण यथोद्दिष्टक्रमेणोष्णान्यश्वत्थादिष्वाशुघातीनि । दर्वीकरविषस्य पृथगुपादानं विशेषार्थम् ॥—

अजीर्णपित्तातपपीडितेषु बालेषु वृद्धेषु बुभुक्षितेषु ॥ २० ॥
क्षीणक्षते मेहिनि कुष्ठयुक्ते रूक्षेऽबले गर्भवतीषु चापि ।

एवमपरेष्वप्याशुघातित्वं संभवति, तानाह—अजीर्णेत्यादि । अजीर्णपित्तातपपीडितेष्विति अजीर्णिनि दोषत्रयप्रकोपात्, पित्तातपपीडितयो रौक्ष्यात्, बालवृद्धयोरसंपूर्णक्षीणधातुत्वेन विषवेगासहत्वात्, बुभुक्षितेष्विति पित्तरूक्षोष्णदेहत्वात्, क्षीणक्षत इति क्षतक्षीणे बहुलवातदुष्टे, मेहिनि दोषत्रयप्रकोपात्, कुष्ठयुक्ते रक्तादिदोषात्, रूक्षे वातकोपात्, अबले क्लेशासहत्वात्, गर्भवतीषु गर्भपोषरक्षणदोषत्वात्, एषु विषमाशुघातीति ॥ २० ॥—

शस्त्रक्षते यस्य न रक्तमेति राज्यो लताभिश्च न संभवन्ति ॥२१॥
शीताभिरद्भिश्च न रोमहर्षो विषाभिभूतं परिवर्जयेत्तम् ।
जिह्मं मुखं यस्य च केशशातो नासावसादश्च सकण्ठभङ्गः ॥२२॥
कृष्णः सरक्तः श्वयथुश्च दंशे हन्वोः स्थिरत्वं च विवर्जनीयः ।
वर्तिर्घना यस्य निरेति वक्त्राद्रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्य ॥ २३ ॥
दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्च यस्य तं चापि वैद्यः परिवर्जयेद्ध ।
उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतं वा हीनस्वरं वाऽप्यथवा विवर्णम् ॥ २४ ॥
सारिष्टमत्यर्थमवेगिनं च ज्ञात्वा नरं कर्म न तत्र कुर्यात् ।

इदानीं सर्वथा वर्जनीयमाह—शस्त्रक्षत इत्यादि । राज्यो लताभिश्चेति राज्यो रेखा लताभिस्ताडनाच्च भवन्ति । तदुक्तमालम्बायने,—"नैति रक्तं क्षतायस्य लताघातैर्न राजिकाः । न लोमहर्षः शीताद्भिर्वर्जयेत्तं विषार्दितम्"—इति । जिह्मं वक्रं, तत्र्यमिति कार्तिकः । केशशात इति कर्षणात् केशोत्पाटः । कण्ठभङ्गो ग्रीवाया अविधारणम् ।

---

* 'सर्वाणि चोष्णे द्विगुणीभवन्तीति उष्णसंयोगे सर्वाणि विषाणि स्वरूपतो द्वैगुण्यं भजन्ते ।' ( का० द० )—

---

१ 'अल्पायनेऽप्युक्तम्' क. । २ अल्पाल्पवेगः पाठः ।

हन्वोः स्थिरत्वं हनुद्वयस्य स्तब्धत्वम् । वर्तिघनेति लालारूपा वर्तिः । रक्तं स्रवेदूर्ध्वमधश्च यस्येति मुखनासागुदादिभ्यः शोणितस्रावः । दंष्ट्रानिपाताश्चतुरश्चेति चत्वार इति प्राप्ते चतुर इति निर्देश आगमविधेरनित्यत्वात्, यथा "क्षप्रतश्चतुरो वेदा" इत्यादि । उन्मत्तमत्यर्थमुपद्रुतमिति उन्मत्तमत्यर्थमुन्मादवन्तं, उपद्रुतं ज्वरातिसारादिभिरत्यर्थमुपद्रुतम् । हीनस्वरं वक्तुमसमर्थम् । विवर्णं कृष्णवर्णम् । सारिष्टं नासाभङ्गादियुक्तम् । अवेगिनं गमनादिवेगरहितं, विण्मूत्रादिवेगरहितमिति कार्तिकः ॥ २१—२४ ॥—

जीर्णं विषघ्नौषधिभिर्हतं वा दावाग्निवातातपशोषितं वा ॥ २५ ॥
स्वभावतो वा गुणविप्रहीनं विषं हि दूषीविषतामुपैति ।

स्थावरजङ्गमविषमेव जीर्णत्वादिभिर्विशेषैर्दूषीविषसंज्ञां लभते; तदाह—जीर्णमित्यादि । विषघ्नौषधिभिरिति अगदादिभिः । दावाग्निवातातपशोषितं वेति दावाग्निर्वनाग्निः । स्वभावतो वा गुणविप्रहीनमिति स्वभावादेव किमपि विषं व्यवायिविकाशिप्रभृतिषु दशसु गुणेषु मध्ये एकद्वित्र्यादिगुणहीनं यदि भवति तदा दूषीविषतामुपैति ॥ २५ ॥—

*वीर्याल्पभावान्न निपातयेत्तत् कफान्वितं वर्षगणानुबन्धि ॥ २६ ॥
तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्णो वैगन्ध्यवैरस्ययुतः पिपासी ।
मूर्च्छां भ्रमं गद्गदवाग्वमिं च विचेष्टमानोऽरतिमाप्नुयाद्वा ॥ २७ ॥

गुणहीनतामेव कार्येण दर्शयति—वीर्याल्पभावादित्यादि । न निपातयेदिति न मारयति सद्यश्चिरेण वा । कफान्वितमिति कफान्वितं सत् मन्दीभूतौष्ण्यादिगुणं न मारयति । वर्षगणानुबन्धीति अपाकाच्चिरस्थायि । तेनार्दितो भिन्नपुरीषवर्ण इति तेन दूषीविषेणार्दितो, भिन्नशब्दोऽत्र पुरीषवर्णाभ्यां प्रत्येकमभिसंबध्यते, भिन्नवर्णो विवर्णः । वैगन्ध्यवैरस्ययुत इति विरुद्धगन्धमुखवैरस्ययुक्तः । विचेष्टमानो विरुद्धां चेष्टां कुर्वन्, अरतिमसुखं लभते ॥ २६ ॥ २७ ॥

आमाशयस्थे कफवातरोगी, पक्वाशयस्थेऽनिलपित्तरोगी ।
भवेत् समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्गो विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्गः ॥ २८ ॥

स्थानविशेषेण विशिष्टलिङ्गमाह—आमाशयस्थ इत्यादि । कफावृतत्वेन वातकोप आमाशये, तेन कफवातरोगीत्युक्तम् । अनिलपित्तरोगीति पक्वाशये दुष्टवातसंबन्धेन प्रत्यासन्नस्याशयस्थस्य पित्तस्य कोपः । भवेत् समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्ग इति अत्राङ्गशब्दात् परं रुहशब्दो द्रष्टव्यः, तेनायमर्थः—समुद्ध्वस्तशिरोरुहाङ्गः, शिरोरुहाः केशाः, अङ्गरुहं लोम, तदुक्तमालम्बायने,—"सीदन्ति केशलोमानि तस्मिन् पक्वाशयं गते"—

* 'तद्वीर्यस्याल्पत्वाचेन गररूपेण ये दोषा भवन्ति, तान्दर्शयन्नाह—तेनेति । तेन गररूपेण विषेण पीडितो भिन्नपुरीषवर्णादिकः स्याद्' ( आ० द० ) ॥ २६ ॥ २७ ॥

१ 'प्रथमादिवेगरहितं' क. । २ 'गररूपेण पीडितः' क. ।

इत्यादि । विलूनपक्षस्तु यथा विहङ्ग इति मुण्डितपक्षशकुनिसदृशः, एतत् पक्वाशयगतस्यैव लिङ्गम् ॥ २८ ॥

स्थितं रसादिष्वथवा यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान् विकारान् ।
कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु यात्याशु, पूर्वं शृणु तस्य रूपम् ॥ २९ ॥

तस्य रसादिधातुगतस्य लिङ्गमाह—स्थितं रसादिष्वित्यादि । यथोक्तान् करोति धातुप्रभवान् विकारानिति सुश्रुते व्याधिसमुद्देशीयाध्यायोक्तानश्रद्धादीन् करोति; कोपं च शीतानिलदुर्दिनेषु यातीति कफप्रधानत्वाच्छीतादौ काले कोपं याति । पूर्वं शृणु तस्य रूपमिति पूर्वरूपं शृण्वित्यर्थः ॥ २९ ॥

निद्रागुरुत्वं च विजृम्भणं च विश्लेषहर्षावथवाऽङ्गमर्दम् ।
ततः करोत्यन्नमदाविपाकावरोचकं मण्डलकोठजन्म ॥ ३० ॥
मांसक्षयं पादकरप्रशोथं मूर्च्छां तथा छर्दिमथातिसारम् ।
दूषीविषं श्वासतृषाज्वरांश्च कुर्यात् प्रवृद्धिं जठरस्य चापि ॥ ३१ ॥

तदेवाह—निद्रेत्यादि । विश्लेषहर्षाविति विश्लेषो गात्रस्य शैथिल्यं, हर्षो रोमहर्षः । एतानि वातकफजानि लिङ्गानि । तत इति पूर्वरूपादनन्तरम् । अन्नमदाविपाकाविति अन्नमदः अन्ने भुक्ते मदो हर्षः अन्नमदः, कार्तिकस्त्वन्नविक्षेपणमन्नमदमाह, अन्नमदो रसाजीर्णमिति गदाधरः; अविपाकोऽन्नस्यापाकः । पादकरप्रशोथमिति पादे करे च प्रकृष्टं शोथं करोति । 'मूर्च्छां तथा छर्दिमथातिसारं' इत्यस्य स्थाने 'प्रलेपकं छर्दिं' इत्यादि पाठान्तरे प्रलेपकं स्वेदप्रवृत्त्या पिच्छिलं गात्रं, ज्वरविशेषं वा ॥ ३० ॥ ३१ ॥

उन्मादमन्यज्जनयेत्तथाऽन्यदानाहमन्यत्क्षपयेच्च शुक्रम् ।
गाद्गद्यमन्यज्जनयेच्च कुष्ठं तांस्तान्विकारांश्च बहुप्रकारान् ॥ ३२ ॥

तदेव नानाप्रकारं यद्यत्करोति तत्तदाह—उन्मादमन्यदित्यादि । क्षपयेच्च शुक्रमिति षाण्ढ्यं करोतीत्यर्थः । तांस्तानिति विसर्पविस्फोटकादीन् ॥ ३२ ॥

*दूषितं देशकालान्नदिवास्वप्नैरभीक्ष्णशः ।
यस्मात् संदूषयेद्धातून् तस्माद्दूषीविषं स्मृतम् ॥ ३३ ॥
साध्यमात्मवतः सद्यो याप्यं संवत्सरोत्थितम् ।
दूषीविषमसाध्यं स्यात् क्षीणस्याहितसेविनः ॥ ३४ ॥

दूषीविषस्य निरुक्तिमाह—दूषितमित्यादि । देशकालान्नदिवास्वप्नैरिति देशः प्रचुरानिलशीतवृष्टिभूम्यादिः, कालः शीतानिलदुर्दिनादिः, अन्नं सुरातिलकुलत्थादि, तैर्दूषितं कोपितं, अभीक्ष्णशः पुनःपुनः । धातुदूषकत्वेन दूषीविषम् । संयोगजं विषं द्विविधं;

* 'अन्नस्योऽल्पगुणत्वाद्यवाय्व्यायामजोषाद्योऽपि अपथाः; आत्मवतः पथ्याशिनः ? क्षीणस्य क्षीणधातोः' ( अ० ८० ) ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

१ 'प्रलेपकत्वेन स्वेदप्रवृत्त्या गात्रलिप्तत्वं' क. । २ 'कृत्रिमं' क. ।

एकं सविषाविषसंयोगकृतं कृत्रिमसंज्ञं, अपरं निर्विषद्रव्यकृतं गरसंज्ञम् । यदाह वृद्धकाश्यपः,–"संयोगजं च द्विविधं तृतीयं विषमुच्यते । गरः स्यादविषं तत्र सविषं कृत्रिमं मतम्" इति । अत एव रसायने चरकः,–"दंष्ट्राविषे मूलविषे सगरे कृत्रिमे विषे"–इति ॥ ३३ ॥ ३४ ॥

सौभाग्यार्थं स्त्रियः स्वेदं रजो नानाङ्गजान् मलान् ।
शत्रुप्रयुक्तांश्च गरान् प्रयच्छन्त्यन्नमिश्रितान्[1] ॥ ३५ ॥
तैः स्यात् पाण्डुः कृशोऽल्पाग्निर्गरश्चास्योपजायते ।
मर्मप्रधमनाध्मानं हस्तयोः शोथलक्षणम् ॥ ३६ ॥
जठरं ग्रहणीदोषो यक्ष्मा गुल्मः क्षयो ज्वरः ।
एवंविधस्य चान्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेत् ॥ ३७ ॥

तद्वयमपि दर्शयितुमाह—सौभाग्यार्थमित्यादि ।—स्त्रियः सौभाग्यार्थं शत्रुप्रयुक्ता वा सविषजन्तूनां स्वेदं, रजश्चूर्णं, नानाङ्गजान् नानागरकरान् मलान्, अन्नादौ ददाति। तैरिति स्वेदरजःप्रभृतिभिः । गरश्चास्येति अपाकाज्जठरावस्थितस्वेदादिरेव गरः, अत एव तस्योदरामयः; किंवा वक्ष्यमाणमर्मप्रधमनादिलक्षणो व्याधिर्गरः । मर्मप्रधमनं मर्मव्यथा । शोथलक्षणमिति शोथ एव लक्षणं, जठरमुदरम् । अन्यस्य व्याधेर्लिङ्गानि दर्शयेदिति अन्यस्य विस्फोटादेर्लिङ्गं दर्शयति ॥ ३५–३७ ॥

*यस्माल्लूनं तृणं प्राप्ता मुनेः प्रस्वेदबिन्दवः ।
तस्माल्लूतास्तु भाष्यन्ते संख्यया ताश्च षोडश ॥ ३८ ॥

संप्रति लूतानां घोरविषत्वप्रतिपादनार्थमैतिह्यमाह—यस्माल्लूनं तृणमित्यादि । इति किल श्रुतिः,–'विश्वामित्रो नरपतिः कामधेनोर्बलात्कारपरिग्रहेण मुनिसत्तमं वशिष्ठं कोपयांचकार, कुपितेन तेनान्तर्ज्वलदविरलकोपानलज्वलितं कुकुलयुगलमिव बहलपाटलं लोचनद्वयं वहता भगवान् रविरवलोकितः । ततस्तस्य भ्रुकुटिमयङ्करललाटतटप्रस्यन्दी स्वेदबिन्दुनिकरः प्रचण्डतरः प्रत्यासन्नलूनतृणे धेन्वर्थं संभृते निपतितो लूताऽभूत्'–इति । तास्तु षोडश । यदाह सुश्रुतः,–"त्रिमण्डला तथा श्वेता कपिला पीतका तथा । लालामूत्रविषा रक्ता कठिना चाष्टमी स्मृता । सौवर्णिका लाजवर्णा जालिन्येकपदी तथा । कृष्णाऽग्निवर्णा काण्डा च मालागुण्यष्टमी मता" ( सु. क. स्था. अ. ८ )–इति ॥ ३८ ॥

* 'यस्मात् कारणान्मुनेः प्रस्वेदबिन्दवो लूनं तृणं प्राप्ताः, तस्माल्लूता भाष्यन्ते, "तासामष्टौ कृच्छ्रसाध्या वर्ज्यास्तावत एव तु"–इति । मतान्तरेणोत्पत्तिरन्यथा वर्ण्यते– "अन्ये वदन्ति मुक्तस्य दुष्टस्याश्वस्य मूर्च्छनात् । संभवन्ति विषस्फोटा ये लूताकीटलक्षणाः ॥ यथास्वं धारयन्तस्ते लूताकीटासु कीर्तिताः"–इति' ( आ० द० ) ॥ ३८ ॥

[1] 'प्रयच्छन्त्यन्नमाश्रितान्' क. ।

*तामिर्दष्टे दंशकोथः प्रवृत्तिः क्षतजस्य च ।
ज्वरो दाहोऽतिसारश्च गदाः स्युश्च त्रिदोषजाः ॥ ३९ ॥
पिडका विविधाकारा मण्डलानि महान्ति च ।
शोथा महान्तो मृदवो रक्ताः श्यावाश्चलास्तथा ॥ ४० ॥
सामान्यं सर्वलूतानामेतद्दंशस्य लक्षणम् ।

तासां सामान्यदंशलक्षणमाह—तामिर्दष्ट इत्यादि । दंशकोथ इति दंशदेशे इविभाव इत्यर्थः । प्रवृत्ति क्षतजस्येति रक्तस्य प्रवर्तनम् । सर्वलूतानामिति अष्टाध्याष्टविधसौवर्णिकादिलूतानामेव सामान्यलक्षणं ज्ञेयम् । यतस्त्रिमण्डलादीनामष्टानां कृच्छ्रसाध्यत्वं, तामिर्दष्टे शिरोदु खमित्यादिना सामान्यलक्षणमभिधाय सौवर्णिकाद्यनन्तरमेतत् पठितवान् सुश्रुतः । माधवकरेण तु षोडशानां लूताना सामान्यलक्षणमेतदित्यभिप्रायेण पठितमिति ॥ ३९ ॥ ४० ॥

दंशमध्ये तु यत् कृष्णं श्यावं वा जालकाचितम् ॥ ४१ ॥
ऊर्ध्वाकृति भृशंपाकं क्लेदशोथज्वरान्वितम् ।
दूषीविषाभिर्लूताभिस्तद्दष्टमिति निर्दिशेत् ॥ ४२ ॥

त्रिमण्डलाद्योऽष्टौ दूषीविषास्तासां लक्षणमाह—दंशमध्ये त्वित्यादि । ऊर्ध्वाकृतीति ऊर्ध्वगस्वरूपं, अन्ये 'दग्धाकृति' इति पठन्ति, तत्रप्यर्थम् । दूषीविषाभिरिति कालान्तरप्रकोपिविषाभि. । दष्टमिति दंशम् ॥ ४१-४२ ॥

[1]शोथः[†] श्वेताः सिता रक्ताः पीता वा पिडका ज्वरः । [2]
प्राणान्तिकाश्च[3] जायन्ते श्वासहिक्काशिरोग्रहाः ॥ ४३ ॥

सौवर्णिकादीनामष्टानामसाध्यानां प्राणहराणां सामान्यलक्षणमाह—शोथ इत्यादि । प्राणान्तिका इति प्राणहराः ॥ ४३ ॥

आदंशाच्छोणितं पाण्डुमण्डलानि ज्वरोऽरुचिः ।
लोमहर्षश्च दाहश्चाप्याखुदूषीविषार्दिते ॥ ४४ ॥

आखुदूषीविषलक्षणमाह—आदंशादित्यादि । आदंशाच्छोणितमित्यत्र 'गलति' इति शेषः । मारवत शुक्रविषाः । यदुक्तं,—'शुक्रं पतति यत्रैषां शुक्रस्पृष्टैः स्पृशन्ति यत्' ( सु. क स्था. अ. ७ )—इति ॥ ४४ ॥

मूर्च्छाङ्गशोथवैवर्ण्यक्लेदशब्दाश्रुतिज्वराः ।
शिरोगुरुत्वं लालासृक्छर्दिश्चासाध्यमूषिकैः ॥ ४५ ॥

---

* 'कृच्छ्रसाध्यत्वमष्टविषत्रिमण्डलादिलूतानाम् । "तामिर्दष्टे शिरोदु.ख कण्डूर्दंशे च वेदना । भवन्ति च विशेषेण गदाः श्लैष्मिकवातिकाः"-इति' ( आ० द० ) ॥३९-४०॥

† अन्ये "श्वेताः सिता रक्ता. पीताश्च" इति पठन्ति । तत्र पिडका ज्वरश्च' ( आ० द० ) ॥ ४३ ॥

---

१ 'शोथाः' क. । २ 'सपिडकाज्वरा.' क. । ३ 'प्राणान्तिकाग्निः' क. ।

प्राणहरमूषिकलक्षणमाह—मूर्च्छेत्यादि । अङ्गशोथेति मूषिकाकार एवाङ्गशोथो ज्ञेयः । यदुक्तमन्यत्र,—"चीयते ग्रन्थिभिश्चाङ्गमाखुशावकसन्निभैः" ( सु. क. स्था. अ. ७ )–इति । शब्दाश्रुतिः बाधिर्यं, अन्ये 'मन्दारुचि॰' इति पठन्ति । असाध्यमूषिकैः मारणात्मकैः ॥ ४५ ॥

*कार्ष्ण्यं श्यावत्वमथवा नानावर्णत्वमेव वा ।
मोहोऽथ वर्चसो भेदो दष्टे स्यात् कृकलासकैः ॥ ४६ ॥

कृकलासदष्टलिङ्गमाह—कार्ष्ण्यमित्यादि । वर्चसो भेदोऽतिसारः ॥ ४६ ॥

†दहत्यग्निरिवादौ च भिनत्तीवोर्ध्वमाशु च ।
वृश्चिकस्य विषं याति दंशे पश्चात्तु तिष्ठति ॥ ४७ ॥
दष्टोऽसाध्यश्च हृद्घ्राणरसनोपहतो नरः ।
मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसून् ॥ ४८ ॥

वृश्चिकविषलिङ्गमाह—दहत्यग्निरिवेत्यादि । वृश्चिकः स्वनामख्यातः, स च आराविषः । दष्टोऽसाध्यश्च । हृद्घ्राणरसनोपहतो नर इति यदा हृदयनासाजिह्वोपघातो भवति तदा तद्दष्टो न साध्यः । मांसैः पतद्भिरत्यर्थं वेदनार्तो जहात्यसूनित्यादिनाऽयमपरोऽसाध्यप्रकारः । 'दष्टोऽसाध्यैस्तु' इति पाठपक्षेऽसाध्यैः सद्यःप्राणहरैर्वृश्चिकैर्दष्टो यथोक्तलिङ्गो भवति । चरकेऽप्ययमेव पाठः ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

‡विसर्पः श्वयथुः शूलं ज्वरश्छर्दिरथापि च ।
लक्षणं कणभैर्दष्टे दंशश्चैवावसीदति ॥ ४९ ॥

कणभदष्टलिङ्गमाह—विसर्प इत्यादि । कणभः कीटविशेषः ॥ ४९ ॥

§हृष्टलोमोच्चिटिङ्गेन स्तब्धलिङ्गो भृशार्तिमान् ।
दष्टः शीतोदकेनेव सिक्तान्यङ्गानि मन्यते ॥ ५० ॥

उच्चिटिङ्गदष्टलिङ्गमाह हृष्टरोमेत्यादि ॥ ५० ॥

¶एकदंष्ट्रार्दितः शूनः सरुजः पीतकः सतृट् ।
छर्दिर्निद्रा च सविषैर्मण्डूकैर्दष्टलक्षणम् ॥ ५१ ॥

* 'ककण्टकः कृकलासः' ( आ॰ द॰ ) ॥ ४६ ॥

† 'ऊर्ध्वमुपरिष्टादाशु याति पश्चाच्च दंशे तिष्ठति' ( आ॰ द॰ ) ॥ ४७ ॥ ४८ ॥

‡ 'विशीर्यते गलति' ( आ॰ द॰ ) ॥ ४९ ॥

§ 'उच्चिटिङ्गनाम्ना वृश्चिकेन दष्टः पुमान्, हृष्टरोमा कण्टकितदेहः, स्तब्धमेहनः, तथा भृशार्तियुक्तः । शीतोदकेनेवाङ्गानि सिक्तानि मन्यते । सुश्रुतस्तु उच्चिटिङ्गं कीटविशेषमाह' ( आ॰ द॰ ) ॥ ५० ॥

¶ 'सविषमत्स्यलक्षणमाह—मत्स्या इत्यादि । सुगमम् । सविषजलौकादष्टलक्षणमाह—कण्डूमित्यादि । कुर्युरिति पूर्वक्रियया संबन्धः' ( आ॰ द॰ ) ॥ ५२ ॥

१ "स्याच्च कृकण्टकैः" इति माठाभिप्रायेण । २ "दंशश्चैव विशीर्यते" इति पाठान्तरम् ।

मत्स्यास्तु सविषाः कुर्युर्दाहं शोथं रुजं तथा ।
कण्डूं शोथं ज्वरं मूर्च्छां सविषास्तु जलौकसः ॥ ५२ ॥

सविषमण्डूकादिदष्टलिङ्गमाह—एकदंष्ट्रार्दित इत्यादि ।—स्वभावादेकया दंष्ट्रया कृतो दंशो भवति ॥ ५१ ॥ ५२ ॥

*विदाहं श्वयथुं तोदं स्वेदं च गृहगोधिका ।

गृहगोधिकादष्टलिङ्गमाह—विदाहमित्यादि । गृहगोधिका ज्येष्ठी, अन्ये तु ग्रामरक्षमाहुः । अत्र वक्ष्यमाणं कुर्यादिति संबन्धनीयं, तेन विदाहादीनां कर्मत्वम् ॥—

दंशे स्वेदं रुजं दाहं कुर्याच्छतपदीविषम् ॥ ५३ ॥

शतपदीदष्टलक्षणमाह—दंशे इत्यादि । कुर्याच्छतपदीविषमिति शतपदी काण्डिका ॥ ५३ ॥

कण्डूमान् मशकैरीषच्छोथः स्यान्मन्दवेदनः ।
असाध्यकीटसदृशमसाध्यं मशकक्षतम् ॥ ५४ ॥

मशकदष्टलिङ्गमाह—कण्डूमानित्यादि । असाध्यकीटसदृशमिति असाध्यकीटैर्लूतादिभिः समलक्षणमिति । असाध्यं मशकक्षतमिति । पञ्चसु मशकेषु मध्ये पार्वतीयमशकक्षतमसाध्यम् । यदाह सुश्रुतः,—"पार्वतीयेस्तु कीटैश्च प्राणहरैस्तुल्यलक्षणम्" ( सु. क. स्था. अ. ८ )—इति ॥ ५४ ॥

सद्यःप्रस्राविणी श्यावा दाहमूर्च्छाज्वरान्विता ।
पिडका मक्षिकादंशे तासां तु स्थगिकाऽसुहृत् ॥ ५५ ॥

मक्षिकादष्टलिङ्गमाह—सद्य इत्यादि । तासां च स्थगिकाऽसुहृदिति तासां सुश्रुतोक्तषण्मक्षिकाणां मध्ये स्थगिका प्राणहरेत्यर्थः ॥ ५५ ॥

†चतुष्पाद्भिर्द्विपद्भिश्च नखदन्तविषं च यत् ।
शूयते पच्यते चापि स्रवति ज्वरयत्यपि ॥ ५६ ॥

चतुष्पाद्भिरिति चतुष्पादा व्याघ्रादयः । द्विपादा वनमानुषवानरादयः ॥ ५६ ॥

‡श्वशृगालतरक्ष्वृक्षव्याघ्रादीनां यदाऽनिलः ॥
श्लेष्मप्रदुष्टो मुष्णाति संज्ञां संज्ञावहाश्रितः ॥ ५७ ॥
तदा प्रस्रस्तलाङ्गूलहनुस्कन्धोऽतिलालवान् ।
अव्यक्तबधिरान्धश्च सोऽन्योन्यमभिधावति ॥ ५८ ॥

---

* 'गृहगोधिका माउलीति लोके' ( आ० द० )—

† 'तैर्यद् नखकृतं दन्तकृतं च, तत्तच्छूयते शोथयुक्तं भवति, तथा पच्यते, तथा स्रवति, तथा ज्वरयति ( आ० द० ) ॥ ५६ ॥

‡ "अत्र केचिद् विषाधिकारसामान्यात् श्वापदानां व्याघ्रादीनां मनुष्याणां च विशेषणं पठन्ति । यदाह—श्वेत्यादि । श्वा कुक्कुरः, शृगालः प्रसिद्धः, तरक्षुर्वृक्षस्त्वर्क्षविशेषः,

---

१ हस्वता छन्दोऽनुरोधेन । २ "शूयते" स्थाने "दूयते" इति पा० ।

प्रमूढोऽन्यतमस्त्वेषां खादन्विपरिधावति ॥
तेनोन्मत्तेन दष्टस्य दंष्ट्रिणा सविषेण तु ॥ ५९ ॥
सुप्तता जायते दंशे कृष्णं चातिस्रवत्यसृक् ॥
दिग्धविद्धस्य लिङ्गेन प्रायशश्चोपलक्षितः ॥ ६० ॥
*येन चापि भवेद्दष्टस्तस्य चेष्टां रुतं नरः ॥
बहुशः प्रतिकुर्वाणः क्रियाहीनो विपद्यति ॥ ६१ ॥
दंष्ट्रिणा येन दष्टश्च तद्रूपं यस्तु पश्यति ॥
अप्सु चादर्शबिम्बे वा तस्य तद्रिष्टमादिशेत् ॥ ६२ ॥
त्रस्यत्यकस्माद्योऽभीक्ष्णं दृष्ट्वा स्पृष्ट्वाऽपि वा जलम् ॥
जलत्रासं तु तं विद्याद्रिष्टं तदपि कीर्तितम् ॥ ६३ ॥

---

'जरख(ख) इति लोके, ऋक्षो भल्लूकोऽतिलोमशः, रूच्छ इति लोके प्रसिद्धः । आदिश-ब्दाद्वृकचित्रादयो हिंस्राः पशवो ग्राह्याः । श्वादीना यदा अनिलो वायुः श्लेष्मप्रदुष्टः सन् संज्ञावहाश्रितः संज्ञावहस्रोतोगतः संज्ञां सम्यग्ज्ञानं मुष्णाति हरति । सम्यग्ज्ञानहरणाच्च कीदृशो भवतीत्याह-तदेत्यादि । प्रस्रस्तं स्थानच्युतं, लाङ्गूलं वालधिः, मेहनं च । प्रस्रस्त-शब्दो लाङ्गूलादिभिः प्रत्येकं संबन्धनीयः । अतिलालावान् अतिशयेन लालास्रावयुक्तः । अव्यक्तबधिरोऽन्धश्च न व्यक्तो बधिरोऽन्धो वेत्यर्थः । अन्योन्यमभिधावति परस्परं दष्टुमभिधावति । हनुस्कन्धस्थाने 'शूनस्कन्धः' इति केचित्पठन्ति । 'प्रमूढोऽन्यतमस्त्वेषां खादन्विपरिधावति' इत्यश्लोकोत्तरार्धं केचित्पठन्ति । एषां मध्येऽन्यतमः एकतमः प्रमूढः सन् खादन् विशेषेण परिधावति । तेनेति दंष्ट्रिणा । सुप्तता बाधिर्यम् । उपलक्षितो युक्त इत्यर्थः' ( आ० ८० ) ॥ ५७-६० ॥

* 'इदानीं श्वादिदष्टस्य रिष्टमाह-येनेत्यादि । चेष्टां क्रिया, रुतं शब्दं बहुशोऽनेकवारं, प्रतिकुर्वाणोऽनुकुर्वन्, क्रियाहीनः स्वकीयकायादिव्यापाररहितः । इदानीमपरमप्यरिष्टं निर्दिशन्नाह-दंष्ट्रिणेत्यादि । तद्दंष्ट्रिरूपदर्शनमरिष्टं मरणलक्षणम् । पुनरपरमरिष्टं निर्दिश-न्नाह-त्रस्यतीत्यादि । अकस्माज्जलत्रासहेतुं विना, अपिशब्दात् श्रुत्वाऽपि जलत्रासरोगं जानीयात्तस्येति संबन्धः । रिष्टमित्यादि तदपि जलत्रसनमरिष्टं मरणं कीर्तितम् । एतच्चा-रिष्टं दष्टस्य । अत्रार्थे तन्त्रान्तरे,-"व्याधितेन श्वादिना दष्टस्य श्लेष्मा कुपितः स्रोतोवाहि-नीर्धमनीरनुप्रविश्य संज्ञानाशमापादयति । ततो नरः स्पृष्ट्वा श्रुत्वा च जलं त्रस्यति, तद्रिष्टं जानीयात्"-इति । एवमदष्टस्यापि जलत्रासो रिष्टमेवेति दर्शयन्नाह-अदष्ट इत्यादि । अस्मिन्नर्थे तन्त्रान्तरे-"अदष्टस्यापि जन्तोर्हि जलत्रासो भवेद्यदि । तस्यारिष्टं [illegible] भिषजो ब्रुवते विषचिन्तकाः ॥ जलं विना जलत्रासो जायते श्लेष्मसंचयात्"इति । अथ चोक्तम्-"बुद्धिस्थानं यदा श्लेष्मा केवलः प्रतिपद्यते । तदा बुद्धौ निरुद्धायां श्लेष्मणाऽधिष्ठितो नरः ॥ जाग्रत्सुप्तोऽथवाऽऽत्मानं मज्जन्तमिव मन्यते । सलिलात्त्रस्यति तदा जलत्रासं तु तं विदुः ॥ श्लेष्मघ्नं तत्र कर्तव्यं शोधनं वमनानि च । आहारस्य विधानेन यावत्स्यात्प्रकृतिं भजेत्"-इति । अयं जलत्रासः कुपितकफस्य भवतीति रिष्टं न भवति । अत एवात्र

अदष्टो वा जलत्रासी न कथंचन सिद्ध्यति ॥
प्रसुप्तो वोत्थितो वाऽपि स्वस्थस्त्रस्तो न सिद्ध्यति ॥ ६४ ॥
*प्रशान्तदोषं प्रकृतिस्थधातुमन्नाभिकामं सममूत्रविट्कम् ।
प्रसन्नवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यम् ॥६५॥

इति श्रीमाधवकरविरचिते माधवनिदाने विषनिदानं समाप्तम् ॥ ६९ ॥

विषातुरः कीदृशो निर्विषो भवतीति दर्शयितुमाह—प्रशान्तदोषमित्यादि । अन्ना-भिकामयिस्त्वनेन प्रकृतिस्थाग्नितोक्ता । यदाह चरकः,—"प्रायेणोपहताग्नित्वात् सपि-च्छमतिधार्यते । आप्नोति चास्य वैरस्यं न चान्नमभिनन्दति"–इति । सममूत्रविट्कमिति क्षीणातिरिक्तमूत्रपुरीषम् । अन्ये 'समसूत्रजिह्वं' इति पठन्ति, तदाऽयमर्थः–समसविकृतं सूत्रं जिह्वा च यस्य स तथा, एतेन विषजुष्टा जिह्वा न रसबोधिनी भवति, सूत्रमपि जिह्वायां विषप्रभावेण वैकृतं भवतीति प्रतिपादयति । जिह्वाग्रहणेनैव सूत्रग्रहणे सिद्धे तस्य च रसग्रहणे अनुगुणत्वप्रतिपादनार्थं पृथगुपादानम् । अनेन श्लोकेन "समदोषः समाग्निश्च" ( सु. सू. स्था. अ. १५ )—इत्यादिश्लोकस्य सकल एवार्थं उपबद्धः ॥ ६५ ॥

इति श्रीकण्ठदत्तकृतायां मधुकोशव्याख्यायां विषनिदानं समाप्तम् ॥ ६९ ॥

सुश्लिष्टमुक्तावलीग्रन्थे गुरुणा यत्र गुम्फितम् ॥
मया समस्तमग्रन्थि तद्विरा शुद्धियुक्तया ॥ १ ॥

गुणनिधिगुरुपदे दाम्नि वाख्यानलीनां परमपरिमलश्रीधाम्नि लब्धावलम्बम् ॥
स्फुरति वचनकुन्दं मन्दसौरभ्यलेशाद्वचनमपि मदीयं किंचिदेतत् कदाचित् ॥ २ ॥

इति श्रीविजयरक्षितश्रीकण्ठदत्तविरचिता मधुकोशव्याख्या समाप्ता ॥

---

चिकित्सोपदेशः । दष्टस्तु रिष्टमेव, तथा स्वस्थस्य त्रासतो वा अल्पमन्तरेण त्रासो रिष्टमेवेति दर्शयन्नाह–प्रसुप्त इत्यादि । सुगमम्' ( आ० द० ) ॥ ६९–६४ ॥

* 'प्रशान्तदोष समावस्थितवातादिकम् । प्रकृतिस्थधातुमिति रसादीधि धातवो रसादयो मलादयश्च । अन्नाभिकामं भोजनाभिलाषं, अन्ये "सममूत्रजिह्वम्" इति पठन्ति, तदा-यमर्थः–सममविकृतं मूत्रं जिह्वा च यस्य स तथा । एतेन विषदुष्टजिह्वा रसवेदिनी न भवति, मूत्रमपि जिह्वावद् विषप्रभावेण विकृतं भवतीति प्रतिपादयति । जिह्वाग्रहणेनैव मूत्रग्रहणे सिद्धे, तस्य रसग्रहणेऽनुगुणत्वप्रतिपादनार्थं पृथगुपादानम् । वैद्योऽवगच्छेदविषं मनुष्यमिति उक्तलक्षणः पुरुषोऽविषो भवति, विपरीतलक्षणस्तु विषातुरः । तथाहि–"प्रसृष्टदोषाऽप्रकृतिस्थधातुमनन्नकाङ्क्षं न समूत्रजिह्वम् । विरुद्धवर्णेन्द्रियचित्तचेष्टं वैद्योऽव-गच्छेत्सविषं मनुष्यम्" । इदं सविषाविषलक्षणमिति' ( आ० द० ) ॥ ६५ ॥

---

१ 'गुम्फ' क. २ 'गुरुमुक्ता' क.

# अथ विषयानुक्रमणिका ।

ज्वरोऽतिसारो ग्रहणी चार्शोऽजीर्णं विसूचिका ।
अलसश्च विलम्बी च क्रिमिरुक्पाण्डुकामलाः ॥ १ ॥
हलीमकं रक्तपित्तं राजयक्ष्मा उरःक्षतम् ।
कासो हिक्का सह श्वासैः स्वरभेदस्त्वरोचकः ॥ २ ॥
छर्दिस्तृष्णा च मूर्च्छाद्या रोगाः पानात्ययादयः ।
दाहोन्मादावपस्मारः कथितोऽथानिलामयः ॥ ३ ॥
वातरक्तमूरुस्तम्भ आमवातोऽथ शूलरुक् ।
पक्तिजं शूलमानाह उदावर्तोऽथ गुल्मरुक् ॥ ४ ॥
हृद्रोगो मूत्रकृच्छ्रं च मूत्राघातस्तथाऽश्मरी ।
प्रमेहो मधुमेहश्च पिडकाश्च प्रमेहजाः ॥ ५ ॥
मेदस्तथोदरं शोथो वृद्धिश्च गलगण्डकः ।
गण्डमालाऽपची ग्रन्थिरर्बुदः श्लीपदं तथा ॥ ६ ॥
विद्रधिर्व्रणशोथश्च द्वौ व्रणौ भग्ननाडिके ।
भगन्दरोपदंशौ च शूकदोषस्त्वगामयः ॥ ७ ॥
शीतपित्तमुदर्दश्च कोठश्चैवाम्लपित्तकम् ।
विसर्पश्च सविस्फोटः सरोमान्त्यो मसूरिका ॥ ८ ॥
*क्षुद्रास्यकर्णनासाक्षिशिरःस्त्रीबालकामयाः ।
विषं चेत्ययमुद्दिष्टो रुग्विनिश्चयसंग्रहः ॥ ९ ॥
†सुभाषितं यत्र यदस्ति किंचित्तत्सर्वमेकीकृतमत्र यत्नात् ।
विनिश्चये सर्वरुजां नराणां श्रीमाधवेनेन्दुकरात्मजेन ॥ १० ॥
यत्कृतं सुकृतं किंचिरकृत्वैवं रुग्विनिश्चयम् ।
मुञ्चन्तु जन्तवस्तेन नित्यमातङ्कसन्ततिम् ॥ ११ ॥

इति श्रीमाधवकरविरचितं माधवनिदानं समाप्तम् ॥

---

* 'अस्मिन् ग्रन्थे रोगसंग्रहमाह-ज्वरातिसारावित्यादि ग्रहण्यश्चतत्रः । एकस्मिन्नजीर्णनिदाने विसूचिकालसविलम्बिका ज्ञेयाः । पानात्ययादयः पानविभ्रमादयः । पिडकाप्रमेहोक्ताः । मेदोदोषो मेदोरोगः । उपदंशो मेढ्ररोगः, त्वगामयः कुष्ठरोगः । रोमान्तो मसूरिकाभेदः । आस्यं मुखम् । रुग्विनिश्चये अयमुद्देशः' ॥ ९ ॥

† 'ग्रन्थकारः स्वपक्षमाह-सुभाषितमित्यादि । सुगमम्' (आ० द०) ॥ १० ॥ ११ ॥

१ एतादृशपाठाभिप्रायेण । अयमेवमेव पाठमङ्गीकरोति ।

# परिशिष्टम् ।

## अथ स्नायुकनिदानम् ।

शाखासु कुपितो दोषः शोथं कृत्वा विसर्पवत् ।
भिनत्ति तत्क्षते तत्र सोष्म स्नायुं विशोष्य च ॥ १ ॥
कुर्यात्तन्तुनिभं जीवं वृत्तं श्वेतद्युतिं बहिः ।
शनैः शनैः क्षताद्याति छेदात्कोपमुपैति च ॥ २ ॥
तत्पाताच्छोथशान्तिः स्यात्पुनः स्थानान्तरे भवेत् ।
स स्नायुकेति विख्यातः क्रियोक्ताऽत्र विसर्पवत् ॥ ३ ॥
बाह्वोर्यदि प्रमादेन त्रुट्यते जङ्घयोरपि ।
संकोचं खञ्जतां चैव छिन्नतन्तुः करोत्यसौ ॥ ४ ॥

वातेन श्यावरूक्षः सरुगथ दहनात्पीतपीतः सदाहो-
ऽथ श्वेतः श्लेष्मणा स्यात्पृथुगरिमयुतोऽथ द्विदोषो द्विलिङ्गी ।
रक्तेनारक्तकान्तिः समधिकदहनोऽथाखिलैः सर्वलिङ्गो
रोगोऽसाध्यष्ट्वेत्थं मुनिभिरभिहितः स्नायुकस्तन्तुकीटः ॥ ५ ॥

इति स्नायुकनिदानं समाप्तम् ।

---

## अथ फिरङ्गरोगनिदानम् ।

फिरङ्गसंज्ञके देशे बाहुल्येनैव यद्भवेत् ।
तस्मात्फिरङ्ग इत्युक्तो व्याधिर्व्याधिविशारदैः ॥ १ ॥
गन्धरोगः फिरङ्गोऽयं जायते देहिनां ध्रुवम् ।
फिरङ्गिणोऽङ्गसंसर्गात्फिरङ्गिण्याः प्रसंगतः ॥ २ ॥
व्याधिरागन्तुजो ह्येष दोषाणामत्र संक्रमः ।
भवेत्तल्लक्षयेत्तेषां लक्षणैर्भिषजां वरः ॥ ३ ॥
फिरङ्गस्त्रिविधो ज्ञेयो बाह्य आभ्यन्तरस्तथा ।
बहिरन्तर्भवश्चापि तेषां लिङ्गानि च ब्रुवे ॥ ५ ॥
तत्र बाह्यः फिरङ्गः स्याद्विस्फोटसदृशोऽल्परुक् ।
स्फुटितो व्रणवद्वैद्यैः सुखसाध्योऽपि सो मतः ॥ ५ ॥
सन्धिष्वाभ्यन्तरः स स्यादामवात इव व्यथाम् ।
शोफं च जनयेदेष कष्टसाध्यो बुधैः स्मृतः ॥ ६ ॥

कार्श्यं बलक्षयो नासाभङ्गो वह्नेश्च मन्दता ।
अस्थिशोषोऽस्थिवक्रत्वं फिरङ्गोपद्रवा अमी ॥ ७ ॥
बहिर्भवो भवेत्साध्यो नवीनो निरुपद्रवः ।
आभ्यन्तरस्तु कष्टेन साध्यः स्यादयमामयः ॥ ८ ॥
बहिरन्तर्भवश्चापि क्षीणस्योपद्रवैर्युतः ।
व्याप्तो व्याधिरसाध्योऽयमित्याहुर्मुनयः पुरा ॥ ९ ॥

इति फिरङ्गरोगनिदानं समाप्तम् ।

## अथ सोमरोगनिदानम् ।

स्त्रीणामतिप्रसङ्गेन शोकाच्चापि श्रमादपि ।
अतिसारकयोगाद्वा गरयोगात्तथैव च ॥ १ ॥
आपः सर्वशरीरस्थाः क्षुभ्यन्ति प्रस्रवन्ति च ।
तस्यास्ताः प्रच्युताः स्थानान्मूत्रमार्गं व्रजन्ति हि ॥ २ ॥
प्रसन्ना विमलाः शीता निर्गन्धा नीरुजः सिताः ।
स्रवन्ति चातिमात्रं ताः सा न शक्नोति दुर्बला ॥ ३ ॥
वेगं धारयितुं तासां न विन्दति सुखं क्वचित् ।
शिरःशिथिलता तस्या मुखं तालु च शुष्यति ॥ ४ ॥
मूर्च्छा जृम्भा प्रलापश्च त्वग्रूक्षा चातिमात्रतः ।
भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च न तृप्तिं लभते क्वचित् ॥ ५ ॥
संधारणाच्छरीरस्य ता आपः सोमसंज्ञिताः ।
ततः सोमक्षयात् स्त्रीणां सोमरोग इति स्मृतः ॥ ६ ॥

इति सोमरोगनिदानं समाप्तम् ॥

## अथ शीतलानिदानम् ।

देव्या शीतलयाऽऽक्रान्ता मसूर्यः शीतला बहिः ॥
ज्वरयेयुर्यथा भूताधिष्ठितो विषमज्वरः ॥ १ ॥
ताश्च सप्तविधाः ख्यातास्तासां भेदान्प्रचक्ष्महे ॥
ज्वरपूर्वा बृहत्स्फोटैः शीतला बृहती भवेत् ॥ २ ॥
सप्ताहाद्विःसरत्येव सप्ताहात्पूर्णतां व्रजेत् ॥
ततस्तृतीये सप्ताहे शुष्यति स्खलति स्वयम् ॥ ३ ॥

वातश्लेष्मसमुद्भूता कोद्रवा कोद्रवाकृतिः ॥
तां कश्चिदाह पक्वेति सा तु पाकं न गच्छति ॥ ४ ॥
जलशूकवदङ्गानि सा विध्यति विशेषतः ॥
सप्ताहाद्वा दशाहाद्वा शान्तिं याति विनौषधम् ॥ ५ ॥
ऊष्मणा तृष्णजारूपा सकण्डूः स्पर्शनप्रिया ॥
नाम्ना पाणिसहा ख्याता सप्ताहाच्छुष्यति स्वयम् ॥ ६ ॥
चतुर्थी सर्षपाकारा पीतसर्षपवर्णिनी ॥
नाम्ना सर्षपिका ज्ञेयाऽभ्यङ्गमत्र विवर्जयेत् ॥ ७ ॥
किञ्चिदूष्मनिमित्तेन जायते राजिकाकृतिः ॥
एषा भवति बालानां सुखं शुष्यति च स्वयम् ॥ ८ ॥
कोष्ठवज्जायते षष्ठी लोहितोन्नतमण्डला ॥
ज्वरपूर्वा व्यथायुक्ता ज्वरस्तिष्ठेद्दिनत्रयम् ॥ ९ ॥
स्फोटानां मेलनादेषा बहुस्फोटाऽपि दृश्यते ॥
एकस्फोटे च कृष्णा च बोद्धव्या चर्मजाभिधा ॥ १० ॥

इति शीतलानिदानम् ।

---

## अशीतिवातरोगनामानि ।

अशीतिं वातजा रोगाः कथ्यन्ते मुनिभाषिताः ।
आक्षेपको हनुस्तम्भ ऊरुस्तम्भः शिरोग्रहः ॥ १ ॥
बाह्यायामोऽन्तरायामः पार्श्वशूलं कटिग्रहः ।
दण्डापतानकः खल्ली जिह्वास्तम्भस्तथाऽर्दितम् ॥ २ ॥
पक्षाघातः क्रोष्टुशीर्षो मन्यास्तम्भश्च पङ्गुता ।
कलायखञ्जता तूनी प्रतितूनी च खञ्जता ॥ ३ ॥
पाददर्पो गृध्रसी च विश्वाची चापबाहुकः ।
अपतानो व्रणायामो वातकण्टोऽपतन्त्रकः ॥ ४ ॥
अङ्गभेदोऽङ्गशोषश्च मिन्मिनत्वं च कल्लता ।
प्रत्यष्ठीलाऽष्ठीलिका च वामनत्वं च कुब्जता ॥ ५ ॥
अङ्गपीडाऽङ्गशूलं च संकोचस्तम्भरूक्षताः ।
अङ्गभङ्गोऽङ्गविभ्रंशो विड्ग्रहो बद्धविट्कता ॥ ६ ॥
मूकत्वमतिजृम्भा स्यादत्युद्गारोऽन्त्रकूजनम् ।
वातप्रवृत्तिः स्फुरणं सिराणां पूरणं तथा ॥ ७ ॥
कम्पः कार्श्यं श्यावता च प्रलापः क्षिप्रमूत्रता ।
निद्रानाशः स्वेदनाशो दुर्बलत्वं बलक्षयः ॥ ८ ॥

अतिप्रवृत्तिः शुक्रस्य कार्श्यं नाशश्च रेतसः ।
अनवस्थितचित्तत्वं काठिन्यं विरसास्यता ॥ ९ ॥
कषायवक्त्रताऽऽध्मानं प्रत्याध्मानं च शीतता ।
रोमहर्षश्च भीरुत्वं तोदः कण्डू रसाज्ञता ॥ १० ॥
शब्दाज्ञता प्रसुप्तिश्च गन्धाज्ञत्वं दृशः क्षयः ।

---

## चत्वारिंशत्पित्तरोगनामानि ।

अथ पित्तभवा रोगाश्चत्वारिंशदिहोदिताः ॥ ११ ॥
धूमोद्गारो विदाहः स्यादुष्णाङ्गत्वं मतिभ्रमः ।
कान्तिहानिः कण्ठशोषो मुखशोषोऽल्पशुक्रता ॥ १२ ॥
तिक्तास्यताऽम्लवक्त्रत्वं स्वेदस्रावोऽङ्गपाकता ।
क्लमो हरितवर्णत्वमतृप्तिः पीतगात्रता ॥ १३ ॥
रक्तस्रावोऽङ्गदरणं लोहगन्धास्यता तथा ।
दौर्गन्ध्यं पीतमूत्रत्वमरतिः पीतविट्कता ॥ १४ ॥
पीतावलोकनं पीतनेत्रता पीतदन्तता ।
शीतेच्छा पीतनखता तेजोद्वेषोऽल्पनिद्रता ॥ १५ ॥
कोपश्च गात्रसादश्च भिन्नविट्कत्वमन्धता ।
उष्णोच्छ्वासत्वमुष्णत्वं मूत्रस्य च मलस्य च ॥ १६ ॥
तमसो दर्शनं पीतमण्डलानां च दर्शनम् ।
निःसरत्वं च पित्तस्य चत्वारिंशद्रुजः स्मृताः ॥ १७ ॥

---

## विंशतिश्लेष्मरोगनामानि ।

कफस्य विंशतिः प्रोक्ता रोगास्तन्द्राऽतिनिद्रता ।
गौरवं मुखमाधुर्यं मुखलेपः प्रसेकता ॥ १८ ॥
श्वेतावलोकनं श्वेतविट्कत्वं श्वेतमूत्रता ।
श्वेताङ्गवर्णता शैत्यमुष्णेच्छा तिक्तकामिता ॥ १९ ॥
मलाधिक्यं च शुक्रस्य बाहुल्यं बहुमूत्रता ।
आलस्यं मन्दबुद्धित्वं तृप्तिर्घर्घरवाक्यता ॥ २० ॥
अचैतन्यं च गदिता विंशतिः श्लेष्मजा गदाः ।

